उद्योग और रसायन

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—३०

उद्योग और रसायन

WHAT INDUSTRY OWES TO
CHEMICAL SCIENCE

का

भाषानुवाद

अनुवादक
गोरखप्रसाद श्रीवास्तव, एम० फार्म०, पी-एच० डी०
रीडर, फ़ार्मास्यूटिक्स विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश प्रशासन ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के वाङ्मय की गौरव-वृद्धि और उसके विविध अंगो की सम्पूर्ति के लिए हिन्दी समिति के तत्त्वावधान में जो योजना परिचालित की थी, उसके अन्तर्गत अभी तक २९ ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। इनमे ज्योतिष के २, ललित कला सम्बन्धी ३, शिकार सम्बन्धी १, कोश ३, साहित्य के २, गणित विषयक १, दर्शन के ४, राजनीति के ३, भाषा-विज्ञान विषयक १, धर्म और संस्कृति के २, तथा विज्ञान के ६ ग्रन्थ निकले हैं। विद्वानो तथा हिन्दी-प्रेमियो ने इनका अच्छा स्वागत किया है जिससे हमे यथेष्ट बल और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। अन्यान्य विषयो के ग्रन्थ भी प्रकाशन के लिए प्राप्त हो चुके है और कितने ही इस समय लिखाये जा रहे हैं। इस कार्य मे हमे अनेक सुविज्ञ और कुशल लेखको तथा सुनिष्णात अनुवादकों का सहयोग प्राप्त हो गया है जिससे हमे आशा है कि हम उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए अधिक क्षिप्रता से आगे बढ सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का तीसवाँ पुष्प है। यह अंग्रेजी ग्रन्थ 'व्हाट इण्डस्ट्री ओज टु केमिकल साइन्स' का हिन्दी अनुवाद है। इसमे अपने अपने विषय के सुख्यात लेखकों की ऐसी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमे यह दिखलाया गया है कि ससार के विभिन्न उद्योगो की आज की आश्चर्यजनक प्रगति मे रसायनज्ञों और रसायन-विज्ञान का भी काफी हाथ रहा है। विज्ञान ने आधुनिक जीवन मे कितना परिवर्तन कर दिया है, इसका धूमिल सा ज्ञान तो सामान्य मनुष्यो को भी है किन्तु उर्वरको, खाद्यान्नों, दुग्ध-पदार्थों, तेल, चीनी, कागज, मुद्रण-कला, रोशनाई, साबुन, क्रीम, धुलाई-उद्योग, दवाओं के निर्माण, वस्त्रोद्योग, चर्मोद्योग, मृत्तिका-उद्योग तथा रेलो, जहाजों आदि सम्बन्धी उद्योगो की समुन्नति मे रसायन-विज्ञान ने कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता की है, इसकी यथेष्ट जानकारी हमारे सुशिक्षित वर्ग को भी नही है। इस पुस्तक के पढ़ने से उनके ज्ञान का विस्तार तो होगा ही, साथ ही वे अनुभव करने लगेंगे कि देश की औद्योगिक प्रगति के लिए प्रशिक्षित रसायनज्ञों की सख्या मे शीघ्र वृद्धि होना आवश्यक है। कोई भी बड़ा कारखाना या उद्योग तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसके कर्मचारियों मे दो-चार-दस रसायनज्ञ न हों। छोटे उद्योगो या सस्थाओं को भी एकाध ऐसे कर्मचारी की आवश्यकता होगी ही जिससे परामर्श कर वे

उलझकर बातो से अपने को बचाते हुए सफलता की ओर अग्रसर हो सकें। इससे स्पष्ट है कि कोरे एम० ए०, बी० ए० बनने का प्रयत्न करने के बजाय हमारे युवको को विज्ञान के, विशेषकर रसायन-विज्ञान के, तथा प्राविधिक विषयों के अध्ययन की ओर झुकना चाहिए। इस दिशा मे उनके लिए अभी पर्याप्त क्षेत्र पडा हुआ है।

पुस्तक का हिन्दी अनुवाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डाक्टर गोरख प्रसाद श्रीवास्तवने किया है। आप फार्मास्युटिक्स (भैषजिकी) के अच्छे विद्वान् हैं और हिन्दी मे भी विशेष रुचि रखते है। आपने ४–५ वैज्ञानिक पुस्तको की रचना की है और भेषजी पत्रिका का सम्पादन भी आप कई वर्षों तक कर चुके हैं। आपने मूल लेखों का भाव हिन्दी मे ठीक ठीक ले आने का भरपूर प्रयत्न किया है। आपके लिखने का ढग सीधा-सादा और सरल है तथा अनुवाद की भाषा भी यथासभव सुबोध ही रखने की चेष्टा की गयी है। आशा है, हिन्दी के पाठक और उद्योग-विस्तार मे लगे हुए लोग इस पुस्तक को पढकर यथेष्ट लाभान्वित होंगे।

भगवतीशरण सिंह
सचिव हिन्दी समिति

दो कारण है—एक तो मुद्रण की सुविधा और दूसरी बात यह है कि जब ये शब्द रोमन में लिखे जाते हैं तो पाठकों की दृष्टि केवल उन्ही पर पडती है और बेचारा हिन्दी शब्द उपेक्षित रह जाता है, अत. कही कही अंग्रेजी शब्द देने का एकमात्र उद्देश्य हिन्दी शब्द का परिचय कराना है। फिर भी कुछ पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी लिपि में भी पाद टिप्पणियों के रूप में यत्रतत्र दे दिये गये हैं। पुस्तक में अन्तिम लेख के बाद एक हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली दी गयी है, जिसमें हिन्दी शब्द अकारादि क्रम से लिखे गये हैं और उनके अंग्रेजी समानार्थी रोमन लिपि में। इससे पाठकों को पुस्तक पढते समय किसी भी पारिभाषिक शब्द को समझने जानने में सहायता मिलेगी, कठिनाई न होगी। किन्तु ग्रन्थ-सूचियों को रोमन लिपि में लिखने के कारण का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। अंग्रेजी ध्वन्यात्मक भाषा नही है अत नागरी में लिखे अंग्रेजी शब्द का मूल अक्षर-विन्यास जानना कठिन होता है, और शब्दों का सुनिश्चित रूप जाने बिना अभिदेशन सभव नही होता। फिर इन अभिदेशनों में फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के भी शब्द हैं अत. इन्हें मूल रोमन लिपि में ही लिखना वाछनीय माना गया।

पुस्तक के विविध लेखों के विभिन्न लेखक हैं और उनकी विभिन्न शैलियाँ भी हैं, कुछ क्लिष्ट कुछ सरल। इससे अनुवाद में थोड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ। कभी कभी हिन्दी की प्रकृति और अनुवाद की यथार्थता दोनों को सँभालना कठिन जान पड़ा तथा उनके बीच का मध्य मार्ग अपनाकर ही कठिनाई का निवारण किया जा सका। किन्ही किन्ही स्थानों पर हिन्दी के मर्यादानुसार वाक्यों की रचना के लिए शाब्दिक अनुवाद नही भावानुवाद करना पडा है किन्तु विषय की सुतथ्यता को सदा प्राथमिकता दी गयी है। इस प्रयास में मुझे कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय तो पाठकगण ही कर सकते हैं।

राष्ट्रभाषा की सेवा का यह सुयोग देने के लिए मैं उत्तर प्रदेश सरकार का कृतज्ञ हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय — गोरखप्रसाद श्रीवास्तव

भूमिका

"ह्वाट इण्डस्ट्री ओज़ टु केमिकल सायन्स" के प्रथम संस्करण में कुल २० लेख थे, जो १९१६–१७ में 'दि इंजिनियर' नामक पत्रिका में छपे थे। उसकी भूमिका में स्वर्गीय सर जार्ज बीलबी, एफ० आर० एस० ने उसके उद्देश्य बताते हुए लिखा था कि 'व्यावहारिक जीवन में रसायनज्ञ का क्या स्थान है तथा मनुष्य के औद्योगिक एवं सामाजिक विकास में उसका क्या कार्यभाग है?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करने के लिए ही यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया था।

प्रथम महायुद्ध (१९१४) के प्रारम्भिक काल में विज्ञान के महत्त्व एवं उद्योग में उसके प्रयोग के बारे में बड़ी जिज्ञासा तथा चर्चा थी और उसके संबन्ध में लोगों में काफी विचार-विमर्श होने लगा था। इसी संदर्भ में "रसायनज्ञ ने इस दिशा में क्या क्या किया अथवा क्या क्या कर सकता है?"—इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा की गयी। एतदर्थ '(रायल) इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' के रजिस्ट्रार (रिचर्ड बी० पिल्चर) को आमंत्रित किया गया, किन्तु संयोगवश वे स्वयं रसायनज्ञ न थे। अतः उन्हें अपने मित्र फ्रैंक बट्लर-जोन्स से सहायता लेनी पड़ी। बट्लर-जोन्स महोदय ने औद्योगिक रसायन की प्राविधिक बातों की उत्तम व्याख्या की और एक संयुक्त कृति के रूप में तत्सबन्धी लेखों को प्रकाशित करके सर्वसाधारण को रसायन-विज्ञान का महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया।

'दि इंजिनियर' में छपे लेख काफी जल्दी में लिखे गये थे और उस समय उन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का भी कोई विचार न था, किन्तु 'कॉन्स्टेब्ल कंपनी' ने उपर्युक्त पत्रिका से उन लेखों को लेकर १९१८ में उन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। उसके बाद इसका प्रकाशनाधिकार (कापीराइट) 'दि इंजिनियर' ने पुनः अपने हाथ में ले लिया किन्तु आगे चलकर १९२२ में उसे उक्त रजिस्ट्रार महोदय को सौंप दिया। अगले वर्ष इस पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। यह संस्करण पुनरावृत्त एवं कुछ संवर्धित भी था, लेकिन थोड़े ही समय में समाप्त एवं अप्राप्य हो गया।

१९३९ में प्रकाशकों ने सूचना दी कि इस पुस्तक की बड़ी माँग हो रही है और साथ ही उसे पुनः प्रकाशित करने की इच्छा भी प्रकट की। इस पर रजिस्ट्रार ने एक

'बेनिवोलेण्ट फण्ड' अर्थात् 'कल्याणकारी निधि' के लिए इन्स्टिट्यूट की कौंसिल को पुस्तक की कापीराइट देने का प्रस्ताव किया जो उक्त कौंसिल द्वारा स्वीकृत हो गया। सौभाग्यवश उनके सहलेखक, बट्लर-जोन्स भी राजी हो गये लेकिन उस समय विदेश में होने के कारण नये सस्करण के प्रकाशन में सक्रिय सहयोग न कर सके। (१९४१ में जब थाईलैण्ड में जापानियो ने प्रवेश किया तब बट्लर-जोन्स की मृत्यु की दुर्भाग्य-पूर्ण सूचना मिली)।

द्वितीय सस्करण के प्रकाशन के बाद औद्योगिक रसायन में महती प्रगति हुई, अत पुस्तक का आकार एव उसके लेखो को बढाने का निश्चय किया गया। लेखन-कार्य चुने हुए विशेषज्ञो को सौपा गया और मूल लेखो के सशोधन एव परिवर्धन का भी अधिकार दिया गया। मूल लेखो के अलावा कुछ नये लेखो के लिखाने का भी प्रबन्ध किया गया जिससे अन्य ऐसे उद्योगो की भी समीक्षा की जा सके, जिनमें रसायन-विज्ञान का सुस्पष्ट प्रयोग होता है। इस सबका फल यह हुआ कि यद्यपि सामान्य योजना पुरानी थी किन्तु पुस्तक प्राय सर्वथा नवीन रूप में निकली। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि रसायन शास्त्र के विद्यार्थियों के अलावा प्रस्तुत पुस्तक अन्य लोगो के लिए भी सुबोध हो, लेखको ने उद्योगो में रसायन की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण दिया है और ऐसे प्राविधिक विषयो का कोई विस्तृत विवरण नही दिया, जिन्हें समझने में अधिक विज्ञान न जाननेवालो को विशेष कठिनाई हो।

नयी पुस्तक के प्रकाशन का निरीक्षण इन्स्टिट्यूट की 'प्रकाशन समिति' विशेषकर श्री ए० एल० वैकारैंक (अध्यक्ष, १९४०–४१) तथा श्री एफ० पी० डन (अध्यक्ष, १९४२–४५) ने किया। विशिष्ट लेखकों से 'कल्याणकारी निधि' (बेनिवोलेण्ट फण्ड) के लाभार्थ सहायता की याचना की गयी और उन्होंने मुक्तहस्त होकर सह-योग किया।

जब लेख तैयार हो गये तब कागज की उपलब्धि में कठिनाई होने के कारण 'कॉन्स्टेब्ल क०' ने पुस्तक प्रकाशन में अपनी असमर्थता प्रकट की, अत यह काम 'सर्वश्री डब्लू० हेफर ऐण्ड सन्स, लि०' को सौपा गया।

मूल कापीराइट के मालिक होने की हैसियत से इन्स्टिट्यूट के रजिस्ट्रार महोदय ने यह आश्वासन दिया कि इस प्रकाशन से प्राप्त समस्त लाभ 'कल्याणकारी निधि' में दिया जायगा और प्रकाशकों के साथ 'निधि' के पक्ष में करार भी कर लिया गया। ग्रन्थ की इस छोटी सी कहानी के साथ उसकी थोडी समीक्षा देना भी आवश्यक है।

सर जार्ज बीलबी महोदय ने अपनी मूल भूमिका में यह मत प्रकट किया था कि रसायनज्ञ का अधिकाश काम प्रत्यक्ष न होने के कारण उसे कोई समझता ही न था।

उस समय ब्रिटिश वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओं को अन्य देशों के कार्यकर्ताओं से हीन समझने की एक ऐसी प्रवृत्ति थी जिसके निराकरण के लिए दोनों के कार्यों और सफलताओं की निष्पक्ष समीक्षा आवश्यक थी। इस सदर्भ में लेखक ने अपने उपसहार में जो भावनाए अभिव्यक्त की है वे उद्धृत करने योग्य है।

"हमने यह दरशाने का प्रयत्न किया है कि यद्यपि प्रतिभा किसी देश विशेष की वासिनी नही है फिर भी ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने औद्योगिक विकास में उत्तम कार्यभाग अदा किया है और उन्होंने ऐसा बहुधा बहुत अनुकूल परिस्थिति में नही उसके अभाव में किया। अत उनके कार्यो को हीन समझने का कोई कारण नही है, और उन लोगो की बातो पर विचार करने एव ध्यान देने की भी आवश्यकता नही जो इग्लैण्ड की औद्योगिक एव वाणिज्यिक स्थिति को तुच्छ समझने और उस पर पश्चात्ताप करने मात्र में सुख मानते है, किन्तु कभी कोई रचनात्मक सुझाव नही देते।"

१९१४–१८ वाले युद्ध की आवश्यकताओं से बहुतो को यह समझने में सहायता मिली कि ब्रिटिश उद्योग और उसके कर्णधार विज्ञान मे अभी तक जितना लाभ उठाया गया था, उससे अधिक लाभ उठा सकते थे। प्राविधिज्ञों अर्थात् टेक्नॉलोजिस्टो के शिक्षण-प्रशिक्षण की उन्नति करने तथा उसे बढाने में भी इस युद्ध ने बडी सहायता की। तत्कालीन उद्योगो का विकास एव वर्धन हुआ तथा ऐसे ऐसे नये उद्योगो का समारम्भ भी हुआ जो उसी समय से इग्लैण्ड में जम गये।

१९१५ में प्रीवी कौंसिल ने 'सायण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के लिए एक समिति की स्थापना की। १९१६ में इस समिति को 'इम्पीरियल ट्रस्ट फॉर दि एन्करेजमेण्ट आफ सायण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के रूप मे 'रायल चार्टर' प्राप्त हुआ और एक पृथक् विभाग बना जिसे ससद में अपना अलग मत प्राप्त था। वर्तमान 'नेशनल फिजिकल लैबोरेटरी', 'केमिकल रिसर्च लैबोरेटरी', 'फ्युेल रिसर्च स्टेशन', 'बिल्डिंग रिसर्च स्टेशन' तथा अन्य कितनी ऐसी सस्थाओं और प्रयोगशालाओं का नियत्रण इसी विभाग (डिपार्टमेण्ट) द्वारा होता है। २० से भी अधिक औद्योगिक अनुसन्धान ऐसोसियेशनो के कार्यकलाप का भी सबन्ध इस विभाग से है।

यह भी उल्लेखनीय है कि सर जार्ज बीलबी ने अपने निम्नलिखित वक्तव्य में जो दूरदर्शिता प्रकट की थी वह चरितार्थ होकर रही—

"हमारे राष्ट्रीय जीवन में रसायन का जो महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और है उसे बहुत से शिक्षित लोग भी ठीक ठीक नही समझ पाये है, और निकट भविष्य मे यह और भी व्यापक एव महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा इसमे सदेह नही। माता-पिता तथा शिक्षको के लिए यह एक विशेष सदेश है कि बहुत जल्द ही औद्योगिक एव आधिकारिक

पदों के लिए प्रशिक्षित रसायनज्ञों की भारी माँग होने वाली है। अतः उन्हें उस समय एवं परिस्थिति के लिए तैयार हो जाना चाहिए।"

और आज स्थिति यह है कि शायद ही कोई ऐसा औद्योगिक उपक्रम अथवा संस्था हो जो बिना रसायनज्ञ की सहायता के सफलतापूर्वक चल सके। छोटी छोटी संस्थाओं में भी कम से कम एक रसायनज्ञ नियुक्त होता है, या उन्हें परामर्शदाता रसायनज्ञों से सलाह लेनी पडती है। १९१४ की अपेक्षा आज इग्लैण्ड में कई गुने सुयोग्य एवं प्रशिक्षित रसायनज्ञ हैं। विशेष बात यह है कि इस बीच की अवधि में भी बेकार रसायनज्ञों की संख्या २% से कभी अधिक नहीं रही, जबकि अन्य व्यवसायों में बेकारों का कहीं अधिक अनुपात रहा।

इस ग्रन्थ के मूल लेखकों ने बडा प्रशंसनीय काम किया और उससे जो सफलता उन्हें मिली है वह उचित ही है। प्रस्तुत संस्करण के लेखन एवं संकलन में भी परम सुयोग्य तथा अनुभवी लेखकों ने सहर्ष हाथ बँटाया है, उनका ध्येय न केवल 'रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' की कल्याणकारी निधि में योगदान करना था, प्रत्युत उद्योग में रसायन-विज्ञान के महत्त्वपूर्ण स्थान को और भी व्यापक रूप से सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करना भी उनका वाछित ध्येय रहा है।

इन्स्टिट्यूट की कौंसिल, प्रकाशन समिति तथा कल्याणकारी निधि समिति उन सभी लोगों का परम आभार मानती है जिन्होंने इस कार्य में सहयोग किया है।

३० रसल स्क्वायर,
लन्दन डब्लू० सी० १
अगस्त १९४५

एलेक्ज़ेण्डर फिण्डले
अध्यक्ष, रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री
(१९४३–१९४६)

की कृत्रिम व्यवस्था करनी पड़ती है जो वाछित फसल के लिए आवश्यक है। रसायनज्ञ एव कृषि का यही प्रथम सवन्ध है।

उर्वरक—किन्तु 'प्रकृति सर्वथा हमारे विरुद्ध है' ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योकि धरती माता हमारे प्रयासो का सुन्दर फल भी हमें देती है। वह तो पशु एवं मनुष्य के लिए खाद्य की उपज को पूर्णरूपेण विकसित करने के लिए विज्ञान को एक असीम क्षेत्र सुलभ करती है। रसायनज्ञ मिट्टी की परीक्षा करके उन साधनों को खोज निकालता है, जिनसे वह धरती की उर्वरता उन्नत कर सके। इसी प्रकार वह अनुपजाऊ भूमि को उपजाऊ बनाने में सफल होता है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि प्रयोगशाला की परीक्षा किसी मिट्टी के अध्ययन का केवल एक अंग है; क्षेत्रावलोकन (फील्ड ऑबजर्वेशन) भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसको ध्यान में रखकर रासायनिक विश्लेषण के फलों की सही-सही व्याख्या की जा सकती है, और तभी मिट्टी को अनुकूल बनाने के लिए निश्चित और सही रास्ता मिल सकता है।

जिन प्राकृतिक खादों के द्वारा धरती अपनी उत्पादक शक्ति पुन प्राप्त करती है वे सदा पर्याप्त नही होती और उनकी पूर्ति कृत्रिम उर्वरको से करनी पडती है। इसी प्रकार खाद्यान्नो की उपज भी बढायी जाती है। सोडियम नाइट्रेट का प्रयोग नाइट्रोजनीय खादो के रूप में किया जाता है। सोडियम नाइट्रेट दक्खिनी अमेरिका के पश्चिमी भाग में बहुतायत से मिलता है। अपरिष्कृत सोडियम नाइट्रेट के शोधन के लिए उसका केलासन (क्रिस्टलाइजेशन) करना पड़ता है। अमोनियम सल्फेट भी एक मूल्यवान नाइट्रोजनीय खाद है। यह पहले कोयले और 'शेल' के आसवन (डिस्टिलेशन) पदार्थों से बनाया जाता था।

वर्गेरा[1] का यह अनुमान था कि दक्षिणी अमेरिकावाले सोडियम नाइट्रेट के क्षेत्र १९२३ तक समाप्त हो जायेंगे, किन्तु यह अनुमान ठीक न था। ज्ञात क्षेत्रों के परीक्षण से यह मालूम हुआ है कि वे अभी अगले ५० वर्षो तक या उससे भी अधिक समय तक हमारी आवश्यकता पूरी करते रहेंगे। उस देश की सामान्य प्रकृति को देख कर यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि उसमें इतने बड़े बडे क्षेत्र हैं जो आगामी २०० वर्षो तक सारे ससार की माग पूरी करते रहेंगे। लेकिन यह भी सभव है कि प्राकृतिक स्रोत शीघ्र ही समाप्त हो जायें, क्योंकि इनसे प्राप्त सोडियम नाइट्रेट न केवल एक उर्वरक के रूप में प्रयुक्त होता है वरन् पोटासियम नाइट्रेट, नाइट्रिक अम्ल

[1] Vergara

तथा नाइट्रोजन के अन्य यौगिक (कम्पाउण्ड) बनाने के लिए भी इस्तेमाल होने लगा है। इसीलिए वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का उपयोग करने का प्रयास किया गया है। इसके लिए वायु को एक विशेष विद्युत भट्टी में गरम करके नाइट्रोजन ऑक्साइड बनाये जाते हैं। इस भट्टी में विद्युत-चुम्बक का ऐसा प्रबन्ध होता है कि चाप (आर्क) चन्द्राकार रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार उत्पन्न नाइट्रोजन ऑक्साइड को एक आक्सीकरण वेश्म (चेम्बर) में ले जाकर वायुमण्डलिक आक्सीजन द्वारा उसका और उच्च ऑक्साइड बनाया जाता है। इसके बाद चूना, सोडा, पोटास अथवा अमोनिया जैसे पैठिक पदार्थ[1] से उसका सयोजन कराया जाता है। मूलत सर विलियम क्रुक्स द्वारा आविष्कृत प्रक्रिया (प्रक्रम[2]) को पहले मैंक्डूगल और हावेल्स ने अमेरिका में और बाद में बर्कलैण्ड तथा आइड ने नार्वे में इस्तेमाल किया। जर्मनी में बने पीठ (बेसेज) नार्वे भेजे जाते थे। और वहाँ से वे नाइट्रेट बन कर लौटते थे, क्योंकि नार्वे में विद्युत शक्ति सस्ती थी।

सायनामाइड विधा (प्रक्रिया) आज जर्मनी के एक बहुत बडे उद्योग का आधार बन गयी है। इस प्रक्रिया में नाइट्रोजन को कैल्सियम कार्बाइड के साथ विद्युत भट्टी मे गरम किया जाता है। नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए द्रव वायु को प्रभागश उबाला जाता है। हाइड्रोजन बनाने में प्रयुक्त वाटर गैस या प्रोड्यूसर गैस के अवशेष के रूप मे भी नाइट्रोजन प्राप्त होता है। सायनामाइड अपने रसी रूप में खाद के लिए इस्तेमाल किया जाता है। जल से सम्पर्क होने पर साधारण ताप पर भी इसमें से धीरे-धीरे अमोनिया का उद्विकास होता है, जिसे मिट्टी में मौजूद नाइट्रिफाइंग जीवाणु नाइट्रोजन के ऐसे यौगिको में परिवर्तित कर देते हैं, जिन्हें पौधे बडी सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

प्रथम महायुद्ध मे विस्फोटक तैयार करने के सिलसिले मे नाइट्रोजन-हाइड्रोजन के सयोजन (कॉम्बिनेशन) से अमोनिया बना कर वायुमण्डलिक नाइट्रोजन के स्थिरीकरण का व्यापक विकास किया गया था। और तब से यह विधा अमोनियाई उर्वरको के उत्पादन का आधार ही बन गयी है।

पोटासियम उर्वरक तो मुख्यत स्टासफुर्ट और एलास्के-लोरेन वाले प्राकृतिक क्षेत्रो से ही प्राप्त होते हैं तथा सल्फेट, क्लोराइड अथवा मिश्रित लवण के रूप में उनका प्रयोग किया जाता है।

[1] Base   [2] Process

हड्डियो में वर्तमान त्रिकल्सियम फास्फेट प्रथम फास्फटिक उर्वरक था। इगलैण्ड में उर्वरक उद्योग का महत्वपूर्ण प्रारम्भ हड्डियों का सल्फूरिक अम्ल से उपचार करके *जल विलेय एक-कल्सियम फास्फेट बना कर ही हुआ था। खाद के रूप में सीधे प्रयुक्त* होने में अथवा सल्फूरिक अम्ल उपचार से अधिफास्फेट (सपर फास्फेट) बनाने में हड्डियों का स्थान खनिज फास्फेटो ने ले लिया है। सश्लिष्ट (सिन्थेटिक) अमोनिया के उत्पादन से भी फास्फैटिक उर्वरको का इस नाते सबन्ध है कि अमोनियम फास्फेट से नाइट्रोजन और फास्फोरस दोनो प्राप्त होते है। इसीलिये इसका अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है।

इस्पात उद्योग से प्राप्त पैठिक धातुमल (बेसिक स्लैग) तो बहुत दिन पहले से ही एक मूल्यवान फास्फैटिक उर्वरक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। चरागाहो में रामपर्ण (क्लोवर) उपजाने में इसके कारण विशेष सफलता मिली थी। कृषि योग्य भूमि में भी इसका प्रयोग किसी प्रकार कम नही होता है। पिछले २५ वर्षो में इस्पात उद्योग में जो परिवर्तन हुए है, उनकी वजह से कम फास्फेट वाले धातुमल मिलने लगे है और साथ ही उनकी प्राप्ति भी कम हो गयी है। किन्तु आज कल ऐसे साधन स्थापित हो गये है, जिनके द्वारा उपयोगी और अनुपयोगी धातुमलों की पहिचान सरलता से की जा सकती है। इन साधनो में निरन्तर उन्नति भी हो रही है।

इग्लैण्ड में कृत्रिम उर्वरको की उत्तमता की सुरक्षा कुछ हद तक 'फर्टिलाइजर्स ऐण्ड फीडिंग स्टफ्स ऐक्ट' के प्रावधानो द्वारा की जाती है। इस अधिनियम (ऐक्ट) के अनुसार उस देश में कृत्रिमतया उत्पन्न या आयातित (इम्पोर्टेड) उर्वरक-विक्रेताओ को उनमें विद्यमान उपयोगी सघटको (इन्ग्रेडियेण्ट्स) के सबन्ध में खरीदार को *अध्याभूति (वारेण्टी) देनी पड़ती है और यह वचन देना पडता है कि बीजक में लिखित* उपयोगी सघटकों की मात्रा वाछित मात्रा से भिन्न न होगी। इस अधिनियम के प्रशासन में सहायता करने के लिये आधिकारिक विश्लेषक तथा न्यादर्शक (सैम्पलर्स) नियुक्त किये जाते है। कृषि मन्त्रालय (इग्लैण्ड) को इस अधिनियम को क्रियान्वित करने के लिए नियम-उपनियम बनाने का भी अधिकार प्राप्त है।

ग्रन्थसूची

AGRICULTURE, MINISTRY OF —*Leaflets dealing with use of specific Fertilizers and Fertilizers on Specific Crops.* H.M Stationery Office.
BARKER, A S. : *Use of Fertilizers.* Oxford University Press.

की शक्ति सदृश पशु-खाद्यों के विशेष गुण भी रासायनिक अनुसन्धान के विषय रहे हैं।

ऐसी जानकारी पशु-प्राशकों (स्टॉक फीडर्स) के लिए बड़ी मूल्यवान सिद्ध हुई है, क्योंकि इससे वे अपने पशुखाद्यों का उचित उपयोग कर सकते हैं और अपने पशुओं को ऐसे खाद्य दे सकते हैं जिनसे उनकी पोषक आवश्यकताएँ पूरी हो जाँय और वे मितव्ययिता से उच्च कोटि के पदार्थ उत्पन्न करने में सफल हो सकें।

कृत्रिम उर्वरक तैयार करने के अलावा प्राकृतिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन से रसायनज्ञों का कोई बहुत घनिष्ठ संबन्ध नहीं है। फिर भी चारा तथा दूसरी फसलों की वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में उनके पोषक मान का पता लगाना रासायनिक अनुसन्धान का ही काम है। उदाहरण के लिए गोचरों (पास्चर) के छोटे पत्तीदार हरे चारे का पोषक मान उन चारों की अपेक्षा अधिक होता है, जिन्हें साधारणतया अधिक बढ़ा कर काटा जाता है। चराने की परिभ्रमण प्रणाली (रोटेशनल सिस्टम) से गोचर का चारा हरा, छोटा और पोषक बना रहता है। अधिकतम उपज के समय संहरित-सग्रहण (एनसिलिंग) करके अथवा अन्य कृत्रिम तरीकों से सुखाकर चारे को जाड़ों में इस्तेमाल के लिए बड़ी अच्छी तरह से रखा जा सकता है। इस प्रकार के सभी ज्ञान रासायनिक अनुसन्धानों से ही प्राप्त हुए हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि चारे की घास तथा दूसरी फसलें कब काटी जायें जिससे उनका पोषक मान अनुकूलतम हो। इस सवाल के हल में भी रसायनज्ञ ही किसान की सहायता करता है। कृत्रिम रूप से सुखाने तथा संहरित-सग्रहण जैसे चारा संरक्षण के तरीकों और चारों के पोषक मान पर इन तरीकों के प्रभाव का अध्ययन भी रसायनज्ञों ने ही किया है। ऐसे अध्ययनों के फल युद्धकाल में विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं क्योंकि उस समय आयातित पशुखाद्य की मात्रा में बड़ी कटौती हुई और उसके कारण पशु प्राशक को अपने देश में उत्पन्न पदार्थों पर ही अधिकाधिक निर्भर रहना पड़ा तथा जाड़ों के लिए उन्हीं पदार्थों का संरक्षण भी करना पड़ा। घास, ओट, टेअर्स, लूसरने, काले तथा अन्य फसल और पी-कैनेरीज के कचरे जैसे क्षेप्य (वेस्ट) पदार्थों को सुस्वाद एवं उच्च पोषक मान वाले संहरितों (साइलेज) के रूप में परिणत करना भी रसायनज्ञों के प्रयास से ही संभव हुआ। युद्धकाल में शिविरों के कच्चे तथा विधायित (प्रोसेस्ड) पेयों (स्विल) और नगरों की रसोइयों के क्षेप्यों के रासायनिक निबन्ध एवं पोषक मान की भी गवेषणा की गई थी। ये सभी चीज सूअरों और कुक्कुट आदि (पोल्ट्री) को खिलाने के लिए बड़े व्यापक रूप में प्रयुक्त हुई थी। पयालों का पोषक मान बढ़ाने के लिए उचित रीतियाँ निकालने में भी रासायनिक अनुसन्धानों ने उत्तम योग दिया

और बहुत सी ऐसी चीजो के पोषक मान का ज्ञान कराया जो साधारणतया पशुखाद्य के रूप मे इस्तेमाल नही की जाती थी।

बहुत से पशुखाद्य विविध उद्योगो के उपजातो (बाइ-प्रॉडक्ट) के रूप में उत्पन्न होते है। इनमे अलसी, बिनौला, सोयाबीन, मूँगफली, तालबीज, नारियल इत्यादि से तेल निकालने के बाद बची खली अथवा चूर्ण उल्लेखनीय है। ये सान्द्रित (कॉन-सेन्ट्रेट) प्रोटीन के रूप मे प्रयुक्त होते है और इसी प्रकार मासचूर्ण (मीट मील), मास तथा अस्थि चूर्ण, मत्स्य चूर्ण, व्हेल चूर्ण एव सुखाये रुधिर जैसे पशु उपजात भी काम में लाये जाते है। और भी अन्य उद्योगो के उपजात पशुखाद्य के रूप में इस्तेमाल होते है। चुकन्दर के चीनी कारखानो से प्राप्त रेशे तथा यवासवनियो (ब्रूअरीज़) एव आसवनियो (डिस्टिलरी) के धान्य ऐसे उपजातो के अच्छे उदाहरण है।

जिस प्रकार कृत्रिम उर्वरको की उत्तमता की सुरक्षा 'फर्टिलाइजर्स ऐण्ड फीडिंग स्टफ्स ऐक्ट' के द्वारा की जाती है, उसी प्रकार कृत्रिम रूप से उत्पन्न पशुखाद्यो की उत्तमता की भी उसी अधिनियम से सुरक्षा होती है, जिसके प्रशासन में आधिकारिक विश्लेषकों की हैसियत से रसायनज्ञों का बडा हाथ होता है।

ग्रन्थसूची

CARLOS, A S : *Feeding Stuffs* Chapman & Hall, Ltd

HALMAN AND GARNER · *Principles and Practice of Feeding Farm Animals.* Longmans, Green & Co , Ltd

HENRY AND MORRISON *Feeds and Feeding.* Wisconsin Press.

MAYNARD, E L *Animal Nutrition* McGraw Hill Book Co , Inc.

तम्बाकू

लेफ्टिनेण्ट कर्नल सिडनी डब्लू० बकर, डी० एस० ओ०, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

साधारण उपयोग के लिए तीन प्रकार के तम्बाकू की खेती की जाती है—(१) वर्जीनिया तम्बाकू (निकोटियाना टुबैकम), (२) सीरियाई तम्बाकू (एन० फुस्टिका) और (३) शीराज़ी तम्बाकू (एन० पर्सिका)। पहले प्रकार के तम्बाकू की बडी

यद्यपि तबाकू की खेती ससार के प्राय सभी देशों में होती है, लेकिन सयुक्त राज्य अमेरिका में इसके सबसे विस्तृत खेत हैं। कनाडा, भारत, उत्तरी तथा दक्षिणी रोडेसिया, दक्षिणी अफ्रीका और वेस्ट इण्डीज़ में तम्बाक का खूब जमा हुआ उद्योग है तथा यह बराबर बढता जा रहा है। अब आस्ट्रेलिया और मध्य देश में भी इसकी खेती शुरू कर दी गयी है। यूनान, तुर्की, मकदूनिया, डच ईस्ट इण्डीज, बोर्नियो और चीन मे भी अनेक वर्षो से तम्बाकू की काफी विस्तृत खेती होती है।

इगलैण्ड में बाहर से आये तम्बाकू की खपत के निम्नलिखित अको से इसके उद्योग की विशालता का आभास मिलता है। वार्षिक राजस्व (रेवेन्यू) का यह एक बडा महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह बात कर(ड्यूटी)की निम्नलिखित धनराशियो से स्पष्ट है—

वर्ष (३१ मार्च तक समाप्त)	ब्रिटेन की कुल जनसख्या	ब्रिटेन में प्रयुक्त कुल भार (पौंड)	प्रति व्यक्ति पीछे खपत (पौण्ड)	कर की धनराशि (पौण्ड)
१९२२	४७,१२३,०००	१३६,०५९,०३९	२ ८९	५५,१९३,९०३
१९२९	४५,५७७,०००	१४१,९१०,६९२	३ ११	५९,०८६,१५१
१९३९	४७,४८५,०००	१९१,९९९,२६५	४ ०४	८४,८१२,८३५

ससार में कोई ऐसा बडा देश नही है जहाँ तम्बाकू पर सरकार का या तो एकाधिकार (मानोपाली) न हो या उस पर सीमा कर (कस्टम्म ड्यूटी) अथवा उत्पादन कर (एक्साइज़ ड्यूटी) अथवा दोनो न लागू हो। अत यदि ससार भर मे लगे तम्बाकू पर राजस्व की कुल धनराशि का सकलन किया जाय तो उसकी सख्या प्राय कल्पनातीत होगी।

तम्बाकू की खेती मे, मिट्टी सर्वप्रथम कारक (फैक्टर) है। इसके रासायनिक निबन्ध के ज्ञान से तो प्रत्याशित (एक्सपेक्टेड) परिणाम का केवल एक अपूर्ण आभास प्राप्त होता है। इसीलिये मिट्टी का अध्ययन यात्रिक एव जैविकीय अवस्थाओं को ध्यान में रख कर करना ही उचित है। वेहन (सीडलिंग) तथा बीज को प्रत्यक्षत. एक ही प्रकार की मिट्टी और जलवायु में रोपने पर भी फल भिन्न एव विशिष्ट होते है। यह भेद अधिकाशत भूमि की जैविकीय परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण होता है।

रासायनिक उर्वरकों के उपचार से तम्बाकू के पौधे पर बहुत प्रभाव पडता है, इसीलिये विशेष अवस्थाओ को ध्यान में रखकर वाछित परिणाम के लिए नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश जैसे मुख्य मुख्य तत्त्वो का सावधानी से सतुलन करना पड़ता है। नाइट्रोजन की कमी से उसकी वृद्धि रुक जाती है और उसकी अधिकता से पत्तियाँ काली, खुरदरी तथा सबल होती हैं और उनमें निकोटिन की मात्रा भी बढ़ जाती है। धूमन के लिए तम्बाकू में जलते रहने की उत्तम क्षमता भी होनी चाहिये। परन्तु पोटाश के अभाव अथवा क्लोराइडो या सल्फेटो की अधिकता वाली मिट्टी में उपजे तम्बाकू में यह गुण कम हो जाता है। परिपक्व तम्बाकू के सुवास का भी मिट्टी में फास्फेट की मात्रा से बडा घनिष्ठ सबन्ध है। रग, रूप, दृढता तथा अवनम्यता (प्लायबिलिटी) आदि तम्बाकू की पत्तियो के बडे महत्त्वपूर्ण गुण हैं।

केवल सुखा करके तम्बाकू में से जल निकाल देना मात्र ही उसके अभिसाधन (क्योरिंग) की रीति नही, बल्कि किण्वन (फर्मेण्टेशन) प्रक्रिया से उसके रग, रूप, सुवास तथा अन्य भौतिक गुणो का विकास होता है। तम्बाकू की पत्तियों में अनेक *रासायनिक पदार्थ होते हैं और उनमें बहुत से जटिल जीव-रासायनिक परिवर्तन भी* होते रहते हैं। इन्ही कारणो से अभिसाधन अर्थात् क्योरिंग की रीति बडी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

"अभिसाधन की कुछ रीतियो में शर्करा शेष रह जाती है जब कि अन्य रीतियों में वह गायब हो जाती है तथा उससे साइट्रिक, मैलिक और आक्जलिक अम्ल बन जाते हैं। आगे चल कर ये अम्ल अधिकाशत कार्बन डाइऑक्साइड और जल में परिवर्तित हो जाते हैं। इस परिवर्तन में साइट्रिक अम्ल का आक्सीकरण उतनी सरलता से नही होता जितनी से औरो का। एक दूसरी रीति में एसेटिक अम्ल की मात्रा छ गुनी बढ जाती है और नाइट्रिक अम्ल की मात्रा घट कर आधी रह जाती है। एक और अन्य रीति में देखा गया है कि नाड़ियो के लवण मध्यनाड़ी से होकर डण्ठल में चले जाते हैं।" (Jr Industrial eng. chem , XIV, 1922)

उत्पादन कर के सबन्ध में सरकारी प्रयोगशालाओं में प्रति वर्ष हजारो की सख्या में तम्बाकू की आर्द्रता एव खनिज भस्म का निश्चयन किया जाता है। तम्बाकू की आर्द्रता भी एक सुनिश्चित सीमा के अन्दर ही रखी जाती है, क्योंकि इसमे न केवल कुछ भौतिक दशाओं का रक्षण होता है बल्कि *अन्य अवस्थाएं* एक जैसी होने पर भी तम्बाकू में केवल आर्द्रता की मात्रा भिन्न होने से उसके धूम्र में सघटको का अनुपात बदल जाता है। निर्माता लोग तम्बाकू में निकोटीन की मात्रा पर भी नियंत्रण रखते हैं, क्योंकि यद्यपि स्वय निकोटीन की मात्रा तम्बाकू की श्रेणी का कोई माप नही है फिर भी इसमें

इस बात का निश्चय अवश्य हो जाता है कि मिश्रित तम्बाकू के अन्य गुणो का मानकीकरण' किया गया है।

ग्रेट ब्रिटेन मे तम्बाकू मे अन्य पदार्थ मिलाने पर भी वैधानिक रोक है, लेकिन कुछ दशाओ मे 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' द्वारा नियंत्रित शर्तो के साथ कुछ छूट भी दी जाती है। वहाँ बिकने वाले साधारण सिगरेटो मे कृत्रिम सुगध तथा बाह्य वस्तु नही होती। पाइप मे पिये जाने वाले तम्बाकू मे सुरभि बढाने के लिए उनका कुछ विशेष उपचार किया जाता है। इन सुरभिक पदार्थो के, जो मुख्यत वाष्पशील तेलो के ऐल्कोहलीय विलयन होते है, निर्माण और मिश्रण पर भी वैधानिक नियत्रण रहता है। दूसरी ओर सयुक्तराज्य अमेरिका मे ग्लिसरीन के केसिग अथवा डाइइथिलीन ग्लाइकोल प्राय सार्वत्रिक रूप से शक्कर, शीरा, चाकलेट, फलो के रस तथा वाष्पशील तेल के साथ मिला कर प्रयुक्त होता है।

सिगरेट के लिए कागज निर्माण मे भी वैज्ञानिक नियत्रण की बडी आवश्यकता होती है, जिससे उसके आवश्यक भौतिक गुणो की सुरक्षा हो सके। ऐसे कागज में किसी अशुद्धता का सूक्ष्मतम लेश भी रहने से तम्बाकू की सुगन्ध पर बडा प्रतिकूल प्रभाव पडता है। कागज की दाह्यता न तो बहुत तेज और न बहुत धीमी होनी चाहिए, उसका रग साफ और स्वच्छ होना चाहिए तथा उसे तम्बाकू मे मे एक उचित सीमा से अधिक रग नही सोखना चाहिए। कागज का आतनन (टेन्साइल) गुण भी ऐसा होना चाहिए कि जिससे बिना कागज के फटे अथवा अन्य प्रकार से क्षत हुए प्रति मिनट लगभग १५०० सिगरेट मशीन से बन कर निकल सके।

तम्बाकू मे ऐल्कलायड निकोटीन तथा उसके निकट सबन्धित यौगिको के अतिरिक्त सामान्य वनस्पति कार्बनिक पदार्थ भी होते है। निकोटीन कुछ कार्बनिक अम्लो के सयोजन से बने विभिन्न स्थायित्व वाले लवणो के रूप में रहता है।

तम्बाकू की विशेष सुगन्धि वाष्पशील तेलो, अलियो-रेजीनो तथा रेजीनो की लघु मात्रा के कारण होती है, किन्तु रासायनिक विश्लेषण से इसकी श्रेणी (क्वालिटी) का ठीक ठीक निश्चय नही किया जा सकता और न ही अन्य किसी साधन से। अच्छी श्रेणी के तम्बाकू में प्राय कार्बोहाइड्रेट की मात्रा ऊँची तथा प्रोटीन की मात्रा कम होती है।

जलने की क्षमता पत्तियो मे प्राप्य खनिज पदार्थो की सरचना' पर निर्भर होती है। और यह एक बडी महत्त्वपूर्ण बात है क्योकि दहन जितना पूर्ण होगा सुगध भी

उतनी ही आनन्ददायक होगी। अपूर्ण दहन से उत्पन्न पदार्थ निश्चित रूप से अरुचिकर होते हैं।

तम्वाकू के घूम्र सबन्धी अनुसन्धान पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण प्राय यह है कि इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जैसे धूमन की अवस्थाओं का मानकीकरण, उसकी समस्त उत्पत्तियों का पूर्ण सग्रहण, धूम में होने वाले पदार्थों के जटिल समूहों का विश्लेषण तथा रासायनिक यौगिको के विभिन्न वर्गों का पृथक्करण इत्यादि। परिवर्तित तथा अपरिवर्तित ऐल्कलायड, फिनाल, ऐल्डिहाइड, ऐल्कोहल, टर्पीन, रेज़ीन और वस्तुतः घूम में प्राय सभी कार्बनिक वर्गों के यौगिक पाये जाते हैं। तम्वाकू के धुएँ पर अधिकांश काम वाणिज्यिक सस्थानों में किया गया है, अत वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में उनका विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता। निर्माताओं में विशुद्ध शैक्षणिक महत्त्व की गवेषणा करने कराने की कुछ विशेष प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार तम्वाकू उद्योग का रसायन शास्त्र से सबन्ध बहुधा उसके कुछ सामान्य कारकों के नियत्रण तक ही सीमित है।

अध्याय २

खाद्य

[आहार और पोषण, आटा-पिसाई, रोटी; दूध और दुग्धालय पदार्थ, खाद्य तेल और वसा, शर्करा, स्टार्च, कोको, चाकलेट, मिठाई; डब्बाबन्दी, शीतसग्रहण, यवासवन, ऐल्कोहाल, मदिरा और स्पिरिट]

आहार और पोषण

ए० एल० बकारैक, एम० ए० (कैण्टैब), एफ० आर० आ.ई० सी०

खाद्योद्योग की विभिन्न शाखाओं मे रसायनज्ञो ने अनेक सेवाएँ की है तथा जनसाधारण के कल्याण में हाथ बँटाया है। इसमें सदेह नही कि रसायन शास्त्र ने केवल अकेले नही वरन् जीवाणुविज्ञान (बैक्टिरियालोजी), इजीनियरिंग तथा कृषि के साथ मिलकर इस उद्योग का उच्चस्तरीय प्राविधिक विकास किया है, हाँ उसका भाग महत्त्वपूर्ण अवश्य है। जिस ज्ञान के आधार पर यह विकास हुआ है उसे मैक्कुलम ने 'आहार-पोषण का नवीन ज्ञान' की सज्ञा दी है। इस नवीन ज्ञान से हमारे आहारसबन्धी ज्ञान, विशेषकर उसकी कोटि और श्रेणी के बारे में हमारे दृष्टिकोण पर बडा प्रभाव पडा है। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन अधिकाशत रसायनज्ञो के अध्यवसाय का ही फल है। इसी अध्यवसाय के परिणामस्वरूप इस उद्योग में वैज्ञानिक रीतियो एव साधनो को अपना करके इसकी उन्नति की गयी है, जो जन-समुदाय के लाभ का प्रत्यक्ष साधन बनी।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसा समझा जाता था कि मनुष्य अर्थात् स्त्री, पुरुष एव बच्चो के पोषण के लिए केवल प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, जल, सोडियम, कैल्सियम, लोहा और क्लोरीन पर्याप्त है। परन्तु आहारविज्ञान मे गत ३-४ दशको मे जो महत्त्वपूर्ण विकास एव उन्नति हुई तथा उससे जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसके सामने हम प्राय. यह भूल-सा गये कि हमें प्रोटीन, वसा इत्यादि सदृश उपर्युक्त खाद्यतत्त्वो (फुड फैक्टर्स) की अब भी आवश्यकता है। विविध प्रकार के खाद्य-पदार्थों का रासा-

यनिक विश्लेपण करके ही हमने मनुष्य की वृद्धि और सर्जन की आवश्यकताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया है। खाद्य पदार्थों की विविधता जानने के लिए हमें एस्किमो लोगों से लेकर मौरी तक, तिब्बतियों से काफिरों, आरान निवासियों से ईस्ट इण्डियनों तक तथा पश्चिमी यूरोप के रहने वालों से लेकर उत्तरी अमेरिकियों तक के आहारों का अध्ययन करना पड़ेगा। रसायनज्ञों द्वारा नियोजित एवं प्रयुक्त विश्लेषण की उत्तम रीतियों से ही आहार-रचना सबन्धी हमारे उस ज्ञान की उत्पत्ति हुई है जिसके अभाव में हम आहार पोषण के मूल सिद्धान्तों के बारे में अन्धकार में ही भटकते रह जाते।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, हमारा यह 'नवीन ज्ञान' निस्सदेह रासायनिक विश्लेषणों पर ही आधारित है। विश्लेषण की ये रीतियाँ अब इतनी उन्नत एवं परिष्कृत हो गयी हैं कि उनके द्वारा खाद्य पदार्थों में उन तत्वों का भी आगणन सभव हो गया है, जो उनमें केवल सहस्रांशों में ही विद्यमान होते हैं। ये तत्त्व अपनी दैहिक प्रक्रिया (फिजियालोजिकल ऐक्शन) के कारण मानव स्वास्थ्य के लिए आवश्यक बड़े बड़े खाद्य तत्त्वों से किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। पहले इनके मात्रात्मक विश्लेषण की बात तो अलग थी, खाद्य पदार्थों में इनका पता लगाना भी दुस्तर कार्य था। रसायनज्ञ केवल अपने रासायनिक ज्ञान से ही सभी समस्याएँ हल नहीं करते बल्कि समय समय पर जीव-रसायनज्ञों की भी सहायता लेते हैं या आवश्यकता पड़ने पर उनका कार्य स्वय अपने ऊपर लेकर पशु-परीक्षणों द्वारा विटामिनों एव अन्य खाद्य तत्त्वों की जाच करते हैं।

खाद्य पदार्थों की रचना सबन्धी हमारे ज्ञान में निरन्तर वृद्धि हो रही है तथा इसी बढते हुए ज्ञान पर खाद्योद्योग की प्रगति निर्भर है। आहार तथा पोषण मान के मुख्य प्रश्नों को हल करने के अतिरिक्त हमारा यह ज्ञान अन्य बातों में भी लाभदायक सिद्ध हुआ है। आहारों के निर्माण एव विधायन (प्रोसेसिंग) के लिए तथा उसके पूर्व और पश्चात् खाद्य के सग्रहण काल में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए भी यह ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। आहारों, विशेषकर विटामिनों, की पाच्यता, स्वाद एव स्थायित्व जैसे गुणों के नियत्रण के लिए भी इसकी परम आवश्यकता है। इसके अलावा भोजन पकाने अथवा जीवाणुहनन (स्टेरिलाइजेशन) अथवा वैसी ही अन्य कार्यविधाओं (प्रोसीड्योर) में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को जानना-समझना भी अत्यावश्यक है, क्योंकि खाद्यों के पोषण-मान पर इनका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस ज्ञान से आहारों की श्रेणी या कोटि के बारे में हमें जानकारी प्राप्त होती है।

खाद्य पदार्थों में अधिकतम पोषक गुण, स्वाद और स्थायित्व की सुरक्षा करना आज के आहार-प्रौद्योगिकीविद् (फुड टेक्नालोजिस्ट) का मुख्य ध्येय होता है। कच्चे माल तथा विधायन[1] की रीतियों का नियन्त्रण करके वह इस बात की प्रतिभूति प्रदान करता है कि उपभोक्ता को उसकी चाही प्रकृति एव श्रेणी की वस्तु मिले तथा किसी अनचाही वस्तु के मिलने से उसकी क्षति न होने पावे।

बडे पैमाने पर विटामिनो के निर्माण अथवा प्राकृतिक स्रोतों से उन्हें एकलित (आइसोलेट) या सान्द्रित (कान्सेन्ट्रेट) करने में रसायनज्ञों का कार्यभाग भी उल्लेखनीय है। कुछ ऐसे खाद्य पदार्थ होते हैं। जिनमें विटामिन मिलाने की आवश्यकता होती है या विधानत उनका मिलाना अनिवार्य होता है। इन पदार्थों में आवश्यक विटामिन या उनके सान्द्रित मिलाने की रीतियों का बडा कडा रासायनिक नियंत्रण होता है। आजकल ग्रेट ब्रिटेन मे मानव उपभोग के लिये बन रही मार्गरीत में विटामिन ए सान्द्रित (या कैरोटीन) अथवा कैल्सिफेराल (विटामिन डी) मिलाया जाने लगा है। यह भी रसायनज्ञो के कार्यों का ही फल है। आजकल सयुक्त राज्य अमेरिका में रोटी में यथेच्छया विशुद्ध विटामिन बी[1] (एन्यूरीन यानी थायामीन), विशुद्ध रिबोफ्लवीन तथा विशुद्ध निकोटिनिक अम्ल मिलाया जाता है, इसका श्रेय भी रसायनज्ञों को ही है। ऐस्कार्बिक अम्ल अर्थात् विटामिन सी का बडे पैमाने पर निर्माण भी रसायनज्ञों के परिश्रम से ही सभव हुआ है। अब यह विटामिन फलपाकों (जैम) अथवा अन्य परिरक्षित (प्रिजर्व्ड) खाद्य पदार्थों मे सरलता से मिलाया जा सकता है। रासायनिक इजीनियरो की सहायता और सहयोग से रसायनज्ञो ने पिरिडाक्सीन (विटामिन बी$_6$), पण्टोथिनिक अम्ल, बायोटीन (विटामिन एच) मिथिल नप्थोक्विनोन (विटामिन के), विटामिन डी$_2$ और टोकोफेराल (विटामिन ई) इत्यादि के सश्लेषण में जो सफलता प्राप्त की है वह प्रशसनीय है। उनका यह प्रयास आहार-प्रौद्योगिकी एव सश्लेषण रसायन का मध्यमार्ग है।

काउण्टी और बरो[2]-अधिकारियो द्वारा नियुक्त सार्वजनिक विश्लेषक (पब्लिक ऐनेलिस्ट्स) उपभोक्ताओं के हितों की शाश्वत रक्षा करते हैं। ये विश्लेषक स्वास्थ्याधिकारी (हेल्थ अफसर) के सहयोग से बराबर काम करते रहते हैं, यद्यपि इन विश्लेषकों के जिम्मे खाद्य विश्लेषण के अलावा भी अनेक काम होते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में सभी जन-विश्लेषक (पब्लिक ऐनेलिस्ट) उच्च योग्यता प्राप्त रसायनज्ञ

[1] Prccessing [2] Borough

होते है। उनके लिए 'रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' द्वारा आयोजित आहार एव भेपज रसायन तथा सूक्ष्मदर्शिकी (माइक्रॉस्कोपी) की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। उन सबको 'इन्स्टिट्यूट' का 'फेलो' या 'असोसियेट' भी होना पडता है तथा उनकी नियुक्तियां स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा अनुमोदित की जाती हैं।

*यह कहना उचित नही कि सार्वजनिक विश्लेपको और उद्योगो में काम करने*वाले आहार-रसायनज्ञो में परस्पर विरोध होता है, प्रत्युत इसके विपरीत 'दि सोसायटी ऑफ पब्लिक ऐनेलिस्ट्स ऐण्ड अदर ऐनेलिटिकल केमिस्ट्स' तथा 'फुड ग्रुप ऑफ दि सोसायटी ऑफ केमिकल इण्डस्ट्री' जैसी सस्थाओ में निकटतम सहयोग होता है। इसके अलावा आहार उद्योग में काम करने वाले अधिकाश रसायनज्ञ भी 'रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' के 'फेलो' या 'असोसियेट' होते है, जिसका अर्थ यह है कि उनकी प्रशिक्षा भी वैसी ही और उतनी कडी होती है जितनी जन-विश्लेपको की। एक ही सस्था के सदस्य होने के नाते वे समान व्यावसायिक शीलाचार (कोड ऑफ प्रोफेशनल एथिक्स) के नियमो से आवद्ध होते है। इन्ही कारणो से खाद्य पदार्थो के उत्पादन एव वितरण में काम करने वाले सभी प्रकार के रसायनज्ञो में स्वतत्र विचार-विनिमय और वैज्ञानिक विपयो पर खुला वादविवाद सभव तथा सार्थक होता है। इग्लैण्ड जैसे देश में, जहाँ खाद्य पदार्थो के लिए कोई सुनिश्चित वैधानिक मानक नही बने है, इस प्रकार का पारस्परिक सहयोग बडे महत्व का विपय है। किसी खाद्य पदार्थ से किसी उपभोक्ता को हानि हुई अथवा नही, इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय तो न्यायालयों में ही होता है, लेकिन इस प्रकार के मामले न्यायालयो तक पहुँचते ही वहुत कम है। जन-विश्लेपक का ही एक शब्द विक्रेता अथवा निर्माता के लिए पर्याप्त होता है और प्राय उतने से ही सभी मामलो की गलती पकड एव सुधार ली जाती है। आहार रसायनज्ञ ही नही वरन् अच्छे विचारो वाले निर्माता भी खाद्य विश्लेपक को मित्र एव हितैपी के रूप में मानते है। यद्यपि उनका विशेप कर्तव्य जनसाधारण के हितो की सुरक्षा करना है, लेकिन वे अविवेकी व्यवसायियो तथा बेईमान विक्रेताओ *की अवाछनीय कारंवाइयो के विरुद्ध उन निर्मताओ के हितो की भी बराबर रक्षा* करते है, जो सुयोग्य रसायनज्ञो को काम पर लगाने के लिए सदा सचेष्ट एव इच्छुक रहते हैं। खाद्य पदार्थों के निर्माण में सचाई और ईमानदारी ही सर्वोत्तम नीति मानी जानी चाहिए, और विश्लेपको का परम कर्त्तव्य है कि वे इसकी निरन्तर चेष्टा करें कि यह नीति बरावर अपनायी जाय। यह वडी सुखद वात है कि उनको अपने इस कर्तव्य के पालन में शायद ही कभी वैधानिक यत्र की सहायता लेनी पडती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनको अपने कार्य की पूर्ति में उच्च योग्यता वाले सहयोगियो

से बराबर सहायता मिला करती है, जो अपने सारे नवीनतम रासायनिक ज्ञान को आहार उद्योग की उन्नति में लगाते तथा लगाने के लिए तत्पर रहते हैं।

ग्रन्थ-सूची

BACHARACH, A L · *Science and Nutrition* C. A. Watts & Co , Ltd.

DAVIDSON, L S. P., AND ANDERSON, I A . *Textbook of Dietetics*. Hamish Hamilton, Ltd.

DRUMMOND, J. C , AND WILBRAHAM, A : *The Englishman's Food*. Jonathan Cape, Ltd.

HARRIS, L J *Vitamins in Theory and Practice*. Cambridge University Press.

MCCOLLUM, E V , ORENT-KEILES, E , AND DAY, H G . *The Newer Knowledge of Nutrition*. Macmillan & Co., Ltd.

MOTTRAM, V. H. *Food and the Family*. Nisbet & Co , Ltd.

PARSONS, T. R. · *Fundamentals of Biochemistry*. W Heffer & Sons, Ltd

SHERMAN, H. C , AND LANFORD, C. S. *Essentials of Nutrition* Macmillan & Co , Ltd.

HUTCHINSON, SIR ROBERT, AND MOTTRAM, V. H *Food and Dietetics*. Edward Arnold & Co

आटा-पिसाई में रसायनज्ञ का कार्यभाग

टी० एच० फेयरब्रदर, एम० एस-सी० (मैन०), एफ० आर० आई सी०

आटा-पिसाई में वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग होना अभी हाल की बात है। यद्यपि आटा पीसने का काम किसी न किसी रूप में सारे ससार में स्मरणातीत काल से होता आया है लेकिन बीसवी शताब्दी के पहले इस उद्योग में उसकी समस्याओं को हल करने के लिए रसायनज्ञों तथा जीव रसायनज्ञों की सहायता का पूरा पूरा उपयोग नहीं किया जाता था। और न इन समस्याओं को वैज्ञानिक ढग से हल करने का कोई प्रयत्न ही किया जाता था। इस शताब्दी के पूर्व धान्यों अर्थात् अनाजों का अध्ययन केवल कृषि-अन्वेषण का ही अग माना जाता था और तत्सम्बन्धी कोई भी अनुसन्धान कार्य मुख्यत. उपज बढाने तथा कृषि की रीतियों को उन्नत बनाने के ही ध्येय से किया जाता रहा है।

धान्य विज्ञान अर्थात् धान्यो का अध्ययन तथा पिसाई और सेंकाई प्रक्रमों[1] में होने वाले भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनो का अध्ययन वस्तुत बीसवीं शताब्दी की देन है। इसके पहले भी कुछ अनुसन्धान हुए थे ; जैसे गेहूँ प्रोटीन सबन्धी ऑसबोर्न एव ऊर्हीम का कार्य जो १८९४ में 'अमेरिकन केमिकल जर्नल' में प्रकाशित हुआ था। १७२८ में वेक्कारी ने यह बताया था कि गेहूँ के आटे को दो भागो में पृथक किया जा सकता है, जिन्हें उन्होने 'वनस्पति' तथा 'प्राणी' प्रकृति वाले भाग कहा था। किन्तु इन अवलोकनों की व्यापकता कुछ विशेष न थी और न उनके समन्वय पर ही कोई खास ध्यान दिया जाता था। वस्तुत धान्य रसायन (सीरियल केमिस्ट्री) का प्रारम्भ १९०७ में हुआ और उड महोदय उसके प्रवर्तक थे, क्योंकि उन्होने गेहूँ प्रोटीन के रसायनिक निबन्ध पर प्रथम अनुसन्धान किये। उसके बाद ही देश-विदेश में रसायनज्ञों ने पिसाई सबन्धी समस्याओं को हल करने का अधिकाधिक प्रयास किया।

पिसाई उद्योग वाले रसायनज्ञों के काम सूक्ष्म रसायन, रंजक एव भेषज निर्माण में लगे रसायनज्ञों के काम से कुछ बातों में बहुत भिन्न है। इनकी तुलना केवल इस हद तक की जा सकती है कि दोनों वर्गों के रसायनज्ञों को अति परिशुद्ध रासायनिक विश्लेषण करने पड़ते है। आटा-पिसाई प्रयोगशाला का विश्लेषण-विभाग ही सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि विश्लेषक द्वारा की गयी परीक्षाओ के फल पर ही गेहूँ की मिलावट तथा अनुकूलन जैसी क्रियाएँ निर्भर करती है। धान्य रसायनज्ञ का यह काम है कि वह ऐसे गेहूँ से, जिनकी श्रेणी में काफी उतार-चढाव होता है, बराबर एकसम आटा उत्पन्न करने में चक्की वालो की सहायता करे। रसायनज्ञ की सहायता उपलब्ध होने के पहले चक्की वाले गेहूँ को दांत से कुतर करके ही गेहूँ में आर्द्रता की मात्रा तथा उसके बीज की कठोरता और मृदुता का अनुमान कर लेते थे; और फिर उसे चबाते थे जिससे उसका सारा स्टार्च गायब हो जाता और अश्लेप (ग्लूटेन) की जुगाली मात्र बच रहती। इसी अश्लेप के लचीलेपन से उन्हें गेहूँ की शक्ति के बारे में अपना निष्कर्ष निकालना पड़ता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है चक्कीवालो के कच्चे माल अर्थात् गेहूँ की श्रेणी में बड़ा उतार-चढ़ाव होता है। बाजार में गेहूँ की एक हजार से ऊपर किस्में पायी जाती हैं। किस्मों की इस विभिन्नता का कुछ आभास फेयरब्रदर की प्रयोगशाला में एक ही ऋतु में प्राप्त नमूनो के विश्लेषणो से प्राप्त हो सकता है, उनकी आर्द्रता की मात्रा

[1] Process

८५ प्रतिशत से लेकर २१ प्रतिशत तथा प्रोटीन मात्रा ७ ० प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक थी। इस श्रेणी भेद का ठीक ठीक आगणन[1] गेहूँ को केवल कुतर अथवा चबाकर ही नही किया जा सकता। यह तो सुग्राही तुला, मानक विलयनों एव परिशुद्ध रीतियो से युक्त योग्य रसायनज्ञ की ही सहायता से किया जा सकता है और तभी गेहूँ की श्रेणी का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। आर्द्रता, प्रोटीन, भस्म, स्टार्च, सेल्युलोज, वसा, माल्टोज विटामिन इत्यादि की मात्रा का निश्चयन रसायनज्ञ के वैश्लेषिक कार्य के कुछ उदाहरण हैं। माल्टोज के निश्चयन मे रोटी के चिपकनेवाले गूदा (स्टिकी क्रम्ब) सबन्धी कठिन समस्या को हल करने में बडी सहायता मिली है। कुछ गेहूँ में डायस्टेज की सक्रियता अत्यधिक और कुछ में बहुत कम होती है। विभिन्न प्रकार और श्रेणी वाले गेहूँ को मिलाकर तथा डायस्टेज की कम सक्रियतावाले नमूनों में माल्ट मिलाकर ऐसे दोषो को ठीक किया जाना चाहिये।

आटा-पिसाई उद्योग वाले रसायनज्ञो को परिशुद्ध विश्लेषण करने के अलावा अपने परिणामो का बडे पैमाने पर व्यवहार भी करना चाहिये। जैसे रजक कारखानो अथवा अन्य रासायनिक निर्माणियो मे सपरीक्षा सयन्त्र (एक्सपेरिमेण्टल प्लाण्ट्स) लगे रहते हैं उसी प्रकार आजकल पिसाई उद्योग के रसायनज्ञो की प्रयोगशाला में भी ऐसे सयन्त्र लगे मिलेंगे। यह बडी महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि विविध प्रकार के गेहूँ के नमूनो को वह स्वय पीस कर यह ठीक ठीक बता सकते है कि वे किस हद तक चक्की-वालो के काम के होगे तथा उनके बारे मे अपने उचित सुझाव भी दे सकते हैं। गेहूँ के नमूनो से इस प्रकार की सपरीक्षा कर वह चक्कीवालो को गेहूँ की खरीद के बारे में भी उचित सलाह दे सकते हैं। अगर गेहूँ खरीदा जा चुका है तो वह उसके मिश्रण अनुकूलन अथवा पिसाई के सबध में भी निर्देश कर सकते है। यो तो कोई चक्कीवाला उत्तम गेहूँ से आटा बना सकता है, लेकिन रसायनज्ञ उसे इससे अधिक भी कुछ करने मे सहायता करते हैं। वह तो अपने प्रयोगो के आधार पर ऐसे गेहूँ का उपयोग कराते है जिसे या तो फेक दिया जाता या फिर उसे पीस कर निकृष्ट आटा तयार किया जाता।

उपर्युक्त बातो मे चक्कीवालो को उपलब्ध रसायनज्ञो की कुछ प्रत्यक्ष सेवा-सहायता की एक झलक मिलती है, परन्तु वैज्ञानिक प्रशिक्षा प्राप्त बुद्धिमान् रसायनज्ञ तो अन्य कितनी ही दिशाओं में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। आटा-पिसाई तो ऐसा उद्योग है जिसकी मूल्य गणना प्रणाली मे दशमलव के बिन्दुओं का भी विशेष महत्त्व

[1] Estimate

होता है अत उन पर कडी दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है। प्रति बोरा पैनो के एक अश का भी हानि या लाभ पर बडा गम्भीर प्रभाव पडता है। रसायनज्ञ अपने विश्लेषणो द्वारा यह बता सकते है कि गेहूँ में आर्द्रता की लाभप्रद कितनी मात्राएँ रखी जा सकती है। यह प्राय निरर्थक जान पडता है क्योंकि लोग बहुधा यही सोचते है कि आर्द्रता की जितनी अधिक मात्रा होगी आटे का भार उतना ही अधिक होगा, फलत लाभ की राशि भी उतनी ही बढ़ जायगी। किन्तु यह बात सही नही है, क्योकि विभिन्न प्रकार के गेहूँ की एक ऐसी अनुकूलतम आर्द्रता होनी है जिससे सर्वोत्तम एव सर्वाधिक आटा प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मैनिटोवा न० १ गेहूँ की उत्तम पिसाई के लिए *आर्द्रता की मात्रा आस्ट्रेलिया के गेहूँ से बहुत भिन्न होती है। मैनिटोबा गेहूँ में बडा शक्तिशाली ग्लूटेन होता है और उसका आटा भी बहुत रवादार होता है। इस गेहूँ से अधिकतम प्राप्ति पाने के लिए इसमें १८%आर्द्रता रखनी पडती है अन्यथा इसका अच्छा आटा बन कर बोरे में एकत्र होने के बजाय केवल दलिया बनकर चक्की के नीचे तली*[1] में जमा हो जाता है। दूसरी ओर आस्ट्रेलियाई गेहूँ के लिए भिन्न उपचार की आवश्यकता होती है क्योकि अगर १५% आर्द्रता के ऊपर उसकी पिसाई की जाय तो वह ऊन के समान हो जाता है और फिर ठीक से छन नही सकता। रसायनज्ञो ने यह भी बताया है कि सबको मिलाकर एक साथ अनुकूलित करने के बनिस्बत विभिन्न प्रकार के गेहूँ का अलग-अलग अनुकूलन अधिक लाभदायक होता है। प्रत्येक प्रकार के गेहूँ की जाच अलग अलग होनी चाहिए और उत्तम फल प्राप्त करने के लिये उनके गुणो के अनुसार उनका अलग-अलग उपचार किया जाना चाहिये। उनको अलग-अलग भाण्डो में रखना चाहिए और केवल पीसने के पूर्व ही एक में मिलाना चाहिये।

इस उद्योग में शुद्धता का प्रश्न भी बड़े महत्त्व का है और इसका नियत्रण भी रसायनज्ञो का ही कर्तव्य है। उन्हें इस मामले में बडी सावधानी बरतनी पडती है जिससे खट्टा या फफूंदी लगा गेहूँ अथवा ऐसा गेहूँ जो भीगकर खराब हो गया है, चक्की में पिसने के लिए न चला जाय। उन्हें कभी-कभी जीव-रसायनज्ञ का भी काम करना पडता है और अपने सूक्ष्मदर्शी (माइक्रास्कोप) तथा सवर्ध शरावक (पेट्री डिश[2]) का भी प्रयोग करना पडता है। आटे की चक्की में बार बार आने वाले नाशिकीटो (पेस्ट) का भी अध्ययन करना पडता है, उदाहरणार्थ भूमध्यसागर वाले पतगे (मॉथ) ऐसा डिम्भीय (लार्वल) जाल बनाते है कि चक्की का निकास ही बन्द

[1] Offal　　[2] Petri dish

हो जाता है, तथा ऐसे विविध प्रकार के घुन होते हैं जो न केवल गेहूँ में लगकर उसे खाते हैं बल्कि उनके शेषांश में जीवाणु दोष उत्पन्न कर देते हैं जिससे काफी क्षति होती है। फिर कुछ ऐसे कृमि भी होते हैं जिनके रूपान्तर से काले बाले भृग उत्पन्न हो जाते हैं। इनके अलावा अनेकों और प्रकार के नाशिकीट होते हैं जो आटा चक्की में प्राय पलते हैं। हैमलेट का कथन है "यह एक बेनिराया हुआ उपवन है जहाँ सभी प्रकार के पौधे उग गये हैं (हरित भूमि तृन सकुल समुझि परै नहि पथ—तुलसीदास) और जहाँ प्रकृति के अवांछित घास-फूस का ही राज्य है।" उसी प्रकार कोई कह सकता है कि यह उपेक्षित आटे की चक्की है जिसमें मैल और धूलि जमा है और जिसमें नाशिकीटों और सभी अशोभनीय चीजों का ही राज्य है। अत रसायनज्ञों को नाशिकीटों के लक्षणों की ओर से सदा सावधान रहना चाहिए जिससे वह उनके द्वारा होने वाले नाश से अपनी चक्की की रक्षा कर सकें। उन्हें धूमन की विविध रीतियों से अवगत होना चाहिये और समय समय पर यथावश्यकता चक्की के गहादि का धमन कराते रहना चाहिये। उनकी बुद्धिमानी इसमें है कि वह नाशिकीटों के आने की प्रतीक्षा न करे बल्कि उनके आगमन का अनुमान पहले से कर सके और उनके आक्रमण के पहले ही सजग हो जायँ। एतदर्थ समय समय पर चक्की की सफाई और धूमन कराते रहना-चाहिए।

ऐसे ही अन्य अनेक काम हैं जिनका प्रतिपादन रसायनज्ञ द्वारा हो सकता है। है। उनके काम का एक महत्त्वपूर्ण भाग यह भी है कि वह वाणिज्यिक गेहूँ में प्राय पाये जाने वाले अन्य बीजों के गुणों की जाँच तथा उनका वर्गीकरण करें। ऐसे कुछ बीज तो अर्गट जैसे विषाक्त होते हैं और हृदयशक्ति (कॉक्ल) जैसी अशुद्धियाँ पशुओं के लिये हानिकारक होती हैं, अतएव ऐसी चीजों को आटे से अलग करना अत्यावश्यक है।

गेहूँ और आटे के काम के अलावा रसायनज्ञ अनेक अन्य उपयोगी काम भी करते हैं। उदाहरण के लिए चक्की में लगे रगलेप की जाच करना तथा ईंधन की खपत पर चौकसी रखना इत्यादि भी उन्ही की जिम्मेवारी मानी जाती है। वस्तुत उन्हें हर बात पर विज्ञान की चौकन्नी दृष्टि रखनी पड़ती है तथा छोटी बड़ी जो भी समस्याएँ सामने आयें उन्हें अपनी वैज्ञानिक बुद्धि से हल करना पड़ता है। आटे की चक्की वाले रसायनज्ञों का सबन्ध मनुष्य के प्रमुख एव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खाद्य पदार्थ से होने के कारण उनका काम अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। आटे की बनी रोटी की श्रेणी पर ही तो सारे राष्ट्र का स्वास्थ्य और कल्याण निर्भर करता है। रसायनज्ञ को अपनी परम्पराओं का आदर करना तथा प्रत्येक बात पर निष्पक्षता से विचार

करना चाहिए। हठधर्मी लोगों की बातों को सुन लेने में हर्ज नहीं किन्तु उनसे सहमत होने तथा उसके अनुसार काम करने की जरूरत नहीं। उन्हें सर्वदा याद रहना चाहिए कि उनका काम राष्ट्र के लिये यथासभव सर्वोत्तम रोटी तैयार करना है नकि किसी की विक्षिप्त बातों पर विचार करना, विशेषकर जब ऐसी बातें सचमुच किसी सुदृढ सिद्धान्त पर आधारित न हों।

राष्ट्र की रोटी की उत्तमता का निश्चय करने वाले रसायनज्ञ का काम युद्ध-काल में तो और भी गुरुत्वपूर्ण होता है। शान्ति काल में जब गेहूँ का प्रचुर नौवहन होता था तब चक्की वाले गेहूँ से लगभग ७०% सफेद मैदा बनाते थे तथा कुछ सीमित भाग की पूर्ति के लिये कभी कभी १००% पूर्ण चूर्ण (होल मील) भी तैयार कर लेते थे। किन्तु युद्धकाल की आपाती आवश्यकताओं की वजह से नौवहन (शिपिंग) का प्रयोग अन्य अधिक जरूरी कामों के लिए करना पड़ा फलत गेहूँ की उपलब्धि में कमी हो गयी और जितना प्राप्य था उससे अधिक से अधिक मैदा तैयार करना आवश्यक हो गया। १९४१ में गेहूँ से मैदे की प्राप्ति ७५% और १९४२ में ८५%तक बढायी गयी। इस परिवर्तन के कारण आटा-पिसाई की प्रविधि में आमूल सशोधन करना पडा और मैदे की श्रेणी का स्थायीकरण भी। इसमें रसायनज्ञों का बडा महत्वपूर्ण योगदान था। मैदे के तत्कालीन सरकारी मानक निम्नलिखित है "आटे में यथासभव अधिक अकुर, विटामिन बी,—१ ०-१ ५ अन्तर्राष्ट्रीय एकक, तन्तु कम से कम ० ६५% और भस्म लगभग ० ८५% होना चाहिए तथा न० ८ की रेशम छन्नी से छानने पर ११ % से अधिक चोकर न हो।" इन मानकों को देखकर कोई भी यह समझ सकता है कि आटा पिसाई की विधा पर किस प्रकार रसायनज्ञ का पूरा नियत्रण एव अधिकार होता है।

युद्धान्तर काल में भी रसायनज्ञ पर बडी जिम्मेदारी है क्योंकि जनता श्वेत रोटी चाहती है जब कि ऐसी रोटी बनाने में उसके कुछ महत्त्वपूर्ण विटामिन और खनिज पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। इन आवश्यक तत्त्वों का पता रसायनज्ञों ने ही लगाया है तथा उनके सश्लेषण की विधा (प्रक्रिया) भी उन्हीं की सफलता का फल है। सफेद मैदे में ये तत्त्व कैसे और किस मात्रा में मिलाये जायें कि उससे रोटी बनने पर उसके स्वाद में तनिक भी अन्तर न पडने पाये। इस समस्या का हल भी रसायनज्ञ के ही हाथ में है। सयुक्त राज्य अमेरिका में वाणिज्यिक पैमाने पर तैयार होने वाली रोटियों में भी ऐसे तत्त्व मिलाये जाने लगे है। इन तत्त्वों को या तो मैदे में ही डाल दिया जाता है या फिर उन्हें गुंधे हुए पिष्ट में मिलाया जाता है। पहली अक्तूबर १९४३ को मैदे के लिये जो मानक निश्चित किया गया था वह इस प्रकार है प्रति पौण्ड मैदे में थायामीन

२०—२·५ मिलीग्राम, रिबोफ्लैवीन १५ मिलीग्राम, निकोटिनिक अम्ल १६०—२०·० मिलीग्राम तथा लोहा १३०—१६·५ मिलीग्राम।

कनाडा में भी पिसाई की प्रविधि में कुछ परिवर्तन करके विटामिन युक्त सफेद मैदा तैयार किया जाने लगा है, यद्यपि इसमें विटामिन यथेष्ट मात्रा में नहीं होता। इस प्रविधि के विकास में भी रसायनज्ञ का ही प्रयास निहित है। ऐसा लगता है कि भविष्य में प्राय सभी जगह रोटी में जीव-रसायनज्ञों द्वारा निर्धारित मात्रा में सन्निष्ट विटामिन मिलाकर उसे अधिक पौष्टिक बनाया जायगा। इंग्लैण्ड में एन्यूरीन (विटा० बी,) तैयार करने के लिये सयन्त्र स्थापित किया जा चुका है और यदि नौवहन की कठिनाई न हुई होती और ७०% मैदा बनाना जारी रहता तो उसमें एन्यूरीन मिलाकर उसे अवश्य ही अधिक पौष्टिक बनाया जा सकता। विटामिनों से परिपूर्ण एक विशेष प्रकार का किण्व (यीस्ट) तैयार करके विटामिन-समृद्धिकरण (एनरिचमेण्ट) की एक नई रीति निकालने का प्रयत्न हो रहा है।

गत समय में भी रसायनज्ञों ने पिसाई उद्योग में महान् योगदान किये है, लेकिन भविष्य में तो इसकी सम्भावनाएं और भी अधिक है। इस उद्योग में अब रसायनज्ञों का पूरी तरह से स्थायी स्थान बन गया है और यह निश्चित है कि वे अपने नमक का बदला अवश्य चुकायेंगे।

ग्रन्थ-सूची

AMERICAN ASSOCIATION OF CEREAL CHEMISTS *Cereal Chemistry*, Vols 1-21, *American Cereal Laboratory Methods*

BAILEY, C H. *Chemistry of Wheat Flour* Reinhold Publishing Co

BAILEY, C. H. *The Constituents of Wheat and Wheat Products* Reinhold Publishing Co

DULY, S J *Grain* Oxford University Press

FAIRBROTHER, T H . *Wheat and Flour Section Food Industries Manual* Leonard Hill, Ltd

KENT-JONES, D. W *Modern Cereal Chemistry*. Northern Publishing Co , Ltd

SCOTT, J. H. *Flour Milling Processes* Chapman & Hall, Ltd.

SIMON, E. D *Physical Science of Flour Milling*. Northern Publishing Co , Ltd.

रोटी

डी० डब्लू० केण्ट-जोन्स, बी० एस-सी०, पी०-एच० डी० (लन्दन),
एफ० आर० आई० सी०

मनुष्य को गेहूँ उपजाने की कला प्रागैतिहासिक काल से ही मालूम थी। उसने रोटी बनाना कब सीखा यह बात भी प्राचीनता के ही गर्भ में छिपी हुई है। प्रस्तर युग में भी गेहूँ उपजता था और उसे कूट कर तथा पानी में सान कर पिष्ट बनाया जाता और उसी का टिक्कड बना कर सभवत तप्त पत्थरो पर ही सेक लिया जाता था।

शुरू शुरू में रोटी बनाने की एक घरेलू कला थी। पहले रोटी बिना खमीर उठाये बनती थी, फलत वह अवातित (अनएरेटेड) होती थी। यह किंवदन्ती है कि वातित (एरेटेड) और हल्की रोटी सयोगवश एक यूनानी नौकर की कामचोरी के फलस्वरूप बनी थी। उस भलेमानस ने एक दिन डर के मारे अपनी जान बचाने के लिए पहले दिन का सना हुआ आटा मिला कर रोटी के लिए पिष्ट बनाया। इसी घटना के परिणामस्वरूप खमीरी रोटी बन गयी क्योंकि बासी पिष्ट में यीस्ट[1] उत्पन्न हो गया था, जिसकी वजह से उसमें किण्वन (फर्मेण्टेशन) और वातन[2] हो गया और उत्तम एव हल्की रोटी तैयार हो गई। मैदे को पानी में सान कर बनाया गया पिष्ट यीस्ट के प्रजनन एव वर्धन के लिए बडा उपयुक्त माध्यम होता है, इसलिए अगर किसी बासी पिष्ट पर वन-यीस्ट आ पडे और उन्हें कुछ समय मिल जाय तो उनका गुणन इतना शीघ्र होगा कि थोडे ही समय में वह पिष्ट केवल एक निर्जीव पिण्ड नही वरन् एक जीवित पुञ्ज बन जायगा।

कुछ समय बाद नियत्रित विधा से जीवित यीस्ट का प्रयोग किया जाने लगा और सक्रिय किण्वक (फर्मेण्टिग एजेण्ट) के शीघ्र गुणन योग्य मिश्रण पर यीस्ट तैयार करके उसे ताजे बने पिष्ट में मिलाया जाता था। आगे चल कर अधिक सक्रिय प्रकार का यीस्ट ही पिष्ट में मिलाया जाने लगा। इस रीति का उत्तम फल हुआ क्योकि मिश्रण बना कर डालने से किण्वक बहुत धीरे धीरे उत्पन्न होता था।

पहले बिअर बनाने में प्रयुक्त होने वाला यीस्ट ही रोटी बनाने के काम में भी आता था, लेकिन बाद मे यह पता लगा कि कुछ अन्य प्रकार के यीस्ट से रोटी बनाने में अधिक सक्रिय किण्वन होता है। आसवकों (डिस्टिलर्स) द्वारा प्रयुक्त होने वाला

[1] Yeast [2] Aeration

यीस्ट विशेष रूप से सक्रिय जान पडा। इस प्रकार ऐलकोहाल तैयार करने वाली आसवनी (डिस्टिलरी) का एक उपपदार्थ रोटी बनाने में बडा महत्त्वपूर्ण संघटक बन गया। किन्तु कालान्तर में परिस्थिति एकदम बदल गयी। रोटी बनाने के लिए ही इस प्रकार के यीस्ट की विशाल मात्रा की जरूरत पडने लगी और इसे मुख्य रूप से तैयार करना पडा, फलत ऐलकोहाल स्वयं उपपदार्थ बन गया।

जैसे जैसे रोटी बनाने का उद्योग बढने लगा और घरों में रोटी बनना कम होने लगा वैसे वैसे यह भी जरूरी हो गया कि किण्वन विधा को ठीक ठीक समझा जाय। संसार भर से गेहूँ मँगा कर मैदा तैयार करने वालों ने अनुभव किया कि रोटी वाले *अब कुछ विशेष प्रकार के गेहूँ के मैदे की ही माँग करने लगे हैं,* क्योंकि एक विशेष प्रकार का मैदा इस्तेमाल करने से कुछ खास भौतिक गुणों वाला पिष्ट तैयार होता था जिससे रोटी वाले अपनी किण्वन प्रक्रिया से बडी आकर्षक, सुन्दर रंग एवं सुगन्ध वाली पाव रोटी बना सकते थे। ऐसी रोटी की जनता में बडी माँग होती। धीरे धीरे रसायनज्ञों ने ऐसी परीक्षाओं एवं जाँच करने की रीतियों का विकास किया जिनसे विभिन्न प्रकार के गेहूँ और मैदे की परीक्षा करके यह बताया जा सकता था कि वह उत्तम रोटी बनाने के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं। कुछ मैदे प्रत्यक्ष रूप से साधारण सेकाई के लिये संतोषजनक नहीं सिद्ध हुए क्योंकि वे कुछ बातों में हीन थे। उदाहरण के लिए जिस प्रकार उनकी प्रोटीन मात्रा कम थी उसी प्रकार उनके ग्लूटेन के भौतिक गुण भी भिन्न थे तथा उनमें डायस्टीय सक्रियता भी कम थी। डायस्टीय सक्रियता कम होने के कारण उनमें स्टार्च के जलांशन (हाइड्रोलिसिस) से प्रचुर मात्रा में शर्करा नहीं बन पाती थी इत्यादि।

भिन्न-भिन्न रोटी वालों के विभिन्न प्रकार की अपनी अपनी प्रक्रियाएँ प्रयोग करने के कारण यह विषय बडा जटिल हो गया है। कभी तो सब संघटकों अर्थात् मैदा, यीस्ट, लवण और पानी को एक साथ मिला कर किण्वन के लिए छोड दिया जाता है। ऐसे मिश्रण को "स्ट्रेटडफ" अर्थात् "ऋजुपिष्ट" कहते हैं और यह कम समय (३–४ घण्टे) *अथवा अधिक समय (१०–१२ घण्टे) वाली दोनों विधाओं के लिए तैयार किया* जा सकता है। वस्तुत समय तो मुख्यतः यीस्ट की मात्रा पर ही निर्भर होता है। लेकिन यह जरूरी नहीं कि जो मैदा कम समय वाली विधा (प्रक्रिया) के लिये उपयुक्त हो वही लम्बी प्रक्रिया के लिए भी ठीक हो। कभी कभी रोटी वाले 'स्पंज और डफ' प्रणाली से रोटी *बनाना पसन्द करते हैं। इस प्रणाली में भी समय बढाया घटाया जा सकता है।* 'स्पंज और डफ' रीति में मैदे के केवल थोड़े से भाग का पिष्ट बनाया जाता है और उसी में सारा यीस्ट मिला दिया जाता है। जब इस स्पंज में कुछ समय तक किण्वन हो चुकता

वह फूल करके सचमुच पाव रोटी की शकल की बन जाय। परन्तु खमीर का यह उठान तभी सभव होगा जब यीस्ट सक्रिय हो और उसकी प्रक्रिया के लिए पिष्ट में पर्याप्त शर्करा मौजूद हो। कभी-कभी उपयुक्त परिपक्वता उत्पन्न करने के लिए दीर्घकालीन किण्वन में मूल शर्करा समाप्त हो जाती है। यह शर्करा भी आटे के स्टार्च पर डायस्टीय एन्ज़ाइमो की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। इससे प्रकट है कि यह सारी प्रक्रिया बडी सूक्ष्म और सतुलित है। ग्लूटेन का ठीक-ठीक परिपक्व होना अत्यन्त आवश्यक है। और उसी के साथ साथ यथेष्ट मात्रा में कार्बन डाइआक्साइड गैस का उत्पन्न होना भी।

यीस्ट अथवा मैंदे में किसी दोष अथवा सेकाई प्रविधि में किसी भूल के कारण ही अक्सर अच्छी और सतोषजनक रोटी नही बन पाती। अगर दोष मैंदे में हो तो यह जानने की जरूरत होती है कि क्या उसके ग्लूटेन की मात्रा अथवा प्रकृति इस अवाछित फल का कारण तो नही अथवा यीस्ट के एन्ज़ाइमो की सक्रियता मे तो कोई गडबडी नही अथवा अन्य किस अभाव के कारण अच्छी रोटी नही बनी। और अगर सेकाई में कुछ भूल हुई तो गलती कब, कहाँ और कैसे हुई ? इन सभी प्रश्नो के सही उत्तर जान लेने पर ही सतोषप्रद परिणाम प्राप्त हो सकता है।

पिसाई उद्योग वाले रसायनज्ञो के लिए यह देखना अत्यावश्यक है कि मैंदा किण्वन की विशिष्ट प्रक्रिया के लिए उपयुक्त है कि नही। उन्हें गेहूँ एव मैंदे के सेकाई गुणो का ज्ञान होना चाहिये, तथा यह जानना भी जरूरी है कि रोटी में चिपकदार गूदा सदृश दोष किन कारणो से उत्पन्न होते हैं, जिससे वे उसका सफल निवारण कर सके। यद्यपि आजकल रोटी बनाने वाले अपनी विशेष किण्वन प्रक्रिया के सुनिश्चित ज्ञान से यथा-सभव—मैंदे के गुणो की जाँच कर लेते है, लेकिन उन्नतिशील एव कुशल रोटीघरो में रसायनज्ञों की सेवा आवश्यक समझी जाती है। सामान्यत इनके अनुसन्धानो की तीन मुख्य दिशाएँ है—

(१) आर्द्रता-परीक्षण, प्रोटीन और भस्म आगणन, डायस्टीय सक्रियता और रग निश्चयन जैसे रासायनिक विश्लेषण।

(२) मैंदे से बने वास्तविक पिष्ट का भौतिक एव यात्रिक परीक्षण। यह परीक्षण बडा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रोटी बनाने वाला पिष्ट के भौतिक गुणो को देखकर अपने अनुभव से बडी सरलता से यह जान लेता है कि उससे अच्छी रोटी बनेगी या नही और इसी आधार पर वह किसी मैंदे को पसन्द या नापसन्द करता है। पहले पिष्ट के भौतिक गुणो की परीक्षा उसे छूकर अथवा हाथ मे लेकर की जाती थी, इसीलिए ऐसे निर्णय बहुधा भ्रमात्मक होते थे। परन्तु अब तो पिष्ट-परीक्षण के लिये भी यत्र तैयार हो गये है जिनसे उनका मूल्याकन ठीक-ठीक किया जा सकता है और प्राप्त परिणाम

कार्यकर्ता की वैयक्तिक धारणाओ से मुक्त होते है तथा वैज्ञानिक परिशुद्धता से निकाले जा सकते है। बडे बडे रोटीघरो में रसायनज्ञो ने पूर्वगामी विधाओ में परिवर्तन करके अब उन्हें अपने कार्यानुरूप बना लिया है। पिष्टपरीक्षण यन्त्रो द्वारा की गई सपरीक्षाओ के विश्वसनीय परिणामो के आधार पर कुछ बहुत सुन्दर सुझाव भी दिये जा सके है।

(३) सेंकाई का नियन्त्रित परीक्षण—ये परीक्षण उचित और निश्चित रूप से तभी किये जा सकते है जब उनकी परिस्थितियो पर ठीक-ठीक वैज्ञानिक नियन्त्रण हो।

रोटी निर्माण से सबन्धित समस्याओ को हल करने के अलावा अन्य बातो में भी विशाल रोटीघरो वाले रसायनज्ञो के परामर्श की आवश्यकता पडती है, जो बडे लाभ-दायक होते है। रोटी बनाने में इस्तेमाल होने वाले पदार्थ, जैसे यीस्ट, यीस्ट-सक्रियकर्ता, लवण, दुग्धचूर्ण और माल्ट के ही विश्लेपण नही करने पडते बल्कि शर्करा, वसा और फलो जैसे मिष्ठान्न बनाने में काम आने वाली अनेक अन्य चीजो का भी परीक्षण करना पडता है। 'मेजेण्टेरिकस' नामक जीव से उत्पन्न होने वाले रोटी-रोग के निवारण सदृश जैवाणवि समस्याएँ आती है और उनका अध्ययन एव समाधान करना पडता है। प्रत्येक बिस्कुट निर्माणी में समस्याओं को हल करने के लिए रसायनज्ञ की आवश्यकता होती है। विविध प्रकार के बिस्कुट तैयार करने के लिए अलग अलग किस्म के मैदे की जरूरत होती है। मैदे की विशिष्टियाँ (स्पेसिफिकेशन्स) भी निर्धारित की जा सकती है। कभी-कभी बिस्कुट जल्द टूटने या चिटकने वाले हो जाते है। यह भी रसायनज्ञ की ही समस्या होती है। इसी प्रकार की अन्य और कितनी समस्याएँ उनके सामने आती है, कहना कठिन है।

रोटी, मिठाई और बिस्कुट बनाना अब एक कला मात्र नही रह गया है, क्योंकि अगर सचमुच मितव्ययिता से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त करना हो तथा अपव्यय रोकना हो तो इन वस्तुओ को तैयार करने के लिये सुनिश्चित वैज्ञानिक प्रक्रियाओ और वैज्ञानिक पर्यवेक्षण की आवश्यकता पडती है।

रसायनज्ञो को मधुमेह के रोगियो के लिये भी विशेष प्रकार की रोटियाँ तैयार करनी पड़ती है। वस्तुत रोटी के पोपण-मान का सारा विषय ही उनके मस्तिष्क में बराबर घूमा करता है। यद्यपि सफेद रोटी की अधिक खपत होती है, किन्तु कुछ परिस्थितियो में भूरी रोटी तथा अखुआई रोटी की भी माँग होती है क्योंकि उनके अपने विशेष लाभ होते है। अत. उनके बारे में भी रसायनज्ञ को सोचना पडता है।

रोटी उद्योग में लगे रसायनज्ञ को विशुद्ध रासायनिक कार्यकलाप के अलावा जीव रसायनज्ञ का भी काम करना पड़ता है। रोटी के पोपण-मान तथा विटामिन

सबन्धी प्रश्नो के हल मे भी उसे सलग्न होना पडता है। १९४० में श्वेत मैंदे में सश्लिष्ट विटामिन बी डाल कर उसे अधिक पौष्टिक बनाने की प्रथा प्रारम्भ हुई थी, जिसके फलस्वरूप विटामिन का परीक्षण भी रसायनज्ञ के जिम्मे आ पडा। लेकिन इस प्रकार श्वेत मैंदे की बडी भारी कमी दूर हो गयी तथा इसका उत्पादन जारी रखा जा सका। भूरी रोटी में यही विटामिन (बी) बना रहता है यानी नष्ट नही होने पाता, इसीलिये यह श्वेत रोटी की अपेक्षा अधिक पौष्टिक होती है। सश्लिष्ट विटामिन उपलब्ध हो जाने के बाद रोटी का पुष्टिकरण (फार्टिफिकेशन) यथार्थ वैज्ञानिक नियत्रण मे ही करना सभव हुआ। रोटियो में अब तन्तु अन्न (रफेज) डालने की आवश्यकता नही होती। अत पिसाई उद्योग के इन उपपदार्थो को पशु एव कुक्कुटादि को खिलाने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है। यह न भूलना चाहिये कि ये प्राणी इन्ही पदार्थो को खाकर हमारे लिए दूध, मक्खन, अण्डे और अनेक अन्य मूल्यवान् पदार्थ उत्पन्न करते हैं। बाद में नौवहन परिस्थिति में कठिनाई हो जाने से मितव्ययिता की आवश्यकता हुई और सफेद मैदा बनाना रोक कर गेहूँ का ८५% आटा बनने लगा। शुरू में तो यह आटा निश्चित रूप से भूरे चूर्ण की तरह था किन्तु कुछ समय बाद उसकी उन्नति की गई और वह सफेद मैंदे से कुछ ही कम श्वेत रह गया। लेकिन वाछनीय बात यह थी कि उसकी विटामिन $बी_1$ मात्रा अपेक्षाकृत कम नही हुई। यह मात्रा लगभग १० अन्तर्राष्ट्रीय एकक प्रतिग्राम अथवा १ ३५ मिलीग्राम प्रति पौण्ड थी। मैंदे के बोरे में चूर्णित बरूथिका (स्कूटिलम) मिलाई जाने से ही विटामिन $बी_1$ की मात्रा बढ जाती थी। बरूथिका धान्य का वह भाग है जिसमे विटामिन $बी_1$ की अधिकतम मात्रा होती है। जब अनाज को तनिक सूखी अवस्था मे पीसा जाता है तब सुचूर्ण्य बरूथिका भी पिस कर बोरे मे एकत्र होती है, अन्यथा वह एक उपजात[1] के रूप में प्राप्त होती है।

यह विवादग्रस्त प्रश्न है कि क्या आटे की पिसाई ऐसी हो कि उसमें विटामिन की क्षति न हो अथवा उसका श्वेत मैदा बना कर उसमें अलग से सश्लिष्ट विटामिन मिलाये जायें? ब्रिटेन की नीति तो श्वेत मैदा बना कर उसमें विटामिन $बी_1$ मिलाने की रही है और इसी नीति का प्रसार सयुक्त राज्य अमेरिका में भी हुआ है। वहाँ श्वेत मैंदा बनाने की अनुमति तो है परन्तु यह जरूरी है कि उसका पुष्टिकरण इस प्रकार हो कि उसमें आवश्यक तत्त्वो की मात्राएँ निम्नलिखित हो

[1] Byproduct

		प्रति पौण्ड मैदे में न्यूनतम मात्रा
विटामिन बी, (एन्यूरीन अर्थात् थायामीन)	...	२·० मिलीग्राम
निकोटिनिक अम्ल	... ...	१६·० ,,
रिबोफ्लैवीन	... ...	१·२ ,,
लोहा	... ...	१३·० ,,

यद्यपि अनिवार्य नहीं फिर भी कनाडा में प्राय: ७८% आटा बनता है, जिसका रंग उतना सुन्दर नहीं होता जितना श्वेत मैदे का। इसमें विटामिन बी, की मात्रा लगभग ० ८ अन्तर्राष्ट्रीय एक प्रति ग्राम अर्थात् १·१ मिलीग्राम प्रति पौण्ड होती है।

इतना होने पर भी इस दिशा में अभी काफी काम करना बाकी है। व्यावहारिक अभिरुचि वाले वैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिक अभिरुचि वाले रोटी बनाने वालों के निकट सहयोग से बहुत सी रूढ़िवादी रीतियों को हटा कर वैज्ञानिक रीतियाँ अपनायी गयी हैं, फिर भी अभी पर्याप्त काम शेष है।

इस विषय पर प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाले वैज्ञानिक लेखों की संख्या देख कर रोटी, बिस्कुट इत्यादि के निर्माण में रसायनज्ञ के बढ़ते हुए कार्य भाग का सरलता से अनुमान किया जा सकता है। प्रकृति की सबसे महत्त्वपूर्ण देन अर्थात् गेहूँ का सर्वोत्तम उपयोग करना तथा उससे मैदा और रोटी बनाना अतिशय महत्त्व वाले विषय हैं और इनके प्रतिपादन में रसायनज्ञ को अभी काफी योगदान करना शेष है। इसका अर्थ यह है कि रसायनज्ञ को इन विषयों पर निरन्तर ध्यान देने की आवश्यकता है।

ग्रन्थ-सूची

BAILEY, C. H. *Chemistry of Wheat Flour.* Reinhold Publishing Co.

BAILEY, C H *Constituents of Wheat and Wheat Products.* Reinhold Pub Corp

BENNION, E. B. *Breadmaking* Oxford University Press.

JAGO, W AND W. C : *Technology of Breadmaking* Simpkin, Marshall, Hamilton, Kent & Co., Ltd.

KENT-JONES, D. W. . *Modern Cereal Chemistry.* Northern Publishing Co., Ltd.

KENT-JONES, D. W. : *Practice and Science of Breadmaking.* Northern Publishing Co , Ltd.

KOZMIN, N. B. . *Das Problem der Backfahigkeit*. Verlag von Moritz Schafer.
MAURIZIO, A : *Die Nahrungsmittel aus Getreide* Paul Parey.

दूध तथा दुग्धालय पदार्थ

ई० बी० ऐण्डरसन, एम० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

गोदुग्ध एक जैविकीय[1] पदार्थ है, जिसकी सरचना बडी जटिल है। इसमे वसा, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, एञ्जाइम[2], विटामिन तथा खनिज लवणो के अतिरिक्त कितने ही अन्य लघु सघटक[3] विद्यमान है। दूध की पोषक शक्ति में इन सभी सघटको का योग होता है। दुग्धालय के अन्य पदार्थो के बनाने में इन सबमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता है, परन्तु यहाँ केवल बडे बडे सघटको का ही सक्षिप्त वर्णन किया जायगा। ये सघटक निम्नलिखित है नवनीत-वसा (बटर फैट), लैक्टोज़ (दुग्ध शर्करा) और प्रोटीन-केज़ीन तथा लैक्टैल्बूमिन। दूध में वसा जल-तैल पायस के रूप में होती है और इसकी गोलिकाएँ[4] सूक्ष्मदर्शी (माइक्रॉस्कोप) की सहायता से देखी जा सकती है। नवनीत-वसा का घनत्व जल से कम होता है, इसलिये अगर दूध को कुछ समय के लिये स्थिर छोड दिया जाय तो वसा उतरा जायगी और ऊपर मलाई यानी क्रीम की एक तह बन जायगी। वसा के उतराने की यह गति 'स्टोक्स नियम' के अनुसार अपेक्षित गति से अधिक तीव्र होती है। सभवत इसका कारण यह है कि छोटी-छोटी गोलिकायें आपस मे मिल कर एक बडा पुंज बना लेती है जो अपेक्षाकृत तेजी से ऊपर उठता है। लैक्टोज़ अर्थात् दुग्ध शर्करा ईख की शर्करा से कम मीठी और कम जल-विलेय होती है। लैक्टिक जीवाणुओ द्वारा लैक्टोज़ का परिवर्तन हो कर लैक्टिक अम्ल बनता है। दूध में लैक्टोज़ की मात्रा ४–५% होती है। केज़ीन नामक प्रोटीन में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और आक्सीजन के अतिरिक्त फास्फोरस और गधक भी होते है। यह प्रोटीन कैल्सियम लवण तथा कैल्सियम ट्राइफास्फेट के कलिलीय-जटिल (कोलायडल कॉम्प्लेक्स) के रूप मे रहती है। विलयनो में से रेनिट द्वारा इसका अवक्षेपण[5] होता है, और यह अवक्षेप रासायनिकत अपरिवर्तित रूप में होता है। किन्तु अम्ल अवक्षेपण से उपर्युक्त जटिल

[1] Biological [2] Enzymes [3] Minor constituents
[4] Globules [5] Precipitation

भग हो जाता है। दूध को केवल कुछ समय तक १००° से० पर गरम करने मात्र से *प्रोटीन का अवक्षेपण नही होता। दूध में प्रोटीन की मात्रा लगभग ३% होती है,* जिसमें लैक्टैल्ब्युमिन प्राय ०.५% होती है, जो रिनेट द्वारा अवक्षेपित नही होती, लेकिन ६०° से० के ऊपर गरम करने पर स्कंदित (कोआगुलेटेड) हो जाती है। दूध *के सघटको की चर्चा करते हुये यह बताना आवश्यक है कि गोदुग्ध का पीला रग एक रग* द्रव्य अर्थात् कैरोटीन के कारण होता है। कैरोटीन विटामिन ए का पूर्वगामी द्रव्य माना जाता है। यह द्रव्य नवनीत-वसा में मिला रहता है। गोदुग्ध में एक पीले रग का यौगिक *होता है जिसे रिबोफ्लैवीन यानी विटामिन बी, कहते है, गोदुग्ध का पीला रग इसीके* कारण होता है।

द्रव दूध—दूध कच्चा अथवा पाश्चरीकृत करके पिया जाता है। पाश्चरीकरण के *लिये दूध को १४५°—१५०° फ० ताप पर कम से कम ३० मिनट तक गरम किया* जाना चाहिये। किन्तु अभी हाल में आधिकारिक रूप से स्वीकृत 'उच्च-ताप-अल्प-काल' (हाई-टेम्परेचर-शॉर्ट-टाइम) प्रक्रिया के अनुसार दूध को १६२° फ० (७२.२° से०) पर कम से कम १५ सेकेण्ड तक गरम करना आवश्यक माना गया है। पाश्चरीकरण के दो उद्देश्य है (१) रोगोत्पादक प्राणियो का नाश करना, तथा (२) दूध के परिरक्षी गुण को बढाना, जिससे गर्मी में दूध खट्टा न होने पावे और इस प्रकार दूध के खट्टे हो जाने के कारण होने वाली क्षति को रोककर आर्थिक हानि बचाना। दूध को गरम करके पीना अब भी एक विवादग्रस्त विषय है, यद्यपि जब हम अपनी रोटी सेंककर खाते हैं तथा आलू और अण्डा उबालकर, मास भी पकाकर ही खाया जाता है तब दूध को ही गरम करने पर इतना व्यापक विवाद क्यो खडा हो गया समझ में नही आता।

द्रव दूध के वैज्ञानिक नियत्रण के लिये उसमे वसा तथा उसके अलावा सान्द्रो की मात्रा का निश्चयन किया जाता है। इससे उसकी पोषक शक्ति तथा उससे अन्य पदार्थ बनाने के लिये उसकी उपयुक्तता का पता लगता है। अम्लता के निश्चयन से दूध की ताजगी का पता चलता है। मिथिलीन ब्लू-परीक्षा या पात्री-गणन (प्लेट काउण्ट) अथवा दोनो से उसके जीवाणिवीय[1] गुण का ज्ञान होता है। कुछ समय से मिथिलीन ब्लू के स्थान पर रिसाजुरीन नामक रजक का प्रयोग होने लगा है, किन्तु पुरानी रीति अब भी उत्तम मानी जाती है। दूध में पानी मिलाकर उसका प्राय: *अपमिश्रण*

[1] Bacterial

(ऐडलट्रेशन) किया जाता है, लेकिन हिमाक परीक्षा से इसकी अच्छी जाँच हो जाती है, क्योंकि दूध में विद्यमान लवणों के विलयन के तनूकरण से उसका हिमाक (फ्रीज़िंग प्वाइण्ट) नीचे गिर जाता है। अतः यह परीक्षा उपर्युक्त धोखेबाजी से बचने के लिए अच्छा साधन है। दूध में एंजाइम भी होते हैं और इनमें एक एंजाइम के ऊपर उष्मा का प्रभाव पास्चरीकरण के नियंत्रण के लिये सबसे नई और सर्वोत्तम परीक्षा है।

मलाई—मलाई अर्थात् क्रीम वस्तुतः दूध के उस स्तर (लेअर) को कहते हैं जो दूध के कुछ समय तक रखे रहने पर उसके ऊपर उठ आता है, इसमें नवनीत वसा की मात्रा अधिक (३०%) होती है। मलाई बनाने की यह रीति आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं क्योंकि इस तरह शेष बचे दूध में भी वसा की पर्याप्त मात्रा बच जाती है। अपकेन्द्र (सेन्ट्रीफ्यूगल) पृथक्करण की रीति प्रयोग करने से यह दोष दूर हो गया और अब बचे दूध में लगभग ० १ प्रतिशत वसा छोड़ कर शेष सब अलग कर ली जाती है। बाजार में मलाई की कितनी ही श्रेणियाँ बिकती हैं, जिनमें २० प्रतिशत से लेकर ५०% तक वसा होती है। निम्न मात्रा वाली मलाई साधारणतः खाने के लिये प्रयुक्त होती है। स्कंदित मलाई में लगभग ६० प्रतिशत वसा होती है। इसके बनाने के लिये पहले दूध को यों ही छ ड दिया जाता है जिससे मलाई ऊपर उतरा जाय और तब उसको स्टोव पर लगभग १९% फ० (८७ ८° से०) तक गरम रखा जाता है, इससे उसकी आवश्यक गाढ़ता प्राप्त हो जाती है। यह तो हुई कुटीर प्रथा। दूसरी प्रथा में ३०% वसा वाली मलाई के पतले स्तर को जल-उष्मक पर गरम करके स्कंदित मलाई तैयार की जाती है। दोनों प्रथाओं में ठंढा हो जाने पर स्कंद (क्लॉट) को ऊपर से उतार लिया जाता है। मलाई के श्रेणी-नियंत्रण में नवनीत-वसा और अम्लता की मात्रा तथा उसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) का निश्चय किया जाता है। मलाई को समांग (होमोजिनस) बना कर अर्थात् प्रबल दाब से उसे अतिसूक्ष्म छिद्र द्वारा निकाल कर उसकी बड़ी बड़ी वसा गोलिकाओं को सूक्ष्म बना कर उसकी श्यानता बदली जा सकती है। यह कार्य उष्मन और शीतन की विशिष्ट विधा (प्रक्रिया) से भी किया जा सकता है।

नवनीत—मलाई में गोलिकाओं के रूप में वसा की जलीय द्रव में असतत कला (डिस्कॉण्टिनुअस फेज़) होती है, किन्तु यदि नवनीत ठीक ढंग से बना हो तो उसमें वसा की सतत (कॉण्टिनुअस) कला होती है और अतिसूक्ष्म बिन्दुकों के रूप में जल की असतत कला होती है। यह कला-परिवर्तन यानी एक प्रकार के पायस का दूसरे प्रकार में बदलना उस समय होता है जब उसका मथन किया जाता है। इसके लिए ३० प्रतिशत मलाई को ५०° फ० (१०° से०) तक ठंढा करके हवा की उपस्थिति में उसका क्षोभण

किया जाता है। इस प्रकार मन्द सुवास वाला मीठा मलाई-नवनीत (क्रीम-बटर) बनता है। यदि अधिक सुवास वाला नवनीत तैयार करना हो तो पास्चरीकरण के बाद मलाई में कोई ऐसा आरम्भक (स्टार्टर) डाला जाता है, जिसमें लक्टोज़ से लैक्टिक अम्ल बनाने तथा साइट्रिक अम्ल से सुवास द्रव्य बनाने की क्षमता वाले प्राणी विद्यमान हों। अम्ल की उपस्थिति से मलाई की श्यानता भी कम हो जाती है, जिससे उसका मथन सरल हो जाता है। इस दृष्टि से जब अम्लता की मात्रा लगभग ०·२५% हो जाती है तब मथन के लिए मलाई उपयुक्त मानी जाती है। मथन से गाढ़ा फेन बनता है और नवनीत-वसा के कण आपस में मिलकर बड़े बड़े कणों का रूप धारण कर लेते हैं, जिसका फल यह होता है कि सारा फेन एकाएक बैठ जाता है और वसा की असतत कला (डिस्कॉण्टिनुअस फेज़) बदल कर सतत (कॉण्टिनुअस) हो जाती है। इस प्रकार नवनीत बन जाता है। छाछ अर्थात् बटर मिल्क को निथारने के बाद नवनीत को ठंडे पानी से अच्छी तरह धोया जाता है जिससे बचा हुआ छाछ भी धुल जाय। अन्त में मथानी (चर्न) के अन्दर ही या उसके बाहर नवनीत को समाग (होमोजीनस) बनाया जाता है। इस विधा के अन्तर्गत आर्द्रता की जाँच भारमितिक[1] परीक्षा द्वारा की जाती है जिससे वह १६ ०% की वैध सीमा के बाहर न होने पाये। लवण की मात्रा की भी परीक्षा की जाती है। नवनीत का सबसे सामान्य दोष उसकी पूतिगंधिता (रैनसिडिटी) है, जो सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा वसा के विच्छेदन से उत्पन्न ब्युटिरिक अम्ल के कारण होती है। सूर्य प्रकाश में खुला रखने से पूर्व-विटामिन, कैरोटीन नामक रंगीन पदार्थ का आक्सीकरण हो जाता है और इसी से नवनीत विरंजित हो जाता है।

पनीर—ग्रेट ब्रिटेन में पनीर (चीज़) से साधारणतः 'चेड्डार पनीर' अथवा '*चेशायर पनीर' का ही मतलब समझा जाता है। इसके निर्माण के लिए कच्चे अथवा* पास्चरीकृत दूध का प्रयोग किया जाता है। दोनों रीतियों के सामान्य सिद्धान्त एक ही हैं, लेकिन उनमें थोड़ा अदल बदल करने से विभिन्न प्रकार के पनीर तैयार होते हैं। आरम्भक (स्टार्टर) अर्थात् लैक्टिक अम्ल उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म प्राणियों के संवर्ध (कल्चर) को ७०° फ० (२१ १° सें०) तक गरम किये दूध में डाला जाता है, इसके आध घण्टे बाद उसका ताप लगभग ८६° फ० (३०° सें०) तक बढ़ाकर उसमें रेनिट डाल दिया जाता है जिससे दही का अवक्षेपण[2] होता है। इस अवक्षेप में केज़ीन तथा उसी में आबद्ध वसा रहती है। जब उसमें वांछित दृढ़ता आ जाती है तो दही को एक विशेष

[1] Gravimetric tests [2] Precipitation

इस प्रकार सान्द्रित दूध में उसे विच्छेदित करनेवाले प्राणियों की वृद्धि नहीं हो सकती। दूध का मानकीकरण करके पहले उसमें मान्द्री की सान्द्रता ठीक कर ली जाती है और तब उसमें शर्करा मिला कर उसका पाश्चरीकरण कर लिया जाता है। इसी पाश्चरी-*कृत गरम दूध को एक प्रभावशून्यक कड़ाह में लेकर १२०° फ० (४८·९° सें०)* पर उसका सान्द्रण किया जाता है जिससे निश्चित घनता प्राप्त हो जाय। द्रव के ठंढा होने पर शर्करा विलयन के अतिसतृप्त (सूपर-सैचुरेटेड) हो जाने के कारण उसमें केलासन *होने लगता है। इसीलिये उसे ठंढा करने में ऐसी सावधानी बरतनी चाहिए जिससे* केलास इतने सूक्ष्म बनें कि वे सरलता से श्यान द्रव के नीचे न बैठने पायें। इसके लिए श्यानता भी बड़ा महत्त्वपूर्ण कारक होता है। इससे स्पष्ट है कि परिस्थितियों का *बड़ी सावधानी से नियंत्रण करना अत्यावश्यक है क्योंकि तभी उत्तम परिणाम प्राप्त* हो सकते हैं। वैश्लेषिक नियंत्रण के लिए नवनीन-वसा, दूध-सान्द्र, केलासों का परिमाण तथा श्यानता इत्यादि के निश्चयन की बड़ी आवश्यकता होती है।

उद्वाष्पित दूध—*यह दूसरे प्रकार का सान्द्रित दुग्ध-पदार्थ है, जिसमें शर्करा* नहीं मिलायी जाती। सान्द्रण के बाद दूध को समांग बनाया जाता है, जिससे उसमें से वसा पृथक् न हो सके। उसके बाद उद्वाष्पित दूध को टिनों में रख कर १००° से० के *ऊपर गरम किया जाता है जिससे उसका जीवाणुहनन[1] हो जाय। इस क्रिया के बाद* जीवाणुओं द्वारा दूध नष्ट नहीं होता।

शुष्क दूध—शुष्क दूध भी एक सुवाह्य दुग्ध पदार्थ है जिसमें न तो शर्करा डाली जाती है और न वह अधिक ताप पर गरम ही किया जाता है। आजकल दूध दो रीतियों से सुखाया जाता है (१) बेलन अर्थात् रोलर रीति तथा (२) शीकरन (स्प्रे) रीति। पहली रीति में दूध को यों ही या थोड़ा सान्द्रित करके भाप (स्टीम) से तप्त लोहे के बेलन पर पतले स्तर में लेप कर दिया जाता है जिससे वह प्रायः तत्क्षण सूख जाता है। बेलन पर दुग्ध लेपन की विविध रीतियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि बेलन का ताप १००° से० से भी ऊपर होता है, लेकिन उससे दूध का सम्पर्क बड़ा क्षणिक होता है और सूखते ही वह बेलन पर से उस पर लगी छुरी के द्वारा खुरच कर तुरन्त पृथक् कर दिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त दुग्धचूर्ण को चलनी से चालने के बाद डब्बों में भर दिया जाता है। दूसरी अर्थात् शीकरन विधि में सान्द्रित दूध लिया जाता है और शीकरक (स्प्रेयर) द्वारा एक बड़े वेश्म (चेम्बर) में उसका शीकरन किया जाता है। इस वेश्म में बड़े-

[1] Sterilisation

बड़े पंखों की सहायता से गरम हवा परिचालित की जाती है जिससे वेश्म का ताप १००° सें० के ऊपर रहता है, परन्तु शीकरित होने के कारण दूध तत्काल सूख जाता है, और जल के उद्वाष्पन से दूध का ताप भी संभवतः १००° सें० से ऊपर नहीं जाने पाता। शीकरित दूधचूर्ण शीत जल में प्रायः पूर्णतया विलेय होता है, जब कि बेलन चूर्ण गरम जल में भी ९०% से अधिक विलेय नहीं होता। दूध सुखाने की परिस्थितियों का इस प्रकार नियंत्रण किया जाता है कि अधिकतम विलेयतावाला दूध प्राप्त हो सके। आक्सीकरण के कारण सम्पूर्ण दूधचूर्ण की वसा में एक अजीब-सी गंध उत्पन्न हो जाती है। प्रकाश, आर्द्रता तथा ताम्र-जैसी धातुओं की लेशमात्रा की उपस्थिति से दूध का यह अवह्रासन (डिटीरियोरेशन) और भी त्वरित हो जाता है। लेकिन उपयुक्त उष्मोपचार से दूध का यह दोष भी बहुत हद तक दूर किया जा सकता है।

दूध तथा उसके अन्य पदार्थों के उत्पादन में रसायन शास्त्र, भौतिकी, और जीवाणु विज्ञान का अर्वाचीन ज्ञान अधिकाधिक प्रयुक्त हो रहा है। यही कारण है कि उन्नत और एक सम श्रेणी के पदार्थ न्यूनतम लागत पर तैयार होते हैं तथा कच्चे दूध के उत्तम पोषक गुण भी उनमें सुरक्षित रहते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान के ही उपयोग से निरन्तर बढ़ते हुए दूध उद्योग को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बड़े-बड़े नवीन यंत्रों और संयंत्रों को बनाना संभव होता है तथा उनकी और भी उन्नति करते रहने की सदा चेष्टा होती रहती है।

ग्रन्थसूची

DAVIES, W L *Chemistry of Milk* Chapman & Hall, Ltd.

HUNZIKER, O F *Condensed Milk and Powder* La Grange Author.

ROGERS, ASSOCIATES OF *Fundamentals of Dairy Science* Reinhold Publishing Co

TOTMAN, C C, MCKAY, G L, AND LARSEN, C *Butter.* John Wiley & Sons, Inc

VAN SLYKE, L L., AND PRICE, W V *Cheese* Kegan Paul, Trench, Truebner & Co, Ltd

विरंजित करके परिष्कृत किया जाता है। कभी-कभी उसके साथ रहनेवाले अवांछनीय गंधयुक्त अवसीय पदार्थों को निकालने के लिए वसा में अतितप्त भाप (सुपरहीटेड स्टीम) *की धारा प्रवाहित की जाती है और उसका दुर्गन्धहरण किया जाता है।* यह विधा शून्यक यानी वैकुअम में सम्पन्न की जाती है। द्रव वसा को उपयुक्त गाढ़तावाली वसा में परिवर्तित करने के लिए उसका बड़ी सावधानी से हाइड्रोजनन करना पड़ता है। इसके लिए रासायनिक इंजीनियरी का ज्ञान बड़ा आवश्यक होता है। इस प्रकरण में नवनीत, चर्बी तथा कोको बटर की अनुपूरक प्राकृतिक वसाओं के प्रयोग तथा लाभ का वर्णन आवश्यक है।

नवनीत प्रतिस्थापक—मार्गरीन एक अच्छा नवनीत प्रतिस्थापक (बटर सब्स्टिट्यूट) है, *इसमें कुछ ऐसी वसाओं की मिलावट होती है जिनका गलनांक नवनीत के* समान होता है। इन वसाओं को दूध में मथने से दूध के जल में उनका पायसन हो जाता है जिससे उसमें नवनीत की कुछ मन्द सुवास भी आ जाती है। इसके बाद उसे इस प्रकार वेल्लित यानी रोल तथा निपीडित किया जाता है कि वह बदलकर वसा-जल *पायस का रूप धारण कर ले तथा उसमें जल की मात्रा उतनी ही रह जाय जितनी* साधारण नवनीत में होती है (13–16 %)। उत्तम श्रेणी की गो-वसा को (जिसे "प्रीमियर जुस" कहते हैं तथा जिसके परिष्करण की आवश्यकता नहीं होती) गंध रहित द्रव वसा (गो-वसा का द्रव भाग), बिनौले के तेल या उसी तरह के किसी अन्य वनस्पति तेल में मिलाकर मार्गरीन तैयार किया जाता है। यद्यपि मार्गरीन बनाने के लिए गो-वसा (प्रीमियर जुस) का आजकल भी प्रयोग होता है किन्तु अब उसका स्थान अधिकांशतः नारियल, तालबीज या ताल तेलों ने अथवा ह्वेल, बिनौले या सोयाबीन की हाइड्रोजनित वसाओं ने ले लिया है और द्रव वसा (गो-वसा का द्रव भाग) के लिए भी सोयाबीन, मकई, मूंगफली, सरसों तथा अन्य वनस्पति तेलों का प्रयोग होने लगा है। इन वसाओं के मिश्रण का चुनाव कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे मार्गरीन कारखाने का स्थान, प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न वसाओं द्वारा निश्चित पदार्थ की बनावट (टेक्स्चर) तथा वसाओं के दाम में उतार-चढ़ाव।

मार्गरीन के निर्माण में केवल वसाओं का ही प्रश्न नहीं है, क्योंकि उसमें विटामिन विशेषकर ए और डी मिलाना भी नितान्त आवश्यक है। ये विटामिन प्राकृतिक नवनीत अर्थात् मक्खन में होते हैं तथा स्वास्थ्य को बनाये रखने एवं उसकी वृद्धि के लिए अत्यावश्यक हैं। मार्गरीन बनाने में इस्तेमाल होनेवाली उपर्युक्त वसाओं में ये विटामिन नहीं होते और जो थोड़े-घने होते भी हैं वह परिष्करण के समय नष्ट हो जाते हैं। इसलिए आधुनिक समय में परिष्कृत वसाओं के मिश्रणों में विटामिन ए और डी की

सुनिश्चित मात्राएं डालकर ऐसी मार्गरीन तैयार की जाती है जो इन विटामिनों के पदो में प्राकृतिक मक्खन के समान हो। ये विटामिन कुछ सश्लेषण से तैयार किये जाते हैं और कुछ मछली या ह्वेल-यकृत तेलों से निस्सारित किये जाते हैं। इन तेलो में उपर्युक्त विटामिनों की प्रचुर मात्रा होती है। आजकल मार्गरीन के निर्माण में रसायन विज्ञान, रासायनिक इजीनियरी, जीव रसायन, भौतिक रसायन जैसे विभिन्न वैज्ञानिक विषयो का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

पाक वसा—चर्बी के स्थान पर पाक वसा (कुकिंग फैट) के रूप में आजकल सूअर की पीठ से निकाली हुई तथा अशत हाइड्रोजनित मृदु चर्बी अथवा यथावश्यकता हाइड्रोजनित बिनौला, सोयाबीन या मूगफली के तेल प्रयोग किये जाते हैं। घरेलू पाक कार्यों के लिए इन वसाओ के विविध प्रकार और छाप (ब्राण्ड) उपलब्ध हैं। बिस्कुट बनाने में बहुत-से अन्य प्रकार की हाइड्रोजनित वसा इस्तेमाल की जाती है। इनके अलावा आजकल तली मछली बनाने में भी पाक वसाओ की अधिक मात्रा लगती है। इस व्यापार के लिए आजकल कुछ विशिष्ट गुणोंवाली ऐसी हाइड्रोजनित वसाएँ बनायी जाती हैं जिनकी गाढ़ता कम हो और वे अपेक्षाकृत कुछ अधिक द्रव हों।

मिष्ठान्न वसा—चाकलेट बनाने में कोकोबटर का व्यापक प्रयोग इसलिए किया जाता है कि उसमें निम्न गलनाक के साथ-साथ भगुरता का एक असाधारण गुण होता है। यह गुण उसके ग्लिसराइडो के विचित्र मिश्रण के कारण होता है। इसी निबन्ध वाली अन्य वनस्पति वसा खोजकर अथवा अन्य प्राकृतिक वसाओ में परिवर्तन करके कोको बटर के प्रतिस्थापक (सब्स्टिट्यूट) तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के लिए नारियल तेल के अधिक ठोस सघटक (कोकोनट स्टियरीन) अथवा हाइड्रोजनित नारियल तथा ताल तेल इस काम के लिए प्रयुक्त होते हैं।

खाद्य वसाओं के निर्माण में रसायनज्ञों के कार्यभाग की ऊपर लिखी रूपरेखा यद्यपि बडी सामान्य एव सक्षिप्त है, फिर भी इसमे इस क्षेत्र की समस्याओं का एक आभास तो मिल जाता है तथा यह भी मालूम होता है कि ये समस्याएँ किस हद तक हल की जा सकी हैं।

ग्रन्थसूची

BOLTON, E R *Oils, Fats and Fatty Foods* J & A. Churchill, Ltd.
DEAN, H K. *Utilization of Fats* A Harvey
ELSDON, G D. *Edible Oils and Fats* Ernest Benn, Ltd.

HEFTER-SCHONFELD : *Chemie und Technologie der Fette and Fetteprodukte.* Vols I and II Julius Springer

HILDITCH, T P *Chemical Constitution of Natural Fats* Chapman & Hall, Ltd

HILDITCH, T P *Industrial Fats and Waxes.* Bailliere Tindall & Cox, Ltd.

SABATIER, P. *La Catalyse en Chimie Organique.*

शर्करा

ल्युविस इनॉन, बी-एम० सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

प्रकृति में अनेक शर्कराएँ होती है, किन्तु इनमें से ईख शर्करा अर्थात् 'सूक्रोज़' आर्थिक एव आहारिक दृष्टि से बडी महत्त्वपूर्ण है। इसे 'सूगर' या 'चीनी' भी कहते है। यह शर्करा अनेक वनस्पतियो में होती है, किन्तु ईख और चुकन्दर—दो ही औद्योगिक महत्त्व के स्रोत है।

ईख शर्करा—८०० ई० पू० बगाल तथा चीन में ईख से शर्करा बनाने की प्रथा प्रचलित होने की बात कही जाती है। सलेखो से यह भी ज्ञात हुआ है कि आज से प्राय १,१०० वर्ष पहले मिस्र, अरब और फारस में ईख शर्करा का प्रचलन था। आजकल वेस्ट एव ईस्ट इण्डीज, लोसियाना, दक्खिनी अमेरिका, दक्खिनी अफ्रीका, मोरिशस, चीन, फार्मोसा, जावा, हवाई और क्वीन्सलैण्ड में ईख की अच्छी खेती होती है (और भारत में भी—अनु०)। ईख की खेती में जावा ससार का सर्वप्रथम देश है, उस द्वीप में ईख की एक विशेष जाति उपजा करके प्रति एकड भूमि से ६–७ टन शर्करा प्राप्त की जा सकी है।

शर्करा बनाने की पुरानी रीति में ईख को, जिसमे चीनी की मात्रा २०% तक होती थी, बेलनो के बीच पेरकर उसमें से रस निकाला जाता था और इस रस में चूने का पानी डालकर उसकी अम्लता मारी जाती थी। इसके बाद उसे छानकर चीनी के केलास प्राप्त करने के लिए छानित (फिल्ट्रेट) को उद्वाष्पित किया जाता था। केलासन के बाद मातृद्रव को छिद्रित पीपो के द्वारा निथार कर केलास पृथक् कर लिये जाते तथा मातृद्रव (मदर लिकर) को चोटा या शीरा के रूप में बेच दिया जाता।

प्रारम्भिक रीति में चुकन्दर के कटे हुए टुकडो को ऊनी थैलो में रखकर उन्हें द्रवचालित दबाव से निचोड लिया जाता था, किन्तु अब विसरण प्रक्रिया से ही इसका निस्सारण किया जाता है। कतरे हुए चुकन्दर के टुकडो को विसरण-पात्रो मे रखकर अन्तिम पात्र में स्वच्छ, ताजा और गरम जल प्रवेश कराया जाता है। यही जल बारी बारी से पहलेवाले पात्रो में चलता जाता है जिससे इसमें अधिकाधिक शर्करा विलीन होती जाती है। अन्त में जब यह जल प्रथम पात्र में पहुँचता है, तो इसकी शर्करा-मात्रा लगभग उतनी ही हो जाती है जितनी ताजे (अनिस्मारित) चुकन्दर के रस की। इस प्रक्रिया का लाभ यह है कि चुकन्दर की कोशाओ की दीवारें कलिलो के लिए अभेद्य होती है, अत अनेक कलिलीय पदार्थ निस्सार मे न आकर चुकन्दर में ही रह जाते हैं। इसलिए निस्सार के परिष्करण का बहुत बडा काम बच जाता है। चुकन्दर के शर्करा-रहित टुकडो को पशु-खाद्य के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। चुकन्दर के निस्सार का शेष विधायन उसी प्रकार होता है जैसे ईख रस का।

ग्राहम के व्याश्लेपण (डायालिसिस) सबन्धी कार्य पर आधारित रसाकर्षण (आस्मोज) विधा (प्रक्रिया) एव स्टीफेन और शील्ड द्वारा विकासित प्रोद्घावन (इल्यूशन) प्रक्रिया के कारण चुकन्दर और ईख दोनो की केलासीय शर्कराओ की प्राप्ति में समुचित वृद्धि हुई है। पहली प्रक्रिया मे शर्करा का चर्मपत्र की झिल्ली के द्वारा जल में विसरण[1] किया जाता है। इस विधा से केलासन रोधी सभी पदार्थ चर्मपत्र द्वारा रोक लिये जाते हैं और केवल शर्करा जल में विलीन हो जाती है। विस्तृत विलयन के विधायन से शर्करा और आनुसगिक पोटासियम नाइट्रेट पृथक् कर लिये जाते हैं। और अवशेष द्रव को उपपदार्थो के निर्माण के लिए आसवनियो[2] में भेज दिया जाता है।

कैल्सियम या स्ट्रान्शियम और शर्करा के सयोगन से उनके अल्पश विलेय लवणो अर्थात् सैकरेटो का बनना ही प्रोद्घावन विधा का आधार माना जाता है। शीरे की शर्करा से ये यौगिक शुद्धावस्था में बना लिये जाते है और इन्हे जल मे आलम्बित करके उन पर कार्बन डाइ आक्साइड की प्रक्रिया करायी जाती है, इससे सैकरेट का विच्छेदन[3] हो जाता है। और शर्करा तथा कैल्सियम या स्ट्रान्शियम कार्बोनेट बन जाता है। कैल्सियम कार्बोनेट जल मे अविलेय होने के कारण सरलता से पृथक् किया जा सकता है। इसी प्रकार की अन्य प्रक्रियाएँ भी आविष्कृत हुई है परन्तु आजकल स्ट्रान्शियम हाइ-ड्राक्साइड प्रयुक्त करनेवाली विधा (प्रक्रिया) अधिक इस्तेमाल होती है।

[1] *Diffusion* [2] *Distillaries* [3] Decomposition

शर्करा-परिष्करण—उपर्युक्त प्रक्रिया से प्राप्त शर्करा को अपरिष्कृत शर्करा कहते हैं। कभी-कभी ईख की अपरिष्कृत शर्करा तो यों ही इस्तेमाल कर ली जाती है, किन्तु चुकन्दर की अपरिष्कृत शर्करा में असुखकर मिट्टी की गंध होने के कारण वह पसन्द नहीं की जाती। चुकन्दर तथा ईख दोनों की शर्कराओं को बाजार में बिकने लायक सफेद बनाने के लिए परिष्करण आवश्यक होता है। परिष्करण प्रक्रिया में अपरिष्कृत शर्करा को गरम जल में घोलकर उसे केज़लगूर-जैसे किसी स्वच्छकर्ता की सहायता से छान लिया जाता है, और फिर छने हुए विलयन को पशु चारकोल की सहायता से अरजित करके केलासन के लिए उद्वाष्पित किया जाता है। अन्तिम पदार्थ को उनकी शुद्धता के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बाँट दिया जाता है। शर्करा-परिष्करण प्रक्रियाओं में वैज्ञानिक नियंत्रण से बड़ा लाभ हुआ है। दृष्टान्त के लिए यह उल्लेखनीय बात है कि एक वाणिज्यिक संस्था ने अपने रसायनज्ञों के वेतन तथा प्रयोगशाला के अन्य खर्चों पर प्रतिवर्ष २०,००० पौण्ड व्यय करके ७५,०००—१००,००० पौण्ड सालाना का अतिरिक्त लाभ कमाया है। इसके अलावा शर्करा परिष्करण में कठोर वैज्ञानिक नियंत्रण के कारण असाधारण उच्च शुद्धता की श्वेत शर्करा प्राप्त होती है जिसमें विशुद्ध शर्करा की मात्रा ९९.९५—९९.९९ प्रतिशत तक होती है।

पिछले कुछ वर्षों में सक्रियित कार्बन सदृश विशिष्ट अरजनकर्ताओं के प्रयोग से, अपरिष्कृत शर्करा का अन्तर्वर्ती पृथक्करण किये बिना ही ईख अथवा चुकन्दर से श्वेत शर्करा (प्लैन्टेशन ह्वाइट और डाइरेक्ट कान्ज़म्पशन सूगर) का सीधा उत्पादन संभव हो गया है। इस श्वेत शर्करा की शुद्धता इतनी ऊँची नहीं होती जैसी परिष्कृत शर्करा की और कुछ समय के बाद यह तनिक पीली भी पड़ जाती है।

शर्करा की उपलब्धि और खपत—संसार में शर्करा की वर्तमान शान्तिकालीन उत्पत्ति लगभग ३ करोड़ टन प्रतिवर्ष है। इस राशि की दो-तिहाई ईख-शर्करा होती है। ग्रेट ब्रिटेन में शर्करा का प्रवेश प्राय १५वीं शताब्दी में हुआ था, लेकिन उस समय से लेकर कम से कम १७वीं शताब्दी तक उसका मूल्य इतना अधिक था कि कुछ गिने-चुने धनिक लोग ही उसे खरीद सकते थे। चाय और कहवा यानी काफ़ी के प्रचलन से उसकी माँग बढ़ी तथा साथ ही साथ क्षेत्रों, निर्माणियों और प्रयोगशालाओं में गहन अनुसन्धान भी होने लगे, जिनके फलस्वरूप उसका मूल्य घटा और उसकी खपत भी बढ़ने लगी। इंग्लैण्ड में १७०० ई० में शर्करा की खपत प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष केवल ४ पौण्ड थी, १८२० में यह बढ़कर १८ पौण्ड हुई और आज ९०-१०० पौण्ड है। पिछले ८० वर्षों से इंग्लैण्ड में चुकन्दर से चीनी तैयार करने के उद्योग को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हो रहा था, परन्तु १९२५ तक उसमें कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं

हुई। १९२५ में ही "ब्रिटिश सूगर सब्सिडी ऐक्ट" पारित हुआ और उसीके बाद इस उद्योग विशेष का बडी शीघ्रता से विकास होने लगा। ग्रेट ब्रिटेन में वहाँ की आवश्यकता की केवल २५–३० प्रतिशत शर्करा तैयार होती है और शेष उपनिवेशो से आती है।

स्टार्च शर्करा

स्टार्च शर्करा, जिसे रसायनज्ञ लोग ग्लूकोज अथवा डेक्स्ट्रोज कहते है, अपने नामानुकूल स्टार्च से तैयार की जाती है। १८११ में किचार्फ नामक एक जर्मन रसायनज्ञ ने यह आविष्कार किया कि जब स्टार्च को सल्फ्युरिक अम्ल के साथ गरम किया जाता है तब वह शर्करा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी आविष्कार से यह महत्त्वपूर्ण उद्योग विकसित हुआ। इसके निर्माण की वर्तमान विधा में आलू या मकई के स्टार्च को जल और तनिक सल्फ्युरिक अम्ल अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ उच्च दाब पर गरम किया जाता है। परिवर्तित द्रव मे चाक या सोडियम कार्बोनेट डालकर उसे उदासीन करने के बाद छाना और अस्थि चारकोल की सहायता से अरंजित तथा अन्त मे सान्द्रित किया जाता है। यह गाढा मिष्टोद (सिरप) या तो ऐसे ही बिकने के लिए भेज दिया जाता है या उसीसे केलासित करके अधिक शुद्ध शर्करा बनायी जाती है। जर्मनी मे मुख्यतया आलू स्टार्च से यह शर्करा बनायी जाती है, किन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका में मकई स्टार्च से बनी शर्करा अधिक प्रचलित है। स्टार्च शर्करा प्रधानत तीन वर्गों मे विभाजित की जा सकती है—

(१) द्रव ग्लूकोज, जिसमें १०-१२% जल, कुछ डेक्स्ट्रीन और कुछ ऐसे अन्य पदार्थ होते है जिनके कारण ग्लूकोज का केलासन नही हो पाता, (२) ठोस ग्लूकोज, यह साबुन की गाढता का एक पदार्थ होता है, जिसमें सूक्ष्म केलासीय दशा मे ७०-८०% ग्लूकोज रहता है, (३) शुद्ध केलासीय ग्लूकोज, जिसमे ९९ ५% शर्करा (ग्लूकोज) होती है।

शुद्ध ग्लूकोज का निर्माण अभी कुछ ही दिनो मे प्रारम्भ हुआ है। इसके लिए शर्करा के केलासन की अनुकूलतम दशा की खोज मे कठिन वैज्ञानिक अनुसन्धान करना पडा है। शुद्ध केलासीय ग्लूकोज सीधी खपत के लिए बाजार में बिकता है, लेकिन मिठाई बनानेवाले अपने उद्योग के लिए तीनो प्रकार की शर्करा का प्रयोग करते है।

ग्लूकोज के निर्माण के लिए स्टार्च के स्थान पर लकडी के प्रयोग पर काफी अनुसन्धान हुए और पेटेण्ट भी लिये गये है। इसके परिवर्तन के लिए स्टार्च की अपेक्षा

कही अधिक कठोर विधाओं की आवश्यकता होती है और सामान्यतः बड़े प्रबल खनिज अम्ल इस्तेमाल करने पड़ते हैं। लेकिन इससे प्राप्त ग्लूकोज बड़ा अपरिष्कृत होता है। अत केवल पशुखाद्य के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता है, मनुष्यों में इसकी खपत नही होती।

ग्रन्थसूची

CLAASSEN, H. : *Beet Sugar Manufacture.* John Wiley & Sons, Inc.
DEERR, N. . *Cane Sugar.* Norman Rodger.
FAIRRIE, G. : *Sugar.* Fairrie & Co., Ltd.
GEERLIGS, H C PRINSEN *Cane Sugar and its Manufacture.* Norman Rodger.
LYLE, O. : *Technology for Sugar Refinery Workers.* Chapman & Hall, Ltd.
WOHRYZEK, O. . *Chemie der Zuckerindustrie.* Julius Springer.

स्टार्च

लेविस इनॉन, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

वनस्पति सृष्टि में उत्पन्न विपुल सस्यक पदार्थों में स्टार्च सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है, कम से कम, मात्रा में तो सर्वोपरि हैं ही। पौधो की पत्तियों में सूर्य प्रकाश के प्रभाव से प्रतिदिन स्टार्च बनता रहता है। इस स्टार्च का एक भाग तो पौधे की तात्कालिक आवश्यकता के लिए प्रयुक्त हो जाता है और उसका शेष भाग शर्करा में परिवर्तित हो कर बीज, कन्द और प्रकन्द-जैसे अगो में जाकर फिर स्टार्च बन जाता है। कुछ पौधो के इन्ही अगो में सचित स्टार्च ही औद्योगिक महत्त्व का पदार्थ होता है।

स्टार्च का निर्माण इस युग के पहले की बात है, परन्तु अपेक्षाकृत अभी हाल तक इसके लिए एकमात्र गेहूँ ही कच्चा माल माना जाता था तथा बहुत समय तक स्टार्च का प्रयोग केवल धुलाई के कामो में होता रहा। बालो में छिडकने के काम में स्टार्च का प्रयोग प्राय १६वी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और १८वी शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही यह पदार्थ प्राविधिक कार्यों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। उसी समय से जर्मनी में आलू से स्टार्च बनने लगा। कसावा, सागो, ताल और आराख्ट की विभिन्न जातियों (स्पीसीज़) से भी अब स्टार्च बनाया जाता है।

पादप कोशाओ के सूक्ष्म कणो के ही रूप मे स्टार्च ऊनको में होता है। उसके निर्माण में मुख्यत दो पद होते हैं—(१) पौधो की कोशीय रचना को भग करना, जिससे उसमें से स्टार्च के कण निकल आय, और (२) इस प्रकार बाहर आये स्टार्च कणो को अन्य पादप पदार्थो से अलग करना।

आलू स्टार्च—आलू से स्टार्च बनाने के लिए पहले आलू को कूट कर लुग्दी बनायी जाती है *जिससे स्टार्च कण कोशाओ मे बाहर निकल आयें और तब लुग्दी को* चलनी मे रखकर धोया जाता है, इसमे स्टार्च धुलकर और तन्तुओ से छनकर नीचे चला जाता है, चलनी में केवल तन्तु शेष रह जाते हैं। चलनी से छने अपरिष्कृत स्टार्च दुग्ध में भी कुछ तन्तु एव जलविलेय पदार्थ चले जाते हैं। बार-बार तलछटीकरण करने और निथारने से अथवा अपकेन्द्र पृथक्करण से इन अशुद्धियो का निरसन किया जाता है। अन्त में स्टार्च को गरम-हवा वेश्मो में अथवा परिभ्रामी ढोलो मे सुखा लिया जाता है। बाजार में बिकनेवाले आलू के स्टार्च मे जल की मात्रा १८-२०% होती है।

गेहूँ स्टार्च—गेहूँ स्टार्च का निर्माण अनेक रीतियो से किया जाता है। एक विधा में गेहूँ को पानी में भिगा करके तब कूटा जाता है और फिर उसमें और अधिक पानी डालकर किण्वन के लिए छोड दिया जाता है। ऐसा करने से स्टार्च का धोना आसान हो जाता है। दूसरी विधा में गेहूँ का पिष्ट बनाकर छोड दिया जाता है और कुछ समय बाद उसे गूधते हुए जल प्रधार (जेट) से धोया जाता है, इससे स्टार्च पृथक् कर लिया *जाता है। इस प्रक्रिया से यह लाभ है कि एक मूल्यवान उपजात के रूप मे गेहूँ का* ग्लूटेन भी प्राप्त हो जाता है। इसका शेष उपचार आलू स्टार्चसे भिन्न नही होता। गेहूँ के बाज़ारू स्टार्च में प्राय ११-१५% जल होता है।

मकई स्टार्च—इसके निर्माण के लिए अन्न को ऐसे जल मे भिगोया जाता है, जिसमे सल्फ्यूरस अम्ल या कैल्सियम बाइसल्फाइट की थोडी मात्रा घुली रहती है। भिगोये अन्न को पीसकर उसके आलम्व मे मे स्टार्च को तलछटीकरण रीति से अलग किया जाता है। शोधन विधा मे कभी-कभी स्टार्च दुग्ध में थोडा सा सल्फ्यूरस अम्ल अथवा दह सोडा डाला जाता है। अम्ल अथवा क्षार डालकर बनाये गये स्टार्च के गुण भिन्न-भिन्न होते है। अम्ल के प्रयोग से स्टार्च का रग जरा अच्छा होता है, लेकिन गरम जल से उसकी श्यान लेपी नही बन पाती।

चावल स्टार्च—चावल मे स्टार्च के कण अत्यन्त छोटे-छोटे होते है तथा अविलेय ग्लूटेन से घिरे रहते है। इस वजह से उनके पृथक्करण की यान्त्रिक रीति व्यावहारिक नही होती, अत प्राय दह सोडा जैसे रासायनिक पदार्थ की सहायता लेनी पड़ती

है। चावल को दह सोडा के तनु विलयन (० ३–० ५%) में भिगो दिया जाता है और उसे समय-समय पर विचालित करते रहते हैं। इस क्रिया से ग्लूटेन विलीन हो जाता है। उसके बाद चावल को पीसकर तथा दुग्धीय स्टार्च आलम्ब को निथार कर या अपकेन्द्रित करके उसमें से तन्तु अलग कर दिये जाते है और तब उसे रेशम की चलनी से छानकर स्टार्च अलग किया जाता है। यह पृथक्करण तलछटीभवन अथवा अपकेन्द्रण से भी सम्पन्न किया जा सकता है।

अन्य स्टार्च—खाद्य पदार्थों के लिए तथा अन्य प्राविधिक कामो के लिए कसावा स्टार्च, सागो स्टार्च तथा आरारूट स्टार्च इस्तेमाल किये जाते है। टैपिओका स्टार्च कसावा स्टार्च का एक अंशत दिलपीकृत (जिलैटिनाइज्ड) रूप है।

विविध स्टार्चों के कण आकार और परिमाण में भिन्न-भिन्न होते है तथा उनके कणो में जो रेखाएँ होती है वे भी भिन्न होती है। इनके कारण बहुत से स्टार्च सूक्ष्म दर्शी की सहायता से ही पहिचाने जा सकते है। आलू स्टार्च के कण अपेक्षाकृत बडे होते है और यो भी देखे जा सकते हैं। लेकिन चावल स्टार्च के कण अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और अपने इसी गुण के कारण चावल स्टार्च चेहरे पर लगाने के पाउडर में इस्तेमाल किया जाता है।

भिन्न स्टार्चों को जल में मिलाकर बनायी गयी लेपी अथवा विलयन के गुण भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए कुछ स्टार्चों से बनी लेपी अन्य स्टार्चों की अपेक्षा अधिक श्यान होती है।

स्पष्ट है कि स्टार्च निर्माण की प्रक्रियाएँ अधिकतर यात्रिक होती है और उनमें अनुसन्धानो द्वारा उन्नति करने की खास गुजाइश नही है। लेकिन स्टार्च से व्युत्पन्न पदार्थों के निर्माण में रासायनिक अन्वेषण एव नियन्त्रण बडे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है। जैसे विलेय स्टार्च यानी गरम जल में न्यूनाधिक पूरी तरह से घुल जाने वाले स्टार्च का निर्माण रासायनिक अनुसन्धान का एक अच्छा खासा विषय रहा है और इसके लिए अनेक पेटेण्ट भी लिये गये। विलयनीकरण की अनेक रीतियो से अब यह सभव हो गया है कि प्राय किसी भी श्यानता का विलयन बनाने के लिए विलेय स्टार्च तैयार किया जा सकता है और आवश्यकतानुसार उन्हें विविध कामो के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इनमें से अधिकाश रीतियो में स्टार्च का किसी अम्ल अथवा आक्सीकर्ता द्वारा उपचार किया जाता है। इससे स्टार्च में प्राय कोई रासायनिक परिवर्तन नही होता लेकिन जल के प्रति उसका आचरण सर्वथा बदल जाता है। अनुपचारित स्टार्च में उष्ण जल मिलाने से श्यान एव गदली लेपी बनती है किन्तु विलयनीकृत (सॉलवलाइज्ड) स्टार्च से अधिक स्वच्छ और चलिष्णु (मोबाइल)

विलयन बनता है। डेक्स्ट्रीन के निर्माण मे भी परिस्थितियो के वैज्ञानिक नियत्रण की आवश्यकता होती है, जिससे सदा एकरूप पदार्थ प्राप्त हो। स्टार्च को अकेले अथवा अल्प मात्रा मे किसी अम्ल के साथ भूनने (रोस्टिग) से डेक्स्ट्रीन तैयार होती है। कागज, वस्त्र, धुलाई तथा चमडा-उद्योग जैसे अनेक कामो में स्टार्च, विलेय स्टार्च तथा डेक्स्ट्रीन का प्रयोग होता है।

ग्रन्थसूची

EYNON, L , AND LANE, J H *Starch, its Chemistry, Technology and Uses.* W. Heffer & Sons, Ltd

RADLEY, J A *Starch and its Derivatives* Julius Springer Chapman & Hall, Ltd.

REHWALD, F *Starch Making* Scott Greenwood & Sons, Ltd.

SAARE, O *Die Fabrikation der Kartoffelstarke*

कोको, चाकलेट और मिठाई

टाम मैंकारा, एफ० आर० आई० सी०

यूरोप मे कोकोबीन का प्रवेश कोलम्बस के द्वारा हुआ था। आज के कोको और चाकलेट इसी कोकोबीन से बनते हैं। कोको का इतिहास तथा उससे बने पदार्थो की कहानी बडी रोचक है जो हमें एज़टेक्स के दिनों की याद दिलाती है। इस विषय का बडा सुन्दर और संक्षिप्त विवरण ए० डब्लू० नैप-लिखित 'कोको ऐण्ड चाकलेट' नामक पुस्तक मे दिया गया है। यद्यपि कोको का मूल देश मेक्सिको है किन्तु आजकल इस्तेमाल होनेवाला कोको अधिकाशत पश्चिमी अफ्रीका के उपनिवेशो से प्राप्त होता है। फिर भी पूर्वी और पश्चिमी इण्डीज, मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका और श्रीलका से भी इसकी काफी मात्रा प्राप्त होती है।

कोको के वृक्ष की यह एक विचित्रता है कि उसके फूल और फलियाँ उसके तने और मोटी-मोटी शाखो पर ही लगती है। पक जाने पर फलियाँ तोड ली जाती हैं और उन्हें खोलकर उनमें से बीज यानी 'बीन' निकाल ली जाती हैं। इन बीनो को किण्वन के लिए रख दिया जाता है। यद्यपि किण्वन की विधाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं परन्तु परिणाम प्राय एक ही जैसे होते हैं। चिटेण्डन ने १८९९ में प्रथम बार इस

विरा (प्रक्रिया) का अध्ययन किया था। उन्होंने यह दरसाया था कि किण्वन की प्रथम अवस्था यीस्टो द्वारा सिद्ध होती है परन्तु उसमें लैक्टिक और ब्युटिरिक अम्ल उत्पन्न करनेवाले जीवाणु भी मौजूद रहते है। अनुगामी अन्वेषको ने इस सबन्ध मे बहुत से फफूँदो और जीवाणुओ का वर्णन किया है परन्तु वे इतने बहुसख्यक है कि उनकी चर्चा यहाँ सभव नही है, हाँ नैप ने यीस्टो के बाद एसिटिक अम्ल जीवाणुओं को ही महत्त्वपूर्ण बताया है। इन्ही जीवाणुओ के कारण जो द्वितीयक किण्वन होता है उसमें बीनो का ताप ४६° से० और कभी-कभी ५०° से० तक बढ जाता है। उत्तम श्रेणी के कोको के उत्पादन में ताप का प्रभाव बडा महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। अगर किण्वन *को इस अवस्था से आगे बढने दिया जाय तो अन्य जीवाणुओं के कारण अवाछनीय गन्ध उत्पन्न होने लगती है।*

इस विषय के वर्तमान ज्ञान का पूर्ण विवरण नैप द्वारा प्रकाशित किया गया है। इन्होंने प्रक्रिया के प्रकार एव बीन में होनेवाले परिवर्तनों के बारे में बडे सारगर्भित निष्कर्ष निकाले है। मुख्य-मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित है—(१) बैगनी रग बदल कर चाकलेटी भूरा रग हो जाता है, (२) सुवास में उन्नति होती है, और (३) कसैलापन कम हो जाता है।

किण्वन के बाद बीनो को किसी मन्च पर यथासभव धूप में सुखाया जाता है। *कभी-कभी सुखाने की कृत्रिम रीति भी अपनायी जाती है, लेकिन नैप और कॉवर्ड* के आविष्कार ने यह सिद्ध किया कि यीस्ट में लगे हुए स्टीरोल पर सूर्यप्रकाश की परा-नीललोहित (अल्ट्रावायलेट) किरणो के प्रभाव से ही कोको के छिलको में विटामिन डी उत्पन्न होता है। इसलिए बीनो को धूप में सुखाना श्रेयस्कर है।

कोको चूर्ण—जब बीन निर्माणी में आती है तो साफ करनेवाले यंत्र द्वारा उसको अवर पदार्थों से अलग करके भूँना जाता है। कोको और चाकलेट के निर्माण में यह बडी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, क्योंकि निष्पन्न पदार्थ की सुवास अधिकाशत. इसी की कुशलता पर निर्भर *होती है। सर्वप्रथम भूँनने के लिए गोलाकार पात्र इस्तेमाल किया जाता था, यह पात्र कोक की आग पर घूमा करता था।* लेकिन कालान्तर में रम्भाकार पात्र प्रयुक्त होने लगा और इसे गैस द्वारा गरम किया जाने लगा। यद्यपि यह युक्ति अब भी काम में लायी जाती है, लेकिन भुँजाई के सबसे नये यत्र में तप्त धातु-कुण्डलो द्वारा आवश्यक ताप तक गरम की हुई हवा प्रवेश करायी जाती है। इस क्रिया मे बीनों की सुवास में परिवर्तन होता है और कसैलापन कम हो जाता है, साथ ही साथ इससे छिलका भी ढीला हो जाता है जिसे कूटफटक कर निबो से आसानी से अलग किया जा सकता है।

निबों को पत्थर की चक्की या विशेष वियोजन (डिसइन्टिग्रेटिंग) यंत्रों में डालकर पीसा जाता है। इनमें ५०-५४ प्रतिशत कोको बटर होता है, जो पिसाई में उत्पन्न दाब और ताप के कारण द्रवीभूत हो जाता है; इससे कोको चक्की में से गाढ़ी मलाई के रूप में निकलता है। इसे 'कोको मास' कहते हैं।

कोको चूर्ण के दो रूप होते हैं, एक को 'सार' यानी 'इसेन्स' और दूसरे को 'विलेय कोको' कहते हैं। सार बनाने के लिए कोको मास को लोहे के ऐसे पात्रों में डाला जाता है जिनके सिरे और तल में लोहे के छिद्रित पट्टों पर आधारित छानन गत्ते (पैड) लगे होते हैं। इन पात्रों में ३-३½ टन प्रति इंच का द्रवचालित दबाव रहता है, जिससे अतिरिक्त कोको बटर निकल आता है और कड़ी खली, जिसे 'कोको केक' कहते हैं, बच रहती है। इस खली में आवश्यकतानुसार १०-२८% तक कोको बटर छोड़ दिया जाता है। पेराई के ताप का भी नियंत्रण करना पड़ता है क्योंकि अगर ताप अधिक ऊँचा हो जाय तो कोको की सुवास पर कुप्रभाव पड़ता है, साथ ही यह कोको बटर के लिए भी हानिकारक होता है। इसके बाद खली तोड़कर विशेष यंत्रों में पीस ली जाती है, जिसमें से वह स्वतः छनाई यंत्र में स्थानान्तरित हो जाती है। इसमें चूर्ण १०० अक्षिवाले रेशमी छन्नों द्वारा छन जाता है तथा अवशिष्ट भाग फिर पिसाई यंत्र में चला जाता है। फटकन युक्तियुक्त वियोजक (डिसइन्टिग्रेटर) भी आजकल काम में लाये जाते हैं, जिनके द्वारा किसी भी वांछित सूक्ष्मता का चूर्ण तैयार किया जा सकता है।

'विलेय कोको' सचमुच 'सार' से अधिक विलेय नहीं होता लेकिन क्षार द्वारा उपचारित होने के कारण इसमें कोको के प्राकृतिक अम्ल का उदासीनीकरण हो जाता है। इसका रंग तनिक चोखा और स्वाद थोड़ा सुस्वादु हो जाता है। ये गुण कोको पदार्थ के पायसन के कारण उत्पन्न होते हैं। निर्माता लोग क्षार का प्रयोग निर्माण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर करते हैं। कभी तो भूनने के पहले, कभी पेराई के पूर्व द्रव कोको मास में और कभी परिष्करण के पूर्व कोको खली में क्षार डाला जाता है। प्रायः इन सभी रीतियों से पायसनसंबन्धी एक ही प्रकार का परिणाम प्राप्त होता है लेकिन हर एक में अपनी-अपनी विशेष सुवास का अवश्य विकास होता है।

चाकलेट—चाकलेट बनाने के लिए बीनों को कोको बनाने की अपेक्षा तनिक कम भूना जाता है, नहीं तो कोको मास बनाने की शेष प्रक्रिया वही होती है। सर्वोत्तम श्रेणी के चाकलेट में कोको मास में से कोको बटर नहीं निचोड़ा जाता बल्कि मिल में डालकर उसी में शर्करा और कोई सुवास मिला दी जाती है। इस अवस्था की पिसाई से कोको और शर्करा के दाने काफी छोटे-छोटे हो जाते हैं। कभी-कभी तो अतिरिक्त

कोको बटर डालना पड़ता है, क्योंकि शर्करा के कारण 'मास' बड़ा कड़ा हो जाता है।

चाकलेट के परिष्करण के लिए उसको एक ऐसे यत्र में डालकर सिद्ध किया जाता है, जिसमें लोहे के पांच बड़े-बड़े बेलन लगे होते है। इन बेलनों से पिसाई के दबाव और सघर्षण से शर्करा और कोको के अति तप्त हो जाने की सभावना होती है, इसलिए बेलनो को बराबर जल से ठडा किया जाता है। कार्यविधि की इस अवस्था में बरती गयी सावधानी पर ही चाकलेट की चिकनाहट निर्भर करती हैं, तथा उत्पन्न कणो के परिमाण पर भी इस समय नियत्रण रखने की ज़रूरत होती है। सर्वोत्तम श्रेणी के चाकलेट प्राप्त करने के लिए इस क्रिया को दो तीन बार करना पडता है। इन परिष्करण यत्रो में से चाकलेट शल्कलीय (फ्लेकी) रूप मे प्राप्त होता है। अतः इसे स्टोव पर या किसी गरम कमरे में रखा जाता है, जिससे वह अपनी द्रवता पुनः प्राप्त कर ले। सामान्यत इस अवसर पर और भी कोको बटर मिलाया जाता है। अन्त में चाकलेट को काँचो में रखा जाता है। ये यत्र विशिष्ट रूप से चाकलेट बनाने में ही प्रयुक्त होते है। सामान्यत इनका चार-चार का कुलक (या सेट) होता है और उनमें आयताकार तडाग होते है, जिनकी तहें ग्रैनाइट की बनी होती हैं। उन तहो पर ग्रैनाइट के बेलन आगे-पीछे डोलते रहते है। इन काँचो की क्रिया १२ से ९६ घण्टो तक चलती रहती है। जैसी चाकलेट बनानी होती है, उसी के अनुसार इस क्रिया का ताप रखा जाता है। इस अवस्था में चाकलेट की बनावट तथा उसकी सुवास का अद्भुत विकास होता है। लेकिन आज तक इस विचित्रता का कोई वैज्ञानिक कारण नही बताया जा सका कि उपर्युक्त विकास क्यो और कैसे होता है। काँच में से निकलने के बाद चाकलेट साँचो में ढलने तथा खण्ड बनने के लिए तैयार हो जाते है। सामान्यत. इन क्रियाओ के पहले चाकलेट को स्टोव पर गरम करके मृदुकरण (टेम्परिंग) के लिए तली मे डालकर उसका निरन्तर विचालन किया जाता है और अनुगामी क्रिया के लिए उपयुक्त ताप पर रखा जाता है। चाकलेट का मृदुकरण बडे महत्त्व की क्रिया मानी गयी है और अगर यह ठीक ढग से न पूरी की जाय तो निष्पन्न पदार्थ में कई दोष उत्पन्न हो जाते है। इनमें से एक दोष को वसीय मृदुलक (फैटीब्लूम) कहते है। इस दोष के कारणों की खोज के लिए निर्माता एव रसायनज्ञ वर्षों से चिन्तित रहे और आखिरकार 'ट्रेड रिसर्च एसोसियेशन' ने इसके कारण का पता लगाया और इसके उपाय भी सुझाये। साँचे में ढालकर खण्ड बनाने की क्रिया बहुधा यत्रो की सहायता से की जाती है यद्यपि सर्वोत्तम चाकलेट का आवरण अब भी हाथ से ही किया जाता है।

यत्रो द्वारा आवरण क्रिया में चाकलेट की सुघट्यता (प्लैस्टिसिटी) बडे महत्त्व की

बात है और रसायनज्ञो तथा 'रिसर्च एसोसियेशन' के कर्मचारियो (विशेष कर डा० एल० ई० कैम्पबेल) द्वारा अध्ययन का यह विशेष विषय रहा है।

प्रशीतक (रेफ्रिजरेटर) किसी चाकलेटनिर्माणी का एक प्रमुख अग होता है क्योकि द्रवित खण्डो तथा 'कौवर्चर' की ऊष्मा को, जिसमें गुप्त ऊष्मा भी शामिल होती है, इस गति से घटाना चाहिए जिससे वसा सूक्ष्म केलासीय रूप में जम जाय। इसी केलासीय दशा पर चाकलेट की भगुरता (स्नैप) निर्भर करती है। शीतन की अति मन्द गति के कारण ही चाकलेट में इस गुणविशेष की कमी होती है तथा वह खाने में भी कुछ रूखा-सा लगता है। इसीलिए उसे शीघ्र ठडा करने के लिए प्रशीतक की आवश्यकता होती है।

इस उद्योग में बीन का छिलका या बकला काफी प्रचुर मात्रा में निकलता है, अत इसके उपयोग के लिए अनेक प्रयत्न किये गये है। इनमे थियोब्रोमीन और निम्न कोटि का कोको बटर निकाला गया है। हाल मे इन छिलको में विटामिन डी पाये जाने के कारण अब यह एक उत्तम पशुखाद्य के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। गायो को ये छिल्के खिलाने से उनमे जाडो मे भी उसी विटामिन डी मात्रावाला मक्खन प्राप्त होता है जैसा गर्मी के दिनो में।

युद्धकाल में सैनिको के लिए चाकलेट एक विशेष राशन के रूप में इस्तेमाल होता था तथा अधिकृत देशो के बच्चो को खिलाने के लिए यह काफी बडे पैमाने पर तैयार किया जाता था। बच्चो को विटामिन (ए, बी, सी, तथा डी) खिलाने के लिए चाकलेट बड़ा उत्तम साधन है। (इग्लैण्ड के) खाद्यमत्रालय द्वारा सर जैक ड्रमण्ड की अध्यक्षता में नियुक्त एक विशेष समिति ने निर्माण एव सग्रहण-काल में विटामिन की हानि की सीमा निर्धारित करने के लिए बडा अनुसन्धानकार्य किया। युद्ध के पहले 'रिसर्च असोसियेशन' ने यह सिद्ध किया था कि कोको पदार्थों में एक ऐसा प्रति-ऑक्सीकारक होता है जो सामान्यत तेल और वसा में पूतिगधिता[1] को रोकता है, और अब यह भी ज्ञात हुआ है कि यह पदार्थ चाकलेट में मिलाये गये विटामिन ए को भी काफी समय तक सुरक्षा करता है। विटामिन बी$_1$ तो वैसे भी लम्बे समय तक अप्रभावित रहता है, लेकिन विटामिन सी की धीरे-धीरे बराबर हानि होती रहती है। इन परिणामों से यह विदित होता है कि विटामिनो का सेवन कराने के लिए, विशेषकर बच्चो को, चाकलेट बड़ा उपयुक्त साधन है।

[1] Rancidity

मिठाई—मिठाई बनाने के उद्योग में विविध प्रकार के कच्चे मालो का प्रयोग होता है और उनके चुनाव में बडी सावधानी की आवश्यकता होती है। उच्च कोटि की मिठाई बनानेवालो के लिए सभी वस्तुओ के भौतिक एव रासायनिक गुणो का ज्ञान अनिवार्य होता है। सामान्यत इस उद्योग में प्रयुक्त होनेवाली क्रियाएँ चाकलेट बनाने की प्रक्रिया से कहीं अधिक सरल होती हैं। उनमें से अधिकाश में अकेले या अन्य वस्तुओ के साथ केवल शर्करा उबालने की आवश्यकता होती है।

सबसे साधारण मिठाई 'शर्करा क्वाथन' (सूगर ब्यायलिंग्स) कहलाती है। 'बुल्स आइज़', 'ऐसिड ड्राप्स', 'पियर ड्राप्स' इत्यादि इस प्रकार की मिठाइयो के उदाहरण है। इनके बनाने की तीन मुख्य रीतियाँ है—(१) अग्निक्वाथन—इस विधा में शर्करा को एक ताम्रकडाह में लेकर कोक या गैस की आग पर उबाला जाता है। थोडी मात्रा में क्रीम आफ टारटर भी डाल दिया जाता है, इसका एकमात्र तात्पर्य शर्करा को अशत अपवृत्त (इन्वर्ट) करना होता है अन्यथा ठडी होने पर उबाली हुई शर्करा का ऐसा रवा बन जाता है कि उसे साँचों में डालकर वाछित आकार में ढालना असंभव हो जाता है। कुछ मिठाइयों के लिए अग्निक्वाथन की रीति अब भी अच्छी मानी जाती है क्योकि कड़ाह में शर्करा के स्थानिक कैरेमली-भवन[1] के कारण एक विचित्र सुवास उत्पन्न हो जाती है।

(२) निर्वात क्वाथन—इसमें शर्करा को न्यून दवाव पर उवाला जाता है। इस विधा में शर्करा को अपवृत्त करने के लिए टार्टरिक अम्ल अथवा साइट्रिक अम्ल डाला जाता है, क्योकि न्यून ताप पर क्रीम ऑफ टारटर उतना सक्रिय नही होता; ऐसी दशा में अपवृत्त करने के लिए अम्लता की अधिक मात्रा आवश्यक होती है। साथ ही अपवृत्त शर्करा के अनुपात पर भी नियत्रण रखा जाना है, अन्यथा उसमें और दोष उत्पन्न हो सकते हैं।

(३) बड़े पैमाने पर उत्पादन—इस प्रणाली में प्रयुक्त भाप-चोलित रम्भ (स्टीम जैकेटेड सिलिण्डर) के अन्दर तप्त कुण्डल (क्वायल) होते हैं। शर्करा के मिष्टोद[2] (सिरप) का पतला स्तर इन्ही कुण्डलो के ऊपर से पार किया जाता है। यह विधा सतत चलती रहती है तथा यह प्रणाली मुख्यत धान्यमिष्टोद (कार्न सिरप) अथवा कॉन्फेक्शनर्स ग्लूकोज़ से बने क्वाथनों के उत्पादन में प्रयुक्त होती है। इस मिष्टोद में शर्करा के रवे उस प्रकार नही बनते जैसे अपवृत्त शर्करा में। इसी लिए ऐसी

[1] Carametising [2] Syrup शर्बत

मिठाइयों के लिए, विशेषकर जो अम्लरहित होती हैं, ग्लूकोज़ ही इस्तेमाल किया जाता है।

मिठाइयों के इतने विभिन्न प्रकार होते हैं कि यहाँ सबका वर्णन सभव नहीं, लेकिन यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उनके उत्पादन एव सग्रहण में अनेक भौति-रासायनिक सिद्धान्त निहित हैं। कुछ पदार्थ तो ऐसे वायुमडल से भी आर्द्रता ग्रहण करते हैं जिनकी आपेक्षिक आर्द्रता काफी कम होती है, जब कि कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो काफी अधिक आपेक्षिक आर्द्रतावाले वायुमण्डल में भी अपनी आर्द्रता खोकर सूखने लगते हैं। एतदर्थ विभिन्न पदार्थों के वाष्प-दाव (वेपर प्रेशर) का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि रसायनज्ञ उनके सग्रहण एव भरने और बाँधने का ठीक-ठीक प्रबन्ध कर सके। कुछ तरह की मिठाइयाँ तो बनाते-बनाते ही सूखने लगती हैं, इस समस्या के हल में भी रसायनज्ञ और इजीनियर की आवश्यकता होती है।

श्यानता, सुघट्यता तथा केलासन से सबन्धित भी अनेक समस्याएँ हैं। पिछले कुछ वर्षों में कच्चे माल अथवा उनके मिश्रणो के pH मान के प्रभाव का भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया गया है जिससे महत्त्वपूर्ण उन्नति करने और मितव्ययिता में विशेष सहायता मिली है। विविध प्रकार की मिठाई बनाने में स्टार्च, जिलैटिन, अगर, पेक्टिन तथा गोंद इस्तेमाल होते हैं, अत इनकी वजह से मिठाई-उद्योग में कलिलीय रसायन का भी विशेष महत्त्व है। सोयाबीन से प्राप्त लेसिथीन के प्रयोग से नवनीत अर्थात् मक्खन तथा अन्य वसाओं का सतोषजनक पायसन भी अब बडा सरल हो गया है।

मिठाइयों के रग और सुवास पर ही उपभोक्ताओं की रुचि प्राय निर्भर करती है, और इन गुणों का विकास मुख्यत रसायनज्ञों की कुशलता पर आधारित होता है। विविध प्रकार के कृत्रिम सुवासनपदार्थ तैयार कर लिये गये हैं, जिनसे न्यूनाधिक मात्रा में उन प्राकृतिक सुवासों की प्रतीति होती है जो सरलता से साद्रित रूप में नहीं प्राप्त की जा सकती हैं। खाद्यरजक भी अनेक प्रकार के और बडी उच्च शुद्धता के बनने लगे हैं। इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि इन उद्योगों में कच्चे माल के चुनाव तथा निर्माण की रीतियों के नियत्रण एव सशोधन में रसायनज्ञों के लिए काम करने का बहुत व्यापक क्षेत्र है।

ग्रन्थसूची

BERMAN, M. : *The How and Why of Candy Making*. Emmet Boyles.
BYWATERS, H. W. : *Modern Methods of Cocoa and Chocolate Manufacture*. J. & A Churchill, Ltd.
FINCKE, H. : *Handbuch der Kakaoerzeugnisse*. Julius Springer.
FRITSCH, J. : *Fabrication du Chocolat* Desforges
JENSEN, H. R. *Chemistry, Flovouringand Manufacture of Chocolate, Confectionery and Cocoa* J & A Churchill, Ltd.
JORDAN, S · *Confectionery Problems* National Confectioners' Association.
KANPP, A W *Cocoa and Chocolate*. Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.
KNAPP, A. W *Cocoa Fermentation* John Bale, Sons & Curnow, Ltd.
Skuse's Complete Confectioner. W. J. Bush & Co, Ltd
WHYMPER, R. · *Cocoa and Chocolate, Their Chemistry and Manufacture*. J. & A. Churchill, Ltd.
WHYMPER, R. . *Manufacture of Confectionery*. St. Catherine Press, Ltd.
ZIPPERER, P : *Manufacture of Chocolate* E & F. N. Splon, Ltd.

डब्बाबन्दी

आर० एस० पॉटर, बी० एस-सी० (बर्मिंघम), एफ० आर० आई० सी०

इतिहास—खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिए अतीत काल से प्रयत्न होता आया है और उसके लिए अनेक विधाएँ (प्रक्रियाएँ) भी प्रयुक्त होती रही हैं। परन्तु जब उन विधाओ के कियाकरण में विज्ञान का प्रयोग किया जाने लगा तभी से उसमें विशेष प्रगति और विकास हुआ है। डब्बाबन्दी प्रथा खाद्यपरिरक्षण का अभी नया तरीका है जो प्राय गत १४० वर्षो से व्यवहृत हो रहा है। १७९५ में फ्रेंच सरकार ने युद्ध-कालीन स्थिति में सैनिकों के खाद्यो के परिरक्षण की सबसे व्यावहारिक रीति विकसित करने के लिए १२,००० फ्राको के पुरस्कार की घोषणा की थी। १८०४ ई० में निकोलस अप्पर्ट नामक एक फ्रासीसी ने, जिसे खाद्यपरिरक्षण की कला का अच्छा अनुभव प्राप्त था, काच के बन्द मर्तबानों में गरम करके खाद्यों को ठीक दिशा में असीमित काल तक सुरक्षित रखने की विधा का आविष्कार किया। उस समय इस विधा को "कला" की ही सज्ञा दी गयी क्योकि सचमुच उसके ठीक सिद्धान्तो का किसी को भी

पता न था और न किसी को इस प्रारम्भिक आविष्कार के उस महत्त्व का ही अनुमान था, जो आगे चलकर खाद्यपरिरक्षण और वितरण के क्षेत्र में उसे प्राप्त हुआ। आजकल तो किसी दूकान में परिरक्षित खाद्यो के भण्डार को देखकर डब्बाबन्दी उद्योग के विस्तार का सहज अनुमान किया जा सकता है। इस उद्योग का इतिहास स्वय ऐसा विषय है जिस पर पूरा ग्रन्थ लिखा जा सकता है परन्तु यहाँ तो उसकी केवल एक झलकमात्र दिखाई जा सकती है। पाठको को यदि इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी हो तो उन्हे तत्सबन्धी अन्य वाङ्मय का अध्ययन करना होगा।

१८१० ई० में अप्पर्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (ग्रन्थसूची देखिए) प्रकाशित की थी और यह उल्लेखनीय बात है कि आज प्राय १४० वर्ष के बाद भी उनकी मूल प्रक्रिया को ही डब्बाबन्दी का आधार माना जाता है। यह सामान्यत मान्य है कि डब्बाबन्दी का जन्म अप्पर्ट की विधा से ही हुआ, लेकिन टामस सैंडिगटन नामक एक अंगरेज को भी उसका श्रेय दिया जाता है, क्योंकि उसने अप्पर्ट की पुस्तक प्रकाशित होने के कुछ वर्ष पूर्व फलो के परिरक्षण की एक विधा का पेटेण्ट कराया था। सैंडिगटन की विधा भी अप्पर्ट की विधा की तरह ही थी, इसमें भी फलो को काँच की बोतलो में बन्द करके १६०°—१७०° फ० ताप पर एक घण्टा तक गरम करके उनका परिरक्षण किया जाता था। इग्लैण्ड में डब्बाबन्दी का प्रथम कारखाना १८१२ के लगभग बर्माण्डसे मे डॉन्किन द्वारा बनाया गया था। धातु आधानो का विकास पहले-पहल डूरैण्ड ने किया था और उसने तत्सबन्धी दूसरा पेटेण्ट भी लिया था। सभवत डब्बाबन्दी कारखाने की स्थापना इसी पेटेण्ट का परिणाम थी। ये आधान अर्थात् डब्बे शुरू शुरू में पिटवाँ लोहे के बने होने के कारण बहुत भारी होते थे। इनके सिरे पर एक छेद होता था जिससे उनमें खाद्य पदार्थ डाला जाता और उसके बाद उस पर एक बिम्ब रखकर टाँके से जोड दिया जाता था। अन्त में उस डब्बे को खौलते पानी मे रखकर परिरक्षण किया जाता था। इन डब्बाबन्द खाद्यो मे नौसैनिकों की विशेष रुचि होती थी, क्योंकि उनको न केवल विविध प्रकार की खाद्य वस्तुएँ प्राप्त होने लगी थी बल्कि इनके प्रयोग से वे प्रशीताद (स्कर्वी) नामक रोग से भी बच जाते थे। उस प्रारम्भिक काल मे कभी कभी खाद्यो के नष्ट हो जाने से उद्योग में भारी हानि हो जाया करती थी और खाद्य-परिरक्षण की प्रचलित प्रथा आलोचना का अच्छा साधन बन जाती थी। स्टीफ़ेन गोल्डनर ने रासायनिक ऊष्मक के लिए एक और पेटेण्ट लिया, जिसमें जल के स्थान पर कैल्सियम क्लोराइड या सोडियम नाइट्रेट का विलयन प्रयुक्त होता था। इन विलयनो के प्रयोग से जीवाणु-हनन का ताप अधिक ऊँचा किया जा सकता था।

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध में बड़ी तेज़ी से इस उद्योग का विकास हुआ और

मान शताब्दी के प्रारम्भ में एक फान्सीसी वैज्ञानिक, एल० बेलार्ड ने यह बताया कि काफी समय तक ठीक रहनेवाले डब्बावन्द मास अनिवार्यत जीवाणुरहित नही होते। उन्होंने देखा कि ७०–८० प्रतिशत डब्बाबन्द सामानो में ऐसे जीवाणु विद्यमान थे जो उपयुक्त अवस्था पाकर विकसित हो सकते थे। अन्य कार्यकर्ताओं ने भी इस बात की सपुष्टि की और डब्लू० जी० सैवेज एव आर० एफ० हनविक ने तो इस विषय की विस्तृत छानबीन की। आजकल डब्बावन्द सामान बहुत करके केवल आशिक रूप में ही जीवाणुरहित माने जाते हैं। खाद्यो के डब्बो में, जिन्हें साधारण भाषा में जीवाणुरहित कहा जाता है, ऐसे जीवाणु होते हैं जो समुचित परिस्थिति पाकर बढ और पदार्थों को नष्ट कर सकते हैं। अत डब्बाबन्द खाद्य सच्चे वैज्ञानिक अर्थ मे बहुधा जीवाणुरहित नही होते। यह बात डब्बा बन्द करनेवालो के लिए बडे महत्त्व की है, क्योकि इन गुप्त प्राणियों के विकास मे सहायक कारको का प्रभाव विधायन की रीतियो पर पडना आवश्यक है। समस्या के हल में सग्रहण ताप, आक्सीजन की उपस्थिति, मूल पदार्थ के दूषण की सीमा तथा अम्लता—इन सब का ध्यान रखना पडता है।

डब्बाबन्दी की प्रथा—यह बताया जा चुका है कि अप्पर्ट की मूल विधा (प्रक्रिया) का आधार अब भी वही है, लेकिन उन परिस्थितियो के उत्पन्न करने के साधनों में असाधारण प्रगति हुई है। इसका मुख्य कारण अमेरिकी डब्बाबन्दी उद्योग का विकास है। पुराना रासायनिक ऊष्मक (केमिकल बाथ) काफी दिन पहले ही लुप्त हो गया था और उसके स्थान पर निपीड-पक्त्र (प्रेशर कुकर) तथा निपीड तापक (ऑटोक्लेव) इस्तेमाल किये जाने लगे हैं। ये यत्र भाप द्वारा चालित होते हैं और नियत्रित ताप तथा दबाव पर इनका प्रयोग किया जाता है। विविध पदार्थों मे ऊष्मा के अन्त प्रवेशन की गति का सावधानी से अध्ययन किया गया है, और इस ज्ञान से किसी पदार्थ के जीवाणु-हनन के लिए आवश्यक न्यूनतम समय निश्चय कर लिया गया है। इससे चीजों को अनावश्यक रूप से अधिक गरम करने से उनकी सुगन्ध एव रग की जो हानि होती थी अब नही होने पाती। कृषिविज्ञान के प्रयोग के फलस्वरूप डब्बाबन्दी के उपयुक्त फल और शाक भाजी बडी सरलता से उत्पन्न की जा सकी है। और इसकी वजह से भी इस उद्योग मे विशेष प्रगति हुई है। यद्यपि किसी विशेष खाद्य पदार्थ की डब्बाबन्दी की विस्तृत रीति जानने के लिए अन्य पुस्तको एव साहित्य का अध्ययन करना पडेगा परन्तु यहाँ पर सामान्य प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है। सबसे पहले पदार्थों को स्वच्छ करके उनके गुण और आकार के आधार पर उनका वर्गीकरण कर लिया जाता है। और तब वे स्वत चालित तरीको से डब्बों मे भरे जाते हैं और उनमे यथावश्यकता शाकभाजियो के लिए लवणजल और फलो के लिए मिष्टोद डाला जाता है। इसके

बाद डब्बो को एक रेचन बक्स (एक्झास्ट बॉक्स) में रखा जाता है, और उसका ताप उस सीमा तक बढाया जाता है जिससे डब्बे को बन्द करके साधारण ताप तक ठढी करने के बाद उसके अन्दर निर्वात अवस्था बनी रहे। तदनन्तर यंत्र द्वारा ढक्कन को नचाकर डब्बो पर बैठा दिया जाता है और उन्हें या तो निपीडतापक में रखकर अथवा उबलते जल में गरम करके उनका जीवाणुहनन किया जाता है। जीवाणुहनन की प्रक्रिया पर अम्लता का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। प्रबल अम्ल माध्यम में १८०° फ० अथवा इससे भी नीचे ताप पर कुछ मिनट के लिए गरम करने से पदार्थों के परिरक्षी गुणो की पर्याप्त सुरक्षा हो जाती है। डब्बाबन्द फलो में बहुधा ऐसी अम्लता विद्यमान होती है। परन्तु शाकभाजी और मास के लिए केवल इसी ताप तक गरम करना काफी नही होता, क्योकि ऐसा करने से उनमें जीवाणु विकसित हो जाते है, जिससे अधिकाश पदार्थ नष्ट हो जाता है। इसी वजह से मास, मछली तथा शाकभाजियो का विधायन क्वथनाक से काफी ऊपर ताप पर करना पडता है। कुछ वर्ष पहले तक डब्बा बन्द करनेवाले अपनी विधा में २४०° फ० ताप का प्रयोग करते थे, किन्तु निपीड-पक्त्रों के प्रचलन से अब पदार्थों को २६५° फ० पर केवल कुछ मिनटो के लिए गरम करना अधिक अच्छा माना जाता है, क्योकि इससे पदार्थों के गध एव रग में कोई प्रतिकूल परिवर्तन नही होता है। डब्बाबन्द सामानो के उच्च दाब विधायन में काफी सावधानी की आवश्यकता होती है क्योकि ऐसी दशा में डब्बो के जोड़ो पर बडा ज़ोर पडता है और इसकी वजह से आगे चलकर उनके चूने लग जाने की सभावना होती है। आजकल डब्बे के आन्तरिक दबाव के प्रतिसतुलन के लिए बाहर से उसी के बराबर हवा का दबाव डाला जाता है और इस प्रकार उन पर अधिक ज़ोर पड़े बिना ही डब्बो का विधायन होता है और वे ठडे किये जाते हैं।

डब्बो के सक्षारण (कोरोज़न) की समस्या भी वैज्ञानिक अनुसन्धान का विषय रही है। इग्लैण्ड के 'कैम्पडन रिसर्च स्टेशन' तथा अमेरिका के 'नेशनल कैनर्स रिसर्च असोसियेशन' द्वारा किये कार्यो से इस विषय पर अच्छा प्रकाश पडा है। टिन-पट्टिकाओ के सक्षारण और विरजन को रोकने या कम करने के लिए विविध प्रकार के प्रलाक्ष (लैकर्स) इस्तेमाल किये जाने लगे है। उदाहरणार्थ, धातवीय सल्फाइडो के बनने से टिनपट्टिका के काले पड जाने को गधकरोधी प्रलाक्षो से रोका जा सकता है।

सबद्ध उद्योग—इस अध्याय में प्रस्तुत उद्योग की उन शाखाओ का भी उल्लेख करना उचित है, जो साधारणत. फल, मास, शाकभाजी, मछली वगैरह की डब्बाबन्दी के क्षेत्र के बाहर है किन्तु खाद्यपरिरक्षण से सबन्धित है। गत कुछ वर्षों मे सयुक्त राज्य अमेरिका में हिमीकृत (फ्रोज़न) और तुषारित (फ्रॉस्टेड) खाद्यो को टिनों या

काँच के बरतनो में भरने का उद्योग तेजी से बढ रहा है, और अभी हाल में इग्लैण्ड के कारखानो में भी खाद्यो, विशेषकर शाकभाजियो, को इस विधा से परिरक्षित करने के लिए सयन्त्र लगाये गये है। अमेरिका में सभवत प्रशीतित (रेफ्रिजरेटेड) सग्रहण की सुविधाएँ मौजूद होने के कारण ही यह विधा इग्लैण्ड की अपेक्षा वहाँ अधिक सुगमता से अपनायी जा सकी। प्रचुर मात्रा में शाकभाजियो का हिमीकरण करके उनका परिरक्षण किया जाता है। चूँकि इस प्रक्रिया मे पदार्थो को गरम नही करना पडता है, इसी लिए उनमें उनकी ताजी सुगन्ध पूरी तरह से बनी रहने की सभावना अधिक होती है।

डब्बो मे बन्द मीठा सघनित दूध मुख्य डब्बाबन्द सामानो से भिन्न माना जाता है, क्योकि इसका जीवाणुहनन ऊष्मोपचार से नही किया जाता। वस्तुत इसका परिरक्षण इसकी आर्द्रता कम करके किया जाता है, जो डब्बाबन्दी के सिद्धान्तो से एकदम भिन्न है। मीठा सघनित दूध बडी भारी मात्रा में तैयार किया जाता है, इसी लिए यहाँ इसका विशेष उल्लेख किया गया है।

डब्बाबन्द बिअर भी दूसरी वस्तु है जिसका प्राविधिक एव अन्य कारणो से यहाँ उल्लेख करना जरूरी है। डब्बाबन्द सामानो की सूची मे इसका नाम अभी हाल में ही लिखा गया है। निर्यात की दृष्टि से ही इसका विशेष महत्त्व है। बिअर सँकरी गरदनवाले ऐसे धा वीय पात्रो में भरा जाता है, जिनके भीतरी तल पर एक विशेष प्रकार के मोम का लेप किया रहता है। यह लेप एक रक्षक आवरण का काम करता है। डब्बो मे भरकर ही इसका पाश्चरीकरण किया जाता है, तथा यह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी भी होता है।

खाद्य उद्योग की अन्य शाखाओ की तुलना मे सभवत डब्बाबन्दी उद्योग के विकास में विज्ञान ने कही अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। रसायन, जीवाणुकी, कृषि रसायन, वनस्पतिविज्ञान, भौतिकी, औषधविज्ञान, इजीनियरी—सभी ने इस उद्योग की उत्पत्ति और विकास मे अपना अपना योगदान किया है। और आज यह अपने आर्थिक महत्त्व और विशिष्ट विकास के कारण एक प्रमुख उद्योग बन गया है। अग्रेजी की एक कहावत है "सक्सेस कम्स इन् कैन्स, नॉट इन् कैन नॉट।" जिस समय यह कहावत कही गयी होगी उस समय डब्बाबन्दी अर्थात् 'कैनिंग' उद्योग का नामोनिशान भी न था, लेकिन इसके प्रारम्भ से ही 'कैन्स' (डब्बो) में निश्चित रूपेण सफलता प्रवेश कर गयी। (इस कहावत में दो-अर्थी शब्द "कैन" में ही विशेषालकार है, इसका अर्थ एक ओर "काम कर सकना" है तो दूसरी ओर "डब्बा" भी है—अनु०)

१९३९ में दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से खाद्यपरिरक्षण-विज्ञान स्पष्ट रूप से

प्रगट हुआ और इसके गठन में खाद्यरसायन एवं रासायनिक इंजीनियरी के सभी प्राप्य प्राविधिक ज्ञान का प्रयोग करना पडा।

वे सभी उष्णदेशीय एव उपोष्णदेशीय फल जो इग्लैण्ट में डब्बाबन्द तथा ताजी दोनों अवस्थाओ में लोकप्रिय हो गये थे, एकाएक बाजार से एकदम गायब हो गये। और परम लोकप्रिय केले जो वातसग्रहण संयत्र (गैस स्टोरेज प्लाण्ट) लगे जहाजों में भर भरकर इंग्लैण्ड में आते थे, केवल अतीत की कहानी मात्र रह गये। कारण यह था कि जहाज तो एक मात्र आयुधों और अनिवार्य खाद्य पदार्थों के ढोने में ही लग गये। फलत: ब्रिटिश डब्बाबन्दी उद्योग को स्वदेश में उत्पन्न वस्तुओ से ही अपने देश की आपाती आवश्यकता की पूर्ति करनी पडी। मृदु फलो का प्रयोग तो अधिकाशत. जैम बनाने के लिए होने लगा और डब्बाबन्द करनेवालो ने आलूबोखारा (जो अन्यथा नप्ट हो जाते), मटर तथा बीन ही डब्बों में भरकर आपात का सामना किया। इस प्रकार इग्लैण्ड में उत्पन्न बहुमूल्य वस्तुओं का परिरक्षण करके युद्धकाल में वर्ष के बारहो महीने भोजन को सतुलित बनाये रखने में बडी सहायता मिली। इनकी अनुपूर्ति ब्लैक करेण्ट (कृष्णपाक बदरी) और हिप (स्वपाटल फल) के, जिनमें विटामिन सी प्रचुर मात्रा में होता है, मिष्टोदों को बोतलो में भरकर भी की गयी। ये मिष्टोद खाद्यमत्रालय (इंग्लैण्ड के) के नियत्रण में विशेष कर बच्चो को दिये जाते थे। बडी बड़ी प्राविधिक कठिनाइयों के होते हुए भी ये कार्य किये गये हैं और कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया गया। टिनपट्टिकाओ के स्थान पर प्रलाक्ष लेप की हुई काली पट्टिकाओं का प्रयोग ऐसे प्रयास का उत्तम उदाहरण है।

युद्धकाल में आहार की अति सीमित उपलब्धि के समय देश के स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा बनाये रखने में डब्बाबन्दी उद्योग ने निश्चित रूपेण बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

ग्रन्थसूची

APPERT, N . *Le Livre de tous les Menages ou l' Art de Conserver pendant plusiers annees toutes les Substances Animales et Vegetales.*

CAMPBELL, C H . *Text Book on Canning, Preserving and Pickling.* "*Canning Age*"

DRUMMOND, J. C., AND WILBRAHAM, A. , *The Englishman's Food.* Jonathan Cape, Ltd

JONES, OSMAN : *Modern Methods of Food Preservation.* Royal Institute of Chemistry.
SAVAGE, W. G., AND HUNWICKE, R. F. : *Food Investigation Special Reports*, Nos. 11, 13 and 16. H. M. Stationery Office
WOODCOCK, F. H. : *Canned Foods and Canning Industry.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

शीत संग्रहण

खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिए उनका शीत संग्रहण[1] भी बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है। पिछले कुछ वर्षों में मांस, फल और शाकभाजी वगैरह जैसे अनेक खाद्यों के परिरक्षण के लिए इस विधा (प्रक्रिया)[2] का सफल प्रयोग किया गया है।

अब कुछ समय से बरफ के स्थान पर प्रशीतन संयन्त्रों का ही प्रयोग होने लगा है। अजलीय अमोनिया, सल्फर डाइ ऑक्साइड, कार्बन डाइ ऑक्साइड, मिथिल क्लोराइड सदृश रासायनिक यौगिक जब द्रव से गैसीय दशा[3] में परिवर्तित होते हैं तब उनके आयतन के प्रसरण के अतिरिक्त वे पर्याप्त मात्रा में ऊष्मा भी ग्रहण कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके आसपास का वातावरण अत्यन्त ठंडा हो जाता है। इसी वैज्ञानिक तथ्य का वाणिज्यिक उपयोग करके प्रशीतन संयन्त्र (रेफ्रिजरेशन प्लाण्ट) तैयार किये गये हैं। इन संयन्त्रों की सहायता से ताप बड़ी सरलता से नियंत्रित किया जा सकता है। प्रशीतन संग्रहालय या तो सीधे इन्हीं संयन्त्रों से ठंडे किये जाते हैं या प्रशीतकों द्वारा शीतित लवण-जल को परिचालित करके उन्हें ठंडा किया जाता है।

खाद्य 'जीवित' तथा 'मृत' ऊतक (टिशू) वाले दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—फल और शाकभाजी 'जीवित ऊतक' वाले वर्ग के हैं और मांस मछली 'मृत ऊतक' वाले खाद्य हैं। जीवित ऊतक वाले पदार्थों का सफल परिरक्षण करने के लिए यह आवश्यक है कि संग्रहण का ताप इतना कम न हो कि उनकी कोशाओं का द्रव जम जाय, क्योंकि इससे ऊतक मर जाते हैं। पाला मारे हुए सेब और आलू इस प्रकार के परिवर्तन के बड़े परिचित उदाहरण हैं। इसलिए फल तथा शाकभाजी के संग्रहण के लिए उत्तम ताप हिमांक से ऊपर यानी ३४-३६° फ० होना है। केले जैसे उष्णदेशीय

[1] Cold storage [2] Process [3] Gaseous state

फलो के लिए तो ५५°—६०° फ० का ताप प्रयोग किया जाता है। ऐसी अवस्था में सग्रह करने से श्वसन (रेस्पिरेशन) और पकने जैसी साधारण जीवनप्रक्रियाएँ एक दम बन्द नही होती, वे केवल धीमी पड़ जाती है। परन्तु मास जैसे मृत ऊतकवाले पदार्थों के सग्रहण की समस्या सर्वथा भिन्न है। उन्हें तो यथासभव शीघ्र अति न्यून ताप (१५° फ०) पर जमा देना पड़ता है, जिससे कोशास्थित द्रव के जमने से बरफ के छोटे-छोटे केलास बन जायँ और मास का गठन (टेक्सचर) सुन्दर बना रहे।

गत वर्षों में पदार्थो पर सग्रहण की विभिन्न परिस्थितियो के प्रभावों का विशेष अध्ययन किया गया है। (इस सबन्ध में एच० एम० स्टेशनरी आफिस द्वारा प्रकाशित 'फुड इन्वेस्टिगेशन रिपोर्ट (१९३१) देखिए।) आपेक्षिक आर्द्रता और हवा का निबन्ध नियत्रित करना भी तापनियत्रण के समान महत्त्वपूर्ण है। इन्ही अनुशीलनो के फलस्वरूप फलो और शाकभाजियो के लिए आधुनिक गैस-सग्रहण रीति का प्रयोग होने लगा है।

कुछ समय पूर्व तक प्रशीतन रीति का प्रयोग मुख्यत थोक बाजारो में होता था, क्योकि इससे शाकभाजी एव मास को अच्छी दशा में सुदूर देशो में भेजना सभव हुआ था। लेकिन अब सयुक्त राज्य अमेरिका में और इग्लैण्ड में खुदरा बाजार में भी प्रशीतन का प्रयोग होने लगा है, जिसके फलस्वरूप 'हिमीकृत पोटली' (फ्रोज़ेन पैक) वाले फल और शाकभाजी उपभोक्ताओं को मिलने लगे है। खुदरा बाजार में प्रशीतन के प्रचलन से वितरण की समस्याएँ उत्पन्न हुई है और अब खुदरा विक्रेताओ को भी प्रशीतन सग्रहण का प्रबन्ध करना आवश्यक हो गया है।

ग्रन्थसूची

AMERICAN SOCIETY OF REFRIGERATION ENGINEERS · *Refrigerating Data Book*, Part. V.

FOOD INVESTIGATION BOARD, REPORTS OF H. M. Stationery Office

यवासवन; ऐलकोहॉल; मदिरा और स्पिरिट

आर० एच० हॉप्किन्स, डी० एस-सी० (बर्मि०), एफ० आर० आई० सी०

प्रौद्योगिक समस्याओं के हल के लिए वैज्ञानिक अनुसन्धानों के महत्त्व का अनुभव सबसे पहले यव्य मदिरा अर्थात् "माल्टेड लिकर" के उत्पादन में ही किया गया था। किन्तु आगे चलकर इन अनुसन्धानों से केवल इसी उद्योग को लाभ नहीं हुआ बल्कि ये कार्य इतने सारगर्भित सिद्ध हुए कि रसायनविज्ञान में 'किण्वन' का एक नया क्षेत्र ही बन गया। कालान्तर में चमड़े, तम्बाकू, खाद्य पदार्थ और अन्य कितने उद्योगों में किण्वन का विशेष प्रयोग होने लगा। यह सब यवासवन अर्थात् 'ब्रूइंग' के अध्ययन का ही फल है।

मिस्र में ४०००-३००० ई० पू० से ही ऐल्कोहालीय पेयों की प्रथा प्रचलित थी। जहाँ द्राक्षा उत्पादन के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल न थी, उन सभी देशों में अंगूरी मदिरा के स्थान पर यही मदिरा सेवन की जाती थी। गोकि मिस्र-वासियों ने भी नील की घाटी में अंगूर लताएँ लगा रखी थी, परन्तु सम्भवतः इसके क्षेत्र परिसीमित होने के कारण अन्य भागों में यव्य मदिरा के यवासवन की प्रथा प्रचलित थी। ब्रिटेन की सर्व-प्रथम किण्वित मदिरा 'मीड' के नाम से प्रसिद्ध थी, यह मधु से बनती थी। तत्पश्चात् यव से 'बिअर' और सेब से 'सीडर' बनायी जाती थी। ये तीनों मदिराएँ रोमनों के आक्रमण के समय इंग्लैण्ड के दक्षिणी भाग में प्रचलित थी। यह भी कहा जाता है कि रोमनों ने बिअर निर्माण में बड़ी उन्नति की। आगे चलकर बिअर उस देश का राष्ट्रीय पेय बन गया। मध्यकालीन युग में तो अनेक शुल्क एवं कर बिअर तथा यव्य मदिरा के रूप में ही चुकाये जाते थे। महारानी एलीजबेथ के राज्यकाल में नगरपालिका में एक सुरा-स्वादक यानी 'एल टेस्टर' की भी नियुक्ति होती थी। स्ट्रैटफोर्ड-ऑन-एवन में इस पद पर विलियम शेक्सपियर के पिता नियुक्त हुए थे। सुरा-स्वादकों का काम यह था कि वे 'बिअर' और 'एल' की स्वाद-परीक्षा करके यह बतायें कि वे सुन्दर, सुस्वादु एवं स्वास्थ्यकर हैं तथा उचित मूल्य पर बेची जाती हैं अथवा नहीं। परन्तु आजकल यह काम रासायनिक विश्लेषकों का माना जाता है, क्योंकि जब से बिअर और एल उत्पादन-शुल्क लगनेवाली वस्तुएँ मानी गयी तब से सुरा-स्वादकों की नियुक्ति बन्द कर दी गयी।

शताब्दियों तक यवासवन[1]-कला का विकास बिना वैज्ञानिक सहायता के ही हुआ;

[1] *Brewing*

परिणामत- कुछ रीतियो के फल उत्तम और कुछ के मध्यम अथवा निकृष्ट होते थे। इन तथ्यों की जानकारी के लिए इस क्षेत्र में भी विज्ञान का प्रवेश हुआ। यवासवनियों (ब्रूअरीज़) में कच्चे माल से उत्पादन की मात्रा एवं उत्तमता बढाने में और उपजातो का उचित उपयोग करने में रसायनज्ञ को सफलता मिली। तदनन्तर इस विषय के आधारभूत एव प्राविधिक अनुसन्धान-कार्य में बराबर वृद्धि होती गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि यवासवक (ब्रूअर) की कला केवल कला मात्र न रहकर एक वैज्ञानिक प्रक्रिया बन गयी।

यवासवक के लिए जल की उपलब्धि का भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्योकि जल की अशुद्धियों का उससे बनी मदिरा पर बडा प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ बर्टन में बनी 'पेल एल' की उत्तमता का मुख्य कारण वहाँ के कुओ के जल में कैल्सियम और मैग्नीसियम सल्फेटो की उपस्थिति है। परन्तु 'स्टाउट' और 'पोर्टर' सुराओ का यवासवन लन्दन और डबलिन के मृदु जल से अधिक अच्छा होता है। कभी-कभी हानिकारी कार्बोनेटो को निकाल कर अथवा उन्हें उदासीन करके तथा कुछ अन्य आवश्यक वस्तुएँ डालकर किसी स्थान विशेष के जल को विभिन्न प्रकार की बिअर के यवासवन के लिए उपयुक्त बनाया जा सकता है। परन्तु यह उद्योग अधिकाशत उन्ही क्षेत्रो में स्थापित हुआ जहाँ के जल के लिए किसी विशेष उपचार की आवश्यकता न थी।

जौ से बिअर बनाने की तीन मुख्य क्रियाए होती हैं—(१) जौ से यव्य अर्थात् माल्ट बनाना, (२) यव्य से आक्वाथ (इन्फ्यूज़न) तैयार करना (इस आक्वाथ को किण्व्यक (वर्ट) कहते है), (३) किण्व्यक का यीस्ट के द्वारा किण्वन करना। भिगोये हुए जौ को आर्द्र वायु में रखकर अकुरित किया जाता है और जब अकुर एक निश्चित सीमा तक बढ जाता है तब उसे थोड़े ऊँचे ताप पर सुखा करके उसका अकुरण समाप्त कर दिया जाता है, इसी को यव्य (माल्ट) कहते हैं। यव्य तैयार करने की इस विधा (प्रक्रिया) में कई दिन लग जाते है। इस उपचार का अन्तिम ताप पदार्थ के वाछित गुणो पर निर्भर करता है और ८९° से० ११०° से० तक हो सकता है। आक्वाथ जिसे किण्व्यक (वर्ट) कहते हैं, बारीक पिसे यव्य (माल्ट) को पानी में अच्छी तरह मिला कर और ६७° से० पर कुछ समय तक रखकर तैयार किया जाता है। इस प्रकार तैयार किये गये किण्व्यक को छानकर उबाल लिया जाता है जिससे उसका जीवाणुहनन हो जाय, तब उसमें यव्यकटु (हॉप्स) डाला जाता है जिससे उसमें कुछ तिक्त गध आ जाय और उसका परिरक्षी गुण बढ जाय। किण्व्यक को स्वच्छ करके शीतको एव प्रशीतको द्वारा उसे ठढा किया जाता है और तब यीस्ट डालकर किण्वन शुरू किया जाता है।

अकुरण के समय जौ में डायस्टेज नामक एक सक्रिय पदार्थ उत्पन्न हो जाता है।

इस डायस्टेज में स्टार्च को डेक्स्ट्रीन और माल्टोज़ नामक एक शर्करा के रूप में बदलने की शक्ति होती है। यवान्नो के अकुरण काल मे प्रोटीन पदार्थों के खण्डन से और सरल यौगिक उत्पन्न होते है तथा स्टार्च ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है कि उस पर डायस्टेज़ की क्रिया अधिक सरलता से हो सके। यव्य यानी माल्ट के आक्वाथन के समय डायस्टेज़ द्वारा स्टार्च के परिवर्तन से डेक्स्ट्रीन और शर्करा उत्पन्न होती है, जिसका एक उचित सीमा तक यीस्ट द्वारा किण्वन होता है। यव्य में उसके समस्त स्टार्च के परिवर्तन के लिए आवश्यक मात्रा से डायस्टेज़ कही अधिक होता है, अत पानी मिलाने के पहले उसमें दले हुए चावल या दली हुई मकई के रूप में अतिरिक्त स्टार्च मिला दिया जाता है, जिससे ऐल्कोह ल की उत्पत्ति बढ जाती है। यदि आवश्यक हो तो किण्व्यक (वर्ट) में अपवृत्त शर्करा (इन्वर्ट सुगर) अथवा ग्लूकोज़ डालकर भी उसमें शर्करा की मात्रा बढायी जा सकती है। इस प्रकार के बाहरी पदार्थों को डालने से बिअर के लक्षण और गुणो में अन्तर पडता है, जो स्थान-स्थान के लोगो के अनुकूल होता है। अपवृत्त[1] शर्करा में डेक्स्ट्रोज़ और लेवुलोज़ नामक समान मात्रावाली दो किण्व्य (फर्मेण्टेब्ल) शर्कराएँ होती हैं। अपवृत्त शर्करा बनाने के लिए ईख शर्करा को तनु खनिजाम्लो के साथ उबालना पडता है। स्टार्च पर तनूकृत[2] खनिजाम्लो की जलाशन क्रिया[3] के फलस्वरूप ग्लूकोज उत्पन्न होता है। जलाशित शर्करा में डेक्स्टोज़ और माल्टोज़ दो शर्कराएँ होती हैं तथा एक अन्तस्थ पदार्थ, डेक्स्ट्रीन होती है। यवासवको द्वारा प्रयुक्त ग्लूकोज़ में ६०—७०% किण्व्य शर्कराएँ होती हैं।

उबालने से किण्व्यक[4] (वर्ट) का जीवाणुहनन एव साद्रण होता है और साथ ही कुछ जटिल प्रोटीनो का अवक्षेपण[5] होने से वे अलग हो जाते हैं। इसके अलावे उबालने से डायस्टीय क्रिया बन्द हो जाती है। इसी अवस्था में 'हॉप्स' अर्थात् यव्यकटु मिलाया जाता है, जिसमें से सुगधित एव परिरक्षी पदार्थों का निस्सारण होता है। हॉप्स मे एक पीले रग का कणात्मक चूर्ण होता है, जिसे 'लुपुलीन' कहते है, यवासवको की दृष्टि से यह सबसे महत्त्वपूर्ण सघटक[6] है। नये हॉप्स में १५% या इससे अधिक अनुपात में लुपुलीन होती है, इसके अलावा कुछ रेज़ीन तथा कटु तत्त्व भी होते हैं, जिनसे बिअर में सुगधि आती है तथा उसका परिरक्षण होता है। उसमें कुछ वाष्पशील तेल भी होते हैं जिनके कारण सुगधि और अच्छी हो जाती है।

[1] Invert [2] Diluted [3] Hydrolytic action [4] Wort
[5] Precipitation [6] Constituent

यीस्ट किण्वन से शर्करा का रूपान्तरण होता है और ऐल्कोहॉल तथा कार्बन डाइ आक्साइड उत्पन्न होते हैं। उपयुक्त पोषण प्राप्त होने पर यीस्ट की वृद्धि एवं शर्कराओ पर उसकी क्रिया की ओर वैज्ञानिको का ध्यान वर्षो पूर्व आकृष्ट हुआ था, लेकिन ऐल्कोहॉलीय किण्वन के वर्तमान ज्ञान तथा उसके स्पष्टीकरण का श्रेय पास्तूर को है। वस्तुत. उन्ही ने इसकी नीव जमायी और यह बताया कि यीस्ट एक ऐसा प्राणी है जो कुछ दशाओ में वायुमण्डलिक आक्सीजन के बिना भी जीवित रह सकता है। इसका विशेष कारण यह है कि उसे शर्कराओ से ही आक्सीजन प्राप्त हो जाता है। इसीलिए प्रत्यक्षत. आक्सीजन की अनुपस्थिति में यीस्ट की किण्वन शक्ति पूर्ण रूप से कार्यशील होती है। आगे चलकर ऐड्रियन जे० ब्राउन के अनुसन्धानो से ज्ञात हुआ कि यह सिद्धान्त कुछ बातो में सही नही था, लेकिन वर्तमान सिद्धान्त पास्तूर द्वारा बनायी गयी प्रारम्भिक रूपरेखा के साथ अवश्य मेल खाता है। १८९७ में बुखनर ने यह दिखाया कि किण्वन के लिए जीवित यीस्ट कोशाओ की आवश्यकता नही होती बल्कि यीस्ट पर भारी दबाव डालकर निस्सारित द्रव से ही काम चल जाता है। उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि किण्वन का मुख्य कारक 'ज़ाइमेज़' नामक एक एन्ज़ाइम है। विशेषकर हार्डेन द्वारा यीस्ट रस से किये गये अनुसन्धान इस दिशा में काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ज़ाइमेज़ कोई एक तत्त्व नही बल्कि अनेक एन्ज़ाइमो का मिश्रण होता है। इन एन्ज़ाइमो द्वारा त्वरित (ऐक्सिलरेटेड) *रासायनिक प्रतिक्रियाओ के बारे में अब लोग भलीभाँति समझ गये हैं। ये प्रक्रि*याएँ प्राणी-शरीर की कार्यरत मासपेशियो में होनेवाली प्रक्रियाओ से बहुत मिलती जुलती हैं। मासपेशी में एक एन्ज़ाइम की कमी होती है, इसीलिए ऐल्कोहॉल और कार्बनिक अम्ल गैस न उत्पन्न होकर प्रक्रिया लैक्टिक अम्ल की अवस्था पर ही रुक जाती है। वस्तुत. जीवित यीस्ट में एक निर्जीव, किन्तु सक्रिय पदार्थ होता तथा उत्पन्न होता रहता है, जिसमे शर्करा को परिवर्तित कर ऐल्कोहॉल तथा कार्बनिक अम्ल गैस उत्पन्न करने की शक्ति होती है। किण्व्यक अर्थात् 'वर्ट' में होनेवाले कुछ खाद्य पदार्थों द्वारा पोषण होने से यीस्ट की वृद्धि एव विकास भी होता रहता है। यीस्ट की वृद्धि के लिए आवश्यक रासायनिक तत्त्वों और यौगिको तथा वातन[1] और उसकी प्रतिक्रिया जैसी अन्य परिस्थितियों के सबन्ध में किये गये अनुसन्धान कार्य न केवल यवासवको के लिए ही सहायक हुए हैं वरन् रोटीवालो के लिए यीस्ट उत्पादन की वर्तमान रीति एव प्रविधि भी उन्हीं से प्राप्त हुई है।

[1] Aeration

क्षेप्य पदार्थों[1] **का उपयोग**—सूखा यीस्ट पशु-खाद्य के लिए प्रयुक्त होता है तथा मास-निस्सार[2] का एक उत्तम प्रतिस्थापक[3] है, क्योंकि मास-निस्सार में भी बी वर्ग के विटामिन तथा अन्य मूल्यवान् पदार्थ होते हैं। किण्वन से प्राप्त कार्बन डाइ आक्साइड को सपीडित करके बिअर और खनिज जलो के वातन के लिए उसका उपयोग किया जाता है।

पाव रोटी बनानेवालो के लिए यीस्ट का उत्पादन विशेष रूप से करना पड़ता है, क्योंकि यवासवनियो में इस्तेमाल होनेवाला यीस्ट उनके लिए उपयुक्त नही होता, उसमें तीखी गध होती है जो रोटी के लिए वाछित नही होती। यह यीस्ट सपीडित करके बेचा जाता है। मैदे में विद्यमान शर्करीय पदार्थो के किण्वन से उत्पन्न कार्बनिक अम्ल गैस के कारण ही पिष्ट में खमीर उठती है। यव्य जौ से किण्व्यक बना लेने के बाद शेष बचे अविलेय पदार्थों को सूअरो को खिलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

सिरका बनाने के लिए कुछ उपयुक्त मदिराओ तथा मोटर जैसे अन्य किण्वित फलरसो को वायु की उपस्थिति में खटाया जाता है। यव्य सिरका (माल्टेड विनीगर) भी लगभग उसी तरह बनाया जाता है जैसे बिअर का यवासवन किया जाता है, भेद केवल यह है कि वह हाप्स के साथ नही उबाला जाता। उसे विशेष चुक्रयत्रो (एसिटिफायर्स) में डालकर खटाया जाता है। इस उपचार में जीवाणुओ द्वारा ऐल्कोहाल का आक्सीकरण होने से एसेटिक अम्ल बन जाता है।

ऐलकोहाल—यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रासायनिक द्रव्य है। रसायनज्ञों के लिए प्रयोगशालाओ तथा औद्योगिक क्षेत्रो में यह एक विलायक के रूप में बडी ही उपयोगी वस्तु है। पारदर्शक साबुन, वार्निश, फ्रेंच पालिश, कोलोडियन और सेलुलाइड के निर्माण में इसका विशेष स्थान है। मोटर स्पिरिट के एक सघटक के रूप में भी इसका उपयोग दिनोदिन बढता जाता है। क्लोरोफार्म, आयोडोफार्म, फल्मिनेट्स, ईथर तथा एसेटिक अम्ल इत्यादि के उत्पादन में यह प्रयुक्त होता है। एसेटिक अम्ल या रेयान और सेल्युलोज एसिटेट निर्माण में प्रचुर प्रयोग होता है। मीठी मदिरा, सुगन्धो, सूक्ष्म रसद्रव्यो तथा भेषजो के निर्माण में बडी उच्च शुद्धता के ऐलकोहाल की आवश्यकता होती है और इसके बनाने में काफी अधिक खर्च पड़ता है।

आलू, मकई और क्षेप्य काष्ट (वेस्ट उड) जैसी सस्ती स्टार्ची चीजो से ऐलकोहाल बनाया जाता है, परन्तु इसके बनाने के लिए सबसे उपादेय वस्तु सीरा है। स्टार्ची

[1] Waste products [2] Meat extract [3] Substitute

पदार्थों को प्राय ५% यव्य (माल्ट) के साथ मिलाकर मसल दिया जाता है और फिर साधारण रीति से किण्वन किया जाता है। किण्वित द्रव में ५–७% ऐलकोहाल तैयार हो जाता है। 'काफे स्टिल' में डालकर इस द्रव का आसवन किया जाता है। आसुत द्रव की तीन श्रेणियां होती है · (१) प्रथम धावन (फर्स्ट रनिंग्स), (२) प्रथम श्रेणी स्पिरिट, तथा (३) द्वितीय श्रेणी स्पिरिट। प्रथम धावन में ९५% ऐलकोहाल के साथ थोडी मात्रा में ऐल्डीहाइड भी होता है; यह भाग जलाने के काम मे आता है अथवा ऐसी निर्माण विधाओ में इस्तेमाल किया जाता है, जिनमें इसकी अशुद्धियो से अधिक हानि नही होती। प्रथम और द्वितीय श्रेणी स्पिरिट में ९६—९७% ऐलकोहाल तथा लेश मात्रा में ऐल्डीहाइड होता है। द्वितीय श्रेणी में थोडा फ्युज़ल तेल भी होता है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी स्पिरिट को 'साइलेण्ट स्पिरिट' भी कहते हैं। यह प्राय: मीठी मदिरा, कृत्रिम ब्राण्डी और ह्विस्की के रूप में पीने के लिए प्रयुक्त होती है। भैपजिक पदार्थों के बनाने में भी इसका प्रयोग होता है। 'पेटेण्ट स्टिल' से बनी स्पिरिट अधिकाशत. उद्योगो में खपती है।

ऐजियोट्रोपिक आसवन का विकास अभी हाल में हुआ है। इस विशिष्ट विधा से अनासुत किण्व्यक से भी एक ही आसवन में ९९% या इससे भी अधिक प्रबलतावाला प्रकेवल (ऐब्सोल्यूट) ऐलकोहाल बना लेना सभव हुआ है। इस विधा से प्रकेवल ऐलकोहाल बनाने के लिए किण्व्यक में थोडी बेन्ज़ीन मिलाकर आसवन किया जाता है। इससे पहले जल सहित कुछ वाष्पशील सघटकों का आसवन होता है और बाद में प्रकेवल ऐलकोहाल का आसवन होने लगता है। अन्यथा पेटेण्ट आसोत्र[1] से बनी स्पिरिट में पोटासियम एसिटेट, सोडियम एसिटेट अथवा कैल्सियम सल्फेट-जैसे रसद्रव्यो को डाल कर उसका निर्जलीकरण करके आसवन करने से प्रकेवल[2] ऐलकोहाल प्राप्त होता है।

औद्योगिक स्पिरिट (शुद्ध स्पिरिट तथा प्रथम धावन[3]) को अपेय बनाने के लिए उसका विकरण (डिनैचुरेशन) आवश्यक होता है। इसके लिए उसमें कुछ ऐसे वमनकारी पदार्थ डाले जाते है जो सरलता से पृथक न किये जा सकें। इस प्रयोजन से डाले गये पदार्थों का उन विधाओ (प्रक्रियाओ) पर, जिनमें ऐसी स्पिरिट प्रयुक्त होती है, कोई प्रतिकूल प्रभाव भी न पडना चाहिए। बहुत से देशो में ऐसी विकृत स्पिरिट का कर-मुक्त विक्रय होता है, क्योकि यदि ऐसी सुविधा उपलब्ध न हो तो अधिकाश उद्योगों में बडी बाधा पडे।

[1] Still (distilling)　　[2] Absolute.　　[3] First running.

मिथिलीयित स्पिरिट भी करमुक्त होती है, और शुद्ध स्पिरिट के स्थान पर यह क्लोरोफार्म तथा वार्निश के निर्माण में तथा शारीर प्रादर्शो (एनॉटॉमिकल स्पेसिमेन) के परिरक्षण के लिए प्रयुक्त हो सकती है। पहले शुद्ध स्पिरिट में १०% मिथिल ऐलकोहाल डालकर ही मिथिलीयित स्पिरिट बनायी जाती थी। मिथिल ऐलकोहाल को 'उड स्पिरिट' भी कहते हैं क्योंकि यह लकडी के भजक आसवन से प्राप्त होता था। उड स्पिरिट की बडी तीक्ष्ण और जलती हुई गंध होती है तथा उसमें ऐसे पदार्थ होते है, जिनके स्वाद एवं महक दोनो बडे अरुचिकर होते हैं। ऐलकोहाल में उड-स्पिरिट डालने से उसकी औद्योगिक उपयोगिता में कोई अन्तर नही पडता और साथ ही साथ वह सरलता एवं लाभप्रद तरीको से अलग भी नही की जा सकती। ऐलकोहाल का विकरण ही उड स्पिरिट का मुख्य प्रयोग है, यद्यपि यह रेज़ीनो के विलायक के रूप में तथा रजको के निर्माण में भी इस्तेमाल होती है। रजकों के निर्माण में इसका CH_3 मूलक बडे महत्त्व का होता है, क्योंकि मिथिल ऐनिलीन और डाइमिथिल ऐनिलीन-जैसे अन्तस्थ पदार्थो के संघटक के रूप में इसका मुख्य भाग है, और ये पैठिक पदार्थ मिथिल वायलेट, *मैलाकाइट ग्रीन और मिथिलीन ब्लू-जैसे पैठिक रजको*[1] *के निर्माण में मुख्यत प्रयुक्त* होते है। मिथिल वायलेट का इस्तेमाल प्राय सलेखन, प्रतिलिपीकरण एवं मुद्रलेखन के लिए रोशनाई बनाने में होता है। कालान्तर में उड स्पिरिट के निस्सारण और शोधन की रीतियाँ इतनी उन्नत हो गयी कि मिथिल ऐलकोहाल अपनी शुद्धता के कारण ऐलकोहाल के विकरण के लिए अनुपयुक्त हो गया। फिर भी यह इस काम के लिए इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन अब इसके साथ कुछ और भी अरुचिकर वस्तुओं का मिलाना आवश्यक हो गया। उदाहरणार्थ मिथिल ऐलकोहाल के साथ-साथ ० ८००० आपेक्षिक घनत्ववाली पैराफीन ($\frac{3}{8}$%) भी मिलायी जाती है। लेकिन पैराफीन कुछ निर्माण विधाओं[2] में विघ्न उत्पन्न करती है, जैसे, पानी के साथ मिलाये जाने पर गँदलापन पैदा करना तथा अन्य कामों में सतोषप्रद फल न देना। इन असुविधाओं को कम करने के लिए अब बहुत से अन्य प्रकार की विकृत स्पिरिट बनने लगी है, जिनमें उड स्पिरिट (२–१०%) के साथ निर्माण विधा विशेष के अनुसार विभिन्न अरुचिकर पदार्थ मिलाये जाते हैं। पारदर्शक साबुन बनाने के लिए प्रयुक्त ऐलकोहाल में उड स्पिरिट, अण्डी का तेल और कास्टिक सोडा डालकर उसका विकरण किया जाता है। इसी प्रकार मरकरी फल्मिनेट बनाने के लिए उड स्पिरिट और पिरीडीन का मिश्रण

[1] *Basic dyes* [2] *Processes*

तथा सेलुलायड बनाने के लिए उड स्पिरिट, कपूर और बेंज़ीन का मिश्रण ऐलकोहाल के विकर्ता (डीनेचरेण्ट) के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

ग्रेट ब्रिटेन में मिथिलीयित स्पिरिट के नाम पर निम्नलिखित स्पिरिट आधिकारिक रूप से मान्य है :

(१) औद्योगिक स्पिरिट—इसमें ५% या अधिक उड स्पिरिट अर्थात् उड-नैप्था या उपर्युक्त विकर्ताओं में से अन्य कोई होता है।

(२) खनिजायित स्पिरिट (मिनरलाइज्ड स्पिरिट)—इसमें उड स्पिरिट, अपरिष्कृत पिरीडीन और पेट्रोलियम नैप्था होता है और यह मिथिल वायलेट से रंजित होती है।

(३) चालन स्पिरिट यानी 'पावर स्पिरिट'—यह प्राय नं० २ की तरह होती है, लेकिन इसमें बेंज़ॉल और कोई लाल रंजक होता है।

मदिराएं—अगूर रस के किण्वन से मदिराओं के उत्पादन का उद्योग बड़ा प्राचीन है। 'वाइन' भी हिब्रू के उन बहुत से शब्दों में से है, जिनका अनुवाद बाइबिल में हुआ है। इसका सबन्ध 'नोआ' से बताया जाता है। कहा जाता है कि जब उसने किसानी प्रारम्भ की तो अगूर लताएँ लगायं और उनकी मदिरा पीकर मस्त होता था। आज से ५–६ सहस्र वर्ष पूर्व किण्वित अगूर रस प्राचीन मिस्रवासियों का प्रिय पेय रहा है।

अगूर रस के स्वत किण्वन से मदिरा बनायी जाती है। किण्वन प्रेरित करनेवाला प्राणी अगूरों के छिल्कों पर बहुतायत से रहता है। यह प्राणी अगूर-रस का बड़ी द्रुत गति से किण्वन करता है। जब श्वेत मदिरा बनानी होनी है तब अगूर के बीज और छिल्के अलग कर दिये जाते हैं, क्योंकि लाल मदिरा का रग, किण्वन काल में उत्पन्न ऐलकोहाल द्वारा इसी में से निस्सारित होता है। बीजों और छिल्कों से थोड़ी टैनीन भी प्राप्त होती है, जो लाल मदिराओं का परिरक्षण करती है तथा उनमें रज्जुता (रोपीनेस) नहीं उत्पन्न होने देती। शैम्पेन-जैसी उत्स्फुरक मदिरा तैयार करने के लिए 'स्टिल वाइन' में शर्करा मिला कर तथा बोतलों में भरकर उसका दूसरी बार किण्वन किया जाता है। साधारणत मदिरा में ७–१७% ऐल्कोहाल के अतिरिक्त थोड़ी मात्रा में शर्करा, बाइटारटरेट आफ पोटाम, ग्लिसरीन, सुगंधित वस्तु तथा कुछ अन्य पदार्थ भी होते हैं। यदि किसी विलयन में उसके भार के ३०% अनुपात से अधिक शर्करा हो तो उसमें यीस्ट द्वारा किण्वन नहीं हो सकता, इसी प्रकार १६–१७% ऐलकोहाल की उपस्थिति में भी यीस्ट की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि किण्वित द्रव में इस सीमा से अधिक ऐलकोहाल नहीं हो सकता। और अगर इससे ऊँची प्रबलता की मदिरा तैयार करनी हो तो केवल आसुत स्पिरिट मिलाने से ही बन सकती है।

इसीलिए किण्वन रीति से बनायी गयी सबसे तेज़ मदिरा, 'पोर्ट वाइन' में १६–१७% से अधिक ऐलकोहाल नही होता, परन्तु इसमें उपयुक्त अनुपात मे प्रकेवल ऐलकोहाल अथवा शुद्ध स्पिरिट मिलाकर उसे अधिक तेज़ बनाया जा सकता है। इस काम के लिए प्राप्य सबसे अधिक प्रबलतावाला ऐलकोहाल ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि ९०% से निर्बल ऐलकोहाल मिलाने से उसके जल के कारण मदिरा में विद्यमान अन्य सघटको का अनावश्यक तनूकरण[1] हो जाता है और उसके मूल गुणो में अवाछित परिवर्तन होता है।

स्पिरिट—स्पिरिटो के प्राय दो वर्ग होते हैं (१) 'पॉट स्टिल' स्पिरिट. 'ब्राण्डी' और 'ह्विस्की' इसी वर्ग की हैं, तथा (२) जिन स्पिरिट— यह सादी शुद्ध स्पिरिट अथवा ऐल्कोहाल का उपयुक्त उपचार करके बनायी जाती है। स्पिरिटो का निर्माण तो आसवन विधा (प्रक्रिया) के आविष्कार के बाद ही सभव हुआ। अत यह मदिरा और बिअर उद्योगो के तरह बहुत प्राचीन नही है। स्पिरिट किण्वित द्रव के आसवन से ही तैयार की जाती है, अत मूल किण्वित द्रव से भिन्न होती है। मूल भेद ऐल्कोहाल की उच्च प्रबलता एव अवाष्पशील पदार्थो की अनुपस्थिति का होता है, इनके अतिरिक्त स्पिरिटो में कुछ सुगधित पदार्थ अलग से डाले जाते हैं। कुछ छोटे प्रकार के अगूरो के किण्वित रस का आसवन करके 'काग्नैक ब्राण्डी' बनायी जाती है। इसमें लगभग ५०% ऐल्कोहाल होता है। स्पिरिट की सुवास मदिरा मे ही व्युत्पन्न कैप्रिक (ऑनैन्थिक) एस्टर के कारण होती है, और असली ब्राण्डी के रग का मूल कारण भी विचित्र है। ब्राण्डी जिन लकडी के पीपो मे रखी जाती है, उनमें कुछ रजक पदार्थ होते है। यही रजक पदार्थ सग्रहण काल में स्पिरिट द्वारा निस्सारित होकर ब्राण्डी में रग उत्पन्न करते है। पीपो की लकडी में से कभी-कभी कुछ टैनीन भी निस्सारित हो जाती है। परन्तु उपर्युक्त स्वाभाविक रग केवल पुरानी ब्राण्डी मे होता है। नयी ब्राण्डी में उसी प्रकार का रग उत्पन्न करने के लिए उसमे कैरामेल डाला जाता है। कैरामेल तैयार करने के लिए साधारण शर्करा को १९०° से० तक तप्त किया जाता है जिससे उसका आशिक कार्बनी-भवन हो जाता है। और कसैलापन उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी चाय का आक्वाथ डाला जाता है।

'ह्विस्की' यव्य जौ यानी 'माल्टेड बार्ली' से बनायी जाती है। इसके लिए बहुधा अयव्य[2] एवं यव्य धान्य का मिश्रण इस्तेमाल किया जाता है। कभी-कभी इस मिश्रण

[1] Dilution [2] Unmalted

को भाड़ की आग पर सुखाया जाता है, इसी वजह से कुछ ह्विस्कियों में धूंए की गन्ध आती है। यवासवकों[1] द्वारा व्यवहृत रीति से ही दल करके[2] इस विधा में भी किण्वक तैयार किया जाता है। प्रशीतक में तुरन्त ठढा करके शुद्ध यवासवक यीस्ट द्वारा निम्न ताप पर इसका प्राय पूर्ण किण्वन किया जाता है। विधा की इन परिस्थितियों में ऐसी उत्तम मदिरा बनायी जा सकती है, जिसमें खट्टापन तथा फ्यूज़ल तैल, और ऐल्डी-हाइड-जैसी अवांछित अशुद्धियाँ नहीं होतीं। किण्वन समाप्त हो जाने के बाद मदिरा को १२०० गैलनवाले ताम्र आसोत्र में लेकर उसका आसवन किया जाता है। कभी-कभी उफान को रोकने के लिए इसमें साबुन भी डाला जाता है। ऐसा करने से ऐलकोहाल के आसवन के समय उफान के कारण अन्य अवाष्पशील वस्तुएँ आसुत में नहीं मिल पातीं। इस क्रिया से प्राप्त आसुत को 'लो वाइन्स' कहते हैं क्योंकि इसमें ऐ कोहाल की मात्रा कम होती है तथा उसके दोबारा आसवन की आवश्यकता होती है। आसोत्र में बचे अवशेष में लैक्टिक अम्ल की थोड़ी मात्रा होती है। एसेटिक अथवा टारटरिक अम्लों के स्थान पर इस अवशिष्ट लैक्टिक अम्ल को ऐसी विधाओं में इस्तेमाल किया जाता है जिनमें केवल मन्द अम्लता की आवश्यकता होती है और अम्ल की रासायनिक प्रकृति का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। द्वितीय आसुत को तीन भागों में एकत्र किया जाता है: (१) अग्रभाग अर्थात् 'फोरशूट्स', (२) 'क्लीन स्पिरिट' तथा (३) 'फेण्ट्स'। स्वच्छ अर्थात् क्लीन स्पिरिट ही तेज ह्विस्की होती है, जिसमें लगभग ६०% ऐल-कोहाल होता है। बेचने के पहले जल मिलाकर इसमें ऐलकोहाल की मात्रा ४०% कर दी जाती है। १९२१ की पार्लिमेण्ट के अधिनियमानुसार ह्विस्की में ऐलकोहाल की न्यूनतम मात्रा ३७% रखी गयी है। बाजार में बिकनेवाली बहुत-सी ह्विस्कियों में पेटेण्ट स्टिल-जैसी अन्य स्पिरिटों का भी मिश्रण होता है। अग्रभाग यानी 'फोरशूट्स' बहुत अशुद्ध होता है, क्योंकि उसमें वसीय अम्ल और अन्य पदार्थ मिले हुए होते हैं। 'फेण्ट्स' में मुख्यत फ्यूज़ल तेल और ऊँचे क्वथनांकवाले ऐलकोहाल होते हैं। पिछले कुछ वर्षों में 'फेण्ट्स' का उपयोग संश्लिष्ट रबर बनाने में तथा कुछ पदार्थों के विलायक के रूप म होने लगा है। आसोत्र में बचे 'स्पेण्ट लीज़' का अभी तक कोई उपयोग नहीं हो सका है।

शीरे का किण्वन करके तथा उसका दोबारा आसवन करके 'रम' नामक मदिरा तैयार की जाती है। फार्मिक तथा ब्युटिरिक अम्लों के कारण इसमें थोड़ी गंध होती है

[1] Brewers [2] By mashing

तथा काष्ठ पीपो में परिपक्वन के कारण रग भी आ जाता है, गोकि कभी-कभी कैरेमल डाल करके भी इसे रगने की प्रथा है।

सादी यानी 'प्लेन' स्पिरिट में केवल ऐलकोहाल और जल होता है और इसका उपयोग 'जिन' अथवा मीठी मदिरा बनाने में किया जाता है। सादी स्पिरिट बनाने के लिए यव्य तथा अयव्य धान्यो के मिश्रण के किण्वन द्वारा प्राप्त किण्विता (ऐलकोहालिक लिकर) यानी धावाशेप (वाश) का 'काफे स्टिल'-जैसे विशिष्ट प्रभाजन यत्रो'[1] में आसवन किया जाता है। जब इसका आसवन केवल 'पॉट स्टिल' में किया जाता है तब प्रभाजन (फ्रैक्शनेशन) नही होता है और बहुत से निम्न तथा उच्च क्वथनाक वाले पदार्थ भी ऐलकोहाल के साथ आसुत हो जाते हैं। इसलिए इसका दोबारा आसवन आवश्यक हो जाता है। परन्तु 'काफे स्टिल' में ऐसी युक्ति का प्रयोग होता है कि अशुद्धियाँ पहले ही आसवन में पृथक हो जाती हैं।

'जिन' बनाने के लिए स्पिरिट में जूनियर बेरी तथा मुलेठी-जैसी कुछ चीजें डाल कर उसका पुन आसवन करना पडता है। द्वितीय आसवन में उपर्युक्त पदार्थों में से कुछ सुगन्धित द्रव्य भी आ जाते हैं। मीठी मदिरा तैयार करने के लिए ऐलकोहाल में शर्करा और विभिन्न सुगधित एव रजक पदार्थ मिलाये जाते हैं।

ग्रन्थसूची

HAUSBRAND, E. *Principles and Practice of Industrial Distillation* Chapman & Hall, Ltd

HERSTEIN, K M. AND GREGORY, T C. : *Chemistry and Technology of Wines and Liquors* D Van Nostrand Co Inc

HIND, H LLOYD . *Brewing Science and Practice* Chapman & Hall, Ltd.

HOPKINS, R H., AND KRAUSE, B *Biochemistry Applied to Malting and Brewing* Allen & Unwin, Ltd

MONIER-WILLIAMS, G. W. . *Power Alcohol* Hodder & Stoughton, Ltd.

SCHONFELD, F. . *Brauerei und Malzerei* Paul Parey.

[1] Fractionating apparatus

अध्याय ३

जलप्रदाय और आरोग्य-प्रबन्ध

अल्वर्ट पार्कर, डी० एम-सी० (बर्मिघम), एफ० आर० आई० सी०

भूमिका—हवा के बाद मनुष्य जीवन के लिए परमावश्यक वस्तुओ में जल का दूसरा नबर है। केवल हवा और जल की उपलब्धि ही नही बल्कि उनके योग-क्षेम के लिए कुशल आरोग्य-प्रबन्ध (सैनिटेशन) भी अत्यावश्यक है, विशेषकर घनी बस्तियो के लिए। अत जन-स्वास्थ्य का उच्च स्तर बनाये रखने के लिए उपर्युक्त दोनो आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य है। एतदर्थ बडे-बडे नगरो में जल-प्रदाय एव आरोग्य-प्रबन्ध में बडी व्यापक योजना, निर्माण-कार्य तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित सतत सावधानी की आवश्यकता होती है। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन का एक साधारण निवासी आज शायद इस बात का पूरा अनुभव नही कर पाता, क्योकि ये सेवाएँ प्राय स्वत चलनेवाली मान ली जाती है। इनका महत्त्व तो उस समय समझ में आता है जब सूखे मौसमो में जलाभाव हो जाता है या जब जल-प्रसारित रोगो का भीषण प्रकोप होता है, जैसे यार्कशायर में १९३२ तथा क्रॉयडन में १९३७ में हुआ था। जनोपयोगी बातो में सामान्य अभिरुचि के अभाव का निश्चित कारण यह है कि ग्रेट ब्रिटेन में लोक-जल-प्रदाय एव आरोग्य और स्वच्छता का बडा कुशल प्रबन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ के लोगो को इनके अभाव में उत्पन्न होनेवाली भयकर परिस्थितियो का कोई अनुभव अथवा ज्ञान ही नही होता।

लोक-जल-प्रदाय की व्यवस्था और मल को जल-वाहन अर्थात् मलप्रणाल द्वारा हटाना कोई नयी बात नही है। ३१२ ई० पू० से ३०५ ई० तक रोम में नगर के बाहर के स्रोतो से जल पहुँचाने के लिए १४ जल-सक्रम (ऐक्वीडक्ट्स) बने थे। इन जल-सक्रमो के द्वारा पानी पहले बड़े-बडे जलाशयो में पहुँचाया जाता था। और वहाँ से सीस नाडो के द्वारा छोटे-छोटे जलाशयो में वितरित किया जाता था। इन्ही छोटे जलाशयो से फव्वारो, स्नानागारो, लोक-भवनो एव कुछ नागरिको को जल प्राप्त होता था। ऐसा अनुमान है कि फ्रॉण्टिनस के समय रोम में प्रति नागरिक को ५० गैलन जल प्रतिदिन मिलता था। उसकी तुलना में आज लन्दन में प्रति व्यक्ति को

लगभग ३५ गैलन जल प्रतिदिन प्राप्त होता है। प्राचीन रोम में जल के परिमाण के अतिरिक्त उसके गुणों का भी बड़ा ध्यान रखा जाता था। सर्वोत्तम जल का प्रयोग पीने तथा खाना पकाने के लिए, मध्यम गुणवाले जल का नहाने तथा अनेक अन्य लोक प्रयोजनो के लिए तथा निम्नकोटि के जल का इस्तेमाल सिंचाई तथा जल-यानों के पेटे में भरने के लिए होता था। बहुधा साधारणतया तलछटीकरण (सेडिमे-न्टेशन) करके तथा जलाशयों में सग्रह करके जल का रूप अर्थात् 'अपियरेन्स' उन्नत किया जाता था। लेकिन आजकल के पानीघरों के समान आविष्कारों तथा वैज्ञानिक विकास पर आधारित जलशोधन की व्यवस्थित पद्धतियाँ न थीं।

६०० ई० पू० रोम में जल-वाहन द्वारा मल प्रवाह के लिए एक बड़ा सनाल[1] बना था और नगर के विभिन्न भागों से आयी इसकी बहुत-सी सहायक नालियाँ थी। इसी सनाल के द्वारा नगर का मल टाइबर नदी में बहा दिया जाता था। फलत टाइबर नदी बुरी तरह से कलुषित हो गयी, साथ ही जल प्राप्ति का मुख्य स्रोत भी वह नदी थी। इसीलिए कालान्तर में शुद्ध जल प्राप्त करने के लिए नगर के बाहर के भाग से जल-सक्रम (ऐक्वेडक्टस) बनाये गये।

रोमन साम्राज्य के अध पतन के बाद बहुत-से जल-सक्रम नष्ट कर दिये गये। जल-प्रदाय, मलप्रवाह पद्धति तथा जन-स्वास्थ्य जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की कई शता-ब्दियों तक बड़ी उपेक्षा की गयी। मध्यकालीन युग में महामारियों तथा उनके द्वारा हुए विध्वस की पृष्ठभूमि में यही अति दूषित जल प्रदाय तथा जीवन की अस्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ थी।

अर्वाचीन पानीघरों की रचना का विकास मुख्यत उन्नीसवी सदी में हुआ। इस विकास को इजीनियरी की उन्नति से तो अवश्य प्रेरणा मिली, किन्तु अशुद्ध जल और टाइफायड एव हैजा-जैसी विध्वसकारी मारियों के पारस्परिक सबन्ध का स्पष्ट ज्ञान हो जाना ही इस उत्कृष्ट जल-प्रदाय का मुख्य कारण हुआ। १८७३ के पूर्व लन्दन में नागरिको को २४ घण्टे बराबर पानी मिलने की व्यवस्था न थी, यह तो निश्चय ही आधुनिक काल की सुविधा है। १८९१ तक लन्दन का ३१% जल प्रदाय सविराम पद्धति पर ही आधारित था।

जन साधारण के इस्तेमाल के लिए जलशोधन की प्रथा भी हाल से ही शुरू हुई है। जल में से आलम्बित पदार्थों को निकाल कर उसका रूप उन्नत करने के लिए

[1] Conduit

उसे बालू से छानने की प्रक्रिया १८२९ ई० में प्रारम्भ की गयी थी। इस विधा (प्रक्रिया) में बहुत दिनो तक कोई परिवर्तन नही हुआ, लेकिन आगे चलकर जीवाणुओं एव अन्य अवाछित प्राणियो को निकालने के लिए भी छानने की सशोधित रीतियाँ अपनायी गयी। क्लोरीन, हाइपोक्लोराइट, क्लोरामीन, चूना, ओज़ोन, सक्रिय कार्बन तथा अन्य पदार्थों से उपचार करके जल-शोधन एव जीवाणुहनन की रीति भी पिछले ४० वर्षों में ही विकसित हुई है। रसायनज्ञों के आविष्कारो का इजीनियरो ने प्रयोग किया और फलस्वरूप उपर्युक्त रीतियो का विकास हुआ। इन आविष्कारो एव प्रयोगो में जीवाणविकीविदो तथा जैविकीविदो का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा।

उत्तम जल के सामान्य वितरण तथा उद्योगो की वृद्धि के साथ-साथ घरेलू एवं औद्योगिक मल—कूडे करकट को जल स्रोतो को बिना दूषित किये, दूर हटाने के सतोष-जनक तरीकों का महत्त्व भी बढने लगा। पिछले ७०-८० वर्षों में नगर के मल और कारखानों के कचडो के उचित उपचार की वर्तमान रीतियो के आविष्कार एव विकास में रसायनज्ञो के कार्यभाग का मुख्य स्थान है। निम्नलिखित पक्तियो में जल-प्रदाय एव आरोग्य-व्यवस्था में रसायन विज्ञान द्वारा किये गये कुछ विकासो का उल्लेख करने की चेष्टा की गयी है।

जल-प्रदाय—लोक-जल-प्रदाय का उत्तम एवं आदर्श स्रोत वह है जहाँ से निर्मल, स्वच्छ एव मृदु जल प्राप्त हो तथा उसकी प्रतिदिन की बनावट (कपोजिशन) सामान्यत एक सम हो। ऐसे जल का एक विशेष गुण यह भी होना चाहिए कि प्रनाडो (मेन्स), वितरण नाडो (सर्विस पाइप्स) तथा अन्य अन्वायुक्तियो यानी 'फिटिंग्स' पर उसकी कोई प्रक्रिया न हो, जिससे बिना किसी प्रारम्भिक उपचार के वह सरलता से वितरित किया जा सके। प्राय गहरे कूए ही ऐसे आदर्श जल-स्रोत होते हैं और जल का दूषण बचाने के लिए इन कूओ की बडी सावधानी से रक्षा करनी पड़ती है। अन्य स्रोतो से प्राप्त जल का एक या अनेक विधाओ से इसलिए उपचार करना पडता है कि वह लोक प्रयोग के लिये उपयुक्त एव निरापद हो जाय। नदियो के जल का बहुधा बडा कडा उपचार करना पडता है, क्योकि उनमें प्राय. नगरो का सारा मल प्रवाहित किया जाता है, जिससे उनका जल बहुत दूषित रहता है।

निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जलोपचार की अनेक रीतियाँ अपनायी जाती है—(१) आलम्बित एव कलिलीय पदार्थों का निरसन[1] (२) जलाशयो

[1] Removal

में काई और अन्य पौधों को नष्ट करना अथवा उनकी वृद्धि रोकना, (३) लोहा, मैंगनीज और क्लोरीन के यौगिकों का निरसन, (४) विलयन में से कैल्सियम और मैग्नीसियम को निकालकर जल की कठोरता कम करना, (५) जल के रग, गध और स्वाद को उन्नत करना, (६) जीवाणुओं तथा अन्य रोगोत्पादक प्राणियों का नाश करना, तथा (७) प्रनाडो, वितरण नाडो एव अन्य युक्तियों के बनाने में प्रयुक्त होनेवाली धातुओं-लोहा, गैल्वनाइज्ड इस्पात, सीस, ताम्र इत्यादि पर जल की प्रक्रिया को रोकना या कम करना।

जल में से स्थूल आलम्बित पदार्थो को तो साधारण तलछटीकरण से निकाला जाता है, लेकिन सूक्ष्म आलम्बित एव कलिलीय पदार्थों को निकालने के लिए जल में रासायनिक स्कदनकर्ता (कोआगुलेटिंग एजेण्ट) मिलाने तथा तलछटीकरण के बाद उसको सूक्ष्म बालू या उसी प्रकार के अन्य पदार्थो के द्वारा छाना जाता है। जल के प्रति १००,०००भाग में ० ५–४ ० भाग अलूमीनियम सल्फेट डालकर स्कदन किया जाता था, लेकिन पिछले कुछ वर्षो से फेरस सल्फेट, क्लोरीनीकृत फेरस सल्फेट, सोडियम अलूमिनेट तथा अलूमीनियम सल्फेट और सोडियम अलूमिनेट के मिश्रण का सफलता पूर्वक प्रयोग किया जाने लगा है। स्कदको से न केवल आलम्बित एव कलिलीय पदार्थो के स्कदन तथा ऊर्णिकायन (फ्लॉकुलेशन) में सहायता मिलती है बल्कि वे छन्ने के ऊपर एक ऐसी श्लिपीय तह बना देते हैं जिसमे सूक्ष्म आलम्बित तथा कलिलीय पदार्थों एव कुछ जीवाणुओं को छान लेने की उसकी क्षमता बढ जाती है।

टैंकों में एक मास या अधिक समय तक जल सग्रहण से उसमें आलम्बित पदार्थो तथा टाइफायड और हैज़े-जैसे रोगो के रोगाणुओ को कम करने में बडी सहायता मिलती है। किन्तु अधिक समय तक सग्रह करने से जल में काई और सेवार तथा अन्य जल-पौधे उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उसे छानने में बड़ी कठिनाई होती है और साथ ही उसका स्वाद भी अरुचिकर हो जाता है। काई की वृद्धि रोकने अथवा उसका नाश करने के लिए जल के प्रति १,०००,००० भाग में ० १-१ ० भाग ताम्र सल्फेट या ० २-० ५ भाग पोटासियम परमैंगनेट या ० ५–१ ० भाग क्लोरीन, क्लोरामीन अथवा इन रसद्रव्यों के उपयुक्त मिश्रण डाले जाते हैं। सर्वोत्तम रीति का चुनाव स्थानिक परिस्थितियों-जैसे जल के निबन्ध तथा काई की जाति पर निर्भर होता है। इन रीतियो के विकासन में रसायनज्ञ को जैविकीविदों[1] के सहयोग की बराबर जरूरत पडी है।

[1] Biologist

जल के प्रति १,०००,००० भाग में ०·५ भाग लोहा तथा मैंगनीज रहने से उसमें प्रत्यक्ष गंध आ जाती है और यदि उसका अनुपात बढ़कर १ भाग हो जाय तो उसमें रोशनाई जैसा स्वाद भी उत्पन्न हो जाता है। वातन, चूना डालना, तलछटीकरण, तथा बालू, चारकोल और कुछ पीठ-विनिमय (बेस-एक्सचेंज) पदार्थों के द्वारा छानना भी उपर्युक्त धातुओं के निरसन की कुछ उत्तम रीतियाँ हैं।

पिछले कुछ वर्षों में जलोपचार की रीतियों में जो प्रगति हुई है उसमें जल को निरापद बनाने के लिए उसके रोगाणुनाशन (डिसइन्फेक्शन) की रीतियाँ विशेष उत्कृष्ट एवं उल्लेखनीय हैं। रोगाणुनाशन के लिए वातिक अवस्था एवं जलीय विलयन के रूप में ब्लीचिंग पाउडर, सोडियम हाइपोक्लोराइट तथा क्लोरामीन के रूप में क्लोरीन का अधिक प्रयोग किया जाता है। जल में मिश्रण के लिए क्लोरीन का अनुपात बहुधा ० २-० ५ भाग प्रति १,०००,००० भाग होता है, कभी कभी इससे भी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। क्लोरीनीकरण से रोगाणुओं का शीघ्र नाश हो जाता है, लेकिन अतिरिक्त क्लोरीन को जल में से निकालने के बाद भी अक्सर उसमें बड़ा अरुचिकर स्वाद आ जाता है। इस प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के लिए क्लोरीनीकरण की संशोधित रीतियाँ काम में लायी जाने लगी हैं। भागश[1] क्लोरीनीकरण, अधिक्लोरीनीकरण के बाद सल्फर डाइआक्साइड और सोडियम थायोसल्फेट सदृश पदार्थ डालकर विक्लोरीनीकरण, अमोनिया या अमोनियम सल्फेट डालकर क्लोरामीन बना लेना अथवा सक्रियित चारकोल द्वारा उपचार करना इन संशोधित रीतियों के स्वरूप हैं। क्लोरीनीकरण के बाद उत्पन्न होनेवाले कुछ दूसरे प्रकार के स्वादों के कारणों का अभी पता नहीं चल पाया है। २० करोड़ भाग में १ भाग फिनाल सहित जल के क्लोरीनीकरण के बाद उसमें दुःस्वाद उत्पन्न होता है, ऐसा ही दुःस्वाद नम्रा (विलोज) वनपिप्पल (पॉप्लर्स), क्षेत्रनन्दिनी (मीडो-स्वीट), काई, फफूदी तथा कुछ जीवाणुओं के अवशेषों सहित जल के क्लोरीनीकरण के बाद भी उत्पन्न होता है। स्वाद की इन समस्याओं का उल्लेख इसलिए किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि जल-प्रदाय के कार्य में लगे रसायनज्ञ को पदार्थों की कितनी सूक्ष्म मात्राओं का ध्यान रखना पड़ता है।

रोगाणुनाशन की कुछ रीतियाँ निम्नलिखित हैं—जल में इतना चूना छोड़ना कि २४ घण्टे की प्रतिक्रिया के बाद जल के प्रति १००,०००भाग में १ भाग अतिरिक्त

[1] By stages

चूना शेप रहे; ओजोनीकृत गैस द्वारा उपचार करना, परानीललोहित (अल्ट्रावाय-लेट) प्रकाश डालना, तथा अल्पगतिक (ओलिगोडायनमिक) क्रियावाले धातु, विशेष कर रजत द्वारा रोगाणुनाशन करना।

पानीघरो, औद्योगिक सस्थाओ एव गृहस्थो द्वारा प्रयुक्त जल के मृदुकरण की विधा भी रसायन-विज्ञान के आविष्कारो पर ही आधारित है। मृदुकरण के लिए जल में चूना या सोडियम कार्बोनेट डाला जाता है तथा फास्फेट और सोडियम अल्यु-मिनेट जैसे पदार्थो द्वारा उपचार किया जाता है। इसके लिए पीठविनिमय (बेस एक्सचैञ्ज) विधा भी प्रयुक्त होती है तथा इसी के सिद्धान्त पर साधारण घरेलू जल मृदुकर (वाटर सॉफ्नर) बनाये जाते है। पीठविनिमय की मूल विधा में जल को प्राकृतिक अयवा मश्लिष्ट ज़ियोलाइट के तल्प से पार कराया जाता था। ज़ियोलाइट में सोडियम-अल्युमिनियम सिलिकेट होता है जिसमें कैल्सियम तथा मैग्नीसियम द्वारा सोडियम का बडी सरलता से प्रतिस्थापन हो जाता है। कठोर जलस्थित कैल्सियम और मैग्नीसियम के द्वारा विनिमायक का सोडियम पूर्णतया विस्थापित हो जाता है, तब उसमें से लवण विलयन पार कराकर उसे पुनर्जनित (रीजेनरेट) कर लिया जाता है। पिछले कुछ वर्षो में सल्फ्युरिक अम्ल द्वारा कोयले का उपचार करके जलमृदुकरण के उपयुक्त कुछ पैठिक विनिमय पदार्थ तैयार किये गये है, और ये तथाकथित 'कार्बनीय जियोलाइट' वाणिज्यिक व्यवहार में लाये जा रहे है। इग्लैण्ड के 'डिपार्ट-मेण्ट ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के 'वाटर पोल्युशन रिसर्चबोर्ड' द्वारा किये गये अनुसन्धानो के फलस्वरूप कुछ ऐसी मश्लिष्ट रेजीनें बनायी गयी है जिनमें पीठविनिमय के बडे ऊँचे गुण होते है। अम्लविनिमय गुणोवाली रेजीने भी तैयार की गयी है। दोनों प्रकार की रेज़ीनो की सहायता से जल में विलीन लवणों का निरसन बडा सरल हो गया है। ये रेजीनें अब वाणिज्यिक पैमाने पर इस्ते-माल होने लगी है।

कुछ प्राकृतिक जलो की धातुओ पर बडी सक्षारक क्रिया होती है, जिसकी वजह से वितरण काल में लोहे तथा सीसे के विलयन से जल दूषित हो जाते है और कभी कभी ऐसे जल में सीसे की भयकर मात्रा भी मिश्रित होने की सभावना होती है। जल की इस सक्षारक क्रिया को कम करने के लिए उसमे चूना, चाक, सोडा तथा सोडियम सिलिकेट छोडा जाता है अथवा उसे सगमर्मर, चूना-पत्थर तथा मैग्नेसाइट के टुकडो के तल्प (बेड) से पार कराया जाता है।

मल का उपचार—जनस्वास्थ्य एव सम्पत्ति को बिना क्षति पहुँचाये मल का सुविधाजनक निष्कासन ही मलोपचार पद्धति का मुख्य ध्येय है। इस उपचार की

रीतियो के मुख्यत. दो पद होते हैं। प्रथम पद में ठोस पदार्थों का निरसन होता है तथा दूसरे पद में द्रव का ऐसा उपचार किया जाता है कि जल-प्रदायो को दूषित किये बिना उसका किसी नदी या जलधार में उत्सर्जन किया जा सके अथवा अन्य किसी रीति से उसका निष्कासन सभव हो जाय।

ठोस पदार्थों के निरसन के लिए मल को साधारणतया जालियो, बालु-कुण्डो (ग्रिट चेम्बर्स) या व्यपवृष्ट तडागो (डेट्रिटस टैंक्स) और तलछटीकरण तडागो (सेडिमेण्टेशन टैंक्स) के द्वारा पार कराया जाता है। ऐसा करने से मल का दूषण गुण बहुत कुछ कम हो जाता है। कभी-कभी आलम्बित पदार्थों के सूक्ष्म कणो को निकालने के लिए कुछ रासायनिक ऊर्णिकायक (फ्लॉकुलेटर) तथा अवक्षेपणकारक[1] भी डाले जाते हैं। लोहे तथा अल्युमिनियम के लवण तथा कागज की लुगदी, खतीली मिट्टी (मार्ल) अथवा अन्य प्रकार की मिट्टियो जैसे अविलेय पदार्थ उपर्युक्त क्रिया के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। ऐसे क्षेत्रो के मल के लिए, जिसमें निर्माणियो के उत्प्रवाही (एफ्लुयेण्ट्स) भी मिले होते हैं, रासायनिक उपचार की कुछ विशेष रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं। उदाहरण के लिए यार्कशायर में ब्रैडफोर्ड नामक स्थान पर मल में सल्फ्युरिक अम्ल मिलाया जाता है, क्योकि उसमें ऊन कारखानो का उत्प्रवाही जल मिला होता है और इसमें औद्योगिक साबुन की प्रचुर मात्रा होती है। अम्ल डालने से साबुन से वसा अथवा आवसा (ग्रीज़) पृथक् हो जाती है तथा मल के सूक्ष्मत विभाजित ठोस और कलिलीय पदार्थों का स्कदन हो जाता है। इसमें से आवसा पृथक् कर ली जाती है क्योकि यह काफी मूल्य की वस्तु है।

कभी-कभी कार्बनिक पदार्थों के अवक्षेपण अथवा मल के आशिक शोधन के अलावा अन्य प्रयोजनो के लिए भी रसद्रव्यो का प्रयोग किया जाता है। जैसे जब मल को प्रणाली द्वारा क्रियाकरण स्थान[2] तक पहुँचने में अधिक समय लगता है तो उसे सडने से बचाने के लिए उसमें क्लोरीन अथवा क्लोरीनीकारक डाले जाते हैं। कच्चे मल अथवा मल-उत्प्रवाहो को नदियों में छोडने से पहले उन्हें क्लोरीनीकृत कर देते हैं, जिससे उनके विच्छेदन की गति मन्द हो जाय और पूर्ण विच्छेदन के पूर्व वे धारा में मिलकर प्रचुर जल से तनूकृत हो जायँ।

स्थूल ठोस पदार्थों के निरसन के बाद मलद्रव का उपचार भूमितल पर भी किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए उचित मूल्य पर उपयुक्त और पर्याप्त भूमि

[1] Precipitating agents [2] Disposal works

मिलना आवश्यक है। व्यापक सिचाई, अधस्थल सिचाई (सबसर्फेस इ गेशन) और छनाई, इस प्रकार के उपचार की तीन रीतियाँ हैं। इन रीतियो के सफल प्रयोग के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ निर्धारित करने में रसायनज्ञो ने काफी काम किया है और इसके फलस्वरूप किसी हद तक मल का खाद (मैन्योर) के रूप में उपयोग किया जा सकता है। भूमितल पर मल के उपचार में मल तथा मिट्टी में विद्यमान जीवाणुओं एव अन्य प्राणियो द्वारा मल मे विलीन तथा सूक्ष्मत विस्तृत कार्बनिक पदार्थो का आक्सीकरण हो जाता है।

बडे-बडे नगरो में मल के आक्सीकरण अथवा शोधन के लिए बहुत बडे क्षेत्र नही मिलते और न तो सिचाई के लिए इतनी भूमि प्राप्त होती है। इन्ही कठिनाइयो को दृष्टिगत करके रसायनज्ञो ने इजीनियरो के सहयोग से विशेष रूप से बने छन्नो का प्रयोग कर तथाकथित सक्रियित अवपंक (स्लज) विधा[1] का विकास किया है। अर्वाचीन पारच्यावी छन्नो (परकोलेटिंग फिल्टर्स) की सहायता से तलछटित मल-द्रव को पत्थर, कोक अथवा झाँवा के १-२ इचवाले टुकडो से बने तल्प (बेड) पर समान रूप से वितरित किया जाता है। छन्नो की गहराई ४ फुट से लेकर १५ फुट तक होती है परन्तु ग्रेट ब्रिटेन मे सामान्यत ६ फुट की गहराई वाले छन्ने प्रयुक्त होते हैं। सक्रियित अवपक-विधा (ऐक्टिवेटेड स्लज प्रॉसेस) मे मलद्रव के साथ सक्रियित अव-पक को मिलाकर मिश्रण का ५ घण्टे से लेकर २४ घण्टे तक क्षोभण (एजिटेशन) तथा वातन (एरेशन) करते है। मलद्रव के वातन से ही सक्रियित अवपक उत्पन्न होता है। आवश्यक समय तक वातन करने के बाद तलछटीकरण द्वारा अवपक को द्रव से अलग किया जाता है और फिर इसी को मलद्रव के अगले भाग के उपचारार्थ प्रयोग किया जाता है। मल और सक्रियित अवपक मिश्रण के क्षोभण तथा वातन के लि‍ए अन्यान्य रीतियाँ काम में लायी जाती हैं।

ग्रेट ब्रिटेन में भूमि-मलोपचार के स्थान पर अब अधिकतर सक्रियित अवपक-विधा ही काम में आने लगी है। भूमिगत उपचार के लिए प्रति दिन १०००,००० गैलन मल के लिए भूमि की प्रकृति तथा क्रियाकरण की रीति[2] के अनुसार ५० एकड़ से लेकर ३५० एकड तक भूमि की आवश्यकता होती है। परन्तु ६ फुट गहरे पारच्यावी[3] छन्नो पर सक्रियित अवपक विधा से मल की उपर्युक्त मात्रा के उपचार के लिए केवल १ ५ एकड भूमि की जरूरत पडती है। 'वाटर पोल्युशन रिसर्च बोर्ड' ने पारच्यावी

[1] Process प्रक्रिया [2] Method of operation [3] Percolating filters

छन्नो के क्रियाकरण की एक नयी रीति निकाली है जिससे उसकी क्षमता दुगुनी हो जाती है और इस प्रकार प्रति दिन १०००,००० गैलन मल के उपचारार्थ ६ फुट गहरे छन्ने के लिए १·५ एकड़ की जगह केवल ०·७५ एकड़ क्षेत्र की आवश्यकता होती है।

पिछले २०-३० वर्षों से अवपक (स्लज) सबधी काम में काफी प्रगति हो रही है, लेकिन वर्तमान समय की मुख्य समस्या केवल उसके निरसन की नही वरन् मल-अवपक के लाभकारी कामो में उपयोग करने की है। मल से पृथक् कर लेने के बाद अवपक में ९०-९५% जल की मात्रा होती है इसलिए निष्कासन (डिस्पोज़ल) स्टेशन से उनको वही ले जाना बहुत आसान नही होता। समुद्रतट से नजदीक वाले नगरो के मल को प्राय समुद्र में डाल दिया जाता है परन्तु समुद्र से दूर स्थित नगरो में तो दूसरी रीतियाँ अपनानी पड़ती हैं। साधारणतया अवपक को रन्ध्री (पोरस) पदार्थों के बने उत्सारण तल्पो (ड्रेनेज बेड्स) पर बहाया जाता है। बहुधा ये तल्प खुली हवा में होते हैं। इस रीति से सूखे मौसम में अवपक की जलमात्रा कम होकर ६०-७०% रह जाती है तथा कभी कभी ४०-५०% भी हो जाती है। अवपक का अवातजीवीय किण्वन (ऐनअरोबिक फरमण्टेशन) अथवा पाचन करके भी निष्कासनार्थ उसका परिमाण कम किया जा सकता है। इस रीति से कार्बनिक पदार्थों का परिवर्तन होकर गैस बन जाती है जिसमें लगभग ७० प्रतिशत मिथेन और २०-३०% कार्बन डाइऑक्साइड होती है, कुछ पदार्थों के परिवर्तन से जलविलेय द्रव अथवा ठोस भी उत्पन्न होते हैं और प्राय दुर्गन्धरहित ऐसा पाचित अवपक प्राप्त होता है जो मूल अवपक की अपेक्षा सरलता से सुखाया जा सकता है। 'बरमिंघम, टेम ऐण्ड रिया डिस्ट्रिक्ट ड्रेनेज बोर्ड' के निष्कासनस्टेशनो पर अवपक-पाचन सयन्त्र लगाये गये हैं। सर्वप्रथम यही मल अवपक का पृथक् पाचन करके उसमें से दाह्य गैस निकालने और उसके उपयोग का विकास किया गया था। मॉग्डेन के 'वेस्ट मिडिलसेक्स काउण्टी काउसिल' के स्टेशनो पर भी ऐसे सयन्त्र लगे हैं। बरमिंघम के कुछ स्टेशनो पर सयन्त्रो के क्रियाकरण तथा प्रकाश करने के लिए आवश्यक समस्त शक्ति अवपक गैसो के दहन से ही प्राप्त होती है। मॉग्डेन के स्टेशन पर तो सयन्त्र क्रियाकरण तथा प्रकाश के लिए शक्ति प्रदान करने के बाद भी काफी गैस बच रहती है क्योंकि वहाँ प्रति दिन दस लाख घन फुट से अधिक गैस उत्पन्न होती है। अवपक गैस का ऊष्मीय मान (कैलॉरिफिक वैल्यू) ६५०-७०० ब्रिटिश ऊष्मामात्रक[1] प्रति घनफुट होता है जब कि नगरगैस का यह

[1] British Thermal Unit (B T. U)

मान साधारणतया ५०० बि० टी० यू० होता है। रसायनज्ञों और इंजीनियरों के सहयोग मे विकसित विधाओं का अवपक पाचन (स्लज डाइजेस्शन) एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

निर्माणी उत्प्रवाही[1]—औद्योगिक विधाओ से प्राप्त क्षेप्य जल (वेस्ट वाटर्स) के निष्कासन एव उपचार की समस्याओ के हल में रसायनशास्त्र ने जो योगदान किया है उसके कारण उसमें पिछले कुछ दशकों में बडी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है। यद्यपि प्रथमत ऐसे जल द्वारा होनेवाली जन-स्वास्थ्य की हानि एव जल का दूषण रोकने के लिए इन समस्याओ का अध्ययन किया गया था। लेकिन आगे चलकर इन अनुसन्धानो मे बहुमूल्य पदार्थो के अपव्यय एव हानि को रोकने और उपयोगी उप-पदार्थों को उत्पन्न करने में बडी सहायता मिली है। 'वाटर पोल्यूशन रिसर्च बोर्ड' का दुग्धोद्योग के क्षेप्य जल सबन्धी कार्य इसका बडा अच्छा उदाहरण है। इन कार्यो मे दूध और छाछ तथा तक्र जैसे उपजात पदार्थो की हानि की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हुआ। दूध एकत्र एव वितरण करनेवाले स्थानो से तथा पनीर और नवनीत की निर्माणियो मे ये बहुमूल्य पदार्थ क्षेप्य जल के रूप में बह जाया करते थे। उपर्युक्त अनुसन्धानो से यह ज्ञात हुआ कि कुछ सरल पूर्वोपायों (प्रिकॉशन्स) अथवा सशोधनो से दूध की यह हानि बहुत कम की जा सकती है। अनुमान है कि इस हानि को रोकने मे ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ष १००,००० पौण्ड की बचत हो सकती थी।

जल-परीक्षण—जनस्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए सतत सावधानी की परमावश्यकता है। इसी हेतु जलप्रदाय पर भी कडी दृष्टि रखनी पडती है। ग्रेट ब्रिटेन में मल तथा निर्माणी उत्प्रवाही (ट्रेड एफ्ल्युयेण्ट्स) द्वारा नदियो एव भूमिगत स्रोतो, विशेष कर चाक और चूनापत्थर के विदीर्ण स्तर के नीचे से प्राप्त जल के दूषण को भारी आशका होती है। इसलिए प्रशिक्षित रसायनज्ञो एव जीवाणविकीविदों के पर्यवेक्षण में उपचार-पूर्व एव पश्चात् जल के नमूने लेकर उनकी पूर्ण परीक्षा करना बहुत जरूरी है। इससे जलोपचार की रीतियो के नियत्रण मे बडी सहायता मिलती है और इस बात की प्रतिभूति होती है कि जनता द्वारा प्रयुक्त होनेवाले जल में किसी अवस्था मे कोई हानिकारक रासायनिक यौगिक अथवा रोगोत्पादक प्राणी उपस्थित न हो।

उपसंहार—उपर्युक्त सदर्भ में जलप्रदाय, आरोग्यप्रबन्ध, निर्माणी उत्प्रवाही का निष्कासन तथा भूमिगत स्रोतो एव नदियों से प्राप्त जल के दूषण की रोकथाम-

[1] Trade effluents

संबन्धी कार्यों की प्रगति की चर्चा की गयी है तथा यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि इनमें रसायन-शास्त्र का कितना ज्ञान एवं रसायनज्ञों का कितना प्रयास निहित है। रसायनज्ञो और इजीनियरों के सहयोग का ही यह परिणाम है कि इन आविष्कारो का मानव समाज के कल्याण के लिए इतना उत्तम प्रयोग किया जा सका है। सच्ची सफलता के लिए ऐसे सहयोग की परम आवश्यकता होती है और भविष्य में केवल रसायनज्ञो एव इजीनियरो का ही सहयोग नही वरन् जीवाणविकीविदो और जैविकीविदो का सहयोग भी आवश्यक होगा।

उत्तम जलप्रदाय एव आरोग्य प्रबन्ध की कुशलता से जनस्वास्थ्य में निश्चय उन्नति हुई है, इसके उदाहरण के लिए निम्नलिखित आंकड़े देखने योग्य है। १८-८१–१८९० ई० के बीच वाले दशक में इग्लैण्ड और वेल्स में टाइफायड ज्वर से प्रति वर्ष मरनेवालो की औसत सख्या ५,४०१ और जनसख्या के अनुपात में प्रति सहस्र ०·२ थी। १९३८ ई० में यह संख्या घटकर १६३ रह गयी। अथवा जनसख्या अनुपात प्रति सहस्र ० ००४ हो गया था। टायफायड से होनेवाली यह मृत्युसख्या आज से ५०-६० वर्ष पूर्व इसी से होनेवाली मृत्युसंख्या का केवल ०·५ प्रतिशत है।

ग्रन्थसूची

FRANCIS, T P. : *Modern Sewage Treatment*. Contractors' Record, Ltd

JAMES, G V. *Water Treatment*. Technical Press, Ltd.

MARTIN, A. J : *Work of the Sanitary Engineer* Macdonald & Evans.

MAXWELL, W. H : *Water Supply Problems and Developments*. Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

THRESH, BEALE AND SUCKLING · *Examination of Water and Water Supplies* J. & A Churchill, Ltd

VEAL, T. H P : *Disposal of Sewage*. Chapman & Hall, Ltd.

WATER POLLUTION RESEARCH BOARD OF THE DEPARTMENT OF SCIENTIFIC AND INDUSTRIAL RESEARCH · *Annual Reports*. H. M. Stationery Office

WATER POLLUTION RESEARCH BOARD OF THE DEPARTMENT OF SCIENTIFIC AND INDUSTRIAL RESEARCH . *Summary of Current Literature*. H. M Stationery Office.

WILSON, H M., AND CALVERT, H T · *Trade Waste Waters, their Nature and Disposal* Charles Griffin & Co , Ltd.

अध्याय ४

भैषजिक पदार्थ

[भेषज, गंध-तैल तथा कान्तिद्रव्य]

भेषज

सी० एच० हैस्लमायर, एम० बी० बी० एस० (लन्दन),
एफ० आर० आई० सी०

ऐतिहासिक लेखों से पता लगता है कि आजकल के साधारण प्रयोग में आने-वाले बहुत से भेषजों का ज्ञान प्राचीन एवं मध्यकालीन युगों में भी था। वर्तमान युग के वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप उन वानस्पतिक भेषजों के सक्रिय तत्त्वों का आविष्कार हुआ, जो पहले केवल अपरिष्कृत रूप में या निस्सार[1] के रूप में प्राप्य थे। ऐसे बहुत से सक्रिय तत्त्वों की रासायनिक संरचना मालूम की गयी तथा उनके संश्लेषण की रीतियाँ भी निकाली गयीं। प्राकृतिक भेषजों की अपेक्षा इनके शुद्ध सक्रिय तत्त्वों से कुछ विशेष लाभ होते हैं। उदाहरणार्थ, उनका रासायनिक विन्यास स्थिर होता है जिसकी वजह से उनकी दैहिक क्रिया (फिजियालोजिकल ऐक्शन) में अदल-बदल नहीं होता। इसके अतिरिक्त शुद्ध सक्रिय तत्त्व प्राप्य होने से औषध सेवन की नयी रीतियाँ भी अपनायी जा सकती हैं। जैसे इनमें बहुतों को अधस्त्वचं (सबक्युटेनियस) अथवा अन्तःपेशी (इन्ट्रामस्कुलर) अथवा अन्तःशिरा (इन्ट्रा वीनस) सुई लगाकर उन्हें शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है। इन सेवन-रीतियों से औषध के अवशोषण (एब्जार्प्शन) तथा उसके प्रभाव की निश्चितता अधिक होती है तथा उसकी क्रिया भी शीघ्रता से होती है। अफीम, सिन्कोना और एफिड्रा इनके उत्तम उदाहरण हैं। अफीम के प्रयोग का वर्णन असीरियाई तथा मिस्री औषधों (पैपिराई) तथा प्राचीन काल के अन्य औषधीय लेखों में मिलता है। लेकिन उसके मुख्य सक्रिय तत्त्व मार्फीन ऐल्कलायड का आविष्कार सर्टुर्नर नामक

[1] Extract

एक जर्मन भेपजज्ञ ने १८१६ ई० में किया, तत्पश्चात् बड़े पैमाने पर इसके निर्माण की व्यवस्था की गयी। सर्वप्रथम सिन्कोना की छाल का प्रयोग पेरू के इकाओं ने ज्वरो की चिकित्सा के लिए किया तथा यूरोप में इसके प्रवेश के बाद पलेटियर और कैवेण्टाओ ने १८२० ई० में इसके *सक्रिय तत्त्व कुनैन का आविष्कार किया।* मलेरिया की सफल चिकित्सा के लिए अब सिन्कोना से कुनैन का बडी मात्रा में निस्सारण होता है।

कार्बनिक रसायन के उत्थान एव विकास में अनेक औपधीय पदार्थों के गुणो तथा उनके निर्माण की विधियो का अध्ययन किया गया, जिससे रासायनिक उद्योग का बडा लाभ हुआ। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाली मेन्थाल और कपूर जैसी कितनी ही औपधीय वस्तुएँ अब प्रयोगशालाओ में सश्लेपण विधाओं से बना ली जाती हैं। इतना ही नही, बल्कि रसायनज्ञो ने अपनी प्रयोगशाला में ऐसी कितनी वस्तुएँ सश्लिष्ट कर ली हैं जो प्रकृति में नही पायी जाती लेकिन अनेक पुराने भेपजों की अनुपूरक अथवा उनके स्थान पर प्रयोग की जा सकती हैं। ली बीग तथा अन्य रसायनज्ञो ने उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में क्लोरोफार्म तथा क्लोरल जैसे पदार्थ तैयार किये थे, जो आज के महत्त्वपूर्ण भेपज हैं। १८३५ ई० में फैरेडे द्वारा कोलतार से बेन्जीन के एकलन (आइसोलेशन) तथा १८४३ ई० में हॉफमैन द्वारा कोलतार से एकत्रित पदार्थों के विस्तृत अध्ययन ने ही कार्बनिक यौगिको की सामान्य प्रतिक्रियाओ सबन्धी हमारे ज्ञान का प्रवर्तन किया।

कार्बनिक यौगिको की रासायनिक सरचना और उनकी दैहिक क्रिया (फिजियालोजिकल ऐक्शन) में सबन्ध की सभावना जान लेने से उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण एव बीसवी शताब्दी में प्रयोजन-विशेष के लिए अनेक सश्लिष्ट भेपज बनाये जा सके। ऐसे ही भेपजों के आविष्कार से आधुनिक भैपजिक उद्योग का जन्म हुआ और १९२९ ई० में सारे ससार में १५ करोड पौण्ड मूल्य के भैपजिक पदार्थों का उत्पादन किया गया, इससे इस उद्योग का महत्त्व विदित है।

कोलतार से विविध प्रकार के भेपज उत्पन्न किये गये, इनमें से प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक), ज्वरघ्न (ऐण्टीपाइरेटिक), वेदनाहर (ऐनेलजेसिक), औपधीय रजक तथा कुछ विशिष्ट भेपज उल्लेखनीय हैं। १८६० में कोल्बे की सश्लेपण विधि से सैलिसिलेट तैयार किये गये, जो 'विलो' की छाल से प्राप्त सैलिसीन नामक ग्लाइकोसाइड के स्थान पर प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार प्राकृतिक विण्टरग्रीन तेल के स्थान पर *मिथिल सैलिसिलेट का प्रयोग होने लगा। सैलिसिलिक अम्ल* को एसिटाइल-सैलिसिलिक अम्ल अर्थात् ऐस्पिरीन के रूप में परिवर्तित करने से उसका वेदनाहर गुण बहुत

बढ जाता है। केवल ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ष १३० टन ऐंस्पिरीन की खपत होती है। कार्बनिक संश्लेषण द्वारा उत्पन्न भेषजो में पैराल्डिहाइड, क्लोरोब्युटॉल तथा कारब्रोमल बडे महत्त्वपूर्ण पदार्थ हैं। युद्धकाल में खाजकीटो के नाश के लिए बेन्जाइल-बेन्ज़ोयेट तथा जूओं को, जो टाइफस ज्वर की वाहक होती है, मारने के लिए प० प० डाइक्लोरोफिनाइल ट्राइक्लोरइथेन बडा उपयोगी सिद्ध हुआ था।

भैषजिक उद्योग के विकास का समग्र चित्र खीचना तो यहाँ सभव नही है, परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण वर्गो के औषधीय रसद्रव्यो पर विचार करने से इस उद्योग के विस्तार तथा उसमें रसायनशास्त्र के योगदान का थोडा आभास अवश्य मिल सकता है। शैक्षणिक क्षेत्र में अथवा अन्य उद्योगों में हुए अनुशीलनो से यौगिको के सामान्य गुणो एव उनकी रासायनिक सरचना का जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसी के उपयोग से नये-नये रासायनिक यौगिक तैयार करके भैषजिक उद्योग का विकास हुआ। तथा जैविकीय कार्यकर्ताओ के सहयोग से रासायनिक सरचना और कायिक (फिज़ियालोजिकल) क्रिया के सबन्ध का जो ज्ञान हुआ, उससे वाछित औषधीय प्रभाव उत्पन्न करनेवाले सुनिश्चित सरचना के नये यौगिक तैयार करने की योजना में सफलता मिली। अनेक वर्गो के यौगिको को बनाने में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। निद्रोत्पादको (हिप्नॉटिक्स) का बारबिटुरेट वर्ग इसका अच्छा दृष्टान्त है। नेबेल्थाउ द्वारा १८९८ ई० में बाबिटोन[1] अर्थात् वेरोनल का आविष्कार हुआ, यह एक प्रतिस्थापित (सबस्टिटच्युटेड) मेलॉनिक एस्टर[2] और युरिया के सघनन (कॉण्डेन्सेशन) की सामान्य प्रक्रिया से बनाया जाता है। स्वय बाबिटोन तो डाइइथिल मैलोनिलयुरिया अर्थात् डाइइथिल बार्बिटुरिक अम्ल है, लेकिन इसके एक या दोनो इथिल वर्ग के स्थान पर अन्य कार्बनिक मूलक (आर्गेनिक रैडिकल) जोड देने से फिनाइलइथिल मैलोनिलयुरिया (फिनोबार्बिटोन, लुमिनल) तथा हेक्ज़ोबार्बिटोन (एविपान) जैसे अन्य यौगिक बनाये जा सकते है और इस प्रकार के ६० से ऊपर यौगिक बनाये भी गये है। इस भेषजवर्ग के यौगिक अपनी-अपनी दैहिक क्रिया में भिन्न भी होते है। कुछ की क्रिया बडी शीघ्रता से होती है तथा वे थोडे समय की निद्रा उत्पन्न करते है, दूसरो का अवशोषण धीरे-धीरे होता है तथा उनसे लम्बी निद्रा आती है तथा इन्ही में से कुछ ऐसे यौगिक भी है जिनको सूई लगाकर सामान्य निश्चेतना भी उत्पन्न की जा सकती है। इस वर्ग के विविध क्रियाओ वाले यौगिको के बन जाने से चिकित्साक्षेत्र में बडी सरलता हुई है।

[1] Babitone [2] Malonic ester

स्थानिक निश्चेतक (लोकल ऐनेस्थिटिक्स) वर्ग के यौगिकों के विकास में उसी प्रकार की प्रगति हुई है। शरीर के ऊतकों को सवेदनारहित (इनसेन्सिटिव) करने के लिए सबसे पहले कोका की पत्तियो से प्राप्त ऐल्कालायड कोकेन का प्रयोग हुआ था। कोकेन की रासायनिक सरचना जान लेने के बाद कोकेन सदृश ऐसे यौगिको का सश्लेषण किया गया जो न्यूनाधिक मर्यादा तक अणुरचना (मॉलिक्यूलर स्ट्रक्चर) तथा स्थानिक निश्चेतना उत्पन्न करने में कोकेन के समान थे। इस वर्ग के विभिन्न भेषजो के निश्चेतक गुण कुछ सीमा तक भिन्न-भिन्न होते है। उनकी विलेयता, विपालुता तथा अन्य गुणो में भी भेद होता है और इसी कारण उनमें प्रत्येक के अलग-अलग विशिष्ट उपयोग निकाले गये है। प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड अर्थात् नोवेकेन सामान्यत. सबसे ज्यादा उपयोगी है; बेन्ज़ोकेन, एमाइलोकेन हाइड्रोक्लोराइड अर्थात् स्टोवेन तथा ऑर्थोकेन (ऑर्थोफार्म) के भी अपने-अपने विशिष्ट उपयोग है।

फैरेडे और हाफमैन द्वारा प्रतिपादित कोलतारसबन्धी मौलिक कार्यो के परिणामस्वरूप फिनालिक प्रतिपूयिको (ऐण्टीसेप्टिक) का जन्म हुआ। फिनाल इनमें से सर्वप्रथम था, जिसका एक सामान्य रोगाणुनाशक (डिस्इन्फेक्टेण्ट) के रूप में आज भी प्रयोग होता है। परन्तु आधुनिक समय में कोलतारस्थित अन्य पदार्थों के सश्लेषण से नये-नये फिनालिक प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक) बनाये गये है, ये अधिक सक्रिय एव अपनी क्रिया में बडे चुनावशील (सेलेक्टिव) होते है। उदाहरणार्थ क्रिसॉल फिनाल से ढाई गुना अधिक सक्रिय तथा कम विपालु होता है। अन्य जटिल फिनालिक यौगिक और भी कम विपालु होते है तथा अमिल मेटाक्रिसाल जैसे यौगिक फिनाल से २८० गुना अधिक शक्तिशाली होते है। इन फिनालिक यौगिको में हैलोजेन परमाणुओ का प्रवेश कराकर पैराक्लोरोमेटाक्रिसाल तथा पैराक्लोरोमेटाज़ाइलिनॉल जैसे पदार्थ तैयार किये गये है जो अविपालु (नान-टॉक्सिक) होने के साथ-साथ फिनाल से २०० गुना अधिक सक्रिय होते है।

क्लोरीन का प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक) गुण तो बहुत समय से मालूम था लेकिन ज्ञात प्रबलता वाला उसका कोई स्थायी यौगिक प्राप्त न हो सका था। अब क्लोरामीन जैसे सश्लिष्ट कार्बनिक यौगिक के उत्पादन से क्लोरीन द्वारा प्रतिपूयन (एण्टीसेप्सिस) की ऐसी रीति मालूम हो गयी थी जिससे उपर्युक्त कठिनाइयाँ दूर हो गयी।

कोलतार के ऐक्रिडीन से सश्लिष्ट ऐक्रिफ्लेवीन, प्रोफ्लेवीन तथा युफ्लेवीन रजक बडे शक्तिशाली एव चुनावशील प्रतिपूयिक है जिनका काफी महत्त्व है। ये रजक युद्धव्रणो (वारवुण्ड्स) के भरने में बडे प्रभावी हुए है, क्योंकि दैहिक द्रवो की उपस्थिति

में तथा घाव पूजने की साधारण क्रिया को किसी प्रकार अवरुद्ध किये बिना ये रंजक पदार्थ जीवाणुओं को नाश करने में सफल होते है। त्रिस्टलवायलेट, ब्रिलियेण्ट ग्रीन तथा मैलाकाइट ग्रीन जैसे त्रिफिनाइलमिथेन रजको में अधिक चुनावशीलता प्राप्त की जा सकी है। मरक्युरोक्रोम एक ऐसा यौगिक है जिसमें पारद (मरकरी) तथा फ्लुओरेसीन रजक दोनो के प्रतिपूयिक गुणो का समन्वय है। जीवाणुनाशन में अपने विशिष्ट प्रभाव के कारण युद्धकाल में पेनिसिलीन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। एक विशेष जाति की फफूद से इसका निस्सारण किया गया था।

१८५३ ई० में जेरहार्ट द्वारा एसेटेनिलाइड के निर्माण से ही सश्लिष्ट वेदनाहरो का उत्पादन प्रारम्भ हुआ था। परन्तु एसेटेनिलाइड में कुछ विषालुता थी अत अनुगामी अनुसन्धानो के फलस्वरूप १८८३ ई० में फिनेसेटीन, १८८७ ई० मे फिनाज़ोन तथा १८९६ ई० मे अमिडोपाइरीन का उत्पादन हुआ। फिर भी जैसा पहले बताया जा चुका है, ऐस्पिरीन सर्वाधिक लोकप्रिय वेदनाहर के रूप में प्रयुक्त होती रही।

रसचिकित्सी भेषजो (कीमोथिराप्युटिक ड्रग्स) का सश्लिष्ट औषधीय रसायन में एक परम महत्वपूर्ण वर्ग है। इन भेषजो की विशेषता यह है कि जहाँ ये सक्रामक प्राणियो (इन्फेक्टिग ऑर्गेनिज़्म) के लिए विषालु होते है वहाँ शरीर-ऊतको के लिए निरापद होते है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में एर्ऱलिक और शीगा ने अपने कार्यो द्वारा यह प्रदर्शित किया कि आर्सेनिक अम्ल तथा ऐनिलीन को एक साथ गरम करने से उत्पन्न होनेवाले 'एटॉक्सिल' नामक कार्बनिक आर्सेनिकल यौगिक में आतिथेय (होस्ट) को मारे बिना ही शरीरस्थित ट्राइपैनोज़ोमो को नाश करने की क्षमता थी। परन्तु इस पदार्थ की विषालुता भी आवश्यकता से अधिक थी जिसकी वजह से अन्य अनुसन्धान करने पडे और १९०६ ई० मे आर्सफिनामीन अर्थात् 'साल्वार्सन ६०६' का आविष्कार हुआ। यह नया पदार्थ प्रोटोजोआई पराश्रयियो के लिए अतिशय विषालु था परन्तु आतिथेय के लिए अपेक्षाकृत निरापद रहा। आगे चलकर इससे अधिक विलेय एव सुविधाजनक कार्बनिक आर्सेनिकल यौगिक के रूप में 'नियो-आर्सफिनामीन' अर्थात् 'नियोसाल्वार्सन' निकला तथा आन्तरपेशी (इण्ट्रामस्कुलर) सूई लगाने के लिए सल्फार्सफिनामीन निकाला गया। ये सभी भेषज आजकल उपदश की चिकित्सा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। ट्राइपार्सैमाइड एव एसेटार्सोल भी इसी प्रकार के यौगिक है, जिनमें आर्सेनिक त्रिसयुज (ट्राइवैलेण्ट) अवस्था में होता है तथा जो उष्णदेशीय रोगो के उपचार के लिए प्रयुक्त होता है।

रसचिकित्सा अर्थात् रसद्रव्यों द्वारा रोगो की चिकित्सा मे रसायनज्ञो एव भेषज-क्रियाज्ञानियों (फार्माकालोजिस्ट्स) के सहयोग से बडी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है।

इसी सहयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न क्वीनोलीन की व्युत्पत्ति पामाक्वीन अर्थात् प्लैज्मोक्वीन, तथा ऐक्रीडीन की व्युत्पत्ति मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड अर्थात् एटेब्रीन-सदृश यौगिक शरीर में मलेरियाई पराश्रयियों के लिए विशिष्ट विष सिद्ध हुए परन्तु आतिथेय के लिए निरापद। अत आजकल ये पदार्थ मलेरिया की चिकित्सा के लिए व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रहे हैं। सल्फोनामाइड और उसकी व्युत्पत्तियाँ रसचिकित्सीय यौगिको के नवीन विकास का केन्द्र बन गयी हैं। १९३५ ई० में डोमाक ने प्रॉण्टोसिल नामक एक गाढे लाल रगवाले सश्लिष्ट अजो रजक के रोगाणुनाशक गुणो का आविष्कार किया। उन्होने दिखाया कि यह रजक प्रसूतिज्वर (प्योरपेरल फीवर), शोणत्वग्ज्वर (स्कारलेट फीवर) तथा अरुणचर्मता (इराइसेपेलस) नामक रोगो के मूल कारण हिमोलिटिक स्ट्रेप्टोकाक्काई के नाश करने में बडा सक्रिय है। इस वर्ग के और यौगिक भी प्रयोग किये जाते है, जैसे सल्फैनिल अमाइड स्ट्रेप्टोकाक्कीय सक्रामणो के विरुद्ध अति उपयोगी है और निमोनिया उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओ को नाश करने में सल्फापिरिडीन बडा सक्रिय है। रसायनज्ञो की प्रतिभा एव प्रयास से अनेक ऐसे यौगिक बने जिनकी सरचना उनमें परमाणुओ के विविध समूहो के प्रतिस्थापन के कारण भिन्न-भिन्न थी। विभिन्न सक्रामणो पर इन यौगिकों की क्रियाओ का अध्ययन भी किया गया। फलस्वरूप सल्फाडियजीन, सल्फाथायज़ोल, सल्फागवा-निडीन तथा ४–अमीनो-मिथिलसल्फोनामाइड अर्थात् मर्फानिल जैसे आज के उपयोगी भेषज हमें प्राप्त हुए हैं।

१८४९ ई० में फैंकलैण्ड द्वारा निर्मित मर्करी ऐल्किल पहले केवल शैक्षणिक महत्त्व के यौगिक समझे जाते थे। परन्तु अब मर्साफेन (नोवासुरॉल) तथा मर्सलिल (सैलिर्गन) जैसे मर्करी के जटिल कार्बनिक यौगिक, जो सारत प्रारम्भिक सरल मर्करी ऐल्किलो की ही तरह हैं, बडे प्रभावी मूत्रवर्धक के रूप में प्रयुक्त हो रहे है। इन भेषजो की सूई लगायी जाती है।

हारमोनो के विज्ञान का भी बडी तेजी से विकास हो रहा है तथा रसायनज्ञ उनकी रासायनिक सरचना के अध्ययन तथा उनके सश्लेषण और उत्पादन में सलग्न हैं। ऐड्रिनलीन एक उत्तम उदाहरण है। १९०१ ई० में टाकामीन तथा ऐल्ड्रिच ने उप-वृक्क ग्रन्थियो (ऐड्रिनल ग्लैण्ड्स) से एक केलासीय पदार्थ का एकलन किया था। उपवृक्क ग्रन्थि-निस्सार में रक्तचाप बढानेवाला यही पदार्थ था, जिसे 'ऐड्रिनैलीन' की सज्ञा प्राप्त हुई। इस घटना के बाद इसके गुणो का व्यापक अध्ययन किया गया तथा इसका सश्लेषण भी कर लिया गया है। कैटेचॉल से सश्लेषण करके अब इसका बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। यह आज के चिकित्सीय जगत का एक महत्त्व-

पूर्ण भेपज है। इस सदर्भ में मा हौंग (Ma Haung) नामक एक चीनी पौधे से प्राप्त ऐल्कलायड (एफिड्रीन) का उल्लेख करना भी आवश्यक है। यह पदार्थ रासायनिक संरचना एव दैहिक क्रिया में ऐड्रिनलीन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अन्य सबन्धित यौगिक भी बनाये गये है और उनके दैहिक प्रभाव भी उसी प्रकार के है।

इन्सुलीन भी भैषजिक जगत का एक बडा उत्कृष्ट चिकित्सीय पदार्थ है। १९२२ ई० में बैण्टिग और बेस्ट ने अपने दैहिकीय प्रयोगो द्वारा यह दिखाया कि पैक्रियस के लैंगरहैन्स द्वीपो में एक ऐसा पदार्थ होता है जो शरीर में शर्करा-चयापचय (मेटाबालिज्म) को नियत्रित करता है। रासायनिक निर्माण के साधारण सिद्धान्तो के प्रयोग से इस पदार्थ का एक ऐसा सान्द्रित रूप बनाना सभव हुआ जिसकी सूई लगाकर मनुष्यो के मधुमेह रोग का नियत्रण किया जा सके। इन्ही जीवरासायनिक अनुसन्धानो के आधार पर आज मधुमेह की सारी चिकित्सा का विकास आधारित है तथा यह रोगोपचार में जीवरसायन के प्रयोग की भारी विजय मानी जाती है। कालान्तर में ऐबेल ने भेडो के पैक्रियस से केलासीय इन्सुलीन पृथक् किया। इसमे सदेह नही कि इन्सुलीन की रासायनिक सरचना भी शीघ्र ही ज्ञात हो जायगी और तब सश्लेषण द्वारा इसका उत्पादन सभव हो जायगा। इन्सुलीन की क्रिया पर धातुओ के प्रभाव के जीवरासायनिक अध्ययन से उसके सेवन (ऐडमिनिस्ट्रेशन) की रीतियों मे बडी उन्नति हुई और आजकल यशद (जिन्क) मिश्रित इन्सुलीन का बराबर प्रयोग हो रहा है।

मनुष्यशरीर के चयापचय मे गलग्रन्थियो (थायरायड ग्लैण्ड्स) का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव है और इसकी हीनता के बडे गम्भीर कुप्रभाव होते हैं। गत काल में इन कुप्रभावो के निराकरण के लिए गलग्रन्थियो का सूखा चूर्ण अथवा उसका निस्सार सफलतापूर्वक प्रयुक्त होता रहा। परन्तु १९१५ मे केण्डाल ने पशुओ की गलग्रन्थियो से एक सक्रिय पदार्थ (थायराक्सीन) निकाला। १९२६ में हैरिंगटन तथा बार्जर ने थायराक्सीन की रासायनिक रचना भी निश्चित कर ली तथा सश्लेषण द्वारा उसकी पुष्टि की और अब तो यह सश्लेषण रीति से बनायी भी जाने लगी है।

पोषग्रन्थि (पिट्यूटरी) हारमोनो के सबन्ध में हमारा ज्ञान अब भी अपूर्ण है, इसी लिए केवल प्राकृतिक ग्रन्थियो से बनी सूई लगानेवाली औषधे प्राप्य है। परन्तु इन औषधो के इतने उपयोग है कि रसायनज्ञो एव जीवरसायनज्ञो द्वारा इनके अध्ययन एव रहस्योद्घाटन की महान् सभावनाएँ है।

लिंग-हारमोनो के अध्ययन की समस्या काफी कठिन एव जटिल है। यद्यपि जीवरसायनज्ञो ने इस दिशा मे भी बडी तत्परता दिखाई है तथा स्टिलबोस्ट्रॉल नामक

अब इसके स्थान पर मिर्सेप्योन नामक एक सरल परन्तु समानप्रभावी शुद्ध संश्लिष्ट रासायनिक यौगिक प्रयुक्त होने लगा है। विटामिन पी भी सादृस जाति के फलो से शुद्ध अवस्था में एकत्रित कर लिया गया है। इस विटामिन का प्रभाव रुधिरकोशाओं की भगुरता (फ्रैजिलिटी) पर पडता है।

भैषजिक क्षेत्र में ऐसे अनेक रसद्रव्यो का प्रयोग होता है जो अन्य और उद्योगो में प्रयुक्त होते है, लेकिन भेद केवल यह है कि भैषजिक प्रयोजनो के लिए उनकी विशिष्ट शुद्धता परमावश्यक होती है। सल्फ्युरिक अम्ल, सोडियम कार्बोनेट, पोटासियम आयोडाइड तथा फेरस सल्फेट का विशेष शोधन करके उनको आर्सेनिक तथा लेड जैसी हानिकारक अशुद्धियों से मुक्त किया जाता है। भेषज के रूप में काम आनेवाले नये अकार्बनिक पदार्थों में मैग्नीसियम त्रिसिलिकेट तथा शोधित केओलीन उल्लेखनीय हैं। भैषजिक क्षेत्र में रसायनज्ञो का योगदान यही तक सीमित नही है बल्कि भेषजो के औषधीय गुणो के परीक्षण एव मानकीकरण की उपयुक्त रीतियाँ निकालकर उनके द्वारा उनका श्रेणीनियत्रण करना भी भारी जिम्मेदारी का काम है।

ग्रन्थसूची

BENNETT, R R , AND COCKING, T T *Science and Practice of Pharmacy*. J. & A. Churchill, Ltd.

British Pharmacopaeia, 1932, and *Addenda* Constable & Co , Ltd.

British Pharmaceutical Codex 1936, and *Supplements* The Pharmaceutical Press

DYSON, G. M. *Chemistry of Chemotherapy*. Ernest Benn, Ltd.

EVERS, N. *Chemistry of Drugs*. Ernest Benn, Ltd

FOURNEAU, E. *Organic Medicaments and their Preparation* Translated by W. A Silvester J & A Churchill, Ltd.

GRIER, J. *History of Pharmacy* The Pharmaceutical Press.

HENRY, T. A *Plant Alkaloids*. J. & A Churchill, Ltd.

MAY, P., AND DYSON, G. M. · *Chemistry of Synthetic Drugs*. Longmans, Green & Co., Ltd.

PARTINGTON, J. R . *Origins and Development of Applied Chemistry*. Macmillan & Co , Ltd.

गंध-तेल

पर्सी सी० सी० इशरउड, ओ० बी० ई०, पी-एच० डी० (उर्ज़बर्ग), एफ० आर० आई० सी०

गध-तेल (इसेन्शल आयल) अधिकाशत सुगन्धित वनस्पतियो के भापासवन (स्टीम डिस्टिलेशन) से प्राप्त किये जाते है, इसी लिए उन्हें वाष्पशील तेल (वोलाटाइल आयल) भी कहते है। ये गधतेल वनस्पतियों के विभिन्न भागो में होते है अत. उनके उत्पादन के लिए भागविशेष का ही प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ जीरा, मिलरी, इलायची, सौंफ के तेल उनके बीजो से, पिमेण्टो और जुनिपर के तेल बदरियों से, बूकू, बे और पचौली तेल पत्तियों से, गुलाब, लागलाग और ऑरेन्ज ब्लासम तेल पुष्प-पटलो से प्राप्त किये जाते हैं। लवग तेल कलियो से तथा चन्दन और सिडार तेल उनके काष्ठो से निकाले जाते है। वेटिवर्ट और एञ्जेलिका के लिए जड़ों का तथा जिजर और ओरिस के लिए आकदो (राइज़ोम) का भापासवन किया जाता है तथा पिपरमिण्ट के लिए पूरे सूखे पौधे का। बादाम और सरसो की विशेषता यह है कि उनके गधतत्त्व सयुक्त अवस्था में होते हैं इसलिए गधतेल के आसवन के पूर्व एन्ज़ाइम क्रिया से यौगिकविशेष का विच्छेदन करना आवश्यक होता है।

वाष्पशील तेलों के उत्पादन के लिए यद्यपि विभिन्न विलायको द्वारा निस्सारणरीति भी अपनायी जाती है लेकिन भापासवन-रीतिही सामान्यत प्रचलित रही है। सूखी अथवा जलमिश्रित वनस्पतियो में भाप का प्रवेश कराया जाता है, कभी कभी तेल की प्रकृत्यनुसार उच्च-दाब भाप भी प्रयुक्त होती है और कभी जल के साथ केवल उबालना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि उच्च-दाब भाप के उच्च ताप से कुछ अस्थायी सुगन्धित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। भापासवन के लिए प्रयुक्त होनेवाले आस्रोत (स्टिल) इतने बडे होते हैं कि उनमें टनो वनस्पतियाँ आ जाती हैं। इन वनस्पतियो द्वारा पार होनेवाली भाप को सघनित करके आसुत में से जल और तेल को पृथक् कर लिया जाता है। छालों और काष्ठों के आसवन के पहले उन्हें कूट लेना आवश्यक होता है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि नीबू, नारगी तथा बर्गमॉट जैसे साइट्रस वर्ग के तेल उपयुक्त फलो के छिलको को निचोडकर प्राप्त किये जाते हैं।

उपर्युक्त रीतियों से प्राप्त गधतेलो का प्रयोग विविध रूप से किया जाता है। उनके औषधीय गुण भी होते है तथा उन्हें खाद्य सामग्रियो के सुवासन के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। इनके अतिरिक्त परिमल-प्रयोजनो (परफ्यूमरी परपज), साबुन एव कान्ति-द्रव्यो के लिए भी इन तेलो का अच्छा प्रयोग होता है। परन्तु यह सब उनके महत्त्व एव

उपयोगिता के बड़े लघु उदाहरण हैं, क्योंकि रसायनज्ञों ने अपनी प्रतिभा से ऐसे अनेक पदार्थ उत्पन्न किये हैं, जिनमें से कुछ तो बड़े जटिल यौगिक हैं। इन पदार्थों के उत्पादन के लिए सुगन्धित वनस्पतियों के निस्सारण में एकत्रित मुख्य संघटकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ 'युजिनॉल' का उल्लेख किया जा सकता है। यह लवंगतेल का मुख्य संघटक है और इसके क्रियाकरण से वैनिलीन नामक सुविख्यात सुगन्धित पदार्थ उत्पन्न किया जाता है। अपनी प्राकृतिक अवस्था में वैनिलीन वैनिला बीजों में विद्यमान होता है। दूसरा उदाहरण सैफ्रोल का है, यह कर्पूरतेल में होता है और इसी से पिपरोनल अथवा हीलियोट्रोपीन नामक एल्डीहाइड बनाया जाता है, जो साबुन बनाने तथा अन्य परिमल प्रयोजनों के लिए खूब इस्तेमाल किया जाता है। नींबू एवं नींबू घास-तेलों का व्यावसायिक गन्ध के मूल कारण सिट्रॉल से ही आयोनोन वर्ग के अनेक पदार्थ तैयार किये जाते हैं। इन्हीं आयोनोनों के तनुकरण से वायलेटों की गन्ध उत्पन्न होती है।

१९३७ ई० में कुन और मॉरिस ने इन्हीं आयोनोनों में से एक बीटा आइसोमर को लेकर विटामिन ए का संश्लेषण प्रारम्भ किया था। एक और उदाहरण टर्पेन्टाइन का है जिससे टर्पीनियोल नामक ऐल्कोहल बनाया जाता है। इसमें लिलैक-सदृश बड़ी तीव्र गन्ध होती है जो बड़ी स्थायी भी होती है, साबुन बनाने तथा बहुत से अन्य कामों के लिए इसका बड़ा व्यापक प्रयोग होता है। टर्पेन्टाइन के एक दूसरे संघटक पाइनीन को पृथक् करके उसी से संश्लिष्ट कपूर बनाया जाता है। एतदर्थ प्रथम पाइनीन को कैम्फीन के रूप में परिवर्तित किया जाता है और तब कैम्फीन के आक्सीकरण से कैम्फर अर्थात् कपूर तैयार किया जाता है।

युकैलिप्टस प्रजाति (जीनस) के वृक्षों से विविध निबन्ध[1] वाले गन्धतेल प्राप्त किये जाते हैं, जैसे युकैलिप्टस डाइव्स से पिपरीटोन नामक एक कीटोन होता है जिसकी गंध पिपरमिण्ट के समान होती है। पिपरीटोन के आक्सीकरण से थाइमोल नामक मूल्यवान प्रतिपूयिक प्राप्त होता है। अजवाइन तथा थाइम तेलों से इसके पृथक्करण की तुलना में थाइमोल प्राप्त करने की यह रीति अधिक सस्ती है। इसके अलावा पिपरीटोन के नियंत्रित हाइड्रोजनन से संश्लिष्ट मेन्थाल उत्पन्न होता है।

परन्तु रसायनज्ञों के प्रयत्नों और प्रयासों का यहीं अन्त नहीं होता। वाष्पशील तेलों में प्राकृतिक रूप से विद्यमान पदार्थों के एकलन एवं उनकी सरचना के अध्ययन से रसायनज्ञ उन पदार्थों को अन्य स्रोतों तथा रीतियों से प्राप्त करने में भी सफल हुए

[1] Composition

है। इस सबन्ध में कुमारीन की चर्चा की जा सकती है, यह टोंका बीनो तथा डिअर टग की पत्तियों में होती है और कदाचित् न्यू-मोन-हे की सुगन्ध का कारण भी कुमारीन ही है। यही कुमारीन आजकल सैलिसिलिक ऐल्डीहाइड से सश्लेषण द्वारा व्यापक रूप में उत्पन्न की जाती है।

डाइकीटोन-डाइएमिटिल नामक पदार्थ अनेक प्रकार के गन्धतेलों में, विशेषकर ऐन्जेलिका, साइप्रेस, सैविन, कैरेवे, चन्दन, वे, ओरिस तथा वेटिवर्ट में होता है और अब सश्लेषण द्वारा तैयार किया जाता है, क्योंकि वर्तमान समय में इसका बहुत बडा आर्थिक महत्त्व है। खाद्य वसाओं तथा अन्य खाद्य पदार्थों में नवनीत-गध देने के लिए इसका व्यापक प्रयोग होता है तथा इत्र बनाने में भी इसका कुछ इस्तेमाल होता है।

प्राकृतिक गन्धतेलों के स्थान पर कृत्रिम रूप से उत्पन्न तेलों के प्रयोग के भी दो अच्छे दृष्टान्त है। बादाम के गधतेल के लिए बेन्ज़ल्डीहाइड का प्रयोग तथा विण्टर-ग्रीन तेल के स्थान पर मिथिल सैलिसिलेट का प्रयोग उल्लेखनीय है। असली सरसों के तेल के स्थान पर नकली तेल भी चल पड़ा है।

ग्रन्थसूची

FINNEMORE, H. . *The Essential Oils.* Ernest Benn, Ltd.
GILDEMEISTER, E. . *The Volatile Oils* (Translated by E. Kremers). Longmans, Green & Co , Ltd
PARRY, E. J. : *Encyclopaedia of Prefumery.* J. & A Churchill, Ltd.
Perfumery Essential Oil Record G Street & Co., Ltd.

कान्ति-द्रव्य

एच० स्टैनले रेडग्रोव, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

कान्ति-द्रव्यों (कासमैटिक्स) की कला बडी प्राचीन है। मिस्र की खुदाई मे प्राप्त संलेखो से पता चलता है कि अति प्राचीन काल से ही व्यक्तियो को सुन्दर बनाने के लिए अनेक प्रकार के रग, लेपों तथा उबटनो का प्रयोग होता रहा है। लेकिन अपनी त्वचा की सुरक्षा करने अथवा उसे सजाने सँवारने या अपने केशों के रग बदलने तथा अपने हाथ पैर की अँगुलियो एव नखों को रँगकर अलकृत करने की यानी अपना कामा-कर्षण (सेक्स अपील) बढाने की स्त्रियों में सामान्य आकाक्षा को अभी कुछ ही समय पूर्व

तक वैज्ञानिकों के लिए विचारणीय विषय नही माना जाता था। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि अपनी उपर्युक्त आकाक्षा की पूर्ति करके स्त्रियाँ केवल अपनी जैविकीय आवश्यकता ही पूरी नहीं करतीं बल्कि उनके द्वारा समाजसेवा भी करती हैं। इस बात को छोडकर भी यदि 'इम्पोर्ट ड्यूटीज ऐक्ट' की रिपोर्ट मे प्रकाशित १९३३ के विभिन्न वस्तुओं के उत्पादनसबन्धी अको को देखा जाय तो आश्चर्य होगा कि कान्ति-द्रव्यो की अत्यधिक मात्रा पुरुषों के प्रयोगार्थ तैयार की गयी थी और केशक्रीम, क्षौर-क्रीम तथा क्षौरसाबुन जैसे पदार्थ तो एकमात्र पुरुषों के लिए बाजार मे बिकते हैं।

कान्तिद्रव्य-प्रौद्योगिकी में रसायनविज्ञान का उपयोग तो अभी बहुत हाल से ही किया जाने लगा है। लेकिन इस थोडे समय में ही इस दिशा में महती प्रगति हुई है।

अलकारवस्तुओं (ब्यूटी प्रॉडक्ट्स) को उनके उपयोगों के अनुसार चार मुख्य वर्गो में विभक्त किया जा सकता है—(१) आलकारिक (डिकोरेटिव), (२) शोधक (करेक्टिव), (३) रक्षक (प्रोटेक्टिव) तथा (४) चिकित्सीय (थिराप्युटिक)।

प्रथम वर्ग मे नख-रगलेप (नेल पेण्ट्स), केश-प्रलाक्ष (हेयर लैकर्स) तथा लिप-स्टिक हैं, जिनका उपयोग एकमात्र आलकारिक प्रयोजन से ही किया जाता है। लेकिन उनके रग शरीर के स्वाभाविक वर्ण से कोई मेल नहीं खाते।

द्वितीय वर्ग में हल्के मुखपाउडर, कुकुमी (राउजेज) तथा लिपस्टिक सदृश वस्तुएँ हैं, जिनका रग गाल अथवा होंठ के प्राकृतिक गुलाबी रग से बहुत भिन्न नहीं होता तथा जिनका प्रयोग बदन के कुछ दोषो को ढँककर उसे अधिक प्यारा अथवा आकर्षक बनाने के लिए किया जाता है।

तृतीय वर्ग की वस्तुओ का प्रयोग त्वचा को सूर्यदाह अथवा अन्य प्रकार के विगोपनो (एक्सपोजर) से बचाने के लिए किया जाता है, डेक्रीम, भारी मुख पाउडर तथा अन्य विशिष्ट पदार्थ इनके उदाहरण हैं।

हरे नेत्र-रगलेप जैसे सर्वप्रथम कान्तिद्रव्य प्राचीन मिस्र की स्त्रियो द्वारा अपनी सुन्दरता बढाने के ही लिए इस्तेमाल किये जाते थे अतएव इनकी गणना प्रथम वर्ग मे ही की जानी चाहिए। लेकिन इनके बाद कुछ ऐसी वस्तुएँ भी बनी जो खोयी हुई सुन्दरता के स्थायी पुन स्थापन (रिस्टोरिंग) का दावा करती थीं, परन्तु दुर्भाग्यवश इनका दावा सचमुच कभी पूरा नही हुआ और ये सदा ही वञ्चको द्वारा लोगो के शोषण के साधन बनी रही। कान्तिद्रव्यो की कुवैद्यता यद्यपि अभी मरी नहीं फिर भी सयुक्त राज्य अमेरिका मे पारित अधिनियमों से उसे आघात अवश्य हुआ है तथा व्यापकतया कान्ति-द्रव्य उद्योग का कल्याण हुआ।

चौथे वर्ग के पदार्थो का सबन्ध अधिकतर औषधीय विज्ञान से है अतः उनके सबन्ध

में यहाँ विशेष कोई चर्चा न करके अन्य तीन वर्गों के कान्तिद्रव्यों पर ही अधिक ज़ोर दिया जायगा।

कान्तिद्रव्यों के विकास में रसायनविज्ञान ने जो योगदान किया है उसका साराश इस प्रकार है —अधिक निरापद एव उपयुक्त पदार्थों के आविष्कार से अपकारक (नॉक्सस) वस्तुओं का प्रचलन प्राय बन्द तथा अधिक सुन्दर वस्तुओं का उत्पादन सभव हो गया है। *कुछ विशेष समस्याओं का भी अन्वेषण किया गया तथा बहुतों का समाधान भी।* इन अनुसन्धानों का क्षेत्र यद्यपि बडा विस्तृत है, फिर भी यहाँ कुछ दृष्टान्तों का वर्णन किया जायगा।

एक समय ट्वालेट लोशनों, मुखपाउडरों तथा आवसा रगलेपों[1] के निबन्ध में श्वेत सीस (व्हाइट लेड) अर्थात् सफेदा एक साधारण परन्तु आवश्यक संघटक हुआ करता था। उसके विषालु गुणों को जान लेने पर उसका प्रयोग बन्द कर दिया गया तथा उसके स्थान पर यशद आक्साइड प्रयुक्त होने लगा। यशद आक्साइड अपने अपारदर्शक गुण के कारण प्रचलित हुआ था लेकिन आजकल उसको भी हटाकर टिटैनियम द्विआक्साइड इस्तेमाल होने लगा है। टिटैनियम द्विआक्साइड की विशेषता इसलिए मानी गयी है कि उसकी अपारदर्शिता अधिक तथा घनत्व कम होने के साथ साथ वह रासायनिक रूप से एव दैहिकतया सर्वथा निष्क्रिय होता है। इसके प्रयोग का प्रथम सुझाव *इस लेख के लेखक (एच० स्टैनले रेडग्रोव) द्वारा १९२९ में किया गया था तथा* प्रगतिशील निर्माताओं द्वारा अपनाया भी गया था।

महारानी एलिज़ाबेथ की घोषणानुसार डोवर की चोटियों से लाये गये चाक का बना मुखपाउडर ही सर्वोत्तम था। *लेकिन उस खनिज चाक के स्थान पर आजकल* अवक्षेपण रीति से बना चाक काम में लाया जाता है। रासायनिक ढग से निर्मित इस चाक की भौतिक अवस्था एव शुद्धता के बडे लाभ हैं। मुखपाउडर अथवा दन्तक्रीम बनाने सदृश विशिष्ट प्रयोजनों के लिए इसकी विशिष्ट श्रेणियाँ उत्पन्न करना रासायनिक रीतियों द्वारा ही सभव हुआ है।

चीनी मिट्टी अथवा केयोलीन भी मुखपाउडरों का एक महत्त्वपूर्ण सघटक है क्योंकि इसमें आर्द्रता-अवशोषण की उत्तम शक्ति तथा आवसा-अवरोधी (ग्रीज रेज़िस्टेण्ट) गुण होता है। इस सघटकविशेष की उन्नति करने में भी कान्तिद्रव्य-प्रौद्योगिकी को रसायन विज्ञान की अच्छी सहायता प्राप्त हुई है। अब विद्युत-विधा से बड़ी सूक्ष्म और

[1] Grease paints

शोधित केओलीन प्राप्त होती है, जो कान्तिद्रव्यों के निर्माण के लिए विशेष उपयोगी होती है।

पहले स्त्रियों की यह शिकायत थी कि मुखपाउडर चमडी पर बेतरह चिपक जाते थे और बडी कठिनाई से छुडाये जा सकते थे। रसायनज्ञो ने मुखपाउडरों में मैग्नीसियम स्टियरेट जैसे जल-अविलेय साबुन मिलाकर इस कठिनाई का बडा उत्तम निवारण किया है। मुखपाउडर पहले प्राय श्वेत हुआ करते थे क्योंकि रगीन पदार्थों की उपलब्धि बडी सीमित थी। कोचिनियल कीटो के रगीन पदार्थ मे प्राप्त कारमीन एक रग-द्रव्य (पिग्मेण्ट) था और सिंदूर दूसरा जिसमें से सिंदूर तो विषाक्त धातु पारद अर्थात् मर्करी का ही सल्फाइड होता है। यद्यपि कारमीन निरापद अवश्य होती है लेकिन बहुत महँगी होती है और सरलता से काम में भी नही लायी जा सकती है। इसके लगाने से एक अप्राकृतिक नीलिमा लिये ललाई उत्पन्न होती है।

रसायनशास्त्र की प्रगति से नये नये रजको और रग-द्रव्यों का विकास हुआ है जिनके प्रयोग मे किसी प्रकार का प्राकृतिक अथवा आलकारिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। यद्यपि सामान्यत तो ये रजक पदार्थ निरापद होते है फिर भी कुछ की विषाक्तता का परीक्षण आवश्यक होता है। इयोसीन अर्थात् ब्रोमिनीयित फ्लुओरेसीन एक विशेष रोचक रजक है क्योकि लिपस्टिको की अलोप्यता (इनडेलिबिलिटी) इसी रजक के कारण होती है। इस काम के लिए प्रयुक्त होनेवाली इयोसीन एक स्वतत्र अम्ल होती है न कि उसका सोडियम लवण जो अधिक प्रचलित होता है। साधारणतया इयोसीन काफी निरापद मानी जाती है।

कान्तिद्रव्यों के रूप रग को सुधारने की दिशा में भी विशेष प्रगति हुई है। तेल और जल को मिलाकर दुग्धीय लोशनों और विविध प्रकार के ट्वालेट क्रीमो को तैयार करना इस समस्या का बडा ही महत्त्वपूर्ण हल है। तेल और जल के ऐसे स्थायी मिश्रणों को 'पायस' अर्थात् इमल्शन कहते है। पायसो के दो प्रकार होते है—एक में तेल अथवा वसा अथवा अन्य तैलीय पदार्थ छोटी-छोटी कणिकाओ मे विभक्त होकर जलीय माध्यम मे विक्षेपित हो जाते है तथा दूसरे प्रकार के पायस में जल, सभवत विलेय पदार्थो सहित, उसी प्रकार तैलीय माध्यम मे विक्षेपित होता है। विक्षेपित कणो के परस्पर सम्मिलन को रोकना अर्थात् पायस को स्थायी बनाना भी रसायनज्ञो की प्रतिभा का एक ज्वलन्त उदाहरण है। बाह्य माध्यम की श्यानता (विस्कासिटी) एक कारण है लेकिन इस सफलता का रहस्य तो पायसन-कारको का प्रयोग है। पायसनकारक विशेष प्रकार के लम्बे रासायनिक यौगिक होते है, जिनका एक सिरा तेलविलेय होता है और दूसरा जलविलेय एव इस उभय-विलेयता के कारण इनके अणु

दोनो द्रवो के बीच में स्थित रहते है तथा विक्षेपित कणो को एक दूसरे मे मिलने से रोकते है।

पायसन-कारको के उपर्युक्त विशिष्ट गुण उनके अणुओ की ध्रुवीयता (पोलैरिटी) के कारण होते है। इनके अणुओ का एक सिरा ध्रुवीय और दूसरा अध्रुवीय होता है। ध्रुवीय सिरा जल की ओर तथा अध्रुवीय सिरा तैलीय पदार्थ की ओर आकृष्ट होता है। पिछले दिनो में ऐसे यौगिको की सख्या में काफी वृद्धि हुई है। इन्ही की सहायता से विभिन्न गुणोंवाले सुन्दर और स्थायी क्रीम बनाये जा सके है। आजकल आवसीय (ग्रीज़ी) अथवा अनावसीय (नान-ग्रीज़ी), तरल अथवा अर्ध-ठोस अथवा किसी भी रग रूप एव गाढता का क्रीम तैयार कर लेना सभव है। इनमें जलविलेय अथवा तैलीय प्रकृति के किसी पदार्थ का समावेश भी किया जा सकता है।

विगत काल में ध्रुवीय पदार्थो में केवल साबुन ही उपलब्ध था और पायस बनाने के लिए बहुधा उसी का प्रयोग होता था। परन्तु साबुनो का क्षारीय गुण तथा उनमे बने पायसो का अम्लसह न होना वस्तुत उनके अवगुण है। त्वचा पर क्षारीय क्रीम लगाना हानिकर होता है क्योकि त्वचा की सतह स्वभावत अम्ल होती है। आजकल के नये पायसन-कारको की सहायता से ऐसे क्रीम बनाये जा सकते है जो या तो पूर्णतया उदासीन हो अथवा जिनमें त्वचामतह के समान अम्लता हो।

धूप सेवन की प्रथा के बढते हुए प्रचलन से रसायनविज्ञान के सम्मुख एक और विशेष समस्या आ खडी हुई है और वह यह है कि धूप सेवन करनेवाले लोग सूर्यदाह (सन बर्न) से कैसे बच सकते है ?

परानीललोहित (अल्ट्रा वायलेट) प्रकाश की विशिष्ट किरणो द्वारा ही सूर्यदाह होता है और अब ऐसे पदार्थ ज्ञात हो गये है जो इन किरणो को अवशोषित करके इन्हें भिन्न तरगदैर्घ्य (वेव लेंग्थ) वाले प्रकाश में परिवर्तित कर देते है। क्वीनीन बाइसल्फेट एक ऐसा पदार्थ है जो जलीय विलयन में नीली प्रदीप्ति (फ्लुओरेसेन्स) उत्पन्न करता है। परन्तु समस्या यह है कि क्वीनीन सल्फेट यद्यपि सूर्यदाह का निवारण कुछ हद तक तो अवश्य कर सकता है किन्तु इस काम के लिए यह कोई उत्तम पदार्थ नही है। मेन्थिल सैलिसिलेट तथा मेन्थिल अम्बेलिफेरोन जैसे अनेक दूसरे पदार्थ इसके लिए उपयुक्त है तथा एतदर्थ उनकी परीक्षा भी की गयी है। इस काम के लिए आदर्श पदार्थ में दो गुण होने आवश्यक है—एक तो धूप सेवन करनेवालो का सूर्यदाह से पूरी तरह रक्षा करने का गुण और दूसरा आवश्यक मात्रा में परानीललोहित किरणो के परागमन का गुण, जिससे चमडी कमायी जा सके।

गत वर्षों में केशपदार्थो एवं त्वचा को सुन्दर बनानेवाली वस्तुओं का बड़ा विकास हुआ है। उदाहरण के लिए केशश्रीमों के निबन्ध एवं गुणों में काफी परिवर्तन हुआ है तथा शापुओं में साबुन के स्थान पर सोडियम लारिल सल्फेट जैसे साबुनरहित अपक्षालक का प्रयोग होने लगा है। ऐसे साबनरहित पदार्थ अम्लता की उपस्थिति में भी स्थायी होते हैं तथा उनके कारण केशों पर चूल भी नहीं जमता। ऐसे बहुत से अन्य पदार्थ भी तैयार किये गये हैं जो केशों को लहरियादार बनाने के लिए इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं, आर्द्र किये जाने पर जिनकी ऊष्माक्षेपक (एक्सोथर्मिक) क्रिया होती है और जिनके प्रयोग से केशों को लहरियादार बनानेवाले यंत्रों की आवश्यकता नहीं होती।

केशरजकों अर्थात् खेज़ाबों की भी अपनी कहानी और अपना क्षेत्र है। यद्यपि यह मानी हुई बात है कि सर्वगुणसम्पन्न ऐसे केशरजक बनाने में अभी रसायनविज्ञान सफल नहीं हो पाया है, जिससे केश-प्रसाधक (हेयर ड्रेसर) केशों को हानि पहुँचाये बिना उन पर वांछित रग चढ़ा सकें तथा केशों को लहरियादार बनाने की विधा में उन्हें ऊष्मसह बना सकें। केशरजकों के लिए यह भी एक आवश्यक गुण है कि वे उपभोक्ताओं में एलर्जी न उत्पन्न करें तथा एलर्जी के लिए प्रारम्भिक परीक्षा किये बगैर भी उनका प्रयोग किया जा सके। फिर भी रसायनज्ञों के ही प्रयास से मेंहदी अर्थात् हेना के, जो प्राचीनतम केशरजकों में से एक है, मुख्य रगतत्त्व का एकलन एवं अध्ययन हुआ है। रासायनिकतया यह तत्त्व २-हाइड्राक्सी-१ ४-नैप्थाक्वीनोन है, इसके गुणों का भी अनुशीलन किया गया है। कैमोमाइल भी, जिसमें १, ३ ४'-ट्राइहाइड्राक्सी-फ्लैवोन होता है, इस क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हुआ है। फिनालिक पदार्थ मिश्रित अथवा रहित प-फिनिलीडायमीन जैसे सश्लिष्ट रजकों की केशरजनक्रिया का भी अध्ययन किया गया है तथा अनुरूप लोगों में इनके प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले भयकर परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया है। यदि इस वर्ग के रजकों में यह दोष न होता तो ये अवश्य ही आदर्श रजक होते।

ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है जिनकी त्वचा पर सामान्यतः निरापद पदार्थ लगाने पर भी भीषण प्रतिक्रिया होती है, इसी को 'एलर्जी' कहते हैं। और आज कान्ति-द्रव्य उद्योग के लिए एलर्जी एक विकटतम समस्या है।

वर्तमान समय में कान्तिद्रव्य उद्योग इग्लैण्ड के महत्त्वपूर्ण उद्योगों में गिना जाता है और इसमें सदेह नहीं कि इसकी यह स्थिति रसायनविज्ञान के आविष्कारों के कलापूर्ण प्रयोग के कारण है। इन्हीं आविष्कारों के बल पर यह आगे भी उन्नति करेगा।

ग्रन्थसूची

CERBELAUD, RENE : *Formulaire de Parfumerie*. Cerbelaud.

CHILSON, FRANCIS : *Modern Cosmetics*. Drug & Cosmetic Industry.

GOODMAN, HERMAN : *Cosmetic Dermatology*. McGraw Hill Book Co, Inc.

GOODMAN, HERMAN : *Principles of Professional Beauty Culture*. McGraw Hill Book Co, Inc.

LILLIE, CHARLES *The British Perfumer* Edited by Colin Mackenzie.

MCDONOUGH, E G *Truth about Cosmetics* Drug and Cosmetic Industry.

NAVARRE, MAISON G DE. *The Chemistry and Manufacture of Cosmetics*. Robbins Publishing Co., Inc.

POUCHER, W A : *Perfumes, Cosmetics and Soaps* Chapman & Hall, Ltd

REDGROVE, H. S *The Cream of Beauty*. W Heinemann (Medical Books), Ltd

REDGROVE, H. S, AND FOAN, G. A. *Paint, Powder and Patches*. W. Heinemann (Medical Books), Ltd

REDGROVE, H S, AND FOAN, G A : *Hair-Dyes and Hair-Dyeing : Chemistry and Technique* Revised by H S Redgrove and J. Bari-Woolls W. Heinemann (Medical Books), Ltd

WINTER, FRED *Handbuch der gesamten Parfumerie und Kosmetik*. Julius Springer

अध्याय ५

साबुन और धुलाई उद्योग

साबुन, मोम तथा ग्लिसरीन

डब्लू० एच० सिडमन्स, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी० द्वारा
पुनरावृत्त एव विस्तारित

साबुन तथा मोमबत्ती बनाने के उद्योग तेल-उद्योग की उपशाखाएँ है। यद्यपि उनका प्रारम्भ प्राचीन समय में हुआ था, लेकिन पहले उनके निर्माण की प्रक्रियाओं का ठीक-ठीक ज्ञान नही था। १८१३ ई० में चेवरूल ने तेल और वसाओं के निबन्ध[1] सबन्धी अपने महत्त्वपूर्ण अन्वेषणो के परिणामो को प्रकाशित कराया। इसी ज्ञान के आधार पर आज साबुन और मोमबत्तियो के उत्पादन पर रासायनिक नियत्रण होता है। एक समय था जब ग्लिसरीन-जैसी महत्वपूर्ण वस्तु एक क्षेप्य पदार्थ के रूप में नदी नालो में बहा दी जाती थी, परन्तु अब तो उसकी एक बूद भी व्यर्थ नही जाने पाता क्योकि विस्फोटक, कान्तिद्रव्य, औषध, सश्लिष्ट रेज़ीन तथा अन्य पदार्थो के बनाने एव उत्पादन में ग्लिसरीन एक परमावश्यक वस्तु है, जिसकी हानि का रोकना भी वैज्ञानिक सफलता का उत्कृष्ट दृष्टान्त है। यह भी उल्लेखनीय बात है कि ग्लिसरीन मिलाने पर पानी का वाष्पन तथा हिमीभवन काफी सीमा तक रुक जाता है। गैस मापको तथा मोटरगाडियो के विकिरको (रैडियेटर्स) की यात्रिक व्यवस्था मे ग्लिसरीन के उपर्युक्त गुण बडे उपयोगी होते हैं, अत उसका प्रयोग होता है।

साबुन तथा मोमबत्ती बनाने के लिए पशु तथा वनस्पति तेलो का प्रयोग होता है। अब इन दोनो उद्योगो मे हाइड्रोजनित तेलो का भी प्रयोग किया जाने लगा है। हाइड्रोजनन की रीति से ह्वेल के-जैसे द्रव तेलो को चर्बी-जैसी ठोस वसाओ मे परिवर्तित किया जा सकता है। जब चर्बी, ताल तेल, नारियल तेल, ओलिव तेल-जैसी वसा अथवा

[1] Composition

तेल बडे बडे कडाहो में दह-क्षार[1] के साथ उबाले जाते है तब उनका विच्छेदन हो जाता है और वसीय अम्लो के क्षारीय लवण अर्थात् साबुन तथा ग्लिसरीन प्राप्त होती है। अतिरिक्त क्षार तथा अधिकाश ग्लिसरीन को नमक डालकर अलग किया जाता है। नमक के सूखे केलास अथवा उसका जलीय विलयन इस्तेमाल किया जाता है। नमक डालने से साबुन विलयन से पृथक् होकर जमे हुए कणात्मक पुञ्ज के रूप में ऊपर उतरा जाता है। रात भर इसी प्रकार रहने देने के बाद ग्लिसरीन सहित लवण जल को अलग कर लिया जाता है तथा साबुन में भाप प्रवेश कराकर अथवा गरम जल डालकर उसे एक समाग लेपी के रूप में बना लिया जाता है। इस लेपी को ठढा होने तथा जमने के लिए लकडी के बने विशेष प्रकार के बक्सो में रखा जाता है, अथवा पानी से ठढे किये यत्रो में डाल कर तुरन्त ठढा कर लिया जाता है। अगर नहाने तथा हाथ मुँह धोनेवा ग साबुन बनाना हो तो इसी लेपी को अन्दर से ठढे किये हुए परिभ्रामी रम्भो[2] पर डालकर पतले-पतले स्तारो के रूप में जमाया जाता है। रम्भो पर लगी छुरियाँ इन ठोस स्तारो[3] को काटकर उनके फीते बना देते है जो सूखने के लिए तुरन्त गरम हवावाले शोपक कक्षो में पहुँचा दिये जाते है।

कठोर साबुनो के यौगिको में २६% पानी, ७% सोडा तथा ६६% वसीय अम्ल होते है, पीले साबुनो में गधराल (रोजीन) की भी थोडी मात्रा होती है। मृदु साबुनो के बनाने के लिए ह्वेल, सील या अल्सी के-जैसे शोषण तेलो (ड्राइग आयल्स) अथवा मकई , या बिनौले के जैसे अर्ध-शोषण तेलो को पोटाश और सोडा के साथ उबाला जाता है। मृदु साबुन के निर्माण में लवणन त्रिया नही की जाती जिसके फलस्वरूप साबुनीकरण प्रक्रिया में उत्पन्न ग्लिसरीन उसी में रह जाती है।

धोने-धाने के लिए बने सस्ते साबुनो में स्वतन्त्र दह क्षार भी होता है, लेकिन ऊनी अथवा रेशमी कपडा धोने के लिए क्षाररहित साबुन ही प्रयुक्त हो सकता है। उसमें गधराल अथवा असाबुनीकरणीय पदार्थ भी नही होने चाहिए।

नहानेवाले साबुन प्राय चर्बी या ताल तेल और नारियल तेल के मिश्रण से बनते है, इस मिश्रण में २% गधराल भी मिला रहता है। अशत सुखाये साबुन स्तारो के फीते बनाकर उसमें सुगन्ध तथा रग मिलाये जाते है तथा मिल में एक बार फिर अच्छी तरह मिलाकर ठप्पो से साबुन की टिकियाँ बना ली जाती है। इन साबुनो में केवल १०% जल होता है तथा ७०-८०% वसीय अम्ल। क्षौर साबुनो में

[1] Caustic alkali [2] Revolving cylinders [3] Sheets चद्दर

तनिक भी स्वतंत्र क्षार नही होना चाहिए क्योंकि यह त्वचा के लिए हानिकारी होता है। क्षौर साबुन से प्रचुर मात्रा में स्थायी फेन उठना चाहिए। स्टियरीन सदृश कठोर वसा की थोड़ी मात्रा प्रयोग करके तथा सोडियम और पोटासियम हाइड्राक्साइड द्वारा साबुनीकरण करके उपर्युक्त गुण उत्पन्न किया जाता है।

आजकल साबुन के चूर्ण अथवा चिप्पियाँ भी बहुत लोकोपयोगी हो गयी है क्योंकि वे बड़ी सरलता से पानी मे घुल जाती हैं। साबुन को जल-शीतित लोहे के बेलनों के बीच दबाकर चिप्पियाँ बनायी जाती है। इन चिप्पियों की मोटाई ० ००४५ इंच अथवा उससे भी कम होती है। चूर्ण साबुन मे साबुन के साथ सोडियम कार्बोनेट, सिलिकेट अथवा फास्फेट-जैसे क्षारीय लवण मिले रहते है तथा आजकल ऐसा साबुन शीकरन शोषण रीति से बनाया जाता है। इसके लिए साबुन मिश्रण के सूक्ष्म बिन्दुओं को गरम हवा की धारा में शीकरित किया जाता है। इस क्रिया से वे बिन्दु सद्य सूख कर गोले-गोले खोखले कणो का रूप धारण कर लेते है जिनकी भित्तियों की मोटाई लगभग ० ०५ मिलीमीटर होती हैं।

कभी-कभी वसाओं और तेलो का विच्छेदन करके वसीय अम्ल और ग्लिसरीन प्राप्त कर ली जाती है और फिर साबुन बनाने के लिए इन वसीय अम्लो का प्रयोग होता है। इस विच्छेदन की एक रीति मे वसा को सल्फ्युरिक अम्ल मे उपचारित करके मिश्रण का भापासवन किया जाता है। दूसरी विधा मे वसा को जल और तनिक मात्रा मे चूना, मैंग्नेसिया या यशद आक्साइड के साथ आटोक्लेव मे उच्च दाब पर गरम किया जाता है। तीसरी विधा 'ट्वीचेल विधा' के नाम से प्रसिद्ध है।

ट्वीचेल ने यह अनुभव किया कि साधारण ताप पर बेंज़ीन (अथवा अन्य ऐरोमैटिक यौगिक), ओलिक अम्ल और सल्फ्युरिक अम्ल की परस्पर प्रतिक्रिया से प्राप्त तैलीय पदार्थ में वसाओं के विच्छेदन की क्षमता होती है और इस विच्छेदन से वसीय अम्ल तथा ग्लिसरीन उत्पन्न होती है। इस पदार्थ को 'ट्वीचेल प्रतिकर्मक'[1] कहते है और प्रतिक्रिया के लिए इसकी १% अथवा उससे भी कम मात्रा लगती है। यह क्रिया जल के क्वथनांक ताप पर बड़ी सरलता से सम्पन्न होती है, और अवशिष्ट जलीय द्रव को चूने से उदासीन करके तथा उससे उत्पन्न कैल्सियम सल्फेट को निकालने के बाद उसके उद्वाष्पन मात्र से ही ग्लिसरीन की अच्छी मात्रा प्राप्त होती है। उपर्युक्त किसी रीति से प्राप्त वसीय अम्लो को केलासनोपरान्त थैलो मे भर कर द्रवचालित दाब

[1] Reagent

मे दवाया जाता है जिससे ओलिइन-जैसे अधिक द्रव निचुड़ कर पृथक् हो जाते है तथा स्टियरीन[1] सदृश ठोस अम्ल बच जाते है।

चर्बी में से वाणिज्यिक स्टियरीन अथवा स्टियरिक अम्ल प्राप्त होता है, परन्तु यथार्थत यह स्टियरिक एव पामिटिक अम्लो का मिश्रण होता है जिसमें थोडी मात्रा में ओलिइक अम्ल भी रहता है। यह ५४°-५५° से० पर गलता है जब कि शुद्ध स्टियरिक अम्ल का गलनाक ६९° से० होता है। वसीय अम्लो का साबुनीकरण[2] सोडियम या पोटासियम कार्बोनेट मे भी हो जाता है, लेकिन ग्लिसराइडो के साबुनीकरण के लिए यदि उच्च दाब का प्रयोग न किया जाय तो सोडियम अथवा पोटासियम हाइड्रावसाइड की ही आवश्यकता होती है।

मोमबत्तियाँ—पुरानी रीति मे बत्ती को गलायी हुई चर्बी में डुबो-डुबोकर बनायी गयी मोमवत्ती के जलने पर एक तीखी गध निकलती थी। चर्बी स्थित ग्लिसरीन के विच्छेदन से प्राप्त ऐक्रोलीन ही इस गध का कारण थी। पिछली शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में मोमबत्ती निर्माण में केवल वसीय अम्लो के प्रयोग से काफी उन्नति हुई, क्योकि सल्फ्युरिक अम्ल अथवा आटोक्लेव विधा से जलायन (हाइड्रालोसिस) करके ग्लिसरीन अलग कर दी जाती थी। उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्काटिश शेल तेल तथा वाद मे पेट्रोलियम से बना पैराफीन मोम वसीय अम्लो के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा और इसका प्रयोग यहाँ तक बढा कि आजकल धार्मिक रीति रिवाजो अथवा अवमरो पर कीमती मोमबत्तियो को छोडकर बाकी सबमे पैराफीन मोम ही इस्तेमाल होने लगा है। साधारणतया इसका गलनाक बढाकर तनिक और दृढ बनाने के लिए इसमें ५-१५% स्टियरीन मिलायी जाती है। पैराफीन मोम तथा स्टियरीन के मिश्रण को गला कर साँचो में बत्ती के चारो ओर डाल दिया जाता है। ये साँचे टिन के और कभी कभी काँच के बने होते है तथा लकडी के ऐसे चौखटे में खडे कर दिये जाते है, जिसका ऊपरी भाग एक गर्त (ट्रफ) का सा होता है। साँचो में बत्ती लगा कर उसमें गलाया हुआ मोम डाल दिया जाता है तथा उन्हें पानी से ठडा करके जमाने के वाद मोमबत्तियाँ तैयार हो जाती हैं। पहले गिरजाघरो में प्रयुक्त होने वाली बत्तियाँ मधुमक्खियो वाले मोम से ही बनती थी लेकिन अब उनमें अन्य मोमो के मिलाने की भी अनुज्ञा दे दी गयी है। विभिन्न श्रेणी की बत्तियो में क्रमश २५, ६५, तथा ७५ प्रतिशत मधुमक्खी का मोम होता है। यार्कशायर के ऊन

[1] Stearine [2] Saponification

धावनों से प्राप्त स्टियरीन सरीखी क्षेप्य वसाएँ भी सस्ती मोमबत्ती बनाने के काम आती है।

मोमबत्ती बनाने के अतिरिक्त मोम के और भी औद्योगिक उपयोग हैं। उदाहरण के लिए विविध प्रकार के पालिशो, भैषजिक पदार्थों तथा कान्ति-द्रव्यों के निर्माण में भी मोम का विशेष महत्त्व होता है। मधुमक्खी मोम, ऊन मोम और स्परमेसेटी पुराने समय से चले आ रहे पशु-मोम हैं और अब तो वनस्पति मोम भी काफी सख्या में प्राप्य हैं, जिनमे कार्नोबा, कैण्डेलिला, एस्पार्टो, शर्करा तथा शल्क-लाख मोम उल्लेखनीय हैं। हाइड्रोजनन विधा के प्रयोग से वसीय अम्लो से सवादी[1] वसीय ऐल्कोहाल उत्पन्न करना सभव हुआ है। इनमे से कुछ वसीय ऐल्कोहाल मोम-जैसे ठोस पदार्थ होते है जिनका प्रयोग पालिशों एव कान्ति-द्रव्यो मे तथा पायसन कारको के रूप में वसीय अम्ल मिलाकर अथवा बे-मिलाये किया जाता है। इन वसीय ऐल्कोहालो का सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा उपचार करने से बडे उपयोगी अपक्षालक[2] उत्पन्न किये जा सके है जिनका आजकल साबुन के स्थान पर अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है।

ग्लिसरीन—ग्लिसरीन प्राप्त करने के दो मुख्य स्रोत हैं (१) साबुन निर्माताओ का क्षेप्य पल्पूलन[3] तथा (२) उपर्युक्त रीतियों से किये गये वसा विच्छेदन के बाद वसीय अम्लो के पृथक्करण से प्राप्त "मीठा जल" (स्वीट वाटर)। दोनों ही द्रवों को उद्वाष्पित करके सांद्रित किया जाता है जिससे उनमें ग्लिसरीन की मात्रा ८०-९० प्रतिशत हो जाय। अन्त मे अतितप्त भाप से आसवन करके रासायनिकत विशुद्ध ग्लिसरीन प्राप्त की जाती है।

पेट्रोलियम भंजन (क्रैकिंग) के उपजात प्रोपिलीन से अथवा पोटाशियम परमैंगनेट द्वारा एलिल ऐल्कोहाल के आक्सीकरण से अब ग्लिसरीन का सश्लेषण भी सभव हो गया है। सोडियम कार्बोनेट और अमोनियम क्लोराइड सदृश कुछ लवणो की उपस्थिति में शर्करा अथवा ग्लूकोज विलयन के किण्वन से भी ग्लिसरीन का काफी बडे पैमाने पर उत्पादन किया गया है।

[देखो पृ० ११० पर]

[1] Corresponding [2] Detergents [3] Waste lyes

है। आज की रीतियाँ न केवल बडे पैमाने पर कपडो की धुलाई के लिए उपयुक्त है, प्रत्युत कपडो की प्रकृति के अनुकूल भी उनका समायोजन किया गया है। कपडा सूती, ऊनी, रेशमी अथवा रासायनिक तन्तुओं का बना है, वह रजित, विरंजित अथवा प्राकृतिक रग का है, इत्यादि सभी परिस्थितियो के अनुकूल धुलाई की उचित रीतियाँ निश्चित की गयी है।

थोडे समय पूर्व धुलाई-घरो में प्रयुक्त होनेवाले अपक्षालको (डिटरजेण्ट्स) के दो मुख्य प्रकार थे —

(१) साबुन (सोडा सहित अथवा सोडा रहित)।

(२) सोडियम कार्बोनेट (१०% सोडियम सिलिकेट सहित)।

सामान्यत कपडा धोने के लिए सहज प्राप्य कठोर जल ही काम मे लाया जाता है, केवल ऊनी सामानो के लिए कही-कही वर्षा का पानी अथवा आसुत जल प्रयुक्त होता था। लेकिन कठोर जल द्वारा साबुन की रीति से धुलाई करने मे वस्त्रो मे कैल्सियम तथा मैग्नीसियम साबुनो के जमा हो जाने मे वे भारी हो जाते थे तथा जल के लिए अभेद्य और कभी-कभी सफेद कपडे खाकी रग के हो जाते थे, क्योकि अवक्षेपित कैल्सियम साबुन के साथ मैल के सूक्ष्म कण भी कपडो में बैठ जाते थे, इसीलिए कठोर जल से धोने के लिए साबुन रहित सिलिकेयित क्षार ही प्रयुक्त होते थे। लेकिन इसके प्रयोग मे अविलेय साबुन तो जरूर नही बन पाते थे, लेकिन इनके स्थान पर कपडो मे कैल्सियम और मैग्नीसियम सिलिकेट जमा हो जाते। हाँ, ये सिलिकेट केलासीय एव प्रकृत्या श्वेत होने के कारण कपडो में गन्दा रग नही उत्पन्न करते थे।

१९२० ई० तक अधिकाशत वही पुरानी रूढिवादी रीतियाँ ही प्रचलित थी, लेकिन उसी साल धुलाई उद्योग के लिए एक 'रिसर्च असोसियेशन' की स्थापना हुई जिससे आगे चलकर धीरे-धीरे वैज्ञानिक रीतियाँ भी अपनायी जाने लगी। रसायनज्ञो ने सर्वप्रथम धुले कपडो की श्वेतता का मानक निर्धारित किया तथा कठोर जल के प्रयोग से होनेवाली महती हानियो की ओर धुलाई उद्योगवालो का ध्यान आकृष्ट करते हुए चूना-सोडा रीति अथवा पीठ-विनिमय (बेस ऐक्सचेञ्ज) रीति से मृदु किये हुए जल प्रयोग करने की सलाह दी। तत्पश्चात् उन्होंने धुलाई के लिए ऐसी नियन्त्रित विधाओ का अनुशीलन किया जिनसे कपडे कम समय मे उत्तम ढग से धुल सके और साथ ही वस्त्रो की किसी प्रकार से हानि भी न हो।

धुलाई व्यापार में हानिकर रसद्रव्यो के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा गाढे धब्बो को छुडाने के लिए सुनिश्चित रीतियाँ निर्धारित कर दी गयी। धुलाई विधाओ का समय, ताप तथा अपक्षालक का सान्द्रण-जैसी परिस्थितियो के निश्चयन

पर काफी जोर दिया जाने लगा। इस उद्योग के तत्कालीन विकास में प्राय. व्यावहारिक अनुभवो तथा साबुन विलयनो के गुणो एव सरचना सबन्धी प्राप्य वैज्ञानिक आकडों का ही विशेष उपयोग किया गया था। उस समय अपक्षालको की क्रिया के बारे में कुछ विशेष ज्ञान न था. अतएव इस दिशा में किसी वैज्ञानिक प्रगति के लिए यह आवश्यक था कि अनुसन्धानो द्वारा अपक्षालिता (डिटरजेन्सी) के आधारभूत सिद्धान्तो को ठीक-ठीक समझा जाय। अपक्षालक यानी डिटरजेण्ट वह पदार्थ है जो गन्दी वस्तुओं के मैल काटने अर्थात् उन्हे स्वच्छ और निर्मल करने में सहायक हो। वैसे तो अपक्षालक कई प्रकार के होते है और उनका निबन्ध भी भिन्न-भिन्न होता है, परन्तु धुलाई-उद्योग में विशेष रूप से वही अपक्षालक प्रयुक्त होते है जो जल-विलेय हो तथा जिनमें वस्त्रो की मैल काटने तथा उसे स्थायी रूप से जल में विस्तृत करने की क्षमता हो। इसलिए गन्दे वस्त्रो के स्वच्छीकरण की अपक्षालन क्रिया[1] के निम्नलिखित पद (स्टेज) विचारणीय हैं—

(क) वस्त्रो का आर्द्रण तथा उनमें जल का प्रवेशन जिससे मैल और अपक्षालक द्रव का निकट सम्पर्क हो सके;

(ख) अपक्षालक द्रव द्वारा वस्त्र तन्तुओ के मैल का विस्थापन,

(ग) विस्थापित मल का सूक्ष्म कणो में विभाजित होकर स्थायी रूप से आलम्बित होना, तथा

(घ) वस्त्रो पर मैल को पुन जमने दिये बिना मैले द्रव का निरसन।

उपर्युक्त क्रियाओ की सफलता उस बल (फोर्स) पर निर्भर करती है, जो अपक्षालक विलयन में मैले वस्त्रो को डुबोने पर उत्पन्न हुई विविध अन्तः सीमाओं (इण्टर फेस) तथा सीमान्तों (बाउण्ड्री) पर काम करता है। गत कुछ वर्षों में रसायनज्ञ उन परिस्थितियों के अन्वेषण में लगे रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त पदो का वैज्ञानिक एव आर्थिक दृष्टि से उत्तम क्रियाकरण हो सके। सान्द्रण, ताप तथा pH जैसी परिवर्ती (वैरीइग) परिस्थितियो में अपक्षालक विलयनो के आचरण का अध्ययन रसायनज्ञो का मूलभूत कार्य था। रसायनज्ञो द्वारा अन्वेपित समस्याओ के प्रारूपिक (टिपिकल) दृष्टान्त के लिए निम्नलिखित विषय उल्लेखनीय हैं—

(१) साबुन विलयनो के pH और उनके जलाशन (हाइड्रोलिसिस) की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि—

[1] Detergent action

चित्र–१
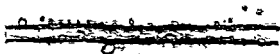
चित्र–२

चित्र १—ऊन तन्तु जिसपर तेल की परत चढ़ी हुई है तथा जो पानी में डुबाया गया है।

चित्र २—वही तन्तु जो अब अच्छे अपक्षालक विलेय में डुबाया गया है। तेल लघु बिन्दुओं के रूप में जम गया है जो आसानी से दूर किये जा सकते हैं।

(क) समान अवस्थाओ मे अनुमाप्य (टाइटर) की वृद्धि से जलाशन भी अधिक होता है ;

(ख) एक ही लम्बाई की शृखला वाले साबुनो का जलाशन उनके अणुओं की असतृप्ति (अनसैचुरेशन) पर निर्भर होता है, अणु जितना अधिक असतृप्त होगा जलाशन उतना ही कम होगा ,

(ग) ताप की वृद्धि मे जलाशन तीव्रतर होता है; तथा

(घ) कुछ सान्द्रणो पर अम्ल साबुन बन जाते हैं।

(२) तलतनाव तथा अन्त सीमीय तनाव पर pH के प्रभाव का अध्ययन करने से यह ज्ञात हुआ कि साबुन-विलयन में अगर क्षार डाला जाय तो उसका तलतनाव बढ जाता है जब कि तेल के प्रति अन्त सीमीय तनाव अत्यधिक घट जाता है। साबुन विलयन का pH मान बढाने से उसकी जलाशन मात्रा घटती है अर्थात् स्वतत्र अम्ल अथवा अम्ल-साबुन बहुत कम उत्पन्न होता है। परन्तु pH मान की वृद्धि से अन्त सीमीय तनाव को कम करने में सहायता मिलती है, इसका अर्थ यह हुआ कि अन्त सीमीय तनाव कम करने में स्वतत्र अम्ल अथवा अम्ल साबुन का कोई विशेष प्रयोजन नही होता। वस्तुत सरल एव असमूहित (अन एग्रिगेटेड) साबुन-अणुओ से ही अन्त सीमीय तनाव कम होता है। साबुन-विलयनो का pH मान कम करने से उनका तलतनाव कम होता है, जिसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि इस अवस्था में अम्ल-साबुन अथवा स्वतत्र अम्ल 'तल सक्रिय जाति' है। सल्फेटेड वसीय ऐल्कोहाल वर्ग के नये अपक्षालक सबन्धी प्रकाशित आकडो से इस विचार की पुष्टि होती हैं।

(३) बहुत से सुज्ञात क्षारो के विलयनो की आलम्बनशक्ति का भी अन्वेषण किया गया है और यह मालूम हुआ है कि सिलिकेट आयनो द्वारा रक्षक प्रभाव मे विशेष वृद्धि होती है।

इस दिशा में किये गये बहुसख्यक अनुसन्धानो को गिनाना भी यहाँ सभव नही है लेकिन यह तो सर्वविदित है कि रसायनज्ञो ने अपनी प्रयोगशाला मे ऐसे रोचक एवं महत्वपूर्ण तथ्यो का पता लगाया है, धुलाई व्यवसाय में जिनका प्रयोग करके धुलाई विधाओ में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी गयी है। पुरानी विधाएँ अधिकतर अमितव्ययी थी तथा उनमें अपक्षालको का सर्वोत्तम उपयोग नही होता था, और न वे सर्वथा उन तन्तुओ के ही अनुकूल थी, जिनसे वस्त्र बने होते थे। ऐसी रूढिवादी विधाओ के स्थान पर यथार्थत नियत्रित रीतियाँ अपनाय गय जिनमें वस्त्रो के तन्तु-विशेष के अनुकूल धावनसूत्र निर्धारित किये गये। इन रीतियो का मितव्ययी ढग

से प्रयोग करके वस्त्रों को कुशलतापूर्वक स्वच्छ किया जा सकता है, जिससे अब वस्त्रों की उपयोगी अवधि भी बढ़ गयी है।

ग्रंथसूची

ADAM, N. K. *The Physics and Chemistry of Surfaces*. Clarendon Press, Oxford

DEFAY, R · *Les Extremes de Tension Superficielle.* (Brussels).

HARVEY, A *Laundry Chemistry* Crosby Lockwood & Son. Technical Press, Ltd

HOLDEN, J T., AND VOWLER, J N. : *The Technology of Washing*. British Launderers' Research Association.

INTERNATIONAL SOCIETY OF LEATHER TRADES' CHEMISTS (SYMPOSIUM) . *Wetting and Detergency*. A Harvey

JACKMAN, D N *The Chemistry of Laundry Materials*. Longmans, Green & Co , Ltd

JACKMAN, A , AND ROGERS, B · *The Principles of Domestic and Institutional Laundry Work* Edward Arnold & Co.

MADSEN, T. . *Studies in the Detergent Action and Surface Activity of Soap Solutions*. (Copenhagen).

PARKER, R G *The Control of Laundry Operations British Launderers'* Research Association

POWNEY, J *et al* *Properties of Detergent Solutions*. *Parts I-X* Trans. Faraday Society 1935-40

RIDEAL, E K *An Introduction to Surface Chemistry*. Cambridge University Press

अध्याय ६

रोगाणुनाशक, प्रतिपूयिक एवं परिरक्षी, कीटनाशक, धूमन

रोगाणुनाशक, प्रतिपूयिक एव परिरक्षी

टामस मैक्लाक्लन, डी० सी० एम०, ए० सी० जी० एफ०
सी०, एफ० आर० आई० सी०

प्राय लोग यह समझते है कि रोगाणुनाशको का सबन्ध केवल उन स्वाच्छिक तरलो एव चूर्णो से ही है जो शौचागारो तथा कूडाखानो में डाले या छिडके जाते हैं अथवा जिनका लेपन नम जगहो की जमीन पर, ड्राइ रॉट का आक्रमण बचाने के लिए कर दिया जाता है। परन्तु जब हम यह देखते है कि तार के खम्भो, रेल के स्लीपरो, बहुत से गर्तस्तम्भो (पिट-प्राप्स) तथा बाडो के खम्भो पर क्रियोजोट अथवा क्रिसाल लगाना भी आवश्यक है, तब यह समझने में भी कठिनाई न होगी कि रोगाणुनाशको का निर्माण ससार के वर्तमान भारी रसायन-उद्योग का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अग है। निम्न जीवाणुओ द्वारा उत्पन्न रोग एव क्षति के निवारण तथा अणुजैविकीय (माइक्रोबायोलाजिकल) क्रियाओ के नियत्रणसदृश इस विषय की शाखाओ—उपशाखाओ पर विचार करने से यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि सचमुच रासायनिक उद्योग का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभाग है तथा वैज्ञानिको ने इस विषय के अध्ययन और नियत्रण में उतना ही प्रयत्न किया है जितना उन्होने किसी अन्य विषय मे किया।

पुराने समय की परिरक्षण एव रोगाणुनाशन रीतियाँ केवल अनुभव-जन्य थी। इन रीतियों में मदिरा अथवा सिरके का क्विथन, शवो का चिरस्थायीकरण, (ममीफिकेशन) जल को ताँबे के बरतनों में रखना (अल्पगतिक जीवाणुहनन), भेडों के ऊन के शोधनार्थ गधक जलाना इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अनुगामी काल में प्रिन्जल (१७५० ई०) ने यह देखा कि नमक से मास का क्षय (डिके) रुकता या बढता हैं। इस आविष्कार का उपयोग करके डिफो ने कैप्टन सिंगिलटन की साहसिक यात्राओ को सफल बनाने मे योग दिया। मोर्वो (१७७३) ने हाइड्रो क्लोरिक अम्ल गैस द्वारा चिकित्सालयों के धूमन (फ्युमिगेशन) का सुझाव दिया लेकिन फौरक्रॉय (१७९१-९२) ने क्लोरीन के प्रयोग का प्रस्ताव किया और उसके ७-८ साल बाद स्मिथ ने

(१७९९ में) नाइट्स वाष्प के इस्तेमाल पर ज़ोर दिया। और आगे चलकर लिमेयर (१८६०) ने जीवाणुओ के विरुद्ध कार्बोलिक अम्ल की सक्रियता का अनुभव किया तथा बैक्स्टर (१८७५) ने कार्बोलिक अम्ल, पोटासियम परमगनेट, क्लोरीन तथा सल्फर डाइऑक्साइड की सक्रियता की तुलना की और कॉक (१८८१) ने मर्क्युरिक क्लोराइड का प्रयोग प्रारम्भ किया तथा यह भी सकेत किया कि अगर साबुन का उचित ढग से प्रयोग किया जाय तो उसमें विद्यमान प्रतिपूयिक गुण का भी लाभ उठाया जा सकता है।

आजकल भूमिगत-रेलवे जैसे बन्द स्थानो की हवा को ओज़ोन से शुद्ध किया जाता है। लोक जल-प्रदायो तथा तैराई कुण्डो के उपचार के लिए क्लोरीन अथवा क्लोरामीन प्रयुक्त होती है तथा कृषि के नियत्रण के लिए जीवाणुमारो और कीटमारो का उपयोग उसी सीमा तक किया जाता है जिस तक उर्वरको का किया जाता है। वृक्षो और झाड़ियों के लिए चून-गधक विलयम, बोर्डो मिश्रण, बर्गण्डी पाउडर अथवा चेस्टनट पाउडर, मृदु साबुन तथा साबुनसहित पैराफीन के पायस काम में लाये जाते है। सामान्यत. खेती के कामो में फार्माल्डीहाइड गैस या विलयन, कार्बोलिक अम्ल तथा उसके सबद्ध पदार्थ, चूना, लाई, क्लोरीन और मर्क्युरिक क्लोराइड इस्तेमाल किये जाते है। सूखे बीजो का उपचार कार्बनिक मर्करी धूलि से किया जाता है तथा परिवहन किये जाने-वाले मृदु फलो पर सल्फाइटो अथवा उसी प्रकार के अन्य चूर्णों को छिड़क दिया जाता है जिससे वे आसानी से धुल सकें अथवा उनको व्यापित (इम्प्रेग्नेटेड) कागज़ो में लपेट दिया जाता है। निर्यात के लिए खालो का नमक तथा आर्सेनिक से उपचार किया जाता है; मास और मछली के परिरक्षण के लिए नमक और नाइट्रेट, अण्डो के लिए सोडियम सिलीकेट, तथा फलरसो अथवा गूदे के लिए सल्फर डाइऑक्साइड या बेन्ज़ोइक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। हमें शायद ही कभी इस बात का ध्यान आता है कि मुरब्बो और जेलियो में शर्करा स्वय एक प्रतिपूयिक का काम करती है अथवा अचारों में पड़ा सिरका वस्तुत. एक परिरक्षी है। बहुत सी चटनियो का परिरक्षी गुण यथार्थतः उनमें पड़े अम्ल के कारण होता है, यही अम्लता आजकल हाइड्रोजन आयन सान्द्रण[1] के पदो में व्यक्त की जाती हैं। किण्वन द्वारा चुक्र, साइट्रिक अम्ल, एसिटोन तथा पनीर के सफल उत्पादन में अम्लता का नियत्रण बड़ा महत्वपूर्ण विषय है।

परिरक्षियों की होड़ में विभिन्न खाद्य पदार्थों के परिरक्षणार्थ उनकी इतनी अधिक

[1] Concentration

सख्या प्रयुक्त होने लगी कि सभ्य देशो में उन पर भी कानूनी नियन्त्रण लगाना पडा। उसका परिणाम यह हुआ कि खाद्यपरिरक्षण के लिए स्वच्छता एव शीतसग्रहण मुख्य साधन बन गये। परन्तु इसमें सदेह नही कि इन साधनो का विकास भी रसायनज्ञो की ही सहायता से हुआ।

जीवाणुनाशन क्रिया के लिए क्षारो का भी अच्छा प्रयोग होता है जैसे केवल दध-उद्योग में ही बोतल धोने के लिए दह सोडा[1], सोडियम कार्बोनेट, सोडियम फास्फेट तथा सोडियम सिलीकेट की प्रचुर मात्रा प्रयुक्त होती है। सामान्यत यह नही माना जाता कि साबुन और पानी से धोना भी रोगाणुनाशन की विधा है और इस क्रिया से भी बहु सख्या मे जीवाणुओं तथा अन्य सूक्ष्म प्राणियों का नाश हो जाता है।

औषध तथा शल्यचिकित्सा के क्षेत्रो में तो विविध प्रकार के रोगाणुनाशको एव प्रतिपूयिको की अत्यधिक बहुलता है और उनकी सख्या में दिन प्रति दिन वृद्धि होती चली जा रही है। फ्रान्स में पास्तूर द्वारा किये गये प्रारम्भिक काम तथा इग्लैण्ड में लार्ड लिस्टर द्वारा उसके विकासन के बाद मानव अथवा अन्य जीवो के शरीर पर अधिकाश सूक्ष्म प्राणियो की उत्पत्ति एव वृद्धि का नियत्रण अपेक्षाकृत बड़ा सरल हो गया, परन्तु जीवो के शरीर के अन्दर उन पर आक्रमण करना दुष्कर कार्य रहा है। फलत. भेषजो का प्रयोग अधिकतर लक्षणो के शमनार्थ ही किया जाता रहा तथा यथार्थतया व्याधि का उपचार प्रकृति के ऊपर ही छोड दिया जाता था। एक समय यह विचार किया जाता था कि ऐल्कलायडो की क्रिया चेतान्तो (नर्व एण्डिग्स) के उत्तेजन तक ही सीमित है परन्तु आगे चलकर अनुसन्धानो द्वारा यह सिद्ध किया गया कि क्वीनीन जैसे कुछ ऐल्कलायड मलेरिया के ट्राइपैनोज़ोम को प्रभावित करते है। अतएव क्वीनीन की व्युत्पत्तियाँ और अन्य सबद्ध यौगिक तैयार किये गये जो क्वीनीन से भी अधिक शक्तिशाली निकले। इस दिशा में अनुसन्धान एव चिकित्सोपचार के फलस्वरूप वर्तमान रसचिकित्सा अर्थात् रासायनिक भेषजो द्वारा रोगो की चिकित्सा का विकास हुआ। अभी हाल में M B 693 (एक सल्फैनिल ऐमाइड) तथा पेनिसिलीन नामक दो रसचिकित्सीय भेषजो को बडी प्रमुखता प्राप्त हुई है। पेनिसिलीन एक फफूंद से प्राप्त ऐण्टिबायोटिक है जो कुछ सूक्ष्म जीवाणुओं के लिए नाशकारी है। यह फफूंद भी बहुत से जीवाणुओ के लिए प्रतिपूयिक है। वर्तमान समय में शरीर के अन्दर अथवा बाहरी प्रयोग के लिए अनेक रासायनिक पदार्थ काम में लाये जा रहे

[1] Caustic soda

है। इनमें से मर्करी, रजत (सिल्वर), आर्सेनिक, ऐण्टीमनी तथा यशद (ज़िंक) के अनेक लवण अथवा कार्बनिक यौगिक, बहुत से रंजक, फिनॉल तथा ऐल्कोहाल और उनकी कार्बनिक अथवा हैलोजनित व्युत्पत्तियाँ अथवा हैलोजन तथा ऐल्कलायड और उनकी व्युत्पत्तियाँ उल्लेखनीय है।

प्रसाधन (टायलेट) प्रयोजनो के लिए उपर्युक्त विविध प्रकार के प्रतिपूयिको के अतिरिक्त हाइड्रोजन परआक्साइड तथा धातवीय परआक्साइड, परबोरेट और परसल्फेट भी काफी मात्रा में प्रयुक्त होते है। पाजित (साइज्ड) कपास एवं वस्त्रो के लिए भी प्रतिपूयिको की आवश्यकता होती है। एतदर्थ यशद क्लोराइड का बहुत समय तक प्रयोग होता रहा लेकिन अब सैलिसिल ऐनिलाइड इसका स्थान लेता जा रहा है। इश्तहार चिपकाने वालो की लेई में भी भुकडी अथवा फफूँदी लगना बचाने के लिए कोई प्रतिपूयिक आवश्यक होता है। पाजन (साइज़), सद्योमिश्रित समार-ञ्जन[1] तथा जलीय रगलेपो में भी प्रतिपूयिक डालना पडता है। और वाह्य समार-ञ्जनो पर, विशेषकर आर्द्र स्थानो एव उष्णदेशीय जलवायु में फफूँदी लगना रोकना रगलेप-उद्योग की एक बडी समस्या है।

युद्धकाल में बालू के बोरो के परिरक्षणार्थ सबसे उत्तम एव सतोषप्रद रीति निकालने के लिए भी बडे अनुसन्धान किये गये तथा कापर नैफ्थिनेट और क्रियोज़ोट की वृहत् मात्राएँ इस काम के लिए प्रयुक्त होती रही।

यदि हम परिनाशन (डिस्इन्फेक्टेशन) को भी रोगाणुनाशन (डिस्इन्फेक्शन) की श्रेणी में गिनें तो हमें सीस आर्सनेट तथा निकोटीन जैसे औद्यानिक शीकरो (हार्टि-कल्चरल स्प्रेज़) पर तथा घुन से बचाने के लिए अन्नो के धूमन, कोका मलभो से बचाने के लिए कोका थालिकाओ के धूमन तथा बहुत से खाद्यो एव वस्त्रो के धूमन पर भी दृष्टि डालनी होगी। जहाजो में चूहो को मारकर उनके द्वारा फैलाये जाने-वाले रोगो को रोकने के लिए भी इसी प्रकार का उपचार आवश्यक होता है। इन सब बातो पर विचार करने से पता चलता है कि इस दिशा में रसायनज्ञो का कितना प्रवेश है।

रोगाणुनाशन एव प्रतिपूयन की रीतियों में जल शोधन की स्कदनरीति भी शामिल है। जल में अलुमिनियम हाइड्राक्साइड सदृश पदार्थ डालने से उत्पन्न ऊर्णि-काय में तत्स्थित जीवाणु तथा अन्य अशुद्धियाँ अवशोषित हो जाती हैं। दूध के

[1] Distempers

पाश्चरीकरण में उष्मोपचार तथा खाद्यो की डब्बाबन्दी मे रसद्रव्यो का प्रयोग भी इसी प्रकार के नियत्रण के साधन है।

ग्रन्थसूची

FREAR, D E. H *Chemistry of Insecticides and Fungicides* D. Van Nostrand & Co , Inc
MCCULLOCH, E *Disinfection and Sterilization.* Henry Kimpton.
RIDEAL, S., AND RIDEAL, E K · *Chemical Disinfection and Sterilization* Edward Arnold & Co

कीटमार

एफ़० टैटरस्फ़ील्ड, डी० एस-सी० (लन्दन), एफ़० आर० आई० सी०

'दि इन्सेक्ट मिनेस' नामक अपने मनोरजक ग्रन्थ मे एल० ओ० हॉवर्ड ने जीवन-सघर्ष में कीट और मनुष्य के विरोध को बडे सुन्दर ढग से दर्शाया है। नाशिकीट (इन्सेक्ट पेस्ट्स) मनुष्य और उसकी सम्पत्ति का जो प्रत्यक्ष विनाश करते है उसका परिमाण अति विशाल है। इसके अतिरिक्त वे ऐसे विनाशकारी रोगो का भी परिवहन करते है जो मनुष्य तथा उसके पालतू जानवरो एव पौधो का उतना ही व्यापक नाश करते है। इसमे सदेह नही कि प्रकृति उनकी शक्ति को सीमित करने में बराबर प्रयत्न-शील रहती है और साथ ही वह केवल ऐसे कीट नही उत्पन्न करती जो मनुष्यविरोधी हो। परन्तु मनुष्य ने अपनी तूफ़ानी प्रगति मे प्राकृतिक शक्तियो के सतुलन मे गडबड कर दी है और अब धीरे-धीरे वह यह समझने लगा है कि कृत्रिम साधनो से नाशिकीटो का उन्मूलन करना ही उसके हित मे है। इन कृत्रिम साधनो मे रासायनिक उपाय बडे महत्त्वपूर्ण है।

कीटमार तीन प्रकार के होते है—(१) उदरविष, जो शीकरन अथवा धूलन द्वारा कीटखाद्यो पर छिडक दिये जाते है और इस प्रकार उनके पेट मे पहुँचकर अपनी क्रिया करते है, (२) सस्पर्श विष (कॉन्टैक्ट प्वायजन), कीटो का अन्त करने के लिए जिनका उनसे सस्पर्श ही पर्याप्त है, (३) धूमक, जो वाष्प अथवा गैस के रूप मे कीटो का नाश करते है। और इनके सबन्धी ज्ञानवर्धन मे पिछले बीस वर्षों में रसायनविज्ञान ने बहुमूल्य योगदान किया है। बहुत से कीटमार पदार्थों का ज्ञान तो पुराना है लेकिन

आधुनिक रसायनज्ञों ने उनके सक्रिय तत्त्व की खोज की, उनका मानकीकरण किया और उन्नति भी की। रसायनज्ञों ने ही यह भी बताया कि कीटमारों के साथ कुछ अन्य पदार्थ *मिलाने से उनका प्रभाव और भी बढ जाता है। रसायनविज्ञान की प्रायः* सभी शाखाओं ने इस कार्य की पूर्ति में अच्छा हाथ बटाया है।

अतीत में अधिकांश उदरविषों का चुनाव बडे जानवरों पर उनकी ज्ञात विषालुता के कारण ही किया गया था। लेकिन वर्तमान समस्या ऐसे पदार्थ खोजने की है जो मनुष्यों की तुलना में कीटों के लिए अधिक विषाक्त हो। ऐसे पदार्थों का होना असंभव नहीं है क्योंकि यह तो मालूम ही है कि कीट ऐसी अनेक वस्तुओं पर पलते हैं जो बडे जानवरों के लिए हानिकारक होती है। यह समस्या सरल नहीं है और इसके हल में अभी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई। १८६७ ई० में जब कोलोरैडो भृंगों का बडा प्रसार हुआ था तब पेरिसग्रीन अर्थात् ताम्र एसिटोआर्सेनाइट का प्रयोग करके उनका प्रसार रोका गया था। यद्यपि यह आजकल भी मच्छरों के नियंत्रण के लिए काम में लाया जाता है, लेकिन इससे पेड पौधों की पत्तियों को काफी हानि होती है, इसलिए १८९२-९४ से इसके स्थान पर सीस आर्सनेट प्रयुक्त होने लगा जो अब तक एक प्रमुख कीटमार माना जाता है। परन्तु इस पदार्थ की जोखिम के कारण खाद्य पदार्थों पर प्रयुक्त होनेवाली इसकी मात्रा की कडी सीमा निर्धारित कर दी गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ कोंडलिंग शलभों को मारने के लिए सीस-आर्सनेट का व्यापक प्रयोग किया जाता है, शीकर-अवशेष के निरसन के लिए लवाई के बाद सेवों के धोने की प्रथा चालू की गयी है। सीस आर्सनेट के स्थान पर कैल्सियम, यशद (ज़िंक) अलुमिनियम सदृश धातुओं के आर्सनेट अथवा आर्सनाइट जैसे अन्य पदार्थों का प्रयोग करने का भी प्रयत्न किया गया किन्तु कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। *कोंडलिंग शलभों को मारने के लिए अनेक कार्बनिक रसद्रव्यों का भी* अन्वेषण किया गया, लेकिन उनमें से सर्वोत्तम पदार्थ का उपयोग भी केवल बाद में शीकरन करने के लिए किया जा सका, जिससे खाद्य पदार्थों पर अत्यधिक आर्सनिकलीय अवशेष न रह जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका के बहुत से राज्यों में एक ही ऋतु में ६-१० बार शीकरन करना पडता है। कुछ स्थानों में थायोडाइ फिनिलअमीन का प्रयोग किया गया लेकिन यह बहुधा असफल रहा। बेन्टोनाइट संयुक्त निकोटीन सदृश स्थिरीकृत (फिक्स्ड) निकोटीनों के प्रयोग में कुछ सफलता मिली है परन्तु इतनी नहीं कि वह सीस आर्सनेट का स्थान ले सके। सिलिकोफ्लुओरायडों और फ्लूओअलुमिनेटों (क्रायोलाइट) जैसी फ्लुओरीन व्युत्पत्तियों का भी आविष्कार हुआ और वे बडी शक्तिशाली कीटमार भी सिद्ध हुई, लेकिन अत्यन्त लघु मात्रा में भी फ्लुओरीन का दाँतों पर

दुष्प्रभाव पडने के कारण वे पदार्थ विषो की सूची में अनुसूचित कर दिये गये और उनकी उपयोगिता उतनी न हो सकी जितनी पहले समझी गयी थी।

गधक सबसे पुराना मानवज्ञात सस्पर्श विप है। यह तात्विक दशा मे चूर्ण के रूप में अथवा पाॅली सल्फाइडो के रूप मे प्रयुक्त होता है। पालीसल्फाइडो, विशेपकर चूना-सल्फर के रासायनिक अध्ययन के लिए काफी अन्वेषण की आवश्यकता हुई। फफूँदीमार तथा कीटमार के रूप मे गधक की क्रिया की रीति पिछले कुछ वर्षो से जीवरासायनिक समस्या बनी हुई है। शल्ककीटो (स्केल इन्सेक्ट) का नाश करने में भी गधक प्रभावी है।

पेट्रोलियमो का भी सस्पर्श-कीटमार के रूप में विस्तृत प्रयोग होता है। इनका शीकरन जाडे और गर्मी दोनो ऋतुओ में किया जाता है, लेकिन अगर सल्फोनेट किये जा सकनेवाले हाइड्रोकार्बन अधिक मात्रा में उपस्थित हो तो गर्मीवाले उपचार के बाद बढते हुए वृक्षों की काफी हानि होती है। पायसित (बहुधा अक्रिय पदार्थो के साथ) उच्च शुद्धतावाले भारी तेल आजकल फलवृक्षो पर के शल्ककीटो तथा लाल मकडो को मारने के लिए बहुतायत से प्रयोग किये जाने लगे हैं। कोलतार तेल, विशेपकर ऐन्थ्रासीन तेल प्रभाग पायसित रूप में उगते हुए फलवृक्षों के लिए जाड़ों मे प्रयुक्त होते है, इस उपचार से नाशिकीट अण्डावस्था मे ही मर जाते हैं। ये कोलतार तेल पायस 'अफाइडों' तथा 'ऐप्लसकरों' के विरुद्ध तो प्रभावी होते है लेकिन लाल मकडी इनसे अप्रभावित रहती हैं। पिछले कुछ वर्षो से भारी पेट्रोलियम तेल अकेले अथवा अन्य पदार्थों की मिलावट मे वृक्षवृद्धि की उत्तर अवस्था में प्रयुक्त होने लगे है जिससे लाल मकडी तथा जाडे के शलभो (विण्टर माॅथ) का प्रभावी नियत्रण किया जा सका है। इन पेट्रोलियम तथा तार आसुत कीटमारो के मानकीकरण के लिए बहुत रासायनिक अनुशीलन करना पड़ा है। वसीय तथा टरपीनिक प्रकार के वनस्पति तेलो का एक सहायक के रूप मे विस्तृत प्रयोग किया गया है।

वानस्पतिक उद्भव के कीटमार उदर तथा सस्पर्श दोनो प्रकार के विप होते हैं। सर्वाधिक महत्त्ववाले ऐसे कीटमारो में निकोटीन भी एक है और इसका प्रयोग धूमक के रूप में भी किया जा सकता है। निकोटीन का प्रयोग तम्बाकू-आक्वाथ अथवा ऐल्कलायड और उसके लवण के रूप में प्राय २०० वर्षो से होता आ रहा है। पिछले कुछ वर्षों में निकोटीन पीठ, निकोटीन टैनेट तथा बेण्टोनाइट का बडी सावधानी से अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त रूसी कार्यकर्ताओ के अनुसन्धानो के फलस्वरूप एनाबासिस एफिल्ला अथवा निकोटियाना ग्लौका मे प्राप्त उसके मुख्य ऐल्कलायड, एनाबसीन ने भी इस क्षेत्र में काफी रुचि पैदा कर दी है। एनाबसीन

-और निकोटीन का निकट रासायनिक संबन्ध है। प्रकृति में इस यौगिक के आविष्कार के पूर्व ही सी० आर० स्मिथ ने अपनी प्रयोगशाला में इसका सश्लेषण कर लिया था तथा इसे 'नियो निकोटीन' की सज्ञा प्रदान की थी।

पाइरेथ्रम सबसे पुराना और सभवत सबसे निरापद सस्पर्श-कीटमार है। बहुत दिनो तक यह 'क्रिसैन्थिमम रोजियम' के फूलो से बनता था और 'इन्सेक्ट पाउडर' (कीटचूर्ण) के नाम से ज्ञात था। अब यह 'क्रिसैन्थिमम सिनेरारी फोलियम' के फूलो से बनने लगा है। १९२४ ई० में स्टाडिजर और रजिका द्वारा किये गये इसके सक्रिय तत्त्वो के रचनासबन्धी कामो से आगे का मार्ग बडा प्रशस्त हो गया। उन्होने यह बताया था कि इसमें पाइरेथ्रीन १ और पाइरेथ्रीन २ नामक दो सक्रिय तत्त्व हैं और ये दोनो क्रिसेन्थिमिमक अम्लो तथा पाइरेथ्रीन नामक एक किटोनिक ऐल्कोहाल के एस्टर हैं। बाद के कार्यो के फलस्वरूप इन वैज्ञानिको द्वारा सुझाये गये इन यौगिको के रासायनिक सूत्रो में केवल बहुत थोड़ा परिवर्तन किया गया है। इनके रासायनिक मूल्याकन की रीतियाँ भी विकसित की गयी, जिनके प्रयोग से और भी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ यह मालूम हुआ है कि पूर्ण विकसित फूलो की पाइरेथ्रीन मात्रा सर्वाधिक होती है और इसी लिए अब इनकी लवाई पूरे खिल जाने पर ही होती है न कि अधखिली अवस्था में। इन परीक्षणरीतियो से यह भी ज्ञात हुआ कि चूर्ण को धूप और हवा मे खुला रखने से उसकी कीटमारक शक्ति की जो हानि होनी है वह आक्सीकरण के कारण होती है तथा प्रति आक्सीकर्ताओं के प्रयोग से उसका आशिक बचाव किया जा सकता है, तथा यह भी ज्ञात हुआ कि फूलों के अण्डाशय में पाइरेथ्रीन की सबसे अधिक मात्रा होती है। अब चूर्ण के स्थान पर विविध पेट्रो-*लियम विलायको से बने पाइरेथ्रम निस्सार (एक्सट्रैक्ट) का प्रयोग किया जाता है।* मक्खियों और कहवा-नाशिकीटो के नियत्रण के लिए ये निस्सार किरासन से बनाये जाते है तथा गोदामो मे सगृहीत पदार्थों के शीकरन के लिए निस्सार बनाने में शोधित भारी तेल प्रयुक्त होते हैं। *यह पौधा मूलत डालमैशिया में उत्पन्न होता था परन्तु* अब जापान, कीनिया तथा ससार के अन्य भागो में भी इसका उत्पादन काफी बडे पैमाने पर किया जाता है। कीनिया के पहाडी प्रदेशों में यह पौधा वर्ष के नौ-दस महीने *फूला करता है। इन फूलो को कृत्रिम रीति से ५०° से० ताप पर सुखाया जाता है,* क्योकि अनुसन्धाना द्वारा यह निश्चित किया गया है कि इस क्रिया के लिए ५०° से० ही सर्वोत्तम ताप है। इस प्रकार तैयार किये गये पाइरेथ्रीन की प्रतिभूत मात्रावाले *फूल बाजारो में बिकने के लिए भेजे जाते हैं।' पाइरेथ्रम की अति सुग्राही कीटो पर* उसका शीकरन करने से उन्हें बडी शीघ्रता से लकवा मार जाता है। किसी दूसरे

कीटमार का इतना शीघ्र प्रभाव नही होता परन्तु पाइरेथ्रम के इस आशु प्रभाव से कीट बहुधा उबर जाते है और मरते नही, इसलिए इसकी विपालु क्रिया के प्रवर्धन के लिए डेरिस अथवा कुछ संश्लिष्ट यौगिक जैसे अन्य कीटमार उसमे मिलाये जाते है।

देशी लोगो में बहुत काल तक कुछ पौधो द्वारा मछलियो को मूछित करके पकडने की प्रथा प्रचलित रही। इनमे से कुछ पौधे लेगुमिनोसी नामक प्राकृतिक गोत्र (नेचुरल आर्डर) के थे तथा शक्तिशाली कीटमार भी थे। लगभग ९० वर्ष पूर्व डेरिस की जडें इसी प्रकार प्रयुक्त होती थी परन्तु लोगो को यह अनुभव प्राय भूल गया और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में फिर इस पदार्थ में लोगो की रुचि हुई। १९२० ई० से ससार के सभी सभ्य देशो मे इन पौधो पर अनुसन्धान किये जा रहे है और अब तक इनमे से पॉच प्रकाशीयतया सक्रिय (ऑप्टिकली ऐक्टिव) केलासीय विपालु तत्त्व एकलित किये जा चुके है। इनके नाम इस प्रकार है—रोटिनोन, एलिप्टोन, सुमाट्रॉल, टाक्सीकरॉल तथा मैलक्कॉल। इनकी कीटमारक शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। डेग्युलिन नामक एक छठा पदार्थ भी एकलित किया गया है परन्तु केवल रेसमिक रूप में, यद्यपि जडो मे यह प्रकाशीयतया सक्रिय रूप में होता है। ये सभी यौगिक रासायनिक दृष्टि से एक ही प्रकार के है, 'ऑल' से अन्त होनेवाले नामो के यौगिक फिनालिक होते है तथा कीटो के लिए अन्य यौगिको से कम विपालु होते है। कीटनाशन के लिए रोटिनोन सबसे अधिक शक्तिशाली है परन्तु सम्पूर्ण पौधे की क्रिया इसमे पूरी तरह निहित नही होती। इन यौगिको की सरचना का अध्ययन करने मे अनेक वर्षो के रसायनज्ञ कार्यरत रहे है। डेरिस जडो के मूल्याकन तथा चुनाव के लिए तत्स्थित यौगिको के मात्रात्मक विश्लेषण की रीतियो का भी विकास किया गया। 'डेरिस इलिप्टिका' नामक जाति मे १२% रोटिनोन होता है तथा यह ईस्ट इण्डीज मे प्राप्त होता है। यह तथा दक्षिणी अमेरिका से प्राप्त लॉन्कोकार्पस जाति आज के हमारे सर्वाधिक शक्तिवाले कीटमार है लेकिन इनकी विपालु क्रिया केवल कुछ चुने हुए कीटो पर ही होती है। इनकी क्रिया बडी मन्द गति से भी होती है लेकिन एक बार जो कीट इनसे प्रभावित हो जाय तो फिर वह शायद ही बच सकता है। टेफ्रोसिया, मुण्डुलिया तथा मिलेसिया नामक लेग्युमिनस पौधो की अन्य प्रजातियो मे भी उपर्युक्त वर्ग के सक्रिय तत्त्व मिले है परन्तु सम्प्रति केवल डेरिस और लॉन्कोकार्पस जातियो की जडो का ही वाणिज्यिक उपयोग किया जाता है।

कार्बनिक यौगिको की किसी श्रेणी की कीटमारक शक्तिपरीक्षा करने पर यह देखा गया है कि उनकी विपालुता बहुधा अणु भार के साथ एक सीमा तक बढती है। यह प्रक्रम प्राय सतृप्त वसीय अम्लो, ऐल्कोहालो तथा थायोसियनेटो में देखा जाता है।

अपनी श्रेणी में लारिल थायोसियनेट सबसे अधिक शक्तिशाली है तथा नार्थ्युटिल कार्बिटॉल जैसे अन्य थायोसियनेटों में भी काफी कीटमारक शक्ति होती है। आजकल इन पदार्थों का पर्याप्त वाणिज्यिक महत्त्व है। कुछ श्रेणियों में यौगिकों का रचना-भेद महत्त्वपूर्ण होता है। ३:५-डाइनाइट्रो-आर्थो क्रिसाल तथा २:४-डाइनाइट्रो-६-साइक्लोहेक्सेफिनॉल जैसे समान रचनावाले यौगिक प्रायः समानतया शक्तिशाली हैं। N N-अनिलबेन्जिल-साइक्लोहेक्सिडिल अमीन अभी हाल का आविष्कृत कीटमार है, यह वनस्पतियों के लिए निरापद तथा कीटनाशन में शक्तिशाली है। इसका यह विशेष गुण इसकी पार्श्वशृंखला की प्रकृति पर निर्भर है। परन्तु गत कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में रसायनविज्ञान द्वारा किये गये योगदानों में सबसे महत्त्वपूर्ण डी० डी० टी० (२, २—दिस-प-क्लोरफिनिल-१, १, १—ट्राइक्लोर इथेन) की कीटमारक शक्ति का विस्मय आविष्कार है। *मनुष्य के पराश्रयी कीट के प्रति यह विशेष रूप से प्रभावी* सिद्ध हुआ है। कुछ संश्लिष्ट यौगिक उपयोगी धूमक का भी काम करते हैं। कुछ समय पहले हाइड्रोसियनिक अम्ल तथा कार्बन डाइ सल्फाइड धूमन के लिए प्रयुक्त होते थे, परन्तु इथिलीन आक्साइड, ऐल्लिल फार्मेट, क्लोरिनीकृत हाइड्रो कार्बन तथा मिथिल ब्रोमाइड जैसे यौगिक आज के महत्त्वपूर्ण धूमक पदार्थ हैं। शलभ-सह वस्त्रों के लिए *रंगहीन अम्ल रञ्जकों और कुछ जटिल फ्लुओराइडों जैसे पदार्थों का प्रयोग होता है।* आस्ट्रेलिया में भेड़ों पर मांसभक्षी डिम्भों (ब्लो फ्लाइ लार्वा) को मारने के लिए ग्लिसरिल बोरेटों का आशाप्रद प्रभाव देखा गया है।

सस्पर्श कीटमार के प्रयोग में यह आवश्यक है कि रासायनिक यौगिक का कीटों से निकटतम सम्पर्क हो, जब कि उदर-विषों के लिए पत्तियों तथा कीटों के अन्य खाद्यों पर उनका चिपकना जरूरी होता है। इन प्रयोजनों के लिए नये-नये आर्द्रक, प्रसारक तथा आसजक पदार्थों की इतनी बड़ी संख्या आविष्कृत हुई है कि उनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। कीटमारों का कीटों के बाह्य चर्म (क्यूटिकल) में प्रवेशन एवं प्रयुक्त माध्यमों पर इनकी निर्भरता तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याएँ वैज्ञानिक अनुसन्धान के महत्त्वपूर्ण विषय हैं और उनकी समीपतम परिनिरीक्षा (स्क्रूटिनी) की जा रही है।

ग्रंथसूची

GNADINGER, C. B *Pyrethrum Flowers* McGill Lithograph Co.

HOLMAN, H J. (EDITOR) *A Survey of Insecticide Materials of Vegetable Origin* Imperial Institute.

HOWARD, L O *Insect Menace*. Appleton & Co

MARTIN, H *Scientific Principles of Plant Protection*. Edward Arnold & Co

SHEPARD, H. H. : *Chemistry and Toxicology of Insecticides* Burgess Publishing

धूमन

जे० डी० हैमर, एफ० आर० आई० सी०

वैज्ञानिक रीति से विषाक्त गैसो द्वारा नाशिकीटो के विनाशन को धूमन अर्थात् 'फ्यूमिगेशन' कहते है। नाशिकीटो में उन जीवो की गणना की जाती है जो मनुष्य पर पराश्रयी रहकर तथा उसका रक्त चूषण करके उसको हानि पहुँचाते है और जो खाद्य पदार्थो, सगृहीत धान्यो एव वस्तुओ का नुकसान करते है अथवा जो कृषि और पौधो की वृद्धि पर दुष्प्रभाव डालते है अथवा वे सभी जीव जो सामान्यत मनुष्य के कल्याण मे बाधक होते है।

स्टाक तथा मोनियर विलियम्स द्वारा १९२३ ई० मे प्रकाशित 'पब्लिक हेल्थ रिपोर्ट न० १९' में हाइड्रोजन सायनाइड तथा उसके धूमन प्रयोग का एक सक्षिप्त इतिहास दिया गया है तथा 'जर्नल ऑफ एण्टॉमालोजी' से भी इस विषय का चयन किया जा सकता है। प्राचीन मिस्रवासी पुरोहितो को यह अम्ल मालूम था। प्रूसियन ब्लू के आकस्मिक आविष्कार के सबन्ध में डीसबैक ने १८वी शताब्दी के प्रारम्भ में इस यौगिक का उल्लेख किया था। १७८२ में शीले ने इसका अन्वेषण किया तथा इसको प्रूसिक अम्ल की सज्ञा दी। लेकिन १८११ ई० मे गे-लुसक ने शुद्ध हाइड्रोजन सायनाइड तैयार किया तथा सर्वप्रथम १८८६ ई० में सयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विभाग के कॉक्विलेट द्वारा यह यौगिक साइट्रस वृक्षों के शल्क कीटो को मारने के लिए एक धूमक के रूप में प्रयुक्त हुआ। केप सरकार के कीटवैज्ञानिक लौन्सबरी ने १८९८ ई० में रेल के डब्बो में खटमल मारने के लिए हाइड्रोजन सायनाइड का प्रयोग किया तथा १९०१ ई० में कारागृहो में यही उपचार रीति अपनायी गयी। १९१६ में

जोहान्सबर्ग कौंसिल ने हाइड्रोजन सायनाइड के नियमनार्थ एक कानून जारी किया था। भारत में सायनाइड गैस का प्रयोग सबसे पहले ग्लेन लिस्टन द्वारा १९०९ ई० में किया गया था। एक धूमक के रूप में हाइड्रोजन सायनाइड का प्रयोग 'सयुक्त राज्य क्वारैण्टाइन रेगुलेशन' द्वारा १९१० ई० में अधिकृत हुआ था। १९१७ में 'आस्ट्रेलियन क्वारैण्टाइन रेगुलेशन' ने भी पौधो तथा पोटलियो (पैकेज) के धूमन के लिए यह रीति विहित की और जहाजो में प्रयुक्त रीति की विस्तृत कार्य विधा १९१८ ई० में प्रकाशित हुई। जर्मनी में आटाचक्कियो के घुन मारने के लिए हाइड्रोजन सायनाइड १९१७ में प्रयुक्त हुआ। इटली में चूहो को इस रीति से नाश करने की रिपोर्ट डा० लुट्टारियो ने सन् १९२० ई० में 'आफिस इण्टरनैशनल' को दी। इग्लैण्ड में हाइड्रोजन सायनाइड का सर्वप्रथम प्रयोग जहाजो के धूमनार्थ १९१२ ई० में हुआ। जहाजो का धूमन एक सुसगठित उद्योग है, जो 'इण्टरनैशनल सैनेटरी कॉन्वेन्शन' की शर्तों की पूर्ति के लिए समस्त समुद्र-राष्ट्रो द्वारा व्यवहृत होता है। नाशिकीटो तथा रॉडेण्ट कुल के चूहे, चुहियां तथा खरगोशां जैसे जीवो को नष्ट करने के लिए धूमन सर्वाधिक सफल साधन है।

कीटो का एक सामान्य वर्गीकरण निम्नलिखित है—

(१) **सैनिटरी नाशिकीट**—इनमें पिस्सू, खटमल, जू तथा मच्छर जैसे रक्त-चूषक भी सम्मिलित हैं। ये नाशिकीट लोगो को केवल कष्ट ही नही देते वरन् उनके स्वास्थ्य के लिए भी भयावह होते है, क्योकि ये सक्रामक रोगो का प्रसारण एव प्लेग के कीटाणुओ का परिवहन भी करते है।

(२) **गृह-नाशिकीट**—इस वर्ग में रजत मीन (सिल्वर फिश), गृहवरुथी (हाउस माइट), तिलचटा, चीटियाँ तथा लकडी के सामान नष्ट करनेवाले भृग और शलभ हैं।

(३) **खाद्य और अन्नागार नाशिकीट**—खाद्य पदार्थो को नष्ट करनेवाले कीट जैसे आटा-वरुथी (फ्लावर माइट), कोको शलभ, शुष्क फल-शलभ, भेपजागार-भृग, यवान्न-घुन, आटा-शलभ, यवान्न-शलभ, बीज-घुन तथा तम्बाकू-भृग।

(४) **भाण्डारों और गोदामों के नाशिकीट**—मनुष्य द्वारा उपजाये हुए पौधों को खाकर नष्ट करनेवाले कीट जो ससार भर में असीमित हानि करते है।

रॉडेण्टो में घरेलू चूहो, काले चूहो, भूरे चूहो तथा खरगोशो की गणना की जाती है। चूहे तथा चुहियाँ घरो और भण्डारो में पलनेवाले बडे दुष्ट नाशिजीव हैं। अनुमान है कि ये जीव केवल इग्लैण्ड में ही प्रति वर्ष लगभग १५ करोड़ पौण्ड की सम्पत्ति का नाश करते हैं। इस महती आर्थिक हानि के अलावा ये वील्स रोग, पद एव मुख-

रोग तथा सबसे भयकर प्लेग के कीटाणुओं का (चूहो के पिस्सुओ द्वारा) परिवहन करते है।

जैविकीविद् एव कीटवैज्ञानिक इन नाशिकीटो तथा जीवो के स्वभाव का बड़ी सावधानी से अध्ययन करते है जिससे इनके विनाश के वैज्ञानिक क्रियाकरण के लिए धूमन-कर्मी लोग भली प्रकार सावधान एव सचेष्ट रहें। सारे ससार के स्वास्थ्य-अधिकारी इस दिशा मे बराबर सावधान रहते है तथा प्रथमत लोगो के स्वास्थ्यसुख-सुविधा की सुरक्षा के लिए और द्वितीयत खाद्यो का तथा अन्य सम्पत्ति का परिरक्षण करके सामान्य आर्थिक व्यवस्था के सर्जन के लिए अन्वेषणकार्य निरन्तर चलाते रहते है।

यद्यपि सभी नाशिकीटो का सविस्तर वर्णन इस लेख मे नही किया जा सकता, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि उनमें से प्रत्येक के स्वभाव का विस्तृत अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि धूमन द्वारा उनको पूरी तरह से नष्ट किया जा सके।

कुशलतापूर्वक किसी स्थान का धूमनोपचार करने के लिए उस स्थान को विधिवत् तैयार करना तथा उसे यथेष्ट रूप से बन्द करना परमावश्यक है। कीटो एव रोडेण्टो के नाश के लिए गैस की आवश्यक मात्रा का प्रयोगो द्वारा ठीक-ठीक निश्चय कर लेना तथा सस्पर्श-काल और उपयुक्त ताप को अच्छी तरह समझ और जान लेना चाहिए। स्थानविशेष के अन्दर रखे सामानो द्वारा अवशोषित होनेवाली गैस की मात्रा का भी ठीक-ठीक अनुमान होना चाहिए जिससे उसके लिए भी गुन्जाइश रखी जा सके।

धूमन के लिए अनेक विषालु गैसो तथा वाष्पो का प्रयोग किया गया है लेकिन अभी तक केवल हाइड्रोजन सायनाइड और इथिलीन आक्साइड का ही कुछ वाणिज्यिक महत्त्व रहा है। इसमें कोई सन्देह नही कि इन अत्यन्त विषालु गैसो का प्रयोग करने के लिए पूर्णतया प्रशिक्षित तथा सुरक्षा के कुशल साधनो से भली भाँति सज्जित कार्यकर्ता अनिवार्यत आवश्यक है। और इन महाभयावह विषो का व्यापक प्रयोग करने वालो का यह परम कर्तव्य है कि वे जनता की सुरक्षा का प्रथम तथा अक्षुण्ण ध्यान रखें। एतदर्थ किसी स्थान अथवा सामान का विषालु गैसो द्वारा उपचार कर लेने के बाद उसका खूब अच्छी तरह से वातन करना अर्थात् उसमें प्रचुर मात्रा में वायु का परिचालन करना उन्ही प्रशिक्षित धूमनकर्मियो की ही जिम्मेदारी है। गैसोपचार के बाद किसी स्थान को जनोपयोग के लिए निरापद घोषित करने के पहले यह पूरी तरह जाँच लेना चाहिए कि वहाँ अवशोषित अवशिष्ट गैस इतनी मात्रा में तो सांद्रित नही हो गयी है जिससे भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाय।

गत बीस वर्षो में धूमन की रीतियो के विकास में बड़ी प्रगति हुई है और अब घरो के नाशिजीवो का नाश करना तथा घर के साज सामान तथा कपडो बिछौनो को

साफ करना इत्यादि धूमनविशेषज्ञों का काम हो गया है। खाद्य पदार्थों तथा गोदामों और भण्डारों का गैसोपचार तो एक उद्योग बन गया है, जिससे सरकार को हाइड्रोजन सायनाइड के खतरे से जनता की सुरक्षा के लिए उपयुक्त कानून जारी करना पडा है।

इस विषय अर्थात् नाशिजीवों के वैज्ञानिक विनाशन का अध्ययन करनेवालों को 'इम्पीरियल कालेज ऑफ साइन्स एण्ड टेक्नॉलोजी' के एण्टॉमालोजी विभाग के प्रोफेसर जे० डब्ल्यू० मुनरो तथा उनके सहयोगियो के प्रकाशनो को भी पढना चाहिए। इनकी प्रविधि तथा कीटो पर धूमन प्रतिक्रिया के यथार्थ अन्वेषण के लिए इनके मौलिक उपकरणो का भविष्य में मनुष्य के स्वास्थ्य एव आर्थिक व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होगा। युद्धकाल में धूमन की प्रथा बहुत कुछ कम कर दी गयी लेकिन साथ ही इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण विकास भी किये गये हैं।

एच० डब्लू० सेमौर ने एक सफल उष्णवाष्प-धूमन यत्र (हॉट वेपर फ्यूमिगेशन मशीन) बनाया है, जो आवश्यक सस्पर्श-काल के बाद उष्ण वायु-परिचालन यत्र का भी काम देता है। इसके प्रयोग से गैसोपचार के बाद स्थानविशेष में हवा परिचालन का समय बहुत कम हो गया तथा उस पर मौसम का जो प्रभाव पडता था वह भी समाप्त हो गया। यह निश्चय ही धूमनप्रविधि की उत्तम प्रगति है।

मनुष्यो के लिए निरापद कीटमार के रूप में डाइक्लोर-डाइफिनाइल ट्राइक्लोर इथेन (डी० डी० टी०) के आविष्कार से धूमन कार्य का भविष्य भी बड़ा उज्ज्वल हो गया है तथा हाइड्रोसियनिक अम्ल प्रयोग करनेवाले कार्यकर्ताओ के सिर से चिन्ता का बहुत बडा बोझ उतर गया है। डी० डी० टी० का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है तथा युद्ध की समाप्ति पर इसके व्यापक प्रयोग की प्रतीक्षा की जा रही है।

ग्रथसूची

HAMER, J D : *Cyanide Fumigation of Ships. Journal of the Royal Sanitary Institute.* U. L. A. W S Monograph

MONIER-WILLIAMS, G. W. . *Effect on Foods of Hydrogen Cyanide.* Ministry of Health Report, No. 60. H. M. Stationery Office.

STOCK P G., AND MONIER-WILLIAMS, G. W. *Hydrogen Cyanide for Fumigation Purposes.* Ministry of Health Report, No. 19. (This contains an extensive Bibliography on the subject) H. M Stationery Office.

अध्याय ७

प्राविधिक तथा अन्य रसद्रव्य

फ्रान्सिस एच० कार, सी० बी० ई०, डी० एस सी०
(मैंन्च०), एफ० आर० आई० सी०

इस अध्याय में कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थो की व्याख्या की जायगी, उद्योगो मे जिनकी बडी उपयोगिता है तथा जो घरेलू, औषधीय, वैज्ञानिक तथा अन्य कार्यो के लिए प्रयुक्त होते है। रसायन-विज्ञान की यह शाखा इतनी व्यापक और आधारभूत हो गयी है कि आज दिन ऐसे रासायनिक पदार्थो की यथेष्ट उपलब्धि के बिना दैनिक जीवन-स्तर को उचित ढग से बनाये रखना कठिन है। इस क्षेत्र के विस्तार को देखकर प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे सभी पदार्थो का उल्लेख करना सभव नहीं है, अत इनके कुछ प्रारूपिक उदाहरण लेकर यह दर्शाने की चेष्टा की जायगी कि वे हमारे दैनिक जीवन में किस प्रकार प्रवेश कर गये है।

अम्ल--साइट्रिक, टारटरिक, लैक्टिक, ऑक्जैलिक, टैनिक, फारमिक, ऐस्काबिक, सैलिसिलिक, बेन्जोइक, एसेटिक, हाइड्रोफ्लुओरिक, बोरिक तथा आर्सेनिक अम्ल-जैसे कितने अम्ल हैं जिनका उत्पादन यद्यपि सल्फ्युरिक, हाइड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक अम्लो के बडे पैमाने पर नही होता, परन्तु जिनका प्राविधिक क्रियाओ तथा घरेलू कार्यो में महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। इसलिए शुद्ध अवस्था में उनका उत्पादन आवश्यक है।

साइट्रिक अम्ल—पहले यह अम्ल केवल नीबू, बर्गमाट अथवा लाइम से ही प्राप्त होता था, लेकिन अब यह अधिकाशत कुछ फँफूदी द्वारा शर्करा के किण्वन से उत्पन्न किया जाता है। सोडियम साइट्रेट तथा पोटासियम साइट्रेट का ज्वर-पीडित रोगियो की प्यास कम करने के लिए तथा रुधिर स्कदन (ब्लड क्लाटिंग) रोकने के लिए औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी बच्चो को पिलाने के लिए गोदुग्ध में भी यह डाला जाता है जिससे उनके पेट में स्कद नहीं बनने पाता।

टारटरिक अम्ल—यह अम्ल अगूरो से प्राप्त होता है, मदिरा निर्माण में प्राप्त उपजातों, कैल्सियम तथा पोटासियम लवणो से टारटरिक अम्ल बनाया जाता है।

बेकिंग पाउडर तथा बुदबुद पेयो का यह एक साधारण संघटक है, सिड्लिज़ पाउडर जैसी औषधो में भी इसका प्रयोग होता है।

लैक्टिक अम्ल—लैक्टिक अम्ल दण्डाणुओ (बॅसिलस) द्वारा दुग्ध शर्करा के किण्वन से यह अम्ल तैयार किया जाता है। चमडे की कमाई तथा ऊन की रँगाई में लैक्टिक अम्ल का महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है। औषध में भी इसका उपयोग है उदाहरणार्थ कॅल्सियम लवण के रूप में यह अम्ल विशेष रूप से प्रयुक्त होना है क्योंकि मानव शरीर में कॅल्सियम इस रूप में बडी सरलता से पचता है।

ऑक्ज़ेलिक अम्ल—रुबार्ब, अम्लीका (उट सॉरेल), चुकन्दर की पत्तियो, तथा हरीतकी-जैसे वानस्पतिक पदार्थों में यह अम्ल होना है। हरीतकी चर्म निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले टैनिक अम्ल का भी अच्छा स्रोत है। प्राकृतिक पदार्थों में विद्यमान होने पर भी ऑक्ज़ेलिक अम्ल बहुधा रासायनिक विधाओ से ही बनाया जाता है। इन विधाओ में लकडी का बुरादा और शर्करा सदृश ऐसे पदार्थ प्रयुक्त होते है जिनमें यह अम्ल नही होता वरन् इन पर क्रमश दह-क्षारो अथवा नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से उत्पन्न होता है। यह कार्बन से भी बनता है, इससे कार्बन मानोऑक्साइड, उससे सोडियम फार्मेट और अन्त में सोडियम आक्ज़ेलेट बनता है। अम्ल पोटासियम ऑक्ज़ेलेट 'सोलेल लवण' अथवा 'निबु का लवण' के नाम से भी जाना जाता है। यह अम्ल तथा इसका पोटासियम लवण वस्त्र उद्योग में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं विशेषकर कॅलिको छपाई में। रग अथवा रोशनाई के धब्बे छोड़ाने तथा चमडा साफ करने में भी इसका प्रयोग होता है।

टैनिक अम्ल—यह गैलोटैनिक अम्ल के नाम से भी जाना जाता है तथा ओक-गाल्स के किण्वन से प्राप्त किया जाता है। इसमें रक्तरोधी (स्टिप्टिक) गुण होता है, इसके द्वारा अल्बूमिन का अवक्षेपण ही प्राय इस गुण का कारण है। जलने के उपचार में इसका उत्तम प्रयोग होना है। रक्त-स्राव रोकने के इसके गुण का उल्लेख तो ऊपर किया ही गया है। वस्त्र एव चर्म उद्योग में टैनिक अम्ल का विशेष उपयोग तथा महत्त्व है।

विविध छालो तथा काष्ठ-फलो के निस्सारण से प्राप्त टैनिक अम्ल के जटिल यौगिको को "टैनिन" की सज्ञा प्रदान की जाती है। इन टैनिनो का प्रयोग बहुत काल से वस्त्र तथा चर्म उद्योगों में होता आया है। खाल का टैनिन द्वारा उपचार करने से ही अच्छा चमडा बनता है। रोशनाई बनाने के लिए भी टैनिन का प्रयोग बड़े प्राचीन समय से होता आया है।

फार्मिक अम्ल—'वसीय अम्ल' कहे जानेवाले कार्बनिक अम्लो की श्रेणी का

यह प्रथम यौगिक है, तथा एसेटिक, ब्युटिरिक तथा स्टियरिक अम्ल इस श्रेणी के अन्य यौगिक हैं। भयभीत चीटियों द्वारा छोडी गयी तीखी गन्ध फार्मिक अम्ल के ही कारण होती है। वाणिज्यिक पैमाने पर यह अम्ल कार्बन मानो ऑक्साइड तथा दह क्षार की क्रिया मे सोडियम फार्मेट बनाकर तथा उससे स्वतत्र अम्ल मुक्त करके तैयार किया जाता है। वस्त्रोद्योग में भी रगाई के लिए यह प्रयुक्त होता है।

ऐस्कार्बिक अम्ल (विटामिन सी)—इस अम्ल का सश्लेषण ग्लूकोज से किया जाता है। ग्लूकोज़ मे सार्बिटोल, उससे सार्बोज और सार्बोज मे ३-कीटोएलगुलोनिक अम्ल और अन्त में लैक्टोन बनाया जाता है। निंबु जाति के फलो का महत्त्व अधिकाशत इसी विटामिन के कारण होता है क्योंकि दैनिक आहार में इसका होना परमावश्यक है, अन्यथा इसकी हीनता से प्रशीताद[1] नामक रोग हो जाता है।

सैलिसिलिक अम्ल—यह अम्ल फिनाल पर कार्बन मानो-ऑक्साइड की क्रिया से बनता है तथा यह एक शक्तिशाली प्रतिपूयिक भी है। इसके सोडियम और पोटा-सियम लवणो का प्रयोग औषधीय क्षेत्र में भी होता है। एस्पिरीन इसकी प्रख्यात व्युत्पत्ति है जिसका बडा व्यापक प्रयोग होता है।

बेन्जोइक अम्ल—यह सर्वप्रथम धूप निर्यास (गम वेन्ज़ोइन) से बनाया गया था। इस निर्यास से ऊर्ध्वपातन (सब्लीमेशन) द्वारा वेन्ज़ोइक अम्ल के केलास बनाये जा सकते हैं, परन्तु वाणिज्यिक पैमाने पर यह कोलतार आसुत टोलुइन से आक्सीकरण विधा द्वारा तैयार किया जाता है। इसका सोडियम लवण औषध के रूप मे प्रयुक्त होता है।

फार्मिक और सैलिसिलिक अम्ल—पहले खाद्य पदार्थो के परिरक्षण के लिए इस्तेमाल किये जाते थे, परन्तु अब बोरिक अम्ल को छोड़कर इस प्रयोजन के लिए इग्लैण्ड में केवल सल्फर डाइ-ऑक्साइड तथा वेन्ज़ोइक अम्ल ही प्रयुक्त किये जा सकते है और वे भी केवल सीमित मात्राओं में।

बोरिक अम्ल—इसे बोरैसिक अम्ल भी कहते है। यह कुछ खनिजो से व्युत्पन्न किया जाता है और विशेषकर ज्वालामुखी प्रदेशो में पाया जाता है। भूमि की दरारो से निकले वाष्प को सघनित करके टम्कनी में बहुत सा बोरिक अम्ल बनाया जाता है। यह एक प्रतिपूयिक के रूप में प्रयुक्त होता है। १५ वर्ष के प्रतिबन्ध के बाद युद्ध-काल में सूअर-मास और मार्गरीन के परिरक्षण के लिए इसका प्रयोग फिर

[1] Scurvy

आरम्भ हुआ। बोरैक्स (सुहागा) नामक इसका सोडियम लवण कुछ प्रकार के काच बनाने के काम आता है तथा कपड़ा धुलाई उद्योग में भी प्रयुक्त होता है।

हाइड्रोफ्लुओरिक अम्ल—फ्लुओरस्पार पर सल्फ्युरिक अम्ल की क्रिया से यह अम्ल प्राप्त किया जाता है तथा जलीय विलयन के रूप में मोम अथवा गटापार्चा की बोतलों में प्राप्य होता है। इस अम्ल में काच बडी सरलता से घुल जाता है अत. काच के निक्षारण[1] के लिए इसका अच्छा प्रयोग किया जाता है।

पैंथिक पदार्थ[2]—कली चूना, दह पोटाश, दह सोडा, स्ट्रोन्शियम हाइड्राक्साइड *तथा मैग्नेसिया और क्षारीय धात्वीय ऑक्साइड साधारण पीठ माने जाते हैं।* इन पदार्थों से अम्लों का उदासीनीकरण[3] होता है तथा द्विविच्छेदन द्वारा लवण और जल उत्पन्न होते हैं, अम्लों के हाइड्रोजन धातुओं द्वारा विस्थापित होते हैं, फलत लवण बन जाते हैं। दह पोटाश, पोटैशियम क्लोराइड के विद्युद्विश्लेषण (इलेक्ट्रोलॉसिस) से बनता है अथवा पोटासियम कार्बोनेट विलयन पर बुझाये चूने की क्रिया से तैयार किया जाता है। पोटासियम कार्बोनेट भी क्लोराइड से ही लिब्लाक की सशोधित *विधा द्वारा, या सिद्धान्तत अमोनिया-सोडा विधा-जैसी एक विधा से भी, (जिसमें* अमोनिया के स्थान पर ट्राइमिथिल अमीन प्रयुक्त होता है) तैयार किया जाता है। कुछ प्रयोजनों में मूल्यवान दह पोटाश के स्थान पर दह सोडा प्रयुक्त होता है, जो सस्ता होने के साथ-साथ समान रूप से उपयोगी होता है। लेकिन लकडी बुरादे से बडे पैमाने पर ऑक्जैलिक अम्ल तैयार करने के लिए दह पोटाश ही आर्थिक दृष्टि से उत्तम सिद्ध हुआ है; क्योंकि केवल दह सोडा के इस्तेमाल से पोटाश अथवा पोटाश सोडा *मिश्रण की प्रयुक्ति की तुलना में ऑक्जैलिक अम्ल की प्राप्ति केवल एक-तिहाई होती* है। दूसरी ओर वाहिनी गैसो (फ्लूगैस) के विश्लेषण में ऑक्सिजन अवशोषण के लिए पाइरोगैलिक अम्ल का सोडा विलयन पोटाश विलयन की अपेक्षा अधिक उत्तम प्रतिकर्मक है। दह पोटाश द्वारा अधिकाश धात्वीय लवणों का विच्छेदन हो जाता है तथा ऊँचे ताप पर बहुत से पदार्थों पर इसकी शक्तिशाली क्रिया होती है। बहु-सख्यक औद्योगिक विधाओं में इसका प्रयोग किया जाता है। *मृदु साबुन बनाने में भी दह पोटाश का प्रयोग होता है। इस साबुनीकरण में अलसी, ह्वेल तथा सील तेल* जैसे शोषण तेलों के वसीय अम्लों के पोटासियम लवण बनते हैं।

मैग्नेसिया का प्रयोग अमोनिया-सोडा विधा में होता है तथा यह ऊष्मसह पदार्थों

[1] *Etching* [2] *Bases* [3] *Neutralisation*

के रूप मे भी इस्तेमाल किया जाता है। चिकित्सीय क्षेत्र में मैग्नेसिया एक उत्तम प्रति-अम्ल (ऐण्टी-एसिड) के रूप मे प्रयुक्त होता है।

लवण—प्राविधिक महत्त्व के लवण अनेक हैं। सस्ते, जल-विलेय तथा अपेक्षाकृत निरापद होने के कारण सोडियम लवण विभिन्न उद्योगो मे निरन्तर प्रयोग किये जाते हैं। सोडियम लवणो के स्थान पर पोटासियम लवण भी प्रयुक्त हो सकते हैं, और कभी-कभी तो पोटासियम लवण का प्रयोग अधिक लाभदायी माना जाता है। पोटासियम परमैंगनेट तथा क्लोरेट सोडियम लवणों की अपेक्षा अधिक सरलता से केलासित किये जाते हैं इसीलिये वे अधिक परिशुद्ध अवस्था में प्राप्त किये जा सकते हैं। साधारण कालेगन पाउडर के निर्माण मे पोटासियम नाइट्रेट प्रयुक्त होता है क्योंकि वायु माण्डलिक आर्द्रता शोषण गुण के कारण सोडियम नाइट्रेट का प्रयोग अव्यवहार्य है। परन्तु सोडियम नाइट्रेट, नाइट्रोजनीय उर्वरक के रूप में भी बहुतायत से प्रयोग किया जाता है। यह चीली के क्षेत्रो में पाया जाता है। कृषि योग्य भूमि में पोटासियम की कमी उसमें पोटासियम क्लोराइड अथवा सल्फेट डालकर पूरी की जाती है, केनाइट नामक खनिज में यह पोटासियम और मैग्नेसियम के द्विलवण के रूप में विद्यमान होता है। कुछ रग-द्रव्यो के उत्पादन में पोटासियम फेरोसायनाइड और डाइक्रोमेट सघटक का काम करते है। इन रगद्रव्यो का प्रयोग टैंनिंग, रगीन फोटो छपाई तथा क्रोमियम प्लेटिंग मे किया जाता है। पोटासियम फेरोसायनाइड तथा धात्वीय सोडियम को एक साथ गरम करके सोडियम और पोटासियम सायनाइडो का एक मिश्रण तैयार किया जाता है, जिसका प्रयोग स्वर्ण निस्सारण की मैकार्थर-फॉरेस्ट विधा में होता है। रजक पदार्थों के उत्पादन मे सोडियम नाइट्राइट का प्रयोग बडे आधारभूत महत्त्व का है। चीली-साल्टपीटर अर्थात् सोडियम नाइट्रेट को सीस के साथ गरम करके सोडियम नाइट्राइट बनाया जाता है, इस विधा मे प्रयुक्त होनेवाला सीस (लेड) नाइट्रोजन स्थिरीकरण उद्योग में एक उप-जात के रूप मे प्राप्त होता है। सोडियम फार्मेल्डिहाइड सल्फोआक्सिलेट इसका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण लवण है, इसे 'रोगालाइट' भी कहते हैं। इसे बनाने के लिए पहले सोडियम मेटाबाइसल्फाइट पर यशद (ज़िक) की प्रतिक्रिया करायी जाती है और फिर उत्पन्न वस्तु का फार्मल्डिहाइड द्वारा उपचार कराया जाता है। यह कैलिको की छपाई मे प्रयुक्त होता है। सोडियम सिलिकेट अर्थात् वाटर-ग्लास अण्डो के परिरक्षणार्थ प्रयुक्त होता है। कार्बोनेट पत्थर भवनों को जलवायु प्रभाव से बचाने के लिए भी वाटर-ग्लास का प्रयोग होता है।

अमोनियम सल्फेट का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण कृत्रिम खाद के रूप में पहले ही

किया जा चुका है। इसका क्लोराइड टांका लगाने में इस्तेमाल किया जाता है। तथा उसका विलयन लेक्लाकी सेलो में विद्युदश्य (एलेक्ट्रोलाइट) का काम करता है। नाइट्रेट का प्रयोग विस्फोटक मिश्रणों के सघटक के रूप में होता है तथा यह नाइट्रस आक्साइड-जैसे निश्चेतन गैसो का स्रोत भी है। वाणिज्यिक अमोनियम कार्बोनेट स्मेलिंग-साल्टो का मुख्य सघटक भी होता है। अन्य महत्त्वपूर्ण लवणों में बोरैक्स का उल्लेख किया जा सकता है, इसका प्रयोग काच बनाने में, सधान (वेल्डिंग) में तथा औषध के रूप में किया जाता है। सोडियम परबोरेट और सोडियम मेटासिलिकेट कपडा धुलाई में अपक्षालक[1] के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सोडियम हेक्जामेटा फासफेट जल मृदूकरण के लिए इस्तेमाल होता है तथा बडे पैमाने पर उसका उत्पादन किया जाता है।

बेरियम और स्ट्रान्शियम लवणों का प्रयोग आतशबाजी में होता है, बेरियम से हरा तथा स्ट्रान्शियम से लाल रग का प्रकाश निकलता है। मैग्नेसियम सल्फेट अर्थात् 'एप्सम साल्ट' तथा सोडियम सल्फेट यानी 'ग्लाबर्स साल्ट' रेचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पारद के लवण औषध के लिए इस्तेमाल होते है, इनमें कैलोमेल विशेष उल्लेखनीय है। मरक्यूरिक क्लोराइड अर्थात् कोरोसिव सब्लीमेट एक उत्तम प्रतिपूयिक भी है तथा फल्मिनेट कारतूस की टोपी दगाने के काम में आता है। यशद क्लोराइड का प्रयोग लकडी के परिरक्षण के लिए किया जाता है तथा सूती वस्त्रो के भराव के लिए भी इस्तेमाल होता है। यशद क्लोराइड और आक्साइड को चूर्णित काच को साथ मिला कर दन्त भराव के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। घावों के धोने तथा नेत्र रोगो के लिए यशद सल्फेट का जलीय विलयन एक उत्तम कषाय लोशन का काम करता है। पैठिक सीस कार्बोनेट अर्थात् 'ह्वाइट लेड' का प्रयोग रग लेप बनाने में होता है। सीस एज़ाइड बडा विस्फोटक पदार्थ है अत उसका प्रयोग तदर्थ किया जाता है। विसमथ तथा लौह लवणो का प्रयोग औषध के रूप में होता है। लौह सल्फेट स्वर्ण निस्सारण विधा में भी प्रयुक्त होता है।

कुछ पराक्सी यौगिको का उल्लेख करना भी आवश्यक है क्योंकि उनका भी बडा प्राविधिक महत्त्व है। अलुमिनियम की तश्तरियो में रखे सोडियम पर तप्त हवा की क्रिया से सोडियम पराक्साइड प्राप्त होता है तथा सोडियम अथवा पोटासियम परसल्फेट बनाने के लिए बाइसल्फेटो का विद्युदागन[2] करना पडता है। अमोनियम

[1] Detergent [2] Electrolysing

परसल्फेट बनाने के लिए भी अमोनियम सल्फेट के सल्फ्यूरिक अम्ल विलयन में विद्युत धारा प्रवाहित करायी जाती है। इन लवणों का उपयोग विरंजनकारक तथा स्वच्छ कारक के रूप में होता है। हाइड्रोजन परॉक्साइड भी एक दूसरा विरंजनकारक है, विशेषकर ऊन के लिए। इसे बनाने के लिए शीत जल में कार्बन डाइऑक्साइड प्रवाहित कराके उसमें धीरे-धीरे बेरियम परॉक्साइड डाला जाता है। अविलेय बेरियम कार्बोनेट के नीचे बैठ जाने पर स्वच्छ द्रव को न्यून दबाव पर आसवित किया जाता है।

विलायक—गत कुछ वर्षों में विलायकों की संख्या तथा उनके औद्योगिक प्रयोग दोनों में महती वृद्धि हुई है। इनका प्रतिपादन निम्नलिखित वर्गों के आधार पर किया जायगा: हाइड्रोकार्बन तथा अन्य विलायक कीटोन, ऐल्कोहॉल तथा उनके ईथर, एस्टर, ग्लाइकॉल, साइक्लोहेक्सेन व्युत्पन्न, क्लोरो-यौगिक, तथा सुवहन (पैराफ़िन-मार्जित) विलायक। प्रस्तुत विवेचन में प्रत्येक वर्ग के केवल कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यौगिकों का ही उल्लेख सम्भव है। रासायनिक निर्माण की बहुसंख्यक क्रियाओं में उनके प्रयोग के अलावा वे प्रलाक्षों[1], रस लेपों और वार्निशों के उत्पादन में भी व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं।

कोलतार के प्रभाजन आसवन[2] से प्राप्त बेन्ज़ीन, टॉलुईन और ज़ाइलीन के विलायकों के रूप में बहुसंख्यक प्रयोग होते हैं। टॉलुईन तो विशेष रूप से रेज़िनों को घुलाने के काम में आती है तथा प्रलाक्षों के तनुकर्ता[3] के रूप में भी बहुत उपयुक्त होती है। अनेक विशाल रासायनिक निर्माण क्रियाओं में पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बनों का प्रयोग विलायकों के रूप में होता है, उनका सस्ता होना उनकी विशेषता है। उनकी विविध श्रेणियाँ—पेट्रोलियम ईथर, लिग्रोइन, नैफ्था तथा व्हाइट स्पिरिट के नाम से उपलब्ध होती हैं तथा उनके विभिन्न क्वथनांक होते हैं। पेट्रोलियम विलायक नैफ्था के हाइड्रोजनन से ऐसे हाइड्रोकार्बन तैयार किये गये हैं जो ऐल्किड प्रकार के संश्लिष्ट रेज़िनों के लिए उत्तम विलायक का काम करते हैं। कार्बन डाइ सल्फाइड का आविष्कार लैम्पाडियस ने १७९६ ई० में किया और कार्बन के साथ लौह माक्षिक का आसवन करके इसे तैयार किया था। यह एक वाष्पशील, विषाक्त तथा अति वर्तनांक (रिफ़्रैक्टिव) द्रव है जो जल से भारी होता है। साधारणतया उपलब्ध कार्बन डाइसल्फाइड की गन्ध अत्यन्त असहनीय होती है परन्तु शुद्ध यौगिक की गन्ध ईथर के

[1] Lacquers
[2] Fractional distillation
[3] Diluent

समान होती है तथा बहुत असुखकर नहीं होती। विशेष प्रकार की बनी विद्युद्भट्ठियों में चारकोल और गंधक का सीधा संयोग न कराकर कार्बन डाइ सल्फाइड का निर्माण किया जाता है। इसके अनेक प्रयोग हैं—इसमें गंधक, निर्यास (गम), रबर, फास्फोरस, रेज़ीन, वाष्पशील तैल, आयोडीन तथा ऐल्कलायड विलीन हो जाते हैं। विस्कोज कृत्रिम रेशम के उत्पादन में इसका व्यापक प्रयोग इसके मुख्य उपयोगों में से है। खली में से वसीय तेलों के निस्सारण के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाता है और बाद में आसवन से पृथक करके आगे इस्तेमाल के लिए पुन प्राप्त कर लिया जाता है। इसमें गंधक का विलयन रबर के वल्कनीकरण के लिए प्रयुक्त होता है।

कीटोन वर्ग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विलायक एसिटोन है। कुछ वर्षों के पहले तक यह लकड़ी के भंजक आसवन के अन्तिम पदार्थों में से ही प्राप्त किया जाता था परन्तु अब इसके निर्माण की अन्य विधाएं भी ज्ञात हो गयी हैं। लकड़ी के भंजक आसवन की उत्पत्तियों में से एसेटिक अम्ल भी एक है, और जब चूने के द्वारा इसे उदासीन करके प्राप्त कैल्सियम एसिटेट को छिछले रिटार्टों में सीधे आग की आंच से गरम करके उसका आसवन किया जाता है तो अपरिष्कृत एसिटोन प्राप्त होता है। तत्पश्चात् थोड़े सल्फ्युरिक अम्ल के साथ प्रभाजन आसवन करने से शुद्ध एसिटोन तैयार होता है। लेकिन आजकल उपलब्ध एसिटोन की अधिकांश मात्रा एन-ब्युटिल ऐल्कोहाल के साथ-साथ फर्नबैक-स्ट्रेन्ज-वीज़मैन विधा से मकई के आटे का किण्वन करके प्राप्त की जाती है। उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त महासागर के समुद्र तट पर उत्पन्न होनेवाले एक प्रकार के समुद्र घास के किण्वन से भी एसिटोन बनाया जाता है। उपयुक्त जीवाणु के रोपण से एसेटिक अम्ल तथा उसके साथ उस सजातीय श्रेणी के अन्य अम्ल उत्पन्न होते हैं, इनके कैल्सियम लवण के आसवन से एसिटोट तैयार होता है। आजकल कनाडा में क्रियान्वित होनेवाली एक निर्माण विधा में एसेटिलीन तथा वाष्प का उच्च ताप पर उत्प्रेरक (कटेलिटिक) उपचार करके एसिटोन तैयार किया जाता है। एसिटोन सर्वाधिक शक्तिशाली विलायकों में से एक है, इसीलिए विस्फोटक निर्माण, रंगलेप, वार्निस तथा प्लैस्टिक उद्योगों-जैसे अनेक रासायनिक कार्यों में इसका बड़ा व्यापक प्रयोग होता है।

मिथेनॉल ऐल्कोहाल वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण विलायक है। कुछ समय पूर्व तक यह भी एसिटिक अम्ल के साथ-साथ काष्ठ आसवन से ही तैयार किया जाता था, लेकिन अब यह वाटर-गैस से संश्लेषण विधाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है। एक भाग (आयतन) कार्बन मानो ऑक्साइड तथा डेढ़ से दो भाग हाइड्रोजन को १५०–२०० वायुमण्डल दबाव तथा ४००°–४२०° ताप पर यशद ऑक्साइड के ऊपर पार कराने

से जो द्रव प्राप्त होता है उसमें मुख्यतः मिथिल ऐल्कोहाल तथा जल होता है। उसी प्रकार वाटर-गैस और हाइड्रोजन से भी ५०० वायुमण्डल दवाव पर मिथिल एल्कोहाल उत्पन्न होता है, जिसका सान्द्रण प्रायः ८०% होता है। इसमें इथिल सेलुलोज, कोलोफोनी, लाख, मृदु बेकालाइट तथा अण्डी का तेल विलीन होता है। इथेनाल अर्थात् इथिल ऐल्कोहाल भी किण्वन विधा से ही बनाया जाता है तथा रासायनिक उद्योगों में प्रलाक्ष वगैरह बनाने में प्रयुक्त होता है। लेकिन आजकल बहुत से प्राविधिक प्रयोजनों में इसका इस्तेमाल बन्द कर दिया गया है क्योंकि आइसोप्रोपिल ऐल्कोहल इससे सस्ता होता है और इससे कम उपयोगी नहीं होता। एसिटोन और हाइड्रोजन गैस को उत्प्रेरक निकेल[1] के ऊपर पार कराने से आइसोप्रोपिल एल्कोहल का संश्लेषण होता है। किण्वन विधा से एसिटोन के उत्पादन में एन-ब्युटिल एल्कोहाल भी उत्पन्न होता है और यह बड़ी मात्राओं में इस्तेमाल किया जाता है। इसका विशेष गुण यह है कि इसमें कठोर कोपल[2] (समुद्राम) भी सरलता से घुल जाते हैं। इसकी थोड़ी मात्रा (लगभग ३%) डालने से मिथिलीयित स्पिरिट और पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बन एकसम मिल जाते हैं। सेमिल ऐल्कोहाल भी इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण विलायक है, यह किण्वन विधा अथवा लघु पेट्रोलियम के पेन्टेन प्रभाग से संश्लेषण द्वारा तैयार किया जाता है। डाइएसिटोन ऐल्कोहाल इस वर्ग का अन्तिम विलायक है जिसके प्रयोग की भविष्य में बड़ी व्यापक सम्भावनाएँ हैं, इसका निर्माण क्षारों की सहायता से एसिटोन के संघनन से किया जाता है। यह गंधहीन और रंगहीन द्रव है जो जल के साथ सर्वथा मेल्य है और सेलुलोज एसिटेट प्रलाक्षों के लिए तो विशेष महत्त्व का है।

विलायकों के रूप में इस्तेमाल करने के लिए आजकल बहुत-से एस्टर[3] भी औद्योगिक पैमाने पर उत्पन्न किये जाते हैं। इसमें मिथिल एसिटेट, इथिल एसिटेट ऐमिल एसिटेट तथा इथिल लैक्टेट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये उच्च क्वथनांक वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विलायक हैं, जिनकी सेलुलोज एसिटेट तथा सेलुलोज नाइट्रेट दोनों के लिए बड़ी उपयोगिता है।

ग्लाइकोल वर्ग का सबसे मूल्यवान् विलायक इथिलीन ग्लाइकोल मोनोइथिल ईथर है जिसे 'सिलोसाल्व' भी कहते हैं। इसके निर्माण के लिए पहले इथिलीन को आक्सीकृत करके इथिलीन आक्साइड बनाया जाता है और तब इसी को अम्ल की

[1] Nickel catalyst [2] Copal [3] Esters

उपस्थिति में इथिल ऐल्कोहाल के साथ सघनित किया जाता है। यह सेलुलोज नाइट्रेट तथा साइक्लोहेक्ज़ानोन-फार्मोल्डिहाइड रेज़ीन के लिए बडा उत्तम विलायक है। डाइइथिलीन ग्लाइकोल मोनोइथिल ईथर, जिसका अधिक सही नाम हाइड्राक्सी-इथाक्सी इथिल ईथर है और वाणिज्य में जिसे 'कार्बिटॉल' कहते है, टेक्सटाइल साबुन बनाने एव रगीन छपाई में काम आता है। विलायकों के रूप में इस्तेमाल किये जाने वाले सभी ग्लाइकोलो का वर्णन यहाँ सभव नही है, आजकल ऐसे लगभग २० विलायक औद्योगिक पैमाने पर तैयार किये जाते है।

अगले वर्ग का मूल पदार्थ साइक्लोहेक्ज़ेनॉल है, जो फिनाल के उत्प्रेरक हाइड्रोजनन से तैयार किया जाता है। फिनाल का उपचार उत्प्रेरक निकेल की उपस्थिति में कम से कम ४ वायुमण्डल दबाव पर हाइड्रोजन से १६०°—२०० ताप पर किया जाता है। यह शोधित विलायक तैलीय द्रव के समान होता है जिसमें कर्पूरीय गध होती है। यह हाइड्रोजनन अगर २००° ताप के बहुत ऊपर किया जाय तो साइक्लोहेक्ज़ानोन बन जाता है, यह यौगिक तथा इसकी मिथिल व्युत्पत्ति बडे शक्तिशाली विलायक है, वर्तमान प्राविधिक क्रियाओ में इनका बडा महत्त्व है।

क्लोरिनित विलायक भी बहुत समय से इस्तेमाल किये जाते है और इनकी मुख्य उपयोगिता विभिन्न प्रकार की निस्सारण विधाओ में रही है। इथिलीन डाइक्लोराइड ट्राइक्लोराइथिलीन (वेस्ट्रोसोल), टेट्राक्लोरइथेन (वेस्ट्रॉन), तथा टेट्राक्लोरइथिलीन व्यापकत प्रयुक्त होते है। डाइक्लोरइथिलीन विशेपरूप से रबर के लिए प्रभावी विलायक माना जाता है। कार्बन टेट्राक्लोराइड बहुमूल्य विलायक होने के अतिरिक्त अग्नि बुझानेवाले पदार्थों के सघटक के रूप में भी इस्तेमाल होता है। कार्बन डाइसल्फाइड पर सल्फर अथवा आयोडीन की उपस्थिति में क्लोरीन या सल्फर क्लोराइड की क्रिया से कार्बन टेट्राक्लोराइड तैयार किया जाता है। क्लोरोफार्म का प्रयोग यद्यपि विश्लेषण कार्यों में खूब होता है, लेकिन औद्योगिक विधाओं में उतना इस्तेमाल नही किया जाता जितना उपर्युक्त अन्य विलायक किये जाते है। परन्तु निश्चेतक के रूप में आज भी इसका मुख्य स्थान है।

प्लास्टिककर्ताओं (प्लैस्टिसाइजर्स) का एक अलग वर्ग है, जिनकी वाष्पशीलता कम होती है तथा जिनसे सेलुलोजएस्टरो के लचीलेपन में काफी वृद्धि होती है। प्लास्टिक कर्ताओ के उपयुक्त प्रयोग से सेलुलोज एस्टरों की झिल्लियों की भगुरता कम की जा सकती है, जिससे फट जाने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बदल जाती है। कपूर प्लास्टिककर्ताओं में अग्रणी है, यद्यपि सेलुलायड बनाने में तो वह अब भी कुछ हद तक इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन अन्य क्रियाओ में उससे अधिक उपयुक्त दूसरे

पदार्थ उसका स्थान लेते जा रहे हैं. ये अधिकांशतः उच्च क्वथनांकवाले एस्टर होते हैं। ट्राइक्रिसिल फास्फेट अर्थात् ट्राइटोलिल फास्फेट (टी० सी० पी०), ट्राइए-सेटीन तथा डाइब्युटाइल थैलेट बडे व्यापक प्रयोगवाले प्लास्टिककर्ता हैं। इस वर्ग का महत्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अब तक ६० से ऊपर प्लास्टिककर्ताओं का अनुसन्धान हुआ है और लगभग एक दर्जन का तो औद्योगिक पैमाने पर उत्पादन भी होने लगा है।

प्रयोगशाला रसद्रव्य—रासायनिक उत्पत्तियों के अन्तर्गत अब तक जिन पदार्थों का वर्णन किया गया है उनकी संख्या साधारणतया प्रयोग में आनेवाले सभी रासायनिक यौगिकों की तुलना में बहुत ही कम है तथा उनमें प्रयोगशालाओं में काम आनेवाले अथवा आज के केवल वैज्ञानिक महत्त्ववाले रसद्रव्य शामिल नहीं हैं, इनकी तो अपनी ही संख्या काफी बड़ी है। यह नहीं कहा जा सकता कि आज के केवल वैज्ञानिक महत्त्ववाले रासायनिक यौगिकों की कब और किस हद तक व्यावहारिक उपयोगिता होगी, क्योंकि अनेक ऐसे तत्त्वों और यौगिकों की जो एक समय केवल वैज्ञानिक जिज्ञासा के विषय थे आज औद्योगिक महत्ता का अनुमान करना कठिन है। विश्लेषण फलों की यथार्थता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि प्रतिकर्मक रूप में प्रयुक्त होनेवाले शुद्ध रसद्रव्यों की यथेष्ट उपलब्धि किसी भी प्रयोगशाला के लिए अनिवार्य है। प्रायः सभी क्रय-विक्रय विश्लेषण-आँकडों पर ही आधारित होते हैं और इन्हीं आँकडों के द्वारा विभिन्न प्राविधिक क्रियाओं की जाँच एवं नियमन किया जाता है। प्रतिकर्मक की विशुद्धता पर ही विविध रासायनिक अन्वेषणों की सुनम्यता निर्भर करती है।

१९१४-१८ वाले प्रथम महायुद्ध काल में इंग्लैण्ड की औद्योगिक एवं अनुसन्धान प्रयोगशालाओं में विश्लेषण प्रतिकर्मकों[1] तथा शुद्ध रसद्रव्यों की भारी कमी हो गयी थी। तभी से वहाँ सूक्ष्म रसायन उद्योग का विस्तार किया गया फलस्वरूप द्वितीय युद्ध के आपात काल में आयुधों और शस्त्रसंभार के कारखानों की विश्लेषण प्रति-कर्मक तथा शुद्ध रसद्रव्य सम्बन्धी माँग की सतोषजनक पूर्ति की जा सकी। आजकल उस देश में प्रायः सभी मुख्य विश्लेषण प्रतिकर्मक काफी मात्रा में उत्पन्न किये जा रहे हैं। इन प्रतिकर्मक शुद्धतावाले रसद्रव्यों के धारकों के लेबुलों पर उनमें विद्यमान अशुद्धियों के प्रत्याभूत[2] महत्तम अनुपात लिखे रहते हैं क्योंकि सर्वोत्तम

[1] Analytical reagents [2] Guaranteed

शुद्धतावाले रसद्रव्यों में भी अति सूक्ष्म मात्रा में विजातीय पदार्थ तो उपस्थित रहते ही हैं।

दस वर्ष पूर्व साधारण प्रयोग में आनेवाले विश्लेषण प्रतिकर्मक प्रायः अकार्बनिक पदार्थ हुआ करते थे, लेकिन आज तो अनेक कोमल परीक्षणों के लिए बहुत से कार्बनिक रसद्रव्य प्रयुक्त होने लगे है। इसके फलस्वरूप सूक्ष्म रसद्रव्य निर्माताओं के कार्यक्षेत्र बहुत बढते चले जा रहे हैं। अभी हाल से ही प्रचलित विश्लेषण की सूक्ष्म रासायनिक रीतियों के लिए तो अत्यन्त शुद्धतावाले प्रतिकर्मकों की आवश्यकता होने लगी है। जीव रासायनिक अनुसन्धानों के लिए ऐसे विश्लेषणों का बडा महत्त्व है।

निश्चेतक (एनेस्थेटिक)—निश्चेतकों के आविष्कार द्वारा रसायन-विज्ञान से मानव जाति को बहुत बड़ा वरदान मिला है। पिछले कुछ वर्षों में निश्चेतन विज्ञान ने भी काफी प्रगति की है, नये-नये निश्चेतकों का प्रयोग होने लगा है तथा उनकी प्रयोग-विधि में भी परिवर्तन हुआ है। कुशल निश्चेतन से न केवल रोगी पीडा-मुक्त हो जाता है वरन शल्यक को भी बडी सरलता होती है। इसमें सन्देह नही कि वर्तमान निश्चेतकों के प्रयोग के बिना बहुत-सी जटिल एव जीवन-रक्षी शल्यचिकित्सा संभव न हो सकी होती। ऐसे यौगिकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) श्वास-निश्चेतक, (२) आधारीय प्रमीलक (बेसल नारकोटिक), (३) प्रादेशिक निश्चेतक तथा (४) स्थानीय निश्चेतक।

निश्चेतनता उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होनेवाले यौगिकों में क्लोरोफार्म का सबसे पहला स्थान है। १८४७ ई० में लन्दन में लारेन्स ने तथा एडिनबरो में सिम्पसन ने इसका प्रयोग किया था। एल्कोहाल अथवा एसिटोन पर ब्लीचिंग पाउडर की क्रिया कराकर क्लोरोफार्म बनाया जाता है, लेकिन निश्चेतनता के लिए इसका शोधन बडी सावधानी से करना पडता है। इसकी उच्च विषालुता हानिकर होती है, इसीलिए आजकल इसके स्थान पर ईथर इस्तेमाल होने लगा है क्योंकि अपेक्षाकृत ईथर की विषालुता कम होती है। अब तो बहुधा नाइट्रस आक्साइड और ईथर का मिश्रण प्रयुक्त होने लगा है। अमोनियम नाइट्रेट से नाइट्रस आक्साइड के उत्पादन का उल्लेख किया जा चुका है। ईथर, ऐल्कोहाल पर सल्फ्युरिक अम्ल की प्रतिक्रिया से तैयार किया जाता है।

वर्तमान प्रथा में आधारीय प्रमीलकों (बेसल नारकोटिक) का पूर्वौषधदान (प्रीमेडिकेशन) करके चेतना का लोप किया जाने लगा है, फिर पूर्ण शल्यक निश्चेतनता श्वास-निश्चेतक देकर उत्पन्न की जाती है। इस वर्ग में मुख्यतः दो यौगिकों का उल्लेख

किया जा सकता है, (१) ट्राइब्रोमो-एथिल एल्कोहॉल, जिसका प्रयोग वस्तिकर्म द्वारा कराया जाता है तथा (२) हेक्सोबार्बिटोन, जो अन्तःशिरा[1] सूई लगाकर दिया जाता है। द्वितीय यौगिक बार्बिट्यूरेट वर्ग का सदस्य है जिसमें बहुत-से लाभकारी सम्मोहक (हिप्नॉटिक) भी सम्मिलित हैं। "वेरोनल" अथवा "ल्यूमिनल" नाम से प्रसिद्ध बार्बिटोन स्वयं इसी वर्ग का है। छोटी-छोटी शल्य क्रियाओं के लिए तो साधारणतः स्थानिक का प्रयोग ही पर्याप्त होता है और इससे व्यापक निश्चेतकों से उत्पन्न होनेवाले अप्रिय अनुभवों (आफ्टर इफेक्ट्स) से रोगी बच जाता है।

स्थानीय निश्चेतकों में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक रूप से प्रयुक्त होनेवाला संश्लिष्ट यौगिक प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड है जिसे "नोवोकेन" भी कहते हैं। संश्लिष्ट पदार्थों में यह सबसे निरापद माना गया है तथा इसने कोकेन को भी प्रतिस्थापित किया है। कोकेन यद्यपि बड़ा प्रबल स्थानीय निश्चेतक है लेकिन इसके प्रयोग से बड़े विकार उत्पन्न हो जाते हैं। कोका की पत्तियों में कोकेन प्राकृतिक रूप से होता है तथा इसकी रासायनिक संरचना का भी पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है लेकिन संश्लेषण से इसका बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि अपेक्षाकृत अन्य सरल यौगिक इससे अधिक संतोषप्रद निश्चेतक सिद्ध हुए हैं।

भेषज—औषध रूप में प्रयुक्त होनेवाले बहुत-से भेषज वनस्पति जगत से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ क्वीनीन का उल्लेख किया जा सकता है, १८२० ई० में पेले-तियर तथा कैवेन्टाउ ने इसका आविष्कार किया था। यह सिन्कोना प्रजाति के वृक्षों की छालों में इसी संरचनावाले अन्य यौगिकों के साथ विद्यमान होता है। ईक्वेडोर सिन्कोना का मूल प्रदेश है यद्यपि अब तो यह भारत, श्री लंका तथा डच ईस्ट इण्डीज में बड़ी सफलता से उगाया जाता है। वनस्पति जगत से प्राप्त दूसरा प्रमुख भेषज स्ट्रिक्नीन है जो स्ट्रिक्नॉस नक्स-वोमिका (कुचिला) नामक वृक्ष के बीजों से निष्कासित किया जाता है। नेत्र चिकित्सकों द्वारा बहुतायत से प्रयुक्त होनेवाला ऐट्रोपीन किसी हेनबेन (हायोसियामस नाइगर) से प्राप्त होती है। यह भी एक ऐल्कलॉयड है जिसके अत्यंत विरलन को आंख में डालने से पुतली बड़ी हो जाती है। ऐट्रोपा बेला-डोना में, जिसे डेडली नाइटशेड भी कहते हैं, इसके अतिरिक्त हायोसियामीन तथा हायोसीन ऐल्कलॉयड होते हैं। पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड के उपचार से हायोसियामीन का परिवर्तन होकर ऐट्रोपीन बन जाता है।

[1] Intravenously

प्राकृतिक भेषजों के अलावा अब रसायनज्ञों का ध्यान अधिकाधिक संश्लिष्ट चिकित्सीय पदार्थों की ओर आकृष्ट होने लगा है। इनमें से बहुत-से यौगिक प्रकृति में होते ही नहीं, उदाहरणार्थ सैलिसिलिक अम्ल और उसकी एसिटाइल व्युत्पत्ति, ऐस्पिरीन का उल्लेख किया जा सकता है। ये पदार्थ फिनोल से बनाये जाते हैं और सन्धिवातीय एवं स्नायविक रोगों के उपचारार्थ प्रयुक्त होते हैं। फिनेसिटीन तथा एसेटैनिलाइड नामक ज्वरघ्न (ऐन्टीपायरेटिक) भी फिनोल से बनाये जाते हैं। फिनाज़ोन भी दूसरा ज्वरघ्न है, लेकिन इसके बनाने की रीति भिन्न है, एसिटोएसेटिक एस्टर के साथ फिनाइल हाइड्राज़ीन के संघनन से पाइराज़ोलोन व्युत्पत्ति तैयार होती है और इसी को मिथिलीयित करने से फिनाज़ोन बनता है। आवारीय प्रमीलकों के सबन्ध में उल्लिखित बार्बिटुरेट श्रेणी के बहुत-से संश्लिष्ट भेषज भी बड़े उत्तम सम्मोहक हैं और स्नायुव्याधियों के उपचार में सामान्य शमक (सिडेटिव) का काम करते हैं। ये यौगिक मेलॉनिक अम्ल व्युत्पत्तियों के साथ यूरिया के संघनन से तैयार किये जाते हैं।

इस शताब्दी के प्रथम दशक में किये गये एर्लिक के अनुसन्धानों ने धातवीय तत्त्वों के कार्बनिक यौगिकों का समारम्भ किया। ये यौगिक मुख्यतः आर्सेनिक और ऐण्टीमनी के थे और विशेषकर प्रोटोजीवी संक्रमणों के उपचार के लिए प्रयुक्त हुए। इन जटिल कार्बनिक यौगिकों का बड़ा लाभ यह है कि ये उपर्युक्त तत्त्वों के सरल यौगिकों से बहुत कम विषालु होते हैं, परन्तु इनकी चिकित्सीय सक्रियता बड़ी प्रखर होती है। आर्सेनिक यौगिकों में से सालवर्सन, नियोसालवर्सन, ट्राइपार्समाइड, तथा एसिटार्सोल व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं। स्टिबोफेन प्रायः ऐण्टीमनी का सर्वोत्तम कार्बनिक यौगिक है और ऐण्टीमोनियम ऑक्साइड, सोडियम हाइड्रॉक्साइड तथा पाइरोकैटेचॉल-३ ५ डाइसल्फॉनिक अम्ल की प्रतिक्रिया से बनाया जाता है। इसका प्रयोग भारत तथा कुछ पूर्वी भूमध्यसागर के प्रदेशों में सामान्यतः फैले पराश्रयिक रोगों के उपचार के लिए किया जाता है।

'प्राण्टोसील रेड' नामक एक रंजक का आविष्कार पिछले कुछ वर्षों में हुआ। यह इस दिशा का सबसे महत्त्वपूर्ण विकास था। कुछ जीवाणुओं के लिए यह यौगिक निश्चित रूप से अवरोधक सिद्ध हुआ। कुछ ही समय बाद इससे सबन्धित दूसरा यौगिक, प- अमिनोबेन्ज़ीन सल्फोनामाइड बना जिसका चिकित्सीय गुण प्रॉण्टोसील के समान था, लेकिन लाभ यह था कि इसकी विषालुता उससे बहुत कम थी। एतदर्थ यह नया यौगिक निमोनिया, प्रसूतिज्वर रोगाणुरक्तता (सेप्टीसीमिया), स्कारलेट ज्वर, तथा स्ट्रेप्टोकाक्कीय गलशोथ के उपचार के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

यह पदार्थ एसेटाइल सल्फनिलिक अम्ल का हाइड्रोक्लोरिक अम्ल द्वारा जलाशन करके तथा प्राप्त सल्फेनिल अमाइड हाइड्रोक्लोराइड का सोडियम हाइड्राक्साइड की तुल्य मात्रा से विच्छेदन करके तैयार किया जाता है। इसे साधारणतया सल्फे-निलअमाइड अथवा सल्फोनामाइड कहते है। इस वर्ग के यौगिको के सबन्ध मे अनु-सन्धान चल रहे है और प- अमिनोबेन्जीन-सल्फोनिल-२-अमिनो-पिरिडीन (एम० बी० ६९३') तथा प-अमिनोबेन्जीन सल्फोनिल-२-अमिनो-थायाजोल (एम० बी० ७६०) जैसे यौगिक आविष्कृत हुए है और इनसे निमोनिया के उपचार में प्रशसनीय सफलता मिली है। इधर हाल में घावो पर सल्फैनिलैमाइड लगाने से उनके भरने मे तथा अन्य जीवाणुओं के आक्रमण का निवारण करने मे भी बडी अच्छी सफलता प्राप्त हुई है।

पौष्टिक भोजन की कमी से उत्पन्न रोगो के उपचार के लिए विटामिनो का प्रयोग बडा ही लाभकारी सिद्ध हुआ है और अब तो प्राकृतिक विटामिनो के अलावा रसायनज्ञो ने इन्हे अपनी प्रयोगशाला मे भी तैयार करना प्रारम्भ कर दिया है। निकोटीन से निकोटिनिक अम्ल तथा उसका अमाइड और विटामिन बी जटिल का ऐण्टी-पेला-ग्राखण्ड सरलता से उत्पन्न किये जा सकते है। विटामिन सी अर्थात् एस्कार्बिक अम्ल भी अब सश्लेषण रीति द्वारा ग्लूकोज़ से भारी पैमाने पर तैयार किया जाने लगा है। विटामिन डी (कैल्सिफेरॉल) बनाने के लिए अर्गोस्टिरोल के विलयन को परानील-लोहित (अल्ट्रावायलेट) प्रकाश द्वारा प्रविकिरण (इरॅडियेशन) करके कैल्सिफेरिल ३ ५-डाइनाइट्रोबेन्जोयेट के रूप में कैल्सिफेरॉल एकत्र किया जाता है और तब केला-सन से शुद्ध किया जाता है तथा अन्त में सोडियम हाइड्राक्साइड के तनिक आधिक्य के साथ उबालकर स्वतन्त्र कैल्सिफेरॉल पुनर्जनित कर लिया जाता है। विटामिन ए की रासायनिक सरचना भी अब ज्ञात हो गयी है। वैसे तो यह विटामिन औद्यो-गिक पैमाने पर मछली यकृत-तेलो से आणवआसवन (मॉलिक्यूलर डिस्टिलेशन) द्वारा बडी शुद्धावस्था में उत्पन्न किया जाता है। विटामिन ई (टोकोफेरॉल) भी इसी रीति से वनस्पति तेलो से तैयार किया जाता है। यह विटामिन स्नायविक ह्रास से उत्पन्न मास-पेशियो के कुछ कठिन रोगो के लिए सफलता पूर्वक प्रयुक्त होता है।

पिछले बीस वर्षो में हुए जीवरासायनिक अनुसन्धानो से वर्तमान हॉर्मोन चिकित्सा का प्रारम्भ हुआ है। ग्रन्थियो की हीनता के कारण उत्पन्न रोगो के उपचारार्थ अब शरीर के अनिवार्य रसद्रव्यों की पूर्ति बाहर से की जाने लगी है। ये रसद्रव्य हॉर्मोन वर्ग के होते है। इन्सुलीन सबसे महत्त्वपूर्ण हार्मोन है, यह पैक्रियास से निस्सारित करके लगभग पिछले बीस वर्षों से औद्योगिक पैमाने पर तैयार किया जाता रहा है।

इस हार्मोन से मधुमेह पीडित असख्य रोगियो को जीवन-दान मिला है। गल-ग्रन्थि (थायरायड) के सक्रियतत्त्व, थायरॉक्सीन का वाणिज्यिक उत्पादन अब सश्लेषण रीति से होने लगा है। रासायनिक अनुसन्धान के औद्योगिक प्रयोग का यह एक उत्तम उदाहरण है। इस क्षेत्र में प्राप्त की गयी हाल की सफलताओ में स्टिल्बोस्टिरॉल तथा हेक्सोस्टिरॉल का सश्लेषण भी है। प्राकृतिक अण्डाशयो के महगे फालिक्यूलर हार-मोनो यानी ओस्ट्रियोल तथा ओस्ट्राडायल के स्थान पर अब ये सश्लिष्ट हारमोन बडी सफलतापूर्वक इस्तेमाल किये जाते है। बहुत-सी दशाओ में तो सश्लिष्ट हार्मोन अच्छे माने जाते है क्योकि उनका मौखिक सेवन प्रभावी होता है जिसके फलस्वरूप सूई लगवाने का कष्ट बच जाता है। अन्तिम उदाहरण के लिए टेस्टेरोस्टिरॉन व प्रोज-स्टिरॉन नामक लिग हॉर्मोनो के सश्लेषण का उल्लेख किया जा सकता है। इनके सश्लेषण के लिए कोलेस्टिरॉल प्रारम्भिक पदार्थ है। प्रोजेस्टिरॉन कार्पसल्युटियम का हार्मोन है और स्वाभाविक गर्भस्राव तथा सबन्धित स्त्री-रोगो के उपचारार्थ प्रयुक्त होता है। टेस्टेरोस्टिरॉन पुरुष लिग हार्मोन है।

उपर्युक्त उदाहरण पाठको को केवल यह दर्शाने के लिए चुने गये है कि बहुसख्यक औद्योगिक शाखाओ, प्रशाखाओ में रसद्रव्यो का क्या महत्त्व है, पूर्ण विवरण तो स्थाना-भाव के कारण सभव ही नही है।

ग्रंथ-सूची

ARMSTRONG, E. F. *Chemistry in the Twentieth Century.* Ernest Benn, Ltd

BARROWCLIFF, M., AND CARR, F. H. · *Organic Medicinal Chemicals.* Bailliere, Tindall & Cox

FEIGL, F. . *Qualitative Analysis by Spot Tests.* Translated by J. Matthews. Nordeman Publishing Co.

MARTIN, G . *Industrial and Manufacturing Chemistry* Technical Press, Ltd.

MAY, P , AND DYSON, G M : *Chemistry of Synthetic Drugs.* Longmans, Green & Co., Ltd

MELLOR, J. W *Modern Inorganic Chemistry.* Longmans, Green & Co , Ltd.

MIALL, S. . *History of the British Chemical Industry.* Ernest Benn, Ltd.

ROSIN, J : *Reagent Chemical and Standards.* D. Van Nostrand Co.

VANINO, L. · *Praparative Chemie.* Ferdinand Enke, Stuttgart.

कृत्रिम एलिज़रीन का उत्पादन

वर्ष	जर्मनी	इंग्लैण्ड
१८७०	कुछ नही	४० टन
१८७३	९०० टन (लगभग)	४३० टन (लगभग)
१९१२	१६०० (लगभग)	४०० टन (लगभग)

(**टिप्पणी**—एलेज़रीन एक रासायनिक पदार्थ है जो मैंडर में विद्यमान रजक है और उससे निस्सारित किया जा सकता है। दक्खिनी फ्रान्स में मैंडर की जडो को 'एलिज़री' कहते है और उसी से इस रासायनिक पदार्थ का नाम भी 'एलिज़रीन' पड़ गया। यह नाम उसकी रासायनिक सरचना ज्ञात होने के पूर्व ही प्रचलित हुआ था क्योकि उस समय उसका नियमित रासायनिक नामकरण नही हो सकता था। यह रासायनिकत. १.२-डाइहाइड्रॉक्सी ऐन्थ्राक्वीनोन है।)

प्राकृतिक नील की भी वही दशा हुई जो मैंडर की; यह भी निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट है। यह उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक नील समान गुणवाला नही होता तथा उसका प्रयोग भी कष्टदायी होता है।

भारत में नील की खेती

वर्ष	एकड
१८९३-९८ (औसत)	१,४०६,०००
१९०२	४८७,०००
१९१३	१११,८००
१९१७	७५६,०००
१९२९	७०,८०८
१९३८	५४,९७७ (जिससे २९० टन नील प्राप्त हुआ था)

कृत्रिम नील का जर्मनी से निर्यात

वर्ष	टन (लगभग)
१८९८ (प्रथम वर्ष)	९२०
१९०१	२,६७०
१९१२	१९,४००

मैंडर और नील उद्योगों को रसायनविज्ञान की देन या अभिशाप कहिए, यही है कि उसने उनको सर्वथा समाप्त कर दिया है। इस समाप्ति से प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही ब्रिटेन में वोड की उपज भी समाप्त हो गयी। यूरोप में नील रगाई में वोड इस्तेमाल किया जाता था, लेकिन अब तो लिंकनशायर की वोड मिलें जनता के लिए केवल कौतुकालय मात्र रह गयी हैं।

इस प्रकार प्राकृतिक रजकों की कहानी समाप्त कर हमें कृत्रिम रजकों की ओर ध्यान देना चाहिए। इससे हमें ज्ञात होगा कि कृत्रिम एलिज़रीन और नील ने अपने प्राकृतिक मूल रूपों को कैसे प्रस्थापित किया।

१९१३ ई० में जर्मन प्राधान्य अपने शिखर पर था अत तुलनात्मक अध्ययन के लिए उसी वर्ष को लेना अच्छा होगा।

कृत्रिम रजकों का उत्पादन

	१९१३	१९२७
	टन	टन
जर्मनी	१२५,०००	७५,०००
स्विज़रलैण्ड	८,०००	८,५००
स० रा० अमे०	३,३००	४२,७५०
इग्लैण्ड	२,०००	१७,८००
फ्रान्स	१,५००	१२,५००

(टिप्पणी—ऊपर लिखी मात्राओं के अतिरिक्त भी, विशेषकर अमेरिका में, कुछ रजक पदार्थ आयातित अन्त स्थों से भी बनाये गये थे।)

निर्यात व्यापार में भी जर्मनी का बाहुल्य रहा। यूरोप और अमेरिका के बाहर चीन, भारत और नेदरलैण्ड्स्, ईस्ट इण्डीज में सश्लिष्ट रजकों की मुख्य खपत रही और अब भी है।

केवल युनाइटेड किंगडम के ही आँकड़ों को देखने से १९१४-१८ के महायुद्ध से पड़े अन्तर का आभास हो जायगा। ये आँकड़े निम्नलिखित सारणी में दिये गये हैं .

	आयात	घरेलू निर्माण	
रंजक पदार्थ	१९१३	१९१३	१९३५
	टन (लगभग)	टन	टन
अनाश्रित कपास रंजक	३,५००	७५०	४,६८५
सल्फाइड रजक	२,०००	८६१	३,६७३

अम्ल ऊन रजक	२,६००	२८२	५,०८९
क्रोम तथा स्थापक रजक	३,५००	१,९२७	३,२३८
एलिजरीन रजक	१,२००		
पैठिक रजक	८००	१३९	१,५७८
कुण्ड रजक	१९०	कुछ नहीं	४,४४१
संश्लिष्ट नील रजक	२,०००		
लाक्षक रजक	५००	३	८६९
तेल, स्पिरिट और मोम	२०	१०७	१,८३७

कपड़ों की मिलों की रगाई के लिए प्रयुक्त होनेवाले रजको का मूल्य उत्पादित रगे वस्त्रो के कुल मूल्य का लगभग दसवाँ भाग होता है। ससार भर में रजकों की वार्षिक उत्पत्ति प्राय २० लाख पौण्ड होने से वस्त्रो का वार्षिक व्यापार लगभग २० करोड़ पौण्ड का होता है। इन अकों से शान्तिकालीन ससार में रजक उद्योग के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि शान्तिकाल में ही लोगो की रुचि और शोभाचार (फैशन) की प्रवृत्ति सामान्य होती है। युद्धकाल में भी वर्दियों एवं छद्मावरण बनाने के लिए रजकों का कम महत्त्व नहीं होता।

रजकों का उद्योग अन्य उद्योगो से काफी जटिल होता है। इस उद्योग में लगे अन्य कर्मचारियों के अनुपात में वैज्ञानिकत प्रशिक्षित रसायनज्ञों और इंजीनियरो की भारी सख्या से ही यह तथ्य स्पष्ट होता है। केवल रसायनज्ञों का ही अनुपात १ १० का होता है, इसका अर्थ यह है कि जिस कारखाने में ५,००० दैनिक कर्मचारी है उनमें से ५०० केवल रसायनज्ञ होते है। इन रसायनज्ञों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है (१) पूर्ण-कालिक अन्वेषक और (२) अन्य।

इस जटिलता तथा उसके फलस्वरूप वैज्ञानिक प्रशिक्षा प्राप्त कर्मचारियों के भारी अनुपात का कारण समझने के लिए ऊपर दी गयी अन्तिम सारणी में लिखित रजक वर्गो की ओर ध्यान देना होगा। अनाश्रित कपास (डाइरेक्ट कॉटन) रजकों से कपास की रगाई बड़ी सरलता से होती है और यह विधा तो प्रायः सभी घरों में प्रयुक्त होने के नाते सबको ज्ञात होती है। सल्फाइड अथवा सल्फर रजकों से जलीय घोल में, जिसमें सोडियम सल्फाइड होता है, रगाई होती है। अम्ल-ऊन रजक का अर्थ तो स्वय स्पष्ट है; इसमे ऊन की रंगाई अम्लकायित (एसिडूलेटेड) जलीय घोल में की जाती है। क्रोम तथा स्थापक (मॉर्डैण्ट) रजक द्वारा एक स्थापक सहित रगाई होती है, यह स्थापक बहुधा क्रोमियम धातु का कोई यौगिक होता है। प्रथम

पैठिक रंजक 'पर्किन्स मॉव' प्रथम सश्लिष्ट रंजक भी था। नील (इण्डिगो) तथा पुराने समय का बैंगनी (पर्पल) कुण्ड रजक (वैट डाई) कहे जाते है, क्योकि इस वर्ग के रजको द्वारा रगाई उसी प्रकार होती है जैसे इण्डिगो से, यानी एक कुण्ड मे भरे शीत अथवा शीतोष्ण विलयन द्वारा उपचार के बाद हवा में फैलाना जिससे रग उत्पन्न होकर निखर जाय।

रजकों के प्रयोग की रीतियो में इतनी विभिन्नता है कि कोई एक सहज योजना बनाना सभव नही, केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त वर्ग-नामो से विभिन्न रजकों के रासायनिक गुणों का भान होता है तथा रगनेवालो के योगों (रिमाइप) के लिए वे लेबुल का काम करते हैं। अनाश्रित रजक सूती वस्त्रो के अलावा सेलुलोज एसिटेट तथा पादप-तन्तुओं से बने रेशम को छोड़कर सभी प्रकार के कृत्रिम रेशम के लिए प्रयुक्त होते हैं। सल्फाइड रजक मुख्यत. सूती वस्त्रो के लिए इस्तेमाल किये जाते है। अम्ल ऊन, रजक ऊन, प्राकृतिक रेशम तथा अन्य प्राणि तन्तुओ और जूट के लिए प्रयोग किये जाते हैं। लेकिन स्थापक (मॉर्डैण्ट) रजकों के विविध प्रयोग होते है, विशेषकर जब किसी निश्चित स्थिरतावाले रग की आवश्यकता होती है। पैठिक रजकों का प्रयोग सूती वस्त्रों, कृत्रिम रेशम, और कुछ हद तक ऊन और प्राकृतिक रेशम के लिए होता है। इनकी आभा बड़ी चमकदार होती है, लेकिन प्रकाश में इनकी *स्थिरता अधिक नही होती। कुण्ड रजक (वैट डाईस्टफ) अधिकांशत सूती कपड़ों के* लिए इस्तेमाल किये जाते है।

वस्त्र छपाई के लिए आजकल रगो के अनेकानेक योग उपलब्ध है और सभी वर्गो के रजक वस्त्रो की छपाई के काम में आने लगे हैं। लेकिन सौन्दर्यमय छपाई के लिए विशेष सावधानी और विकल्प की आवश्यकता होती है, जिससे कि अगर रग धूमिल भी पडे तो समान रूप मे पड़े।

आजकल उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त ऐसे पदार्थ भी है जो प्रथमत रगहीन होते है *और जिनमे रगते समय ही तन्तुओं के ऊपर अथवा उनके अन्दर* रासायनिक प्रतिक्रियाओं द्वारा रजक उत्पन्न होते है। इस प्रकार उत्पन्न रजक प्राय जल अविलेय होते हैं। इसलिए ऐसे रग बडे स्थिर होते है और धुलने पर साफ नही होते।

गत लगभग बीस वर्षों के अन्दर विविध प्रकार के रेयान अर्थात् कृत्रिम रेशम के लिए विशिष्ट रजको का भी विकास हुआ है जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

रजको द्वारा उत्पन्न रंग और उनकी रासायनिक सरचना में कोई निश्चित सबन्ध *नहीं होता, जिसका अर्थ यह है कि एक ही वर्ग-नाम, जैसे 'अनाश्रित कपास रजक'*

के अन्तर्गत रासायनिकत. सर्वथा भिन्न अनेक रंजक है, जिनसे रगने पर स्पष्ट और अलग-अलग रग उत्पन्न होते है। और सचमुच आजकल प्रयुक्त होनेवाले १०० से कही अधिक ऐसे रस-द्रव्य है, जो 'अनाश्रित कपास रजक' कहे जाते है। और उनसे वर्ण-क्रम के सभी रग—लाल, नारगी, पीला, हरा, नीला तथा नीललोहित तथा इनके अतिरिक्त भूरा और काला रग प्राप्त किया जा सकता है। यही बात अन्य वर्गो के रजको के सबन्ध में भी सही है।

रजकों के अलावा कपास, लिनेन, सन, जूट-जैसे प्राकृतिक पादप-तन्तुओ एवं ऊन, बकरी के बाल, फर, ऊँट के बाल, तथा रेशम इत्यादि-जैसे प्राणि तन्तुओ और विस्कोज रेयान, एसिटेट रेयान तथा अभी हाल में आविष्कृत नाइलॉन सरीखे कृत्रिम तन्तुओ का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ये सभी न केवल देखने छूने में भिन्न होते है वरन् रजको के प्रति भी इनके व्यवहार बहुत भिन्न होते है। सुन्दर और रग-बिरगी बुनाई तथा उसकी सभावनाओ का ध्यान रखना भी आवश्यक है, स्त्रियों के लिए ऊनी वस्त्रो पर रेशमी धारियो का प्रभाव उत्पन्न करना, विस्तृत बेल-बूटे के काम, *अर्ध ऊनी फ्लैनल, मोज़े और अण्डरवियर के लिए सूत और रेशम की मिश्रित बुनाई,* मखमल, दरियों और कालीनो और कम्बलो के लिए रग तैयार करना—यह सब अलग-अलग समस्याएँ है। कभी मूल तन्तुओ को ही रगा जाता है तो कभी कते सूत को, या निष्पन्न वस्त्र को रगा या छापा जाता है।

१९१४-१८ वाले महायुद्ध के पहले केवल अर्ध ऊन ही मिश्रित वस्त्र था, लेकिन अब तो अनेक प्रकार के मिश्रित वस्त्र मिलते है, उदाहरणार्थ एसिटेट रेशम की मिश्रित बुनाई को लीजिए इसके रगने के गुण तथा रग की स्थिरता उसकी अपनी ही विचित्रता होती है। फलस्वरूप इसके लिए विशिष्ट रजको की आवश्यकता होती है। विभिन्न आभाओवाले ऐसे रजको को, जिनकी रगाई तथा स्थिरता के गुण यथासभव एकसम होते है, 'रेन्ज' कहा जाता है।

रगनेवालो तथा वस्त्र छपाई करनेवालो से रजक-निर्माताओ के पास उनकी विशिष्ट समस्याएँ निरन्तर आया करती है। बहुत-से प्रश्न तो प्राय उनकी दैनिक कठिनाइयो के बारे में होते है, लेकिन कुछ बडे व्यापक और आधारभूत होते है। साथ-साथ रजक-निर्माता भी अपने उत्पादनो के सबन्ध में अन्वेषण करने में सदा लगे रहते है कि वे किन-किन प्रकारो से प्रयुक्त हो सकते है अथवा उनकी व्यावहारिक विषमताए कैसे सुलझाई जा सकती है।

जनता के फैशन सदा बदलते रहते है तथा उन समुदाय के सौन्दर्य के प्रतिमान एव आर्थिक व्यवस्था में बराबर उतार चढाव होते रहते है, जिनके फलस्वरूप शोभा-

चार के वस्त्रो के विकास में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते है जिसके लिए वैज्ञानिकों की अन्वेषण-प्रतिभा सतत सक्रिय बनी रहती है। जो समस्या रगनेवालो से स्वय अथवा रजक-निर्माता के रगाई विशेषज्ञ की सहायता से नही सुलझ पाती, उसे रजक रसायनज्ञ के समक्ष उपस्थित किया जाता है और यदि सभव हुआ तो वह कोई नया रजक पदार्थ उत्पन्न करता है जो रगनेवालो की समस्या का समुचित समाधान कर सके। इस प्रकार किसी कारखाने के 'रेञ्ज' को विस्तृत करने का सतत प्रयत्न होता रहता है और स्पर्धी उत्पादकों से आगे बढे रहने की सदा चेष्टा रहती है। इससे यह न समझना चाहिए कि विभिन्न निर्माताओ द्वारा निर्मित रजक भिन्न-भिन्न होते है बल्कि वस्तुस्थिति यह है कि साधारणतया बाजार में विकनेवाले रजकों में से अधिकाश एक होते है—चाहे वे अलग-अलग निर्माताओ द्वारा निष्पन्न क्यों न हो, हाँ उनके व्यापारिक नाम अवश्य अलग अलग होते है।

'रजक-पदार्थ' (डाइ स्टफ्स) की सज्ञा कुछ भ्रामक है क्योकि ऐसे पदार्थ न केवल वस्त्र, कागज, चमडा, खाद्य पदार्थ अथवा पेय पदार्थों को रगने के काम आते है बल्कि अनेक वर्षों से वे उपर्युक्त रगाई को छोडकर बहुत-से अन्य प्रयोजनों के लिए भी प्रयुक्त होते रहे है, और ऐसे प्रयोग दिन-दिन बढते जाते है। उदाहरण के लिए रगलेप (पेण्ट) समारजन (डिस्टेम्पर), रगीन पेन्सिल, शिला-मुद्रण (लिथोग्राफी), कागज पर रगीन छपाई, टिन पट्टी की छपाई, टाइप राइटर के फीते, दीवालो पर चपकाये जानेवाले कागज, चमडे की कोटिंग, जूतो के पालिश, लिनोलियम, मुहर लगाने की मोम इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है, जिनके निर्माण में तथाकथित रजको की आवश्यकता होती है। इन प्रयोजनो में काम आनेवाले रजकों को 'तेल, स्पिरिट और मोमी रग' तथा 'लाक्षक' रग भी कहते है, इनका उल्लेख पृष्ठ १४८ पर दी गयी सारणी में किया गया है। उस सारणी से विदित है कि १९१३ ई० तक इन पदार्थों का अनुपात कुछ विशेष अधिक न था, लेकिन पिछले बीस वर्षों से इनका बडी द्रुत गति से विस्तार हुआ है। इन सबको देखते हुए इस उद्योग को 'कृत्रिम कार्बनिक रग पदार्थो का उद्योग कहना अधिक उपयुक्त होगा। लेकिन यह नाम भी उसका पूरा आशय व्यक्त नही कर सकता क्योकि इस उद्योग द्वारा उत्पन्न पदार्थ न केवल अन्य वस्तुओं की द्रष्टव्य शोभा को ही बढाते है वरन् वे अन्य ध्येयों की पूर्ति भी करते है। उदाहरणार्थ कुछ रजको में जीवाणुनाशन गुण भी होते है, अत वे कीटाणुनाश के रूप में इस्तेमाल किये जाते है। बहुत से अन्त स्थ यौगिक रजक पदार्थ बनाने के लिए नही बल्कि सश्लिष्ट औषधीय पदार्थ तैयार करने के लिए बनाये जाते है। अन्य अन्त स्थ रबर सयोजन में सघटक का काम करते है और इस प्रकार एक प्राय पृथक् उद्योग

और इस प्रकार कुछ प्रकाशित अर्थात् लिखित ज्ञान से और कुछ अपने अनुभव से एक रजक रसायनज्ञ यह बता सकता है कि अगर अमुक प्रकार का यौगिक तैयार किया जाय तो उसका कैसा रग होगा, तथा ऊन, रेशम अथवा सूती वस्त्रों की रगाई में प्रयोग किया जा सकेगा, या उसका रग पक्का होगा अथवा नही, इत्यादि। यह रगाई-विशेषज्ञ का काम है कि वह नूतन यौगिक की पूर्वगामी यौगिक से तुलना करके सर्वोत्तम पदार्थ का चयन करे जिससे रगनेवालो का और अन्ततोगत्वा उपभोक्ताओं का लाभ हो। परन्तु *उसके साथ-साथ निर्माण के आर्थिक पक्ष को भी दृष्टिगत रखना होगा* और यह भली भाँति समझ लेना होगा कि अनुसन्धानो के नये फल कब और कैसे परिपक्व होंगे और उनसे किस प्रकार लाभ उठाया जा सकेगा।

अनुमान है कि १९१४ ई० में व्यापारक्षेत्र में रासायनिक दृष्टि से भिन्न कम से कम १००० रजक यौगिक प्रचलित थे और इस एक सहस्र में निर्माताओ द्वारा तैयार *किये गये मिश्रित रजक अथवा भौतिक रूप से भिन्न श्रेणियाँ* शामिल नही हैं। इन १००० सफल यौगिको के पीछे लगभग ५०,००० यौगिक प्रयोगशालाओं में तैयार किये गये थे। सभवत नये-नये आविष्कृत यौगिको एव सफलतापूर्वक बाजार में चलनेवाले यौगिको का अनुपात भी वही हो, किन्तु अधिक सभव है कि यह अनुपात अब कम हो गया हो अर्थात् अनुसन्धानों के फलस्वरूप प्रयोगशाला में तैयार किये गये यौगिको की सख्या और सफलतापूर्वक बाजार में चल निकलनेवाले रजको की सख्या का अनुपात आजकल प्राय १०० १ है जबकि पहले ५० १ था।

इन प्रगतियो के समझने के लिए तथा रसायन-विज्ञान और रजक उद्योग का *पारस्परिक सबन्ध जानने के लिए यह आवश्यक है कि इस विषय का थोडा ऐतिहासिक* पर्यालोचन किया जाय।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कृत्रिम कार्बनिक रजकों का प्रारम्भ आज से दो पीढी पूर्व हुआ था। एक उद्योग के रूप में इसका जन्म इग्लैण्ड और फ्रान्स में लगभग एक ही समय हुआ। लेकिन इसके पोषण का भार प्राय 'रायल कालेज ऑफ केमिस्ट्री' पर पडा, जो उसके कुछ ही समय पूर्व स्थापित हुआ था। प्रिंस कॉनसर्ट अलबर्ट की इच्छा से हॉफमैन इस कालेज में प्रोफेसर नियुक्त हुए। हॉफमैन प्रोफेसर लीबिग के शिष्य थे, जो कृषि रसायन एव मास निस्सार सबन्धी अपने कार्यों की वजह से इग्लैण्ड में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। हॉफमैन कोलतार आसवन की उन उत्पत्तियो का अन्वेषण करने में दत्तचित्त हो गये, जिन्हे बढते हुए कोलतार उद्योग की अवाछनीय उपजात माना जाता था। हॉफमैन के एक शिष्य मैन्सफील्ड ने १८५० मे औद्योगिक पैमाने पर कोलतार का आसवन प्रारम्भ किया था। हॉफमैन ने अपने

वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलों को शीघ्र ही वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया। फ्रान्स और जर्मनी में तो पुरानी प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थी, किन्तु 'केमिकल सोसायटी ऑफ इग्लैण्ड' ने अपना पत्र १८४१ ई० से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।

हॉफमैन के एक दूसरे शिष्य पर्किन ने, जो उस समय केवल १८ वर्ष के थे, कृत्रिम क्वीनीन बनाने की बात सोची। अलिल-टॉलुइडीन से यह सश्लेपण करने का उनका विचार था, क्योकि अलिल टोलुइडीन में कार्बन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन उपयुक्त अनुपात में मौजूद थे, केवल उसमें ऑक्सीजन की आवश्यकता थी। लेकिन अलिल टोलुइडीन के आक्सीकरण से उन्हें एक रगीन मिश्रण प्राप्त हुआ। फिर उन्होने अपरिष्कृत ऐनिलीन के ऑक्सीकरण का प्रयत्न किया, उससे एक बैगनी रग का पदार्थ मिला, जिसमें से उन्होने अपना 'मॉव' पृथक् किया, जिसे आगे चलकर 'पर्किन्स मॉव' की सज्ञा मिली। उनके पिता की आर्थिक सहायता मे एक छोटा सा कारखाना बनाया गया तथा इस नये रजक पदार्थ को बडी चमत्कारिक सफलता मिली क्योकि उसकी चमक सर्वोत्तम थी और उसकी आभा उस समय बडी लोकप्रिय हुई।

ऐनिलीन सबन्धी प्रकाशित लेखो के आधार पर तथा भावी कार्यों के बारे में पर्किन के सुझावो को लेकर अन्य वैज्ञानिको ने ऐनिलीन पर दूसरे प्रतिकर्मको की प्रतिक्रियाओ का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप 'मैजेण्टा' प्राप्त हुआ। इसका प्रथम निर्माण फ्रान्स (वरग्विन, १८५९) में हुआ और इसके निर्माण काल की स्मृतिस्वरूप उसे 'मैजेण्टा १८५९' की सज्ञा दी गयी। १८७४ ई० तक तो यह वाणिज्यिक रूप में सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया। लेकिन आगे चलकर मॉव और मैजेण्टा केवल आदि-रूप (प्रोटोटाइप) मात्र रह गये और अधिकाशत. आनुभविक आधार पर किये गये मिश्रण तथा पाचन विधाओं से नीले और हरे रंजक पदार्थ तैयार किय गये। इसमें सदेह नही कि इनकी पृष्ठभूमि में तत्कालीन रासायनिक सिद्धान्त थे। इस प्रकार मनुष्य ने 'ऐनिलीन रजको' को जानना और इस्तेमाल करना सीखा और कोलतार से प्राप्त रजको के लिए सामान्यत यही नाम अनेक वर्षों तक प्रचलित रहा।

इसी बीच में हॉफमैन के एक सहयोगी ने ऐसे यौगिकों का समारम्भ किया जो रासायनिक रूप से भिन्न थे और शीघ्र ही कृत्रिम रजको के सबसे बडे वर्ग बन गये। जे० पी० ग्रीस ने डाइअज़ो यौगिकों का आविष्कार किया तथा तत्सबन्धी अन्वेषण भी किये। ग्रीस एक जर्मन लोहार के पुत्र थे और आगे चल कर एफ० आर० एस० हुए और १८५८ में लन्दन के 'रायल कालेज ऑफ केमिस्ट्री' में अध्यापक नियुक्त हुए थे। वे (रायल) 'इस्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' के भी बहुत पहले से ही सदस्य

रहे। १८६९ ई० में ग्रीन बर्टन-ऑन-ट्रेन्ट स्थित ऐलसप की मद्यानवनी में रसायनज्ञ नियुक्त हुए और अपने अन्तकाल तक वहीं रहे। उनकी मृत्यु १८८८ ई० में हुई। रासायनिक अनुसन्धानों में अपनी विशिष्ट रुचि के कारण उन्होंने डाइअज़ो यौगिकों का अध्ययन बराबर जारी रखा और यह देखा कि ये यौगिक अन्य कार्बनिक यौगिकों के साथ जुड़कर प्रचण्ड रंगवाले ऐसे यौगिक उत्पन्न करते हैं जो रंगाई के लिए बड़े ही उत्तम सिद्ध हुए। उनके लेख वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे, तथा उन्होंने अपने कुछ आविष्कारों का पेटेंट भी कराया था। कारो उन्हीं के मित्र थे, जो मैनचेस्टर से लौटकर जर्मनी आये और लुड्विग्साफ़ेन स्थित "बैडिशे" नामक एक बड़ी फर्म के डाइरेक्टर नियुक्त हुए थे। ग्रीन का अभिस्वीकृत (एडॉप्टेड) देश, इंग्लैण्ड ऐज़ो रंजक पदार्थों का जन्मस्थान तो अवश्य था, परन्तु प्राविधिक वस्तुओं के रूप में उनका पूर्ण विकास और उत्थान वहाँ नहीं हुआ। योजन (कप्लिंग) प्रतिक्रिया का प्रथम औद्योगिक उपयोग १८७५ ई० में किया गया और जब १८८४ ई० में ग्रीन और साथ-साथ बोटिगर ने ऐसे रंजकों का विवरण प्रकाशित किया जिनसे सूती वस्त्रों की रंगाई बिना किसी स्थापक की सहायता के की जा सकती थी तब उसे बड़ी प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई। 'कांगोरेड' बर्लिन में बनकर बाज़ारों में बिकने लगा और उनके प्राय: तुरन्त ही बाद अनेक अनाश्रित रंजक आये जिन्होंने सम्पादन रंग-आभा की विविधता तथा सूती कपड़ों की रंगाई की दृष्टि से क्रान्ति पैदा कर दी।

इस बीच में कार्बनिक रसायन का निरन्तर वैज्ञानिक विकास होता रहा और १८६० तथा १८७० के अन्दर पत्र-पत्रिकाओं, पाठ्य-पुस्तकों और सदर्भ-ग्रन्थों के रूप में इतना प्रचुर वैज्ञानिक ज्ञान एकत्र हो गया जितना कदाचित् पहले कभी नहीं हुआ था। उसी दशक में अणुओं में परमाणुओं के निबन्ध संबन्धी विविध सिद्धान्तों को समन्वित करके उन्हें एक व्यापक वाद का स्वरूप दिया गया तथा अणु रचना का चित्रित निरूपण किया गया जिससे संरचना सम्बन्धी सूत्रों (कॉन्स्टिट्यूशनल फारमूला) की उत्पत्ति हुई, तथा इन सूत्रों के आधार पर विचार चिन्तन करके अज्ञात रासायनिक यौगिकों का उपक्रमण संभव हुआ और उनके गुणों का भी पहले से आभास प्राप्त किया जा सका। उदाहरण के लिए किसी नियोजित भावी यौगिक के बारे में यह सरलता से बताया जा सकता था कि वह रंगीन होगा अथवा रंगहीन।

कार्बनिक रसायन में यौगिकों के एक बड़े वर्ग को 'ऐरोमैटिक' कहते हैं। इस शब्द का अर्थ है 'सौरभिक'। इस वर्ग का नामकरण इस आधार पर किया गया कि इसमें सम्मिलित यौगिकों में विशिष्ट सुरभि होती है। ये यौगिक प्राय: वनस्पतियों से प्राप्त होते थे तथा इनके निबन्ध उस समय ज्ञात कार्बनिक यौगिकों के संरचना

सम्बन्धी सूत्रों से मेल नहीं खाते थे। कोलतार स्थित हाइड्रो कार्बन तथा अन्य यौगिक इसी 'ऐरोमैटिक' वर्ग के हैं। १८६५ ई० में केकुले ने इन यौगिकों के विभेदों को दूर किया और यह बताया कि सरलतम ऐरोमैटिक हाइड्रो कार्बन अर्थात् कोलतार बेंज़ोल के मुख्य संघटक-बेंज़ीन के अणु में ६ कार्बन परमाणुओं का एक वलय (रिंग) है। इसी आधार पर यौगिकों की रासायनिक संरचना ने उनके रंग के संबन्ध के बारे में परिकल्पनाएँ (हाइपोथेसिस) उपस्थित की गयीं तथा आणविकशिल्पकला (मॉलिक्यूलर आर्किटेक्चर) का सूत्रपात हुआ।

किसी भी व्यापक सिद्धान्त के निर्धारण के पूर्व अनुभवजन्य रासायनिक क्रियाओं का पूर्वेक्षण (एक्सप्लोरेशन) और छानबीन के साथ-साथ उनकी उत्पत्तियों का भी सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ा है। सपरीक्षात्मक विज्ञान की प्रगति और विकास प्रायः इसी प्रकार होता है। कुछ आविष्कार तो आकस्मिक होते हैं और कुछ आशातीत यानी सोचा कुछ जाता है और फल कुछ निकल आता है। किन्तु कुछ वैज्ञानिक अन्वेषण तत्कालीन सिद्धान्तों की पुष्टि एवं उनका विस्तार करते हैं। लेकिन रंजक संबन्धी व्यावहारिक अन्वेषणों का ध्येय कुछ अधिक स्पष्ट होता है। इन अनुसन्धानों का ध्येय केवल कोई व्यापक सिद्धान्त स्थापित करने का नहीं होता वरन् उनमें रंगाई करनेवालों अथवा प्रयोक्ताओं के उपयोग-विशेष के लिए विशिष्ट साधन उपलब्ध करने की भावना रहती है। यह भी सच है कि वैज्ञानिकों के स्वप्न तथा आकस्मिक घटनाओं के साथ-साथ उनके आविष्कारों और अन्वेषणों की पृष्ठभूमि में समय की माँग भी रही है लेकिन यह भी सही है कि वे सदा विशुद्ध आवश्यकताओं से ही प्रेरित नहीं रहे। वस्तुस्थिति तो यह है कि पारस पत्थर के जिज्ञासुओं के अत्योत्साह ने ही इन बहुसंख्यक कृत्रिम रंजकों को उत्पन्न किया है।

१८६५ ई० में हॉफमैन इंग्लैण्ड से जर्मनी लौट आये और उसके बाद उन्होंने तथा ई० फिशर, ओ० फिशर और जर्मन विश्वविद्यालय के अन्य कार्यकर्ताओं ने बाजारों में बिकनेवाले रंजकों की रासायनिक संरचना एवं ऐरोमैटिक यौगिकों के गुण-व्यवहार संबन्धी शैक्षणिक अनुसन्धानों के विकास में काफी हाथ बटाया। प्रायः उसी समय इंग्लैण्ड में आर्मस्ट्रांग और वाइने ने नैफ्थलीन व्युत्पत्तियों का शैक्षणिक अध्ययन किया तथा मेल्डोला ने भी 'मेल्डोलाज़ ब्लू' के संबन्ध में काम किया। उपर्युक्त अनुसन्धानों के अतिरिक्त जर्मनी में इण्डिगो का विश्लेषण करके उसकी रासायनिक संरचना का ज्ञान प्राप्त किया गया, परन्तु उसके पूर्व ही १८६९ में कृत्रिम रीतियों से ऐलिज़रीन उत्पन्न की जा चुकी थी। इन बातों से यह निष्कर्ष नहीं निकलना चाहिए कि संश्लिष्ट रंजक संबन्धी वैज्ञानिक अन्वेषण तथा प्राविधिक विकास

दो पृथक् वर्गों द्वारा किया गया था तथा इन वर्गों का विचार-विनिमय केवल मुद्रित वाङ्मय द्वारा ही होता था, वस्तुस्थिति सर्वथा इसके विपरीत थी।

वैज्ञानिको के उपर्युक्त कार्यकलापो के फलस्वरूप हमारे सामने रासायनिक ज्ञान के महान् विकास का एक वृहत चित्र उपस्थित हुआ, जिसमें रजक-निर्माण के सिंचनार्थ 'ऐनिलीन' और 'ऐज़ो' रूपी दो सरिताएँ प्रवाहित होती थी। अन्य वर्ग के रजको की भी प्राय ऐसी ही कहानियाँ है, यद्यपि उनमें कुछ ऐसे रजक पदार्थ भी है जिनका विकास प्राकृतिक रजको की रासायनिक सरचना के आधार पर हुआ है। इनके साथ ही रसायन-विज्ञान भी दिन-दिन जटिल होता गया। ऐन्थ्रासीन, कोलतार से प्राप्त अपरिष्कृत पदार्थो मे से एक है, इसी मे ऐन्थ्राक्वीनोन द्वारा एलिज़रीन अर्थात् डाइहाइड्राक्सी ऐन्थ्राक्वीनोन बनता है। इस विधा मे १२ सुस्पष्ट रासायनिक पद होते है जिनकी उत्पत्तियो की रासायनिक रचना जटिलतर होती जाती है और तब कही जाकर एक अर्वाचीन कुण्ड रजक तैयार होता है। ये रजक इतने प्रकाश एव धुलाई-सह होते है कि पिछले २० वर्षो में उनकी खपत उत्तरोत्तर बढती गयी है। इस काल में प्रारम्भिक पदार्थ के रूप मे ऐन्थ्रासीन भी अशत विस्थापित हुआ। ऐन्थ्रासीन के ढाचेवाले रजक अब नैप्थलीन से बनाये जाने लगे है, इस विधा मे थैलिक ऐनहाइड्राइड अन्तस्थ होता है। थैलिक ऐनहाइड्राइड यद्यपि मूलत एक रजक अन्तस्थ था, परन्तु आगे चलकर उससे सश्लिष्ट रग लेपो और वार्निश रेजीनो का एक पृथक् उद्योग ही खडा हो गया।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि सभवत कृत्रिम इण्डिगो तथा कृत्रिम ऐलिज़रीन दोनो का अन्त अब निकट है, क्योंकि तन्तुओ पर बननेवाले ऐज़ो-यौगिक कृत्रिम ऐलिज़रीन का स्थान ग्रहण करते जा रहे है तथा इण्डिगो के प्रति-स्थापक के रूप में अन्य नीले रजक तैयार होने लगे है।

रजक-निर्माण की जटिलता के सबन्ध में यह बताना आवश्यक है कि एक या अधिक कोलतार हाइड्रो कार्बनो (बेन्ज़ीन, टोलूइन, ज़ाइलीन या नैप्थलीन) से अपेक्षाकृत सरल रजक बनाने मे कम से कम ४ पृथक् रासायनिक पद निहित होते है। बहुत-से रजको विशेषकर ऐज़ो श्रेणीवालो के निर्माण में केवल अन्तिम पद पर दो या अधिक अन्तस्थ साथ मिलाये जाते है, जिनके सयोजन से अन्तिम रगीन यौगिक तैयार होता है। ऐजो रजको के लिए यही 'कप्लिंग' प्रतिक्रिया है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह प्रतिक्रिया काष्ठ-पात्रो तथा जलीय माध्यम में सरलता से सम्पन्न होती है। इसके विरुद्ध बहुत-से कुण्ड रजको के बनाने में बडा उच्च ताप और दबाव तथा जल के स्थान पर अन्य विलायको का प्रयोग करना पडता है।

रंजक के निष्पन्न अणु में कोलतार हाइड्रो कार्बन की उपमा शरीर के हाड़ और मास से दी जा सकती है जबकि अकार्बनिक तत्त्व उसके नख और केश के समान होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रतिक्रियाओं में प्रयुक्त नाइट्रिक और सल्फ्यूरिक अम्लों से प्राप्त नाइट्रोजन और सल्फर भी रजक अणुओं के अग बन जाते हैं। पाँच रजक यानी ३ 'ऐज़ो', १ 'ऐनिलीन' तथा १ 'इण्डिगो' रजक बनाने में बेन्ज़ीन और नैफ्थलीन के अतिरिक्त नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक तथा हाइड्रो क्लोरिक अम्ल, चूना, दह-सोडा, सोडियम कार्बोनेट, सोडियम एसिटेट, सोडियम नाइट्राइट, सोडियम बाइ-सल्फाइट, लौह बोरिंग, मसाद धूलि, अमोनिया, फास्फोरस आक्सीक्लोराइड, मिथिल ऐल्कोहाल, फार्मेल्डिहाइड और फ़ासजीन प्रयुक्त होते हैं तथा बीच में २२ अन्तस्थ यौगिक बनते हैं।

परन्तु इन २२ अन्तस्थों की अन्तिम अवस्थावाले वर्ग उपर्युक्त पाच से अधिक रजकों के निर्माण में उपयोगी होते हैं। अन्तस्थों के विविध सयोजनों की सभाव्य संख्या अपार होती है और उनमें से उपयोगी सयोजनों को चुनना कोई सरल काम नहीं होता। परन्तु प्रयोगशाला में इन्हें बना करके, चाहे उनका कोई वाणिज्यिक महत्त्व हो अथवा नहीं, उनके गुणों का समुचित अध्ययन करके ही ज्ञान का वह भण्डार तैयार किया जाता है, जिसके आधार पर भावी अनुसन्धान की रूपरेखा बनायी जा सकती है, विशेषकर यदि उनमें कोई नवीनता दिखाई पड़े तो आगे के काम को बड़ी प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रकार अर्जित बहुत-सा वैज्ञानिक ज्ञान साधारण रूप से प्रकाशित नहीं होता, अन्यत्र ऐसी कुछ जानकारी ग्राहकों के लाभार्थ मुद्रित रूप में प्रगट होती है और कुछ पेटेण्ट ब्योरों के रूप में।

शैक्षणिक क्षेत्रों में विशेषकर जर्मनी और स्विज़रलैण्ड के बाहर पेटेण्ट ब्योरों के विरुद्ध एक पूर्वधारणा-सी है और प्राय उन्हें वैज्ञानिक योगदान नहीं माना जाता। ये पूर्वधारणाएँ बहुधा ज्ञानाभाव पर ही आधारित होती हैं। शैक्षणिक पाठक यह चाहते हैं कि इन ब्योरों में भी तथ्यों को उसी प्रकार निदर्शित किया जाय जैसे किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित लेख में किया जाता है, वे पेटेण्ट ब्योरों को केवल वैधानिक एकाधिकार मलेख (लीगल मॉनोपली इन्स्ट्रूमेण्ट) मात्र मानते हैं। पेटेण्ट ब्योरे सचमुच ही एक विशेष काम के लिए विशेष रूप से लिखे जाते हैं, पेटेण्टों के अधिकारी साहित्यिक दृष्टि से लेखक नहीं होते। २०-२५ वर्ष पूर्व इग्लैण्ड और स० रा० अमे० में इन ब्योरों की इसी प्रकार आलोचना की गयी थी और हाल में फिर उनके प्रति वही धारणा अपनायी गयी। यद्यपि पेटेण्ट ब्योरों की आलोचना कुछ उसी प्रकार की है जैसे कोई पोयट-लारियेट (राज-कवि) वैधानिक नियमों के सबध में यह

शिकायत करे कि वे दोहो और छन्दो में क्यो नही लिखे गये। एक परिश्रमी तथा अनुभवी पाठक ऐसे वाङ्मय में से भी वैज्ञानिक तथ्य निकाल सकता है चाहे वे सामान्य प्रचलन के अनुसार प्रकाशित न भी किये गये हो।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, १९१३ के लगभग बाजार में प्राय १००० रजक पदार्थ चालू थे, जिनके रासायनिक निवन्ध[1] सर्वसाधारण को मालूम थे। यह लिखना विपयान्तर होगा कि शैक्षणिक तथा अन्य अन्वेपको द्वारा किये गये रासायनिक विश्लेपण से अथवा पेटेण्ट ब्योरो के अध्ययन से किस प्रकार इन यौगिको की सरचना जानी गयी। यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐसी सूचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहती हैं तथा स्पर्धी अनुसन्धानों के फलस्वरूप नये रजकों की बडी सख्या प्रति वर्ष बाजार मे आती रहती है। १३६० सश्लिष्ट रजको की रासायनिक सरचना, पेटेण्ट सख्या, उनके अन्वेपको के नाम तथा रगाई सबन्धी उनके गुण प्रकाशित किये गये हैं। इन न्यासों के पुन सारणीकरण से यह ज्ञात होगा कि ये १३६० यौगिक ३९४ अन्वेपको की प्रतिभा और परिश्रम की उपज रहे हैं। इन ३९४ अन्वेपकों को निम्नलिखित ढग से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) अकेले अथवा मिलकर केवल एक रजक के उद्भावक[2] —३३०।

(ख) (१) अकेले अथवा मिलकर दस रजकों का उद्भव करनेवाले—३५।

(२) अकेले अथवा मिलकर १५ रजकों का उद्भव करनेवाले —२०।

इससे स्पष्ट है कि तारा-नक्षत्र के साथ-साथ लघु ज्योतिष्कायों (लुमिनरीज) की भी बडी सख्या होती है और ये लघु ज्योतिष्काय काफी महत्त्वपूर्ण कार्यभाग की पूर्ति करते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार इग्लैण्ड के केवल ए० जी० ग्रीन का नाम (ख) (२) के सितारो में है। इस प्रतिमान के अनुसार डब्लू० एच० पर्किन का नाम १० या १५ रजको के उद्भावक वर्ग में नही आता क्योकि वस्तुत. उनके द्वारा उद्भावित रजको की सख्या केवल ५ है, किन्तु औद्योगिक नवीनता उत्पन्न करनेवाली उनकी कालावधि बहुत छोटी थी। वैज्ञानिको के आविष्कारो की सख्या गिनने से अन्वेपक के रूप में उनकी प्रतिभा की विलक्षणता का आभास अवश्य मिल जाता है, लेकिन उनके आर्थिक एव वाणिज्यिक महत्त्व की थाह नही लगती। इसका पूरा चित्र प्रस्तुत करने के लिए तो सभी प्रौद्योगिकीविदो विशेपकर नये-नये अन्तस्थो और नयी-नयी विधाओ को

[1] Composition [2] Inventor

बिताये। व्यापार की आवश्यकताओं के बारे में परामर्शदाता के रूप में उन्हें कुछ प्रेरणा नही मिली अतः स्पर्धी सस्थाओ के पेटेण्ट ब्योरो का अध्ययन ही उन्हें सौंपा गया। इन ३० वर्षो मे बर्न्थसेन भी उपर्युक्त ३५ सितारों मे गिने गये तथा अपनी सस्था के पेटेण्ट विभाग के अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् वह फिर हाइडलबर्ग लौट आये और वही एक सम्मानित प्रोफेसर के पद से अपनी पुस्तक का १५वॉं तथा १६वॉं जर्मन संस्करण प्रकाशित किया। इस प्रकार बर्न्थसेन का जीवन उनके अग्रगामियो से स्पष्टतया भिन्न जान पडता है। वह लगभग एक पीढ़ी छोटे थे। तब तक समय बहुत बदल गया था और उन्हें भीषण स्पर्धी अन्वेषणों के बीच कार्य करना पडा। उनके सक्रिय प्रतियोगी प्राय सभी अवस्थाओं के थे और बडी शीघ्र गति से बढती हुई सस्थाओ में काम करते थे। इस काल में ज्ञान को पद्धतिशील और व्यवस्थित बनाना बडा महत्त्वपूर्ण था।

उपर्युक्त वृत्तान्तों के आधार पर रजक पदार्थो या वस्तुत कार्बनिक रसायन का विकास तीन कालो में विभाजित किया जा सकता है--(१) १८७० ई० तक की कालावधि जिसे केवल अनुभवगत छानबीन का समय कहा जा सकता है, (२) १९१० ई० तक की कालावधि, जो रासायनिक नवीनताओ के व्यापक एव स्पर्धी विस्तार का युग था, जिसमें रगप्रयोक्ताओ के लिए रग-पदार्थों का इतना विस्तृत क्षेत्र खुला कि उन्हें रजको के चुनाव मे बडी हैरानी होने लगी, और (३) वर्तमान काल, जो लगभग १९२३ ई० तक स्पष्ट हो गया था, जब कि रग प्रयोक्ताओं की विशेष समस्याओं के हल की ओर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था। मार्टिन के शब्दो में मध्यकालीन बौखलाहट वाली स्पर्धा के अन्त करने का कारण इस प्रकार है--

"जैसे कोई भी नव-विकसित शक्ति मानव-समाज के लिए भय और जोखिम लेकर उपस्थित होती है परन्तु कालान्तर मे उस पर अकुश लगाकर उसे मनुष्य के कल्याणार्थ समायोजित कर लिया जाता है, उसी प्रकार इन नये नये रगो की प्रचुरता तथा रगाई की सरलता के कारण वस्त्रव्यापार के सामने उसके प्रथम ५० वर्षो मे एक भयकर सकट आ खडा हुआ था। फलत वस्त्रों की श्रेणी और सौन्दर्य में हम अपने पूर्वजो मे बहुत पीछे हो गये थे।"

१९२५ ई० में जर्मनी की सभी सस्थाओ का एकीकरण हो गया और 'आई० जी० फार्बेनइण्डुट्री ए० जी०' नामक एक महती सस्था विकसित हो गयी, स्विजरलैंड की सस्थाओ का भी काफी निकट पारस्परिक सबन्ध स्थापित हो गया। अन्य देशो में भी २५ वर्ष पूर्व की अपेक्षा आन्तरिक स्पर्धा बहुत कम हो गयी थी लेकिन आविष्कारो की प्रतियोगिता अब भी जारी है परन्तु उनके दृष्टिकोण में अवश्य अन्तर हो गया

है। १९३९ तक आविष्कारो की गति सभी दिशाओं में पूर्ववत् चलती रही। गत महा-युद्ध का क्या प्रभाव होगा कहा नही जा सकता, लेकिन इतना स्पष्ट है कि सश्लिष्ट कार्बनिक रसायन-उद्योग के रंजकनिर्माण में केवल कोलतारस्पी वृक्ष के फलो का ही प्रयोग न होगा; बल्कि पेट्रोलियम-भजन (क्रैकिंग) के फलो का भी उपयोग करना *होगा तथा उसमें एसिटिलीन के रासायनिक वृक्ष की कलम लगानी होगी। कुछ अन्त स्थो*[1] के बनाने के लिए तेलो और वसाओ की भी सहायता लेनी होगी, जो अभी तक प्राय. साबुन बनानेवालो की ही पवित्र निधि मानी जाती है।

यह इतिहास के बडे विस्तत चित्र की एक झलक मात्र है। अन्तर्राष्ट्रीय उथल पुथल को छोड़कर यह इतिहास प्राय जर्मनी और स्विजरलैण्ड का ही है। लेकिन ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका में भी तथा हाल में कुछ हद तक जापान में रजक विकास के तृतीय काल में अवश्य रचनात्मक काम हुआ है, लेकिन वह बहुत हद तक पूर्वोक्त दोनो देशो की अनुकृति ही रहा है। ब्रिटेन में रजक-आयातसबन्धी विधानो से इस काम को काफी सुरक्षा मिली तथा उसकी नीव पक्की हो गयी। पेटेण्ट-ब्योरो के गहन अध्ययन एव प्रयोगशालाओ में तथा सयत्रो पर किये गये अन्वेषणों से भी इस नीव की संपुष्टि हुई। १९१९ में युद्धकालीन विस्फोटकनिर्माणियो में प्रशिक्षाप्राप्त बहुमूल्यक रसायनज्ञो के आ जाने से तत्कालीन साहसी रंजक-रसायनज्ञो की सख्या में बड़ी वृद्धि हुई थी। अनुगामी वर्षों में ब्रिटेन के सभी विश्वविद्यालयों से रसायनज्ञ आने लगे और केवल पेटेण्ट ब्योरो के मूल्यांकन का समय एव सहज ज्ञान के उपयोग का युग प्रारम्भ हुआ है।

'अनाश्रित कपास' तथा 'अम्ल ऊन' इत्यादि रजको के रेञ्जो में से अनुपयुक्त रजको को निकालना, रगपदार्थों की सख्या को कम करते हुए रेञ्ज का विस्तार करना और इस प्रकार रगप्रयोक्ताओ के कार्य को उत्तरोत्तर वैज्ञानिक रूप देना आज के रजक-अन्वेपको का ध्येय है।

अगर सश्लिष्ट रजकों के निर्माण को मानव-ज्ञान के विश्वकोश का एक भाग माना जाय तो यह रसायन-विज्ञान का एक अध्याय मात्र है, और इस आशय में रजक-उद्योग के ऊपर रसायनविज्ञान का बहुत बडा ऋण है। परन्तु रसायनविज्ञान के इस अध्याय का विकास विशुद्ध वैज्ञानिक भावना से प्रेरित रसायनज्ञो के कार्यों के आधार पर स्वत नहीं हुआ, वल्कि प्राय सर्वथा यह स्वय उद्योग में लगे कार्यकर्ताओ के प्रयत्नो

[1] Intermediates

का ही फल है। "कार्बनिक रसायनविज्ञान रजक-उद्योग का उतना ही ऋणी है जितना यह उद्योगविशेष कार्बनिक रसायन का।"

अन्त में इस बात पर फिर एक बार जोर देने की आवश्यकता है कि रजक उद्योग एक आधार-उद्योग है। यदि आवश्यकता हुई तो मनुष्य रजकपदार्थों को तिरस्कृत कर सकता है लेकिन वर्तमान युग में कोई राष्ट्र या देश संश्लिष्ट कार्बनिक रसायन-उद्योग के बिना महान् नही बन सकता, जीवित नही रह सकता, और संश्लिष्ट कार्बनिक रसायनोद्योग के प्राण रजक पदार्थ है। रजक पदार्थों के द्वारा ही प्रयोगशाला एव सयन्त्रविधि की प्रशिक्षा होती है तथा बहुसख्यक कार्बनिक यौगिको के रासायनिक गुणो तथा उनके आर्थिक महत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। रजक उद्योग केवल एक नदी नही रही, अब वह एक डेल्टा बन गया है, जिसकी मुख्य धारा तो रजक पदार्थों की है लेकिन अन्य धाराओ से, मनुष्य के उपभोगार्थ असख्य रासायनिक पदार्थ प्रवाहित होते रहते है। रजकसम्बन्धी अन्वेषण करनेवाले रसायनज्ञ उद्योगो के प्राय समस्त क्षेत्र में शक्तिशाली बीज बिखेरते रहते है।

ग्रन्थसूची

BADDELEY, J. *The Dyestuffs Industry, Post-war Developments Journal of the Society of Dyers and Colourists*

BOARD OF TRADE . *Report of Dyestuffs Industry Development Committee* Cmd. 3658. H M. Stationery Office.

CALVERT, F. C *Lectures on Coal Tar Colours* Palmer & Howe

CRONSHAW, C J. T. : *Jubilee Memorial Lecture, Journal of the Society of Chemical Industry*

DUISBERG, C *Abhandlungen* etc

GARDNER, W M . *The British Coal-Tar Industry.* Williams & Norgate.

GRAND MOUGIN *Ullmann's Enzyklopadie der Technischen Chemie*, Vol. V, p 110 (2nd Ed) Urban & Schwartzenberg

LACHMAN, A *The Spirit of Organic Chemistry* Macmillan & Co, Ltd

LEAGUE OF NATIONS, INTERNATIONAL ECONOMIC CONFERENCE ' *The Chemical Industry.*

VON LIPPMANN, E. O *Zeittafeln zur Geschichte der organischen Chemie.*

MARTINET : *Matieres Colorantes—L' Indigo.* J. B. Bailliere et Fils.

MIALL, S. : *History of the British Chemical Industry.* Ernest Benn Ltd.
MORGAN, SIR G. T., AND PRATT, D. D. . *British Chemical Industry.* Edward Arnold & Co.
MORTON, H. : *History of the Development of Fast Dyeing and Dyes*, Royal Society of Arts
PAULI, H. : *Die Synthese der Azofarbstoffe.*
ROWE, F. M . *The Development of the Chemistry of Commercial Synthetic Dyes* (1856-1938). The (Royal) Institute of Chemistry.
ROWE, F M · *The Colour Index.* Society of Dyers and Colourists.
SCHMIDT, ALBRECHT . *Die Industrielle Chemie in ihrer Bedentung im Weltbild* W. de Gruyter.
SCHULTZ *Farbstoff-Tabellen*, 7th Ed. Akademische Verlags gesellschaft.
THORPE, SIR J F., AND WHITELEY, M. A . *Thorpe's Dictionary of Applied Chemistry*, 4th Ed Longmans Green & Co., Ltd.

विरंजन, रँगाई, छपाई तथा परिरूपण

फ्रेड शोलफील्ड, एम० एस-सी० (मैनचेस्टर), एफ० टी०
आई०, एफ० आर० आई० सी०

कताई, बुनाई एव रग द्वारा वस्त्रो के अलकरण की कलाओ का विकास आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। एक लेखक के शब्दों में—"मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में किसी अतरज अहता ने शारीरिक अलकरण की प्रेरणा की। जब स्वाभाविक लज्जा तथा जलवायु की कठोरता ने मनुष्य को न्यूनतम आवरण अपनाने के लिए बाध्य किया तब इस अलकरण ने तत्कालीन प्रारम्भिक वस्त्रो का रूप लिया। जैसे-जैसे मनुष्य की प्रवृत्ति एव रुचि परिष्कृत होती गयी वैसे-वैसे साधारणतया प्रयुक्त होनेवाले भद्दे रगदार वस्त्रो के स्थान पर विरजित[1] कपडो का प्रयोग बढने लगा तथा उत्तरोत्तर लोग उनको अधिक पसन्द करने लगे और उनका मूल्य भी बढने लगा।" इसी के साथ कुछ लोगों का यह दावा भी है कि—"विरजन का इतिहास ही मानव-सभ्यता का इतिहास है।"

[1] Bleached

जो भी हो, विरजन के इतिहास से विज्ञान की विशिष्ट महत्ता तथा वर्तमान औद्योगिक विधाओ में वैज्ञानिक रीतियों और आविष्कारो के सफल प्रयोग का पता तो लगता ही है। वस्त्रों के विरजन की कला अवलोकन एव अनुभव पर ही आधारित थी तथा लिखित इतिहास के प्रारम्भ से लेकर १८वी शताव्दी तक पादप तन्तुओ से बने वस्त्रो के विरजन की केवल एक ही रीति थी, जिसे 'क्रॉफ्टिग'[1] अथवा 'ग्रासिंग'[1] कहते थे। यह रीति कष्टप्रद होने के साथ-साथ नैसर्गिक तत्त्वों पर भी निर्भर होने के कारण वडी अनिश्चित होती थी।

लकडी की राख से निस्सारित क्षारो द्वारा स्वच्छकरण अथवा विमलन उपचार के पश्चात् वस्त्रो को सूर्यरश्मियो की किया के लिए वाहर फैलाया जाता था। वस्तुत "प्रारम्भिक विरजन की रीति वर्तमान गृहिणियो द्वारा प्रयुक्त रीति के ही समान थी, जो अपने कपडो को मृदु क्षारो के साथ उवालकर धूप में फैला देती है और कभी कभी उन पर जल छिडकती रहती है जिससे विरजन विधा (प्रक्रिया) पूर्ण हो जाय। यह घरेलू विधा धीरे-धीरे औद्योगिक बन गयी जिसमें कपडो को वार वार उबाला और 'ग्रास' अर्थात् घास पर फैला कर सुखाया जाता है। यह विधा तब तक चलती रहती है जब तक वस्त्र पूरी तरह श्वेत न हो जाय। बहुत समय तक विरजन की इस प्रथा में विमलन पदार्थ की प्रकृति मे कुछ हेर-फेर के अलावा अधिक परिवर्तन नही हुआ।"

एडिनवरो के डा० फ्रान्सिस होम ने १७५६ मे कहा था—"मै देखता हूँ कि सबसे निपुण विरजनकर्मी अपनी कला के सामान्य सिद्धान्त को तो अच्छी तरह समझते है लेकिन रासायनिक सिद्धान्तो मे अनभिज्ञ होने के कारण उनका उचित उपयोग नही कर पाते तथा अपने ज्ञान के प्रयोग मे अपने काल की वृद्धि नही कर सकते।" १८वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे जाकर मपरीक्षीय रीतियों को सैद्धान्तिक निष्कर्षो का आधार स्वीकार किया गया, जिससे उस ज्ञान की वृद्धि एव प्रविधि का विकास सभव हो मका जो वर्तमान युग का विशिष्ट लक्षण माना जाता है। यह प्रिस्ले, शीले, कैवेण्डिश और लवायजियर का युग था। १७७४ में शीले ने क्लोरीन का आविष्कार

(१) अंग्रेजो में 'क्रॉफ्ट' गृहलग्न भूमि को कहते है, संभवतः वस्त्रों को इसी भूमि पर फैलाकर विरंजन करने के कारण इस रीति को 'क्रॉफ्टिग' की संज्ञा दी गयी है। यही तर्क 'ग्रासिंग' के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि इस रीति में कपड़े घास (ग्रास-अं०) पर फैलाकर विरंजित किये जाते थे। —अनुवादक

किया तथा उसके गुणों की परीक्षा की। उन्होने देखा कि उससे वनस्पति-रगपदार्थों का नाश हो जाता है। आगे चलकर वर्थोलेट ने क्लोरीन को एक विरजक के रूप में प्रयोग करने की सोची और उसे पोटाशविलयन में प्रचूषित कराकर 'युडि जैवेले' उत्पन्न किया। इससे क्लोरीन की अवाछित गध के कारण उसके इस्तेमाल करने की कठिनाई का निवारण हो सका।

विरजन की 'ग्रासिग' रीति के स्थान पर इस नयी रीति के प्रयोग की सभावना से विरजनकर्मियो को बड़ा त्राण मिला क्योकि इस रीति से वस्त्रविरजन में प्राय. उतने ही घण्टे लगने लगे, जितने कि पुरानी प्रथा में सप्ताह लगते थे। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अत्यधिक वस्त्रोत्पादन के कारण विरजनकर्मी अपनी अनावश्यक रूप से लम्बी प्रथा को लेकर बडी कठिनाई में पड गये थे। अनेक लोगो ने क्लोरीन पर प्रयोग किये और १७९९ ई० में चार्ल्स टेनैण्ट ने बुझाये चूने से क्लोरीन के अवशोषण की विधा का पेटेण्ट कराया। फलत 'क्लोराइड ऑफ लाइम' अर्थात् 'ब्लीचिंग पाउडर' वनस्पति-तन्तुओ के विरजक के रूप में आज तक सबसे महत्त्वपूर्ण पदार्थ माना जाता है।

शीले द्वारा क्लोरीन के आविष्कार जैसे विशुद्ध वैज्ञानिक आविष्कार का औद्योगिक प्रयोग कोई नयी बात न थी। इण्डैंथ्रीन प्रकार के प्रथम कुण्डरजक के आविष्कार के समय (१९०१) सोडियम हाइड्रो सल्फाइट अपेक्षाकृत एक विरली वस्तु थी जो रासायनिक प्रयोगशाला-प्रतिकर्मकों में भी साधारणतया नही पायी जाती थी। किन्तु कुण्डरजको में इसका प्रयोग होने से थोडे समय में ही इसकी महत्ता इतनी वढी कि प्रति वर्ष हजारो टन के हिसाब से इसका उत्पादन होने लगा।

उपर्युक्त दृष्टान्त का उलटा भी प्राय सत्य होता है। बहुधा औद्योगिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए किये गये अनुसन्धान के फल भी विशुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान में बडे मूल्यवान् सिद्ध हुए हैं। मास्कोस्थित 'श्रुण्डेल प्रिण्ट वर्क्स' के रसायनज्ञो ने ऐल्डिहाइडो और कीटोनो के साथ हाइड्रो सल्फाइट के प्राविधिक यौगिक तैयार किये, जिनसे हाइड्रो सल्फाइट एव सल्फाक्सिलेट की सरचना के स्पष्टीकरण में सहायता मिली।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विरजक के रूप में 'क्लोराइड आफ लाइम' का एक शताब्दी तक सबसे अधिक महत्त्व रहा है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस कालावधि में विरजनकर्मियो को वैज्ञानिको से कोई सहायता ही नही मिली। उनको अपने अनुभव से यह पता लगा कि विलयन की सान्द्रता के अलावा उसकी

क्षारता, उसका वयस तथा उसमें अम्ल डालने इत्यादि का विरंजन की प्रभाविता तथा उसके वेग पर बड़ा असर पड़ता था, साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि वस्त्रों के ऊपर रासायनिक आक्रमण की गहनता भी बड़ी महत्त्वपूर्ण बात थी। परन्तु बिना किसी मात्रात्मक आधार के यह ज्ञान अस्पष्ट सा ही रहा। १९०९ में एक डैनिश रसायनज्ञ, सोरेन्सन ने हाइड्रोजन आयन का सान्द्रण यानी किसी विलयन की अम्लता, क्षारता अथवा उदासीनता व्यक्त करने की एक सरल रीति निकाली। 'शर्ले इन्स्टिट्यूट' में (१९२४) 'ब्रिटिश कॉटन इण्डस्ट्री रिसर्च असोसियेशन' के क्लीवेन्स तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने वनस्पति तन्तुओं के सेलुलोज पर हाइपो क्लोराइट के विरंजन-विलयनों की आक्सीकरण क्रिया का बड़ी सावधानी से अध्ययन किया तथा कुछ आश्चर्य-जनक बातों का पता भी लगाया। यह मालूम हुआ कि आक्सीकरण के लिए विलयन में स्वयं हाइपो क्लोराइट के सान्द्रण की अपेक्षा हाइड्रोजन आयन सान्द्रण अधिक महत्त्व-पूर्ण होता है। इन वैज्ञानिक अन्वेषणों के प्रत्यक्ष फलस्वरूप विरंजन विधाओं का नियन्त्रण अधिक निश्चित एवं वस्तुनिष्ठ हो गया, अर्थात् विरंजन अब केवल एक कला मात्र न रहकर पूरा विज्ञान बन गया और उसकी उत्तमता एवं कार्यसाधकता में बड़ी उन्नति हो गयी।

यद्यपि विरंजित वस्त्रों के सामर्थ्य ह्रास से उसके विरंजन की अनुपयुक्तता का पता तो चल जाता था लेकिन रासायनिक आक्रमण की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना अब भी कठिन था। 'शर्ले इन्स्टिट्यूट' के वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं ने क्यूप्रामोनियम हाइड्राक्साइड में रासायनिकतया प्रभावित सेलुलोज के विलयन की श्यानता पर आधारित एक मानक परीक्षा विकसित की, जो अब वस्त्रोद्योग में सामान्यतः स्वीकृत है। *इस परीक्षा से विरंजन तथा सम्बद्ध विधाओं में हुई वस्त्र की हानि मापने* तथा उसकी प्रकृति निश्चय करने में बड़ी बहुमूल्य सहायता मिली है।

यह बताना कि आगे वैज्ञानिक रीतियों तथा आविष्कारों के प्रयोग से विरंजन में उन्नति की क्या सम्भावनाएँ हैं, प्रायः असम्भव है। विद्युद्रासायनिक विधाओं से बड़ी मात्रा में हाइड्रोजन पराक्साइड बनने और एक विरंजक के रूप में प्रयुक्त भी होने लगा है। इसके उपरान्त सोडियम क्लोराइट नामक क्लोरीन का एक दूसरा यौगिक, जो अभी हाल तक एक विरला रस-द्रव्य था, अब बड़े पैमाने पर विरंजन का महत्त्वपूर्ण साधन बनने जा रहा है।

कदाचित् रसायनज्ञ एक दिन फिर हवा से अनाश्रित विरंजन की पुरानी रीति अपनायेंगे, परन्तु तब वे सूर्यप्रकाश की मन्द गति एवं अनिश्चित क्रिया पर निर्भर न होंगे। वे कुछ ऐसे उत्प्रेरकों का प्रयोग करेंगे जिससे केवल प्राकृतिक रंग-पदार्थों

का ही ऑक्सीकरण हो सके तथा तन्तुओं के बल और प्रकृति पर कोई दुष्प्रभाव न पड़े।

पिछले सौ वर्षों में वस्त्रों के रंगने की रीतियों में आमूल परिवर्तन हुआ है, और उनके विकास तथा सुन्दर एवं उपयोगी वस्तुओं के कुशल उत्पादन में वैज्ञानिक योगदान का यह बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक तो वस्त्रों की रंगाई की कला प्राकृतिक रंग पदार्थों के प्रयोग पर ही आधारित थी। ये रंग पदार्थ अधिकांशतः वनस्पतिजगत से ही प्राप्त होते थे तथा उनके प्रयोग की रीति भी बड़ी कष्टप्रद और नियमशासित होती थी। फिर भी अनुभवजन्य रीतियों से ही सही, लेकिन वस्त्र-रंगाई और छपाई की कला सौन्दर्यमय बन गयी थी। गत शताब्दी के पूर्वार्ध में कार्बनिक रसायन का जो विकास हुआ वह मुख्यतः रंगों और भेषजों जैसे प्राकृतिक पदार्थों की रासायनिक संरचना की ओर केन्द्रित था। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि १८५६ में डब्लू० एच० पर्किन द्वारा किया गया कोलतार-पदार्थों से व्युत्पन्न रंगपदार्थ का आविष्कार कोई एक आकस्मिक घटना न थी। 'ऐनिलीन' अथवा 'कोलतार' रजकों तथा उनके आवश्यक अन्तःस्थों के सर्वप्रथम औद्योगिक निर्माण में १८ वर्षीय पर्किन की विलक्षण सफलता व्यावहारिक रसायन के समस्त इतिहास में बड़ी असाधारण घटना है। पर्किन के 'ऐनिलीन पर्पल' के बाद अविकांशतः इंग्लैण्ड और फ्रान्स में 'मैजेण्टा', 'सियानीन', 'साल्युब्ल ब्लू' तथा 'मिथिल वायलेट' जैसे सुन्दर सुन्दर रंगपदार्थ आविष्कृत हुए। लाइट फूट द्वारा कपास पर 'ऐनिलीन ब्लैक' उत्पन्न करने की एक व्यावहारिक रीति का आविष्कार इसी काल की घटना है। मैडर की जड़ोंवाले रंगतत्त्व, 'ऐलिजरीन' के बनाने की रीति का आविष्कार तथा उसका औद्योगिक विदोहन (एक्सप्लायटेशन) पर्किन की सफलताओं में सबसे उत्कृष्ट माना जाता है। विशुद्ध रासायनिक रीति से किसी प्राकृतिक रंगपदार्थ के उत्पादन का यह सर्वप्रथम उदाहरण था। आगे चलकर 'इण्डिगो' का संश्लेषण किया गया तथा उसका भी विशिष्ट आर्थिक महत्त्व हुआ। 'ऐलिजरीन' बनने के पहले बड़े बड़े खेतों में मैडर उपजाया जाता था तथा उसके रंगपदार्थ से 'टर्की रेड' और वस्त्रों की रंगाई छपाई के लिए लाल और गुलाबी आभाओं के महत्त्वपूर्ण रेञ्जों का उत्पादन किया जाता था।

ग्रीनफोर्ड ग्रीन-स्थित पर्किन की निर्माणी के संबन्ध में एफ० एम० रो लिखते हैं—"अन्य किसी देश की एक निर्माणी ने वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास का इतना विश्वव्यापी उत्थान नहीं किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ रंजक उद्योग और वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के बीच प्रारम्भ से ही अति निकट सम्पर्क स्थापित किया

गया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि शैक्षणिक वैज्ञानिको ने वाणिजि क रजकों की सरचना निश्चय करके तथा उनके उत्पादन मे होनेवाली प्रतिक्रियाओ के क्रम का स्पष्टीकरण करके उद्योग की महती सहायता की। उन्होंने नये नये अन्तस्थ एवं रजक भी तैयार किये जिनका आगे चलकर वाणिज्यिक पैमाने पर निर्माण किया गया। दूसरी ओर उद्योग ने भी इस बात को स्वीकार किया कि उच्च प्रशिक्षा-प्राप्त रसायनज्ञो की अधिकाधिक सख्या एकत्र कर तथा उन्हे काम में लगाकर सतत प्रगति करते रहने मे ही उनकी सफलता निहित है। इसी कारण वे निर्बाध रूप से नयी नयी प्रतिक्रियाएँ ज्ञात करके नवीनतम एव विविध प्रकार के यौगिक बनाते रहे तथा इससे कार्बनिक रसायन के सिद्धान्त एव व्यवहार के विकास मे बराबर सहायक हुए।"

कोलतार के ऐन्थ्रसीन से 'एलिजरीन' के उत्पादन ने मैडर की खेती को एकदम समाप्त कर दिया और आगे चलकर उसी प्रकार जर्मनी मे 'इण्डिगो' के रासायनिक उत्पादन ने प्राकृतिक इण्डिगो उद्योग का भी अन्त कर दिया।

रग पदार्थो के उत्पादन मे पर्किन की सफलताओ से प्रेरित कार्बनिक रसायन ज्ञान के प्रयोग के प्रत्यक्ष फलस्वरूप १८५६ के बाद रगाई कला में आमूल परिवर्तन हो गया। इससे रगाई-छपाई करनेवाले वस्त्रो मे ऐसे-ऐसे सुन्दर रगप्रभाव उत्पन्न करने लगे जो प्रकाश, धुलाई एव इस्तेमाल करने की अन्य साधारण रीतियों को सफलतापूर्वक सहकर स्थिर बने रहते है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रक्रियाएँ उन पुरानी प्रक्रियाओ से सरल भी थी जिनसे निश्चितरूपेण न्यून स्थिरता के रग उत्पन्न होते थे।

१८८४ ई० में प्रथम अनाश्रित कपास-रजक, 'कागोरेड' के आविष्कार से ही रजकविलयन में आवश्यकतानुसार थोडा नमक डालकर सूती वस्त्रो को उबालते हुए रगने की सरल रीति सभव हुई। उस समय से ऐसी रगाई के लिए बीसो हजार रजक तैयार किये गये और उनमे से बहुतो में प्रकाश और धुलाई सहने का गुण भी था, जो पहले किसी भी रीति से प्राप्त नही हो सका था।

इन हजारो कपास और ऊन-रजकों में से प्राय सभी का उद्गम पीटर ग्रीस नामक वैज्ञानिक के अनुसन्धानकार्य में ही निहित था। ग्रीस लन्दन मे प्रोफेसर ए० डब्लू० हॉफमैन के शिष्य थे, और बाद में बर्टन-ऑन-ट्रेण्ट के यवासवन उद्योग मे इनका सबन्ध हो गया था। इनके गुरु हॉफमैन ने अपने तथा अपने शिष्यो के कार्यो से इग्लैण्ड और जर्मनी दोनो देशो में उस महान् उद्योग की नीव डाली जिसने कोयला-आसवन के उपजातो को बडे बहुमूल्य यौगिको का रूप प्रदान किया। ये उपजात पहले एकदम

बेकार समझकर फेंक दिये जाते थे। पर्किन भी हॉफमैन के प्रयोगशाला-सहायक थे और यह उसी समय की बात है जब उन्होंने क्वीनीन संश्लेषण के अपने प्रयत्न में एक बैंगनी रग लानेवाला पदार्थ बनते देखा था। ग्रीस द्वारा आविष्कृत 'डाइऐज़ो' प्रतिक्रिया विलेय और अविलेय रगपदार्थों के उत्पादन की अब तक सुझायी गयी रीतियो में सबसे महत्त्वपूर्ण रीति है।

१९०१ ई० में आर० बॉन ने 'इण्डैंथ्रीन' का आविष्कार किया, यह 'ऐन्थ्रैसीन' से व्युत्पन्न रगपदार्थों की एक नयी श्रेणी का प्रथम यौगिक था और कुछ बातो में इसके रासायनिक गुण इण्डिगो के समान थे, इसी लिए यह कुण्डरंजक[1] कहा जाने लगा। इण्डैंथ्रीन से विशेषकर सेलुलोज तन्तुओं पर ऐसा रग उत्पन्न करना सभव हुआ जिसमें साबुन तथा सोडा के साथ उबालने और प्रकाश तथा शक्तिशाली विरंजनकारकों के प्रति बडी असाधारण स्थिरता थी। यद्यपि यह दावा करना उचित नही कि ये रजक कभी म लिन नही होते लेकिन इतना अवश्य है कि वस्त्र के उपयोगी जीवन में इनकी आभा में कोई विशेष अन्तर नही पड़ता। रासायनिक यौगिको के प्रति इनकी सहता इतनी अधिक होती है कि रंगे वस्त्रो के लिए विमलन[2], मर्सरीकरण, विरंजन तथा परिरूपण की क्रियाएँ निरापद रूप से सम्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार वस्त्रनिर्माण की अधिक मितव्ययी एव उत्तम रीतियाँ उपलब्ध हुई हैं। ऊन पर असाधारणतया स्थिर आभा उत्पन्न करनेवाले रजक भी ऐन्थ्रैसीन से तैयार किये गये हैं, जो रासायनिक दृष्टि से इण्डैंथ्रीन से भिन्न होते हैं।

कुण्डरजको की पूर्ति तथाकथित अविलेय 'ऐज़ो' अथवा 'नैप्थॉल' रजकों से की गयी है। इस प्रकार की रगाई के मूल आविष्कार का श्रेय हडर्सफील्ड के टामस तथा रॉबर्ट हॉलिडे को है, जिनके 'वैकेन्सीन रेड' से ही आगे चलकर 'पैरा रेड' उत्पन्न किया गया। १९१३ में मूल बीटा-नैप्थॉल के स्थान पर नैप्थॉल AS के प्रयोग से विशिष्ट स्थिरतावाले चमकदार रग विशेष कर सूती वस्त्रो पर उत्पन्न किये जा सके। इन रंगों की आभा, विशेष कर लाल आभाएँ बडी विस्तृत थी, जब कि कुण्डरजकों की ये आभाएँ अल्प थी। इन नये कुण्ड और ऐज़ो रजको द्वारा अब इण्डिगो और ऐलिज़रीन के अस्तित्व के ही समाप्त होने की सभावना हो गयी है। यह स्मरणीय बात है कि इण्डिगो और ऐलिज़रीन ने कुछ समय पूर्व नील और मैडर की खेती और उद्योग का नाश किया था। यह वैज्ञानिक आविष्कारों के आर्थिक प्रभाव तथा उनके औद्यो-

[1] Vat dyestuff		[2] Scouring

गिक प्रयोग का अत्युत्तम उदाहरण है। इसलिए यह समझना कि अब अन्तिम पद आ गया ठीक नही है। सभव है कि उनके प्रयोग की कठिनाई के कारण कुण्डरजक भी शीघ्र ही विस्थापित हो जायँ और उनके स्थान पर भिन्न रासायनिक सरचनावाले अन्य यौगिक क्षेत्र में आ डटें। अभी भी 'इण्डिगो सोल्स' तथा 'सोलेडॉन्स' के रूप में कुण्डरजको की सरचनाओं मे ऐसा सशोधन उपस्थित किया गया है जो विलेय होने के साथ-साथ कुछ बातों मे सूत एव वस्त्र पर अधिक सरलता से प्रयुक्त हो सकता है। रासायनिक कौशल से नैप्थाल रग इतने विविध तरीको से तैयार किये गये हैं जिससे उनका प्रयोग अधिक सुविधाजनक हो गया है, विशेषत वस्त्रो की छपाई में। रजको एव रगद्रवो के क्षेत्र में गहन वैज्ञानिक अनुसन्धान अब भी चालू है। गत कुछ ही वर्षो मे सुन्दर 'मोनास्टूल ब्लू' का आविष्कार हुआ है और उसकी सरचना भी मालूम हो गयी है। इससे सबद्ध अनेक बहुमूल्य रग पदार्थ मिलने भी लगे हैं। १९४० ई० में केवल ब्रिटेन मे ६ ५ करोड पौण्ड मूल्य के रजक पदार्थो का उत्पादन हुआ था। इस तथ्य से इस उद्योग के वर्तमान परिमाण का अन्दाज लगाया जा सकता है।

परिरूपण[1]—वस्त्रोद्योग के विकास में नये-नये प्रभाव उत्पन्न करने तथा नयी समस्याओ के समाधान के लिए वैज्ञानिक रीतियो और साधनो के प्रयोग की सदा आवश्यकता रहती है। वस्त्रतन्तुओ को व्यवहार एव अलकार के लिए तैयार करने में विरजन तथा रगाई के अलावा भी कुछ और करना पडता है, इसी के लिए 'परिरूपण' अर्थात् 'फिनिशिंग' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसके अन्तर्गत वस्त्र की शोभा, स्पर्श, घनता, उसकी सतह की प्रकृति तथा अन्य गुणो के परिवर्तन-सशोधन की सभी प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं।

सूती वस्त्रो के परिरूपण की सबसे महत्त्वपूर्ण विधाओं में 'मर्सरीकरण' उल्लेखनीय है। इस शब्द का निर्माण लकाशायर के वस्त्र छपाई करनेवाले एक रसायनज्ञ जॉन मर्सर के नाम पर हुआ था। मर्सरीकरण की अपनी पुस्तक मे श्री जे० टी० मार्श ने लिखा है—"मर्सरीकरण विधा मर्सर द्वारा उन पदार्थों के अध्ययन से निकली जो जल के साथ रासायनिकतय सयुक्त होकर निश्चित हाइड्रेटो के रूप में विलीन रहते हैं। १८४३-४४ की कालावधि में अक्सर वे विभिन्न सान्द्रणोवाले विलयनों द्वारा प्रदर्शित श्यानता तथा चलिष्णुता के भेदों के सबन्ध में अपने विचारो का विमर्श किया करते थे और इन विलयनों को केशिका नली के द्वारा प्रवेश कराने की बात

[1] Finishing

सुझाया करते थे, क्योकि उन्हें यह आशा थी कि उन विलयनो के बहाव का गति-भेद उनके रासायनिक जलीयन (हाइड्रेशन) की मर्यादा के अनुकूल होगा। . .चूंकि वस्त्र छपाई पर विलयनों की प्रकृति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है, इसलिए मर्सर ने एक पदार्थ की विभिन्न प्रबलतावाले विलयनो से उत्पन्न प्रभावभेदों की जांच के लिए अनेक संपरीक्षाएँ की। धीमी प्रभाजन छनाई के द्वारा मर्सर ने विभिन्न हाइड्रेटो के आंशिक पृथक्करण की बात भी सोची। इसी छनाई क्रम में सोडियम हाइड्राक्साइड के विलयनो को सूती कपडो से छानना पडा।"

इस उपचार के फल का वर्णन करते हुए स्वय मर्सर ने लिखा है—"मैंने देखा कि छाननेवाले कपडे में असाधारण परिवर्तन हो गया और वह अर्ध-पारदर्शक हो *गया था तथा लम्बाई और चौडाई दोनो ओर से सिकुड तथा फूलकर मोटा (फुल्ड)* हो गया था।"

ये अवलोकन १८४४ ई० में किये गये थे लेकिन मर्सर ने 'फुल्ड' कपडे सबन्धी अपनी सपरीक्षाएँ फिर १८५० ई० के पूर्व नही की। १८५१ ई० की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में इस नयी विधा से उपचारित वस्त्रो के नमूने भी प्रदर्शित किये गये लेकिन कोई सफल वाणिज्यिक उत्पादन सभव न हुआ। कदाचित् उस समय सोडियम हाइ-ड्राक्साइड की महँगाई के कारण ही ऐसा न हो सका। मर्सर द्वारा अवलोकित कपडे की सिकुडन का उपयोग, दहक्षार के प्रयोग से क्रेप प्रभाव उत्पन्न करने में किया गया। अगले ३०-४० वर्षो में यह क्रेप बडा लोक-प्रिय हुआ।

मर्सरीकरण से कपास के सूत एव वस्त्र में अन्य बहुमूल्य परिवर्तन उत्पन्न होते देखे गये थे। आतननसामर्थ्य[1] खूब बढ जाता था तथा रजकों के लिए बन्धुता (एफि-निटी) भी। ये दोनो गुण वर्तमान वस्त्रोपचार में बडे महत्त्व के है, लेकिन आजकल मर्सरीकरण का प्रयोग विशेषत कपडे की रेशमी चमक और स्पर्श बढाने के लिए किया जाता है। यह उल्लेखनीय बात है कि मर्सर ने इन प्रभावो का अनुभव नही किया था। १८९९ में मैन्चेस्टर के एक युवक रसायनज्ञ, होरेस ए० लो ने यह देखा कि मर्सरीकरण के समय वस्त्र पर थोडा तनाव देने से उसकी रेशमी चमक बहुत बढ जाती थी। वस्त्र उद्योग में यह अवलोकन एक बडा महत्त्वपूर्ण आविष्कार सिद्ध हुआ *जिसका एकमात्र श्रेय लो को है। स्वय लो ने भी इसकी महत्ता जान ली थी लेकिन* अधिक चमक के लिए इस विधा को उद्योग द्वारा स्वीकार कराने में वह सफल न

[1] Tensile strength

हो सके फलत उनका पेटेण्ट १८९३ में समाप्त हो गया। वस्त्र की चमक के लिए मर्सरीकरण विधा का सफल विदोहन (एक्सप्लायटेशन) क्रेफेल्ड के सर्वश्री टामस तथा प्रिवोस्ट ने किया। उन्होंने दहक्षार की सिकुड़न क्रिया से सूत की लम्बाई की हानि रोकने के प्रयत्न में स्वतंत्र रूप से इस चमक-प्रभाव का आविष्कार किया था। यह एक ऐसा दृष्टान्त है जिसमें एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान के मूल्य को औद्योगिकों ने न जाना और एक महान् अवसर विफल हो गया। यद्यपि पेटेण्ट की समाप्ति से स्वामित्व-अधिकार भी समाप्त हो गया लेकिन एक वैज्ञानिक अनुसन्धान से कपास तथा अन्य सेलुलोज सूत एवं वस्त्रों का सुशोभन सम्भव हुआ।

अन्य परिरूपण विधाओं में बहुत से पदार्थों की आवश्यकता होती है, जिनके ठीक-ठीक प्रयोग से वस्त्रों में अनेक वाछनीय गुण उत्पन्न होते है। डा० सी० जे० टी० क्रॉन्दा ने लिखा है कि यद्यपि वस्त्रविधायन में रगाई के लिए रजकों के रूप में कार्बनिक रसायन के नवीनतम यौगिकों का प्रयोग किया गया है, फिर भी उसके परिरूपण की अन्य विधाओं के लिए अभी हाल तक युगों से चले आ रहे केवल गोंद और स्टार्च, तेल और वसा तथा चीनी मिट्टी जैसे खनिजों पर ही निर्भर रहना पड़ा है। लेकिन आज स्थिति सर्वथा भिन्न है और रजकनिर्माण के साथ-साथ अनेक सहायक पदार्थों का उत्पादन होने लगा है और इन सहायक पदार्थों में से बहुत से तो रजकों से कम महत्त्व के नही माने जाते। नये-नये विमलनकारक तथा आर्द्रणकारक, वस्त्रों की मुलायमियत तथा बजाजा गुण (ड्रेपिंग क्वालिटी) बढानेवाले पदार्थ और जल-रोधन तथा पायसन एवं सज्जीकरण (साइजिंग) और असज्जीकरण करने वाली वस्तुएँ बड़ी भारी सख्या में उत्पन्न होने लगी है। इन पदार्थों का यह विशाल समूह आज की नवीन रासायनिक सफलता का मुख्य द्योतक है। यह कार्य संयुक्त राज्य अमेरिका के शेनेक्टैडी स्थित 'जेनरल एलेक्ट्रिक कपनी' के डा० इर्विंग लैंग्म्योर के आधारभूत अन्वेषणों से सभव हुआ है। डा० क्रॉन्दा ने इसका भी दिग्दर्शन कराया है। कुछ ऐसे तेल होते है जो जल-तल पर छोड़े जाने पर नही फैलते। उन हाइड्रोकार्बनो का भी व्यवहार इसी प्रकार का होता है, जिनके अणुओ में कार्बन परमाणुओं की शृंखला होती है और जिनमें केवल हाइड्रोजन के परमाणु जुड़े रहते हैं। लेकिन अगर इस शृंखला के एक हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर कोई विलयनीकर्ता वर्ग जोड़ दिया जाय तो प्राप्त पदार्थ जल-तल पर बराबर फैल जायगा। इस प्रकार ओलिक अथवा स्टियरिक अम्लों का भी जल-तल पर एक बराबर स्तर बन सकता है। लैंग-म्योर ने यह प्रदर्शित किया कि ऐसे स्तर केवल एक अणु मोटे होते हैं। इनके तलतनाव

का अध्ययन करके यह भी सिद्ध किया गया कि इन एक-आणविक स्तरो अथवा झिल्लियो में सभी अणु एक निश्चित रूप से स्थान ग्रहण करते है अथवा अनुस्थापित (ओरियेण्टेड) होते हैं, तथा इनका विलयनीकर्ता वर्ग जल-तल की ओर रहता है और ये सीधे-सीधे खड़े हो जाते हैं।

इन अणुओ में एक ध्रुवीय (पोलर) अर्थात् जलप्रिय (हाइड्रोफीलिक) वर्ग और दूसरा अध्रुवीय (नान-पोलर) अर्थात् जलरोधी (हाइड्रोफोबिक) वर्ग होता हैं और इसी कारण से इनकी दोहरी प्रकृति होती है। विलयनीकर्ता अथवा ध्रुवीय वर्ग को जल की ओर खीचने और इस प्रकार उसमें तेल को विलीन करने की प्रवृत्ति का प्रतिसतुलन (काउण्टर-बैलेन्स) अध्रुवीय वर्ग के अपकर्पण से होता है। यदि विलयनीकर्त्ता वर्ग अधिक ध्रुवीय हुआ तो अणु सचमुच जल के अन्दर खिच जाते हैं और उनका बण्डल अर्थात् श्लेपिका (मिसेल्स) बन जाती है। इन श्लेपिकाओ में ध्रुवीय वर्ग जलप्रिय होने के कारण उसकी ओर यानी जल से स्पर्श करते है, जब कि जलविरोधी अध्रुवीय वर्ग उससे बचने के लिए अन्दर की ओर रहते है।

लैगम्योर के आधारभूत अन्वेषणो से इन लम्बी श्रृखलावाले विद्युदश्यो के व्यावहारिक प्रयोग का उत्तम स्पष्टीकरण हुआ है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि साबुन तथा अन्य सबद्ध पदार्थों का पायमन प्रभाव उनमें तेलप्रिय अध्रुवीय कडी के साथ जलप्रिय ध्रुवीय वर्ग जुडे रहने के कारण ही होता है। यदि केवल तेल और पानी को मिलाकर हिलाया जाय तो वे अस्थायी रूप से एक में मिल जाते हैं लेकिन कुछ क्षण के लिए छोड दिये जाने पर वे दोनो फिर अलग-अलग हो जाते हैं। किन्तु अगर उनके साथ इन लम्बी श्रृखलावाले विद्युदश्यो यानी पायसनकर्ताओ की थोड़ी मात्रा मिला दी जाय तो जल और तेल का एक स्थायी आलम्ब अथवा पायस तैयार हो जाता है। ये लम्बी श्रृखलावाले विद्युदश्य[1] जल और तेल के बीच की कडी का काम करते है, तथा एक समाग[2] मिश्रण में उनके सह-अस्तित्व को स्थायी बनाते हैं।

इन पदार्थों की आर्द्रणक्रिया का भी इसी आधार पर स्पष्टीकरण किया जा सकता है। इनकी लबी श्रृखला स्नेही पदार्थों की ओर आकृष्ट होती है, जब कि ध्रुवीय वर्ग का आकर्षण आर्द्रण के लिए प्रयुक्त होनेवाले विलयन के जल की ओर होता है।

लम्बी श्रृखला के विद्युदश्यो की अपक्षालन क्रिया[3] भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी प्रथम प्रभाव तो पायसन तथा आर्द्रण की क्रिया के समान ही होता है; परन्तु

[1] Electrolyte [2] Homogeneous [3] Detergent action

सम्पूर्ण अपक्षालन क्रिया में कई अन्य कारक भी काम करते है, जिनके बारे में अभी पूरा ज्ञान प्राप्त नही हो पाया है। वस्त्रो के धोने अथवा विलयन के लिए इनमें से बहुतो का व्यावहारिक प्रयोग भी किया जाने लगा है, और इस कार्य के लिए इनके प्रयोग में साबुन की अपेक्षा कई अन्य लाभ भी है। ये विशेष रूप से कार्यक्षम होते है और अपेक्षाकृत इनकी बहुत थोडी मात्रा आवश्यक होती है। कठोर जल के साथ साबुन का प्रयोग अव्यावहारिक होता है क्योंकि कैल्सियम और मैग्नीसियम साबुनो का अवक्षेपण हो जाता है जिससे बडा चिपकाऊ मलफेन (स्कम) बन जाता है। लेकिन ये आधुनिक अपक्षालक ऐसे जल के साथ भी बडी कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किये जा सकते है, क्योंकि इनके सवादी कैल्सियम और मैग्नीसियम लवण जलविलेय होते है तथा बडी सरलता से विक्षेपित होते है। वे तो अम्लविलयनो के साथ भी इस्तेमाल किये जा सकते है क्योंकि सवादी अम्ल भी जलविलेय होते है।

इस प्रकार प्रत्यक्षत असबद्ध क्षेत्रो में किये गये वैज्ञानिक अनुसन्धान के फलस्वरुप ऐसे पदार्थो के आविष्कार हुए है, जिनके द्वारा दो सहस्र वर्षो से प्राय अपरिवर्तित रूप में चले आ रहे साबुनो का सरलता से विस्थापन हो गया, या कम से कम बहुत हद तक उनकी अनुपूर्ति हुई। कुछ बातो में तो वे नि सदेह साबुनो से कही बढकर कार्यक्षम होते है।

विस्फोटक

(पहले के सस्करणो से किञ्चित् सशोधन सहित पुनर्मुद्रित)

शान्तिकालीन कुछ रोचक औद्योगिक घटनाओ की सक्षिप्त समीक्षा कर लेने के बाद कुछ मुख्य युद्धोद्योगो की चर्चा करना भी आवश्यक है। विस्फोटको की उत्पादन रीतियां कोलताररजक बनाने की रीतियो से इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि सयन्त्रो में कोई विशेष सशोधन किये बिना ही रजक-उत्पादक युद्धोद्योग में पूरी तरह रत हो सकता है। तेरहवी शताब्दी में रोजर बेकन ने 'पल्विस फुल्मिनान्स' का आविष्कार किया, कोलेन के भिक्षु, श्वार्ज ने चौदहवी शताब्दी में बन्दूक और गन पाउडर' बनाये, तथा सोलहवीं शताब्दी में जहाजो में सर्वप्रथम तोपों का प्रयोग किया गया, यही इस दिशा की पूर्वकालीन प्रगति है। उनके बाद उन्नीसवी शताब्दी तक विस्फोटक उद्योग में कोई विशेष विकास नही हुआ। इतना अवश्य है कि उस समय युद्ध की अपेक्षा खोदाई एवं इजीनियरी प्रयोजनो के लिए विस्फोटको की अधिक आव-

श्यकता थी। यहाँ हमारा उद्देश्य वैज्ञानिक गतिविधियों की नैतिकता सिद्ध करने का नहीं है, केवल हम यह दर्शाना चाहते हैं कि विज्ञान ने किसी उद्योग के निमित्त क्या किया है।

कोई विस्फोटक यौगिक अथवा मिश्रण बड़ी शीघ्रता से ऊष्मक्षेपकतया[1] ऐसे गैसीय पदार्थों में परिवर्तित हो जाता है, जो विस्फोट के उच्च ताप और साधारण दबाव पर मूल यौगिक या मिश्रण की अपेक्षा अत्यधिक आयतन यानी स्थान घेरते हैं। गैस के सहसा प्रसार से जो भीषण दबाव उत्पन्न होता है, उसी में विस्फोट की प्रबल शक्ति निहित होती है। इसी सिद्धान्त पर ऐसे गुणवाले पदार्थों की विस्फोटक प्रकृति का उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए ट्राइनाइट्रो टोलुइन (टी० एन० टी०) को लीजिए। इसका विस्फोट करना कोई सरल काम नहीं है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत एक स्थायी पदार्थ है। परन्तु इसके गुणों के अध्ययन एवं पिक्रिक अम्ल तथा पिक्रेटों से, जो समान सरचना एवं विस्फोटक गुणोंवाले पदार्थ हैं, उसकी तुलना करके यह अनुमान किया गया है कि उस पर चोट मारकर उसे प्रस्फोटित किया जा सकता है। रसायनज्ञों, भौतिकीविदों तथा इंजीनियरों की सक्रियता के फलस्वरूप टी० एन० टी० आज सर्वाधिक प्रयुक्त विस्फोटक बन गया है। इसके पूर्व रोजर बेकन का चारकोल, गन्धक और नाइटर-मिश्रित काला चूर्ण (ब्लैक पाउडर) ही शताब्दियों तक एकमात्र विस्फोटक बना रहा। यह बड़ी शीघ्रता से जल उठता है किन्तु इसकी शक्ति बहुत कम होती है।

आधुनिक विस्फोटकों के जनक, ऐल्फ्रेड नोबेल ने ऐसे साधन निकाले जो प्रस्फोटन (डिटोनेटिंग) प्रकृतिवाले प्रबल विस्फोटकों को दगाने के काम में आते थे। ऐसे पदार्थ उपक्रामक (इनीशियेटर) कहलाते हैं। उन्होंने देखा कि पारद, नाइट्रिक अम्ल और इथिल ऐल्कोहाल से बननेवाला मर्करी फल्मीनेट केवल एक चिनगारी मात्र से विस्फोटित हो उठता है। अत उन्होंने सोचा कि यह प्रबल विस्फोटकों की बड़ी बड़ी मात्राओं के प्रस्फोटन का उपक्रमण भी कर सकता है। ताम्र अथवा अलुमिनियम कैप्सूल में बन्द उपक्रामक विस्फोटकों को प्रस्फोटक कहा जाता है। विस्फोटन तथा उत्स्फोटन (ब्लास्टिंग) कर्ताओं के विकास में इन उपक्रामकों ने मुख्य काम किया है। गत कुछ वर्षों से मर्करी फल्मीनेट के स्थान पर सीस ऐज़ाइड प्रयुक्त होने लगा है।

१८३२ में ब्रैकोनॉट ने काष्ठतन्तुओं पर नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से एक विस्फो-

[1] Exothermically

टक पदार्थ बनाया, और १८२५ में शोनबीन ने कपास को सल्फ्यूरिक और नाइट्रिक अम्लो से उपचारित करके 'गन-काटन' तैयार किया। यद्यपि अन्य देशो मे भी इसका निर्माण प्रारम्भ किया गया लेकिन सफल नही हुआ, क्योकि निष्पन्न वस्तु अत्यन्त अस्थायी होने के कारण बडी भयावह थी। उचित विधा के विविध पदो का ठीक ठीक अनुमरण न करना ही मुख्यत इस असफलता का कारण था। सर फ्रेड्रिक ऐबेल ने बताया कि न केवल प्रारम्भिक पदार्थ अर्थात् क्षेप्य कपास को सावधानी से चुनने की आवश्यकता है, *बल्कि नाइट्रेशन के बाद उसे अच्छी तरह जल से धोना भी बडा महत्त्वपूर्ण* काम है। शोनबीन के गन-काटन के अस्थायित्व का मुख्य कारण उसमें स्वतत्र अम्लो की उपस्थिति थी। अपकेन्द्र (सेन्ट्रीफ्यूगल) शोषको तथा कागज की लुगदी बनाने-वाली मशीनो के प्रयोग मे नाइट्रोकाटन को विलग करने और धोने मे बडी सुविधा हो गयी, तथा काफी निरापद पदार्थ प्राप्त किया जाने लगा।

भूमिस्थ (सबटरेनियन) एव समुद्रान्तर (सबमेरीन) विस्फोटो (माइन्स) तथा नौध्नियो (टारपीडो) की भराई (फिलिग) जैसे सैनिक प्रयोजनो के लिए गन-काटन का प्रयोग किया जाता है। इसका सबसे बडा लाभ यह है कि गीली अवस्था में भी इसका विस्फोट किया जा सकता है, और गीला पदार्थ प्रयोग करने तथा सग्रहण एव परिवहन के लिए निरापद होता है। शुष्क अवस्था मे मर्करी फल्मिनेट प्रयमक (प्राइमर) से विस्फोट किया जाता है, जब कि गीली दशा मे गनकाटन प्रयमक के रूप में प्रयुक्त होता है।

गनकाटन को एक प्रणोदी (प्रोपेलेण्ट) के रूप मे इस्तेमाल करने का भी प्रयत्न किया गया था किन्तु सफलता नही मिली, क्योंकि उसका विस्फोटन बडा द्रुत, भीषण एव अनिश्चित होता था। कुछ द्रवो से इसका जिलैटिनीकरण करके इसे साध्य करने का प्रयत्न सफल हुआ। यही पदार्थ वाल्टर एफ० रीड तथा वोले का धूमरहित चूर्ण (स्मोकलेस पाउडर) था। इस दिशा मे सबसे विशिष्ट फल ऐल्फ्रेड नोबेल ने प्राप्त किया, उन्होंने गनकाटन और नाइट्रोग्लिसरीन को एसिटोन मे विलीन करके प्राप्त विलयन को उद्वाष्पित किया, जिसमे उपर्युक्त दोनो पदार्थो का समाग मिश्रण तैयार हो सका। इस रीति को और विकसित करके गनकाटन, नाइट्रोग्लिसरीन और मिनरलजेली की अल्प मात्रा को एसिटोन मे मिलाने से प्राप्त लेपी को एक जेट मे से निकालने से एक अखण्ड रज्जु तैयार हो जाती है जो सूखने पर तांत का रूप धारण कर लेती है। इसी को 'कार्डाइट' कहते है जो छोटे-बडे अनेक प्रकार के अन्यास्त्रो मे प्रणोदी विस्फोटक का काम करता है। आजकल मिनरलजेली के स्थान पर अन्य सयनकर्ता (माडरेण्ट्स) प्रयुक्त होने लगे है।

गुरु धातुओं के ऐज़ाइड तैयार करने के लिए उनके विलयनों में सोडियम ऐज़ाइड सदृश क्षारीय ऐज़ाइड डालकर अवक्षेपण किया जाता है। इसी प्रकार विशिष्ट पूर्वविधानों सहित सीसएसिटेट के तनु विलयन में सोडियम ऐज़ाइड का क्षीण विलयन छोड़कर सीस ऐज़ाइड बनाया जाता है, जो मर्करी फल्मिनेट से अधिक कार्यक्षम किन्तु उससे कम सुग्राही होता है। इसी लिए मर्करी फल्मिनेट के स्थान पर अब सीसऐज़ाइड अधिक प्रयुक्त होने लगा है।

१८४७ ई० में सोब्रेरो ने नाइट्रोग्लिसरीन का आविष्कार किया था परन्तु इसके विस्फोटक गुणों का उपयोग ऐल्फ्रेड नोबेल ने ही किया। नाइट्रोग्लिसरीन एक भारी तैलीय द्रव है जो ठोकर लगने अथवा तेज चोट मारे जाने या सहसा गरम किये जाने पर बड़े भयकर रूप से प्रस्फोटित होता है। अपने इन सहज गुणों के कारण यह पदार्थ मूल रूप में आजकल बहुत कम इस्तेमाल होता है और केज़लगूर सदृश कुछ निष्क्रिय पदार्थों को समाविष्ट करके अधिक निरापद बना दिया जाता है। इसी को 'डायनामाइट' कहते हैं। यद्यपि इस रूप में भी यह सर्वथा निरापद नहीं होता फिर भी अपनी स्वतंत्र अवस्था से तो कहीं अधिक सुरक्षापूर्ण हो जाता है। कोलोडियन काटन के साथ नाइट्रोग्लिसरीन समाविष्ट करके 'ब्लास्टिंग जिलैटिन' बनाया जाता है; इसकी विस्फोटक शक्ति डायनामाइट से कहीं अधिक होती है। जिलैटिनाइज्ड नाइट्रोग्लिसरीन को नाइटर, काष्ठचूर्ण और तनिक सोडा के साथ मिलाने से 'जिलैटिन डायनामाइट' तैयार होता है, यह भी एक उपयोगी उत्स्फोटनकर्ता है। इस वर्ग के विस्फोटकों का विकास विशेष रूप से नोबेल की 'एक्सप्लोसिव कम्पनी' द्वारा किया गया था। यह कम्पनी अब 'इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज लि०' में समाविष्ट हो गयी है। इन विस्फोटकों का प्रयोग खानों की खोदाई, पाषाण-खनन अथवा सिविल इंजीनियरी के कामों में होता है। पेड़ गिराने, फलोद्यानों में भूमि तोड़ने में भी विस्फोटकों का प्रयोग किया जाता है, जिससे जड़ों को थोड़ी स्वतंत्रता तथा वायु मिल जाती और उनका जीवनकाल बढ़ जाता है।

बम के गोले उड़ानेवाले पदार्थों के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय किसी एक व्यक्ति को देना कठिन है। इनमें से सबसे पुराना पदार्थ पिक्रिक अम्ल है जिसका आविष्कार १७९९ में वेल्टर ने किया था तथा फिनॉल की व्युत्पत्ति के रूप में इसकी प्रकृति का प्रकाशन लारेन्ट ने १८४२ में किया। प्रबल सैनिक विस्फोटकों के रूप में पिक्रिक अम्ल से बने पदार्थों का प्रयोग विभिन्न देशों में होता है तथा इन्हें 'लाइडाइट', 'शिमोज़' तथा 'मेलिनाइट' की संज्ञा प्राप्त है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि यह किसी धातु के सम्पर्क में थोड़ी देर तक भी रखा जाय तो इसका बड़ा विस्फोटक एवं अति सु-

ग्राही लवण बन जाता है। यह दोष टी० एन० टी० में नही पाया जाता। इसका युद्धो में विपुल प्रयोग होता है। अन्य विस्फोटको द्वारा टी० एन० टी० के प्रतिस्थापन से विस्फोटक शक्ति की हानि होती है परन्तु यह हानि अनेक अन्य लाभो से प्रतिसतुलित हो जाती है। इसका प्रयोग अकेले अथवा अलुमिनियम चूर्ण एव अमोनियम नइट्रेट जैसे पदार्थो के साथ मिलाकर किया जाता है। ऐसे मिश्रण को 'ऐमोनल' कहते हैं, यह निरापद होने के साथ साथ बडा ही शक्तिशाली विस्फोटक है।

हेक्जानाइट्रो फिनिल ऐमीन भी एक प्रबल विस्फोटक है, इसमें टी० एन० टी० की थोडी मात्रा मिलाकर इसका प्रयोग बमो में किया जाता है। यह एक स्थायी चूर्ण है और इसका द्रवणाक २३८° है। शक्ति और सुग्राह्यता में यह पिक्रिक अम्ल के समान है, यहाँ तक कि धातुओ के सम्पर्क में सुग्राही लवण बनाने का दोष भी इसमें है।

गत कुछ वर्षो के अन्दर प्रयोगशाला में तैयार किये गये पेण्टाइरिथ्रिटॉल टेट्रानइट्रेट तथा साइक्लोट्राइमिथिलीन ट्राइनाइट्रामीन भी अब बम-पूरको के रूप में बडे पैमाने पर प्रयुक्त होने लगे है।

ऐसा लगता है कि विस्फोटको के सैनिक प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है, युद्ध कोई उद्योग नही होता। सभवत विस्फोटको के शान्तिकालीन उपयोगो से उनके उद्योग को अधिक लाभ हुआ है। निस्सदेह नाइट्रोग्लिसरीन का आविष्कार तथा आधुनिक उत्स्फोटक विस्फोटो में उसके वैज्ञानिकतया नियत्रित प्रयोग से गत शताब्दी के वैज्ञानिक विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति में महती शक्ति प्राप्त हुई है। नये विस्फोटक कारतूसो की सुवाह्य सपुटित शक्ति (पॉटेड-पावर) ने खनन एव पाषाण-खनन की पुरानी रीतियो को अत्यधिक प्रवेगित किया, जिससे ससार भर में व्यापक विकास का उद्बोधन हुआ।

यह ठीक ही कहा जाता है कि विस्फोटको के बिना राजपथ, रेलवे, नहर, सुरग तथा जलमक्रम बनाने और जलमार्गो को गहरा करने, नौवहन की रुकावटो को हटाने अयस्को के प्रद्रावण (स्मेल्टिंग), ककरीट भवनो की रचना, कृत्तकाष्ठ (कटओवर) तथा पथरीली भूमि को साफ करने, दलदलो को उपादेय बनाने और मलो के निरसन इत्यादि में महती कठिनाई का सामना करना पडता। यह बताने की विशेष आवश्यकता नही कि उपर्युक्त सभी बातें आधुनिक सभ्यता के परमावश्यक अग है।

निम्नलिखित सारणी से विस्फोटको के विविध प्रयोगो की एक झलक प्राप्त की जा सकती है—
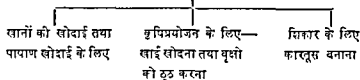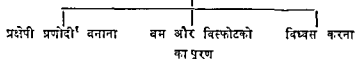
यह सम्पूर्ण उद्योग विज्ञान पर ही आधारित है तथा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों द्वारा इसका नियंत्रण होना चाहिए। असाधारण पूर्वोपायों के बावजूद भी इस उद्योग ने मानवजीवन की बलि ली है। परन्तु बिना विज्ञान के वह बलि भयंकर रूप से विशाल होती। और यह भी निश्चित है कि ज्ञान की जिज्ञासा, सपरीक्षा करने की प्रबल इच्छा तथा प्राप्त ज्ञान के प्रयोग की शक्ति के बिना कोई उद्योग टिक ही नहीं सकता।

ग्रंथसूची

BRUNSWIG, H. : *Explosivstoffe*. J. A. Barth.

BRUNSWIG, H. : *Explosives* John Wiley & Sons, Inc.

FARMER, R C : *Manufacture and Uses of Explosives.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

MARSHALL, A. · *Explosives, History and Manufacture* J. & A. Churchill Ltd.

NAOUM, P. : *Nitroglycerin und Nitroglycerinsprengstoffe Dynamite.* Julius Springer

NAOUM, P , AND SYMMES, E M. · *Nitroglycerine and Nitroglycerine Explosives.* Baillière, Tindall & Cox, Ltd.

[1] Projective Propellants

अध्याय ९

वस्त्रोद्योग

सेलुलोज़, सेलुलायड और रेयान

वस्त्रोद्योग

(स्वर्गीय) जे० एच० लेस्टर, एम० एस सी० (विवट), एफ० टी० आई०,
एफ० आर० आई० सी०

ऐसे विषयों के प्रतिपादन का पुराना ढग तो यह है कि रासायनिक अन्वेषण, उद्भवों[1] और आविष्कारों के ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किये जाय जिनके द्वारा उद्योग-विशेष की प्रगति और विकास हुआ हो तथा जिसने उसकी सीमा का विस्तार करके उसकी कार्य-विधाओं में उन्नति की हो और नूतन तथा अधिक उत्तम वस्तुओं का उत्पादन किया हो। इस क्रम मे आविष्कारों के आधारभूत वैज्ञानिक आरम्भ एव उद्योग से उसके सबन्ध और उसकी अन्तिम वाणिज्यिक सफलता का उल्लेख किया जाता है। परन्तु ऐसा करने में पर्किन के समय से लेकर आज तक के रजकों की कथा अथवा स्वान एव कार्डोनेट के काल से लेकर आधुनिक महीन और चमकदार वस्त्रों की कहानी फिर से दोहरानी पडेगी तथा उन अनेक आविष्कारों का पुन वर्णन करना पडेगा, जिन्हों ने मनुष्य को समृद्धशाली बनाने और लाभान्वित करने के साथ-साथ कभी-कभी मानवता को लाछित और पददलित भी किया है। लेकिन ऐसी गाथाएँ पहले ही इतनी वृहत् हैं कि अब उनमें और वृद्धि करना अथवा उन्हें समुन्नत करना अधिक सभव नही है। वस्त्रोद्योग में रसायनविज्ञान के प्रयोग के सबन्ध में उसके दुरुपयोग तथा विध्वसक प्रयोजनों के लिए उसके इस्तेमाल का भी प्रश्न नही उठता, जिससे उसका औचित्य सिद्ध किया जाय अथवा भर्त्सना की जाय।

इस अध्याय के प्रस्तुत शीर्षक के कारण भी इसकी प्रतिपादन शैली भिन्न है क्योंकि

[1] Inventions

'वस्त्रोद्योग पर रसायन का प्रभाव' शीर्षक के अन्तर्गत तो अवश्य ही कुछ उपर्युक्त ढंग की चीज लिखनी पडती। इस समय तो हमें विषय का बाह्य नही अन्तर दर्शन करना पडेगा। इस दृष्टिकोण से हम मानवता के कल्याणकर्ता के रूप में रसायनज्ञों का यशोगान करने के बजाय विषय के अन्दर से ही उनकी कुछ नवीन प्रगतियो की ओर दृष्टिपात करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि रसायनज्ञ का काम मन्दगति एवं श्रमसाध्य है, परन्तु अत्यन्त रोचक और प्राय उत्तेजक होता है। वह उस शिल्पी की भाँति है, जो कुछ सोचता है फिर एक स्थूल योजना बनाता है, उसका विस्तार करता है, उसमें काट-छाट करता है और कभी-कभी उसे रद्दी की टोकरी में डालकर फिर नये सिरे से सोचना प्रारम्भ करता है और तब तक सतुष्ट नही होता जब तक उसका भवन बनकर खडा नही हो जाता और लोग देखकर उसकी प्रशसा नही करते।

कभी-कभी साधारण दैनिक कार्य करनेवाले रसायनज्ञ समझते है कि रसायन का यश प्रचार करनेवाले अत्युक्ति करते हैं और शायद औरो से अधिक एक वस्त्र रसायनज्ञ मर्सरीयन विधा के आविष्कारक से ईर्ष्या करते समय यह भूल जाता है कि वह आविष्कार सयोग और सौभाग्य की बात थी और स्वय रसायन को उसका विशेष श्रेय नही है। उस इक्कीस वर्षीय नवयुवक आविष्कर्ता ने सूती कपडे को रेशमी बनाने का प्रयत्न भी नही किया था और न उसको यह आशा थी कि दहक्षार उपचार से ऐसा कोई प्रभाव उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि स्वय मर्सर ने यह बताया था कि इस उपचार से क्रेप-जैसा मन्द रूप उत्पन्न होता है। यह उसका सौभाग्य ही था कि उसने यह देख लिया कि सूती वस्त्र को तानकर दहक्षार से उपचारित करने के बाद धोने से उसमें रेशमी चमक आ जाती है। इस प्रकार के सूक्ष्म अवलोकन और तथाकथित छोटी छोटी बातो पर ध्यान देने से अनेक ऐसी वस्त्रविधाओ की उत्पत्ति हुई हैं जिनसे कालान्तर में बहुमूल्य वाणिज्यिक फल प्राप्त हुए।

उपर्युक्त सदर्भ से ऐसा लग सकता है कि मर्सरीयन के उद्भव अथवा उसके उद्-भावक की खिल्ली उडायी जा रही हो, किन्तु ऐसी बात कदापि नही है। यह प्राय निश्चित है कि युवक होरेस लो ने मर्सर के इस अनुभव की पृष्ठभूमि में, कि दहसोडा के उपचार से सूती कपडा सिकुड जाता है तथा रगाई के लिए उसकी उपयोगिता बढ जाती है, यह सोचा कि इस उपचार को दूसरे ढग से करने से कपडे पर दूसरे नये प्रभाव भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। और कदाचित् वह भी उसी प्रकार का आचरण करता जैसा आधुनिक रसायनज्ञ करते है। शायद दहसोडा के स्थान पर दह पोटाश इस्तेमाल करता, जलीय क्षार के बजाय उसका एल्कोहालीय विलयन प्रयोग करता, ऊँचे-नीचे ताप और सांद्रण का प्रभाव जाचता और 'तीर नही तुक्का' वाली पुरानी

अनुभवजन्य रीति का अनुसरण करता तथा ऊँचे सपीड का प्रयोग करता। फिर यदि उसमे सतोष न होता तो सपीडन की जगह प्रसारण का प्रयोग करके कोई नया प्रभाव उत्पन्न करने की कोशिश करता। सचमुच उसने प्रसारण का प्रयोग किया और उसे आशातीत फल भी प्राप्त हुआ।

यह तो हुई अटकलबाजी वाली बात, लेकिन 'मर्सराइजेशन' शीर्षक अपनी पुस्तक में जे० टी० मार्श ने जो सुनिश्चित तथ्य वर्णन किये है वे भी उल्लेखनीय है। लो ने स्वय कहा है कि "मेरा कार्य मर्सर के कार्यो और अनुभवो पर आधारित है। उनके इस सुझाव से कि प्रबल दह-सोडा सूती कपडो के रगाई-गुणो में परिवर्तन उत्पन्न करता है, मुझे उसके अन्य प्रभावो की जाच करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।" 'बार' नामक उनके सहयोगी ने भी यही उल्लेख किया है कि दह सोडा के उपचार से कपडे की सभाव्य सिकुडन रोकने के ध्येय से 'लो' ने उसके दोनो सिरो को कस कर तान दिया और तब उस पर दह सोडा लगाया। इससे सिकुडन तो बच गयी और साथ ही उसकी चमक इतनी बढ गयी कि लो ने मजाक में कहा कि "मैंने सूती कपडे को रेशमी बना दिया।"

जिस विचारधारा का हम वर्णन कर रहे है उससे कदाचित् यह ध्वनित होता है कि हम उन अनुभवजन्य तरीको का समर्थन एव प्रशसा कर रहे है, जिनकी शुद्ध अनुसन्धान के पोषको ने सदा निन्दा की है। सचमुच बात ऐसी है कि महान् आविष्कारो में से बहुत थोडे ऐसे है जो किसी योजनानुसार आदि से अन्त तक सफल सिद्ध हुए है और जिनकी सपरीक्षाएँ असफल नही हुई अथवा ऐसी स्थिति में नही पहुँच गयी जहाँ से आगे बढना नितान्त असभव था, फलत कार्य को एक दम नये सिरे से फिर आरम्भ करना पडा। यह बात उन आविष्कारो के बारे में भी, जिनके विकास आदि से अन्त तक तर्कसबद्ध मालूम पडते है और उस दृष्टि से जो रसायन विज्ञान के विजय प्रतीक माने जाते है, प्राय उतनी ही सत्य है जितनी सर्वथा अनुभवजन्य माने जानेवाले आविष्कारो के सबन्ध में। हम वस्त्र-विज्ञान में 'व्यापक कल्पना शक्ति' के समर्थक है तथा यथा-सभव तर्कसगत एव युक्तियुक्त कार्यविधा की हामी भरते है, किन्तु उन सहस्रो दशाओ में जहाँ प्रत्यक्ष प्रयत्न यानी सीधे रास्ते से वाछित फल प्राप्त नही होता वहाँ हमें अन्य मार्गो से यानी इधर-उधर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे चलकर आगे बढना चाहिए। 'व्यापक कल्पना शक्ति' से हमारा यही तात्पर्य है। जब हमारे सामने अडचनें आती है तभी अगर हममें हिम्मत हुई तो हम अज्ञात क्षेत्रो में प्रवेश करने की कोशिश करते है और तभी चलने, चलकर गिरने, गिरकर उठने तथा उठकर फिर चलनेवाला मत्र अपनाते हैं। कभी-कभी असफल होने पर रसायनज्ञ के पास इसके अलावा और कोई चारा नही होता कि वह आले पर रखी बोतलो को निहारे और यह

सोचे कि तत्स्थित प्रत्येक यौगिक का उसकी सपरीक्षा पर क्या प्रभाव पड़ेगा, या बिना सोचे-समझे किसी एक को उठाकर प्रयोग करने लगे। बुने कपड़ों में सूत का सिमटना रोकने के लिए प्रयुक्त पदार्थ के आविष्कर्ता के मुँह से सुनी बात है कि एक समय अपने रेजीन के लिए उपयुक्त विलायक की खोज में उसने आले पर से योंही एक बोतल उठा ली और उसीसे काम करने लगा। संयोग की बात थी कि वही उसका सर्वोत्तम विलायक था। यह बात आगे चलकर अनेक अन्य विलायकों के प्रयोग के बाद सिद्ध हुई।

कुछ रसायनज्ञ अपने कार्य के बारे में क्या विचार करते हैं इसका भी उल्लेख करना चाहिए। इससे हम वर्षों पूर्व किये गये उन आधारभूत अनुसन्धानों को अस्वीकार नहीं करते जो वस्त्र रसायन की कुछ विशिष्ट सफलताओं की आधारशिला माने जाते हैं, और न हम उस सफलता का उल्लेख करना चाहते हैं जो एकमात्र अनुभवजन्य रीतियों से ही प्राप्त हुई या जिसमें आधारभूत वैज्ञानिक रसायन कहलाने वाली कोई बात न थी, किन्तु आगे चलकर जिसका बड़ा भारी वाणिज्यिक महत्व हुआ। इसका यह मतलब भी नहीं है कि वैसी सफलता सदा सुशिक्षित एवं प्रशिक्षित अन्वेषक रसायनज्ञों के बिना ही प्राप्त हो सकती है। सफलता तो विभिन्न परिस्थितियों के समन्वय से प्राप्त हुई थी, उनमें से सर्वप्रथम एवं सर्वप्रमुख व्यक्ति विशेष का उत्साह था, जिसने वर्षों अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगाया और ऐसी कोई भी बात न छोड़ी जो शीघ्र अथवा विलम्ब से उसकी कार्यसिद्धि में सहायक हो सकती थी। दूसरी महत्वपूर्ण बात रसायनज्ञों और भौतिकीविदों के उपयुक्त चुनाव, तथा साज-सज्जा के यथेष्ट प्रबन्ध करने की थी। शेष बात कठिन परिश्रम तथा वैज्ञानिक रीतियों की थी। विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में इन्हीं 'वैज्ञानिक रीतियों' के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा उत्पन्न करने की सदा चेष्टा की जाती है। सुनिश्चित तथ्य एवं सपरीक्षीय फल कभी-कभी ऐसे सिद्धान्त स्थिर करने में बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं जिससे हम यह बता सकें कि अमुक चीज ऐसे क्यों हुई? इसके विपरीत यदि ऐसा कोई सिद्धान्त स्थिर भी किया गया तो अनुगामी घटनाओं एवं तथ्यों द्वारा उसका निराकरण हो गया। अज्ञात की खोज में क्यों और कैसे के स्पष्टीकरण के प्रयत्न सहायक होने के बजाय बराबर बाधक हुए हैं। परन्तु सौभाग्यवश सर्वदा ऐसा नहीं हुआ करता। जब हम वस्त्रोद्योग में रसायन के प्रयोग की बात करते हैं तो हमारा कुछ ऐसी ही बातों से मतलब होता है।

वस्त्रोद्योग की ऐसी प्रकृति है कि उसके रसायनज्ञों की समस्याएँ अधिकांशतः भौतिक होती हैं, परन्तु चूंकि भौतिकी की प्रशिक्षा में विशेषत इंजीनियरी का निर्देश

नहीं होता इसलिए रसायन के अतिरिक्त भौतिकी की अपेक्षा इंजीनियरी की थोड़ी प्रशिक्षा होनी चाहिए। फिर भी तन्तु-रचना, सहायकों के रूप में कलिलों का प्रयोग तथा रंगाई एवं परिरूपण की अनेक विधाओं को समझने के लिए प्रतिदिन भौतिकी की आवश्यकता पड़ती रहती है। बहुधा मशीनों में रुचि तथा उनके ज्ञान अथवा भाप, पानी, बिजली के प्रयोग की जानकारी के अभाव में रसायनज्ञों की कार्य-सीमा बड़ी सीमित हो जाती है। सम्प्रति इस उद्योग में रासायनिक इंजीनियरों की कमी है और प्रशिक्षित भौतिकीविद्, तो केवल उन कतिपय बड़ी प्रयोगशालाओं में दिखाई देते हैं जहाँ केवल अनुसन्धान किये जाते हैं।

यदि हम वस्त्रोद्योग की सफलता में समस्त विज्ञान के योगदान की समीक्षा करें तो हमें स्वीकार करना होगा कि सूत अथवा वस्त्र को छोड़ स्वयं 'प्राकृतिक तन्तुओं' की उन्नति में रसायन का कार्यभाग चाहे जितना भी महत्त्वपूर्ण हो, लेकिन है अल्प-मात्र ही। सचमुच हमारी सम्भावनाएँ बड़ी सीमित हैं, फलत: हमें तन्तुओं की श्लेषिका-रचना (मिसेलर स्ट्रक्चर) को अपरिवर्तित अथवा तनिक संशोधित रूप में ही छोड़ देने के लिए बाध्य होना पड़ता है क्योंकि उनकी इसी रचना पर उनका तनाव सामर्थ्य तथा मुड़ने और लचीलेपन के गुण निर्भर होते हैं। परन्तु कृत्रिम तन्तुओं में ऐसी कोई अवरोधी सीमा नहीं होती। उनकी श्लेषिका-रचना को संशोधित करके उनके तनाव गुण तथा लचीलेपन का नियन्त्रण किया जा सकता है। अत: रसायनज्ञ को कलिल भौतिकी तथा एक्स किरणों का प्रयोग अथवा इन विषयों को जाननेवाले कार्यकर्ताओं के सहयोग से कुछ विशिष्ट फल प्राप्त करने के लिए सार्थक प्रयत्न करना चाहिए। हम ऐसे अखण्ड कृत्रिम तन्तुओं की बात सोचते हैं जो रेशम, कपास अथवा लिनेन से कहीं उत्तम हों, परन्तु इनके एक्स-किरण चित्रों से यह जान पड़ता है कि इस दिशा की सफलता के लिए उनकी रासायनिक रचना की अपेक्षा भौतिक रचना की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। रेशम-सदृश तन्तु की श्लेषिका को आन्तरिक भाग में समानान्तर, परन्तु उसके चारों ओर प्रत्यानुस्थापित (डिस ओरियेन्टेड) होना चाहिए। कृत्रिम कपास तन्तुओं में प्राकृतिक कपास के सर्वोत्तम गुण लाने के लिए उसे एक ऐसी रबर की नली की तरह होना चाहिए जो हवा निकाल देने से चपटी हो गयी हो, लेकिन उस पर कुन्तल तन्तुकों (स्पाइरल फिब्रिल) अथवा श्लेषिका का आवरण होना चाहिए। ऐसी रचना तैयार करने में अकेले रसायन विज्ञान सफल नहीं हो सकता बल्कि रसायन एवं भौतिकी दोनों मिलकर इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।

उद्योग में रसायन का प्रभाव आज भी उसी प्रकार बदलता जा रहा है जैसे पूर्व-

गामी २० वर्षों में और इस प्रगति का श्रेय अधिकाशत. सहकारी रिसर्च असोसियेशनो को है। *जिस कारखाने का मालिक असोसियेशन का सदस्य होता है, उसका रसायनज्ञ* असोसियेशन से किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकता है अथवा उसके द्वारा अर्जित सारभूत ज्ञान का लाभ उठा सकता है। असोसियेशन में ऊन, कपास, रेयान अथवा रेशम के विशिष्ट विभाग होते है जो समस्या विशेष का समाधान करते रहते है। कारखाने के रसायनज्ञ यदि प्रयोगशाला की साज-सज्जा के अभाव के कारण अथवा कार्याधिक्य के कारण अपनी किसी समस्या का स्वय हल करने में समय नही लगा सकते तो वे असोसियेशन से उनके समाधान के लिए अनुरोध करते है। कारखाने के रसायनज्ञ और विशेषत अनुसन्धानकर्ताओ के सम्मुख निरन्तर ऐसी कठिनाइयां उत्पन्न होती रहती है जिन्हें सुलझाने के लिए गहन अध्ययन एव अन्वेषण की आवश्यकता होती है, लेकिन बहुधा उनके मालिक ऐसे कष्ट-साध्य एव खर्चीले अनुसन्धान की उपयोगिता स्वीकार नही करते, ऐसी परिस्थितियों में असोसियेशन बड़ा सहायक होता है और उनके कार्यों से रसायनज्ञो को बडा लाभ होता है। इन असोसियेशनो की विशेषता है कि वे वर्तमान की अपेक्षा भावी सभावनाओ की ओर अधिक ध्यान देते है। इन असोसियेशनो तथा उद्योग का सबन्ध उत्तरोत्तर बढता जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे विशुद्ध अनुसन्धान की अपेक्षा उद्योग की दिन प्रतिदिन की समस्याओ का समाधान करने के लिए उपलब्ध आधारभूत ज्ञान का अधिक प्रयोग करते है, परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि विशुद्ध अथवा व्यावहारिक अनुसधान की सर्वथा उपेक्षा होती है।

कारखानो के रसायनज्ञो के कार्य मुख्यत वस्तुओ की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना, उनके गुणो में वृद्धि करना तथा उनकी प्राप्ति बढाना, उत्पादन खर्च घटाना, क्षेप्यो का उपयोग करना तथा त्रुटियो के कारण खोज निकालना है। परन्तु कुछ ऐसे *रसायनज्ञ भी होते है जिनकी आकाक्षा इन कार्यों से भी अधिक होती है* और वे विज्ञान एव उसकी नयी-नयी रीतियो का अपने कार्यविशेष में प्रयोग करना चाहते है और समस्त उद्योग को लाभान्वित करना चाहते है।

किसी ऐसे कार्य में, जिसकी वैज्ञानिक गतिविधि का ठीक-ठीक पता नही है, विज्ञान का प्रवेश कराना कठिन होने के साथ-साथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। कारखाने के साधारण कर्मियो को विज्ञान और अनुसन्धान क्या है समझाने के लिए 'परीक्षण' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि वह अपने दैनिक कार्य में 'परीक्षण' करते रहते है तथा उसे आवश्यक भी समझते है। कारखानो में विज्ञान और अनुसन्धान का बोध लोग केवल उन कार्यों से करते है जो रसायनज्ञ करता रहता है और जो किसी

प्रकार लाभदायक भी होते है। लेकिन यह कदाचित् ही कोई अनुभव करता है कि वह छोकरा भी उसका भागीदार है जो सूत्राक एव सूत की लम्बाई की परीक्षा करता है अथवा विरजक विलयनो की प्रबलता की जॉच करता है। 'विज्ञान' तथा 'अनुसन्धान' के प्रतिरोध या खुले विरोध पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यह है कि कर्मियो और कर्मशालाप्रबन्धक (वर्क्स मैनेजर) को यह बताया समझाया जाय कि 'विज्ञान' और 'अनुसन्धान' केवल परीक्षण, सपरीक्षण तथा सबद्ध कार्यकर्ताओ की पारस्परिक कठिनाइयों के समाधानार्थ साधनो की खोज की ही गौरवान्वित सज्ञा है। कर्मियो के सम्प्रदाय में कदाचित् विज्ञानदेवता का कोई स्थान नही है।

यद्यपि वस्त्र-अनुसन्धान एव आविष्कारो मे साधारणतया भौतिकी की ही प्रेरणा मानी जाती है लेकिन उसमें रसायनज्ञ का भी बडा एव महत्त्वपूर्ण कार्य-भाग है। यदि एक ऐसा सीमेण्ट मिल जाय जो तन्तुओ को एक दूसरे से जोड सके और उतना ही अविलेय हो जितना तन्तु स्वय होता है, तो कदाचित् अधिकाश प्रयोजनो के लिए कताई और बुनाई की आवश्यकता ही न रह जाय। ऐसे सीमेण्ट की अणु-मोटाई के स्तरो की ही आवश्यकता होगी। रगाई और छपाई मे भी ऐसे स्तरो के प्रयोग की असीम सभावनाएँ है। 'जेनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी' ने बिजली के तारो के पृथक्करण (इन्सुलेशन) के लिए उन पर जैसे एक पतले स्तर का प्रयोग किया है उसी प्रकार एक दिन विविध तन्तुओ के लिए भी किया जायगा। उपर्युक्त बिजली के तारो के आवरण की चिपकाऊ शक्ति इतनी प्रबल थी कि "उन्हें पीटकर चिपटा कर देने अथवा हजारो बार मरोडने पर भी आवरण ज्यो के त्यो बने रहते।" (रीडर्स डायजेस्ट, कूलिज, अप्रैल १९४१, पृष्ठ ७९।) वर्तमान रजको की स्थिरता भी कुछ अधिक नही होती, पर्दो इत्यादि के रग उड जाने की शिकायतें बराबर आती रहती है। किसी उत्साही रसायनज्ञ के लिए यह शिकायत उसे दूर करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा दे सकती है। अधिस्वानिकी (सूपरसोनिक्स) भौतिक विज्ञान का एक ऐसा विकास है जिसमें रसायनज्ञो की रुचि होना आवश्यक है। कहा जाता है कि अधिस्वानिकी के प्रयोग से अब अण्डा केवल गाना गाकर उबाला जा सकता है। सचमुच इससे द्रवित धातुओ मे चुम्बकत्व उत्पन्न किया जा सकता है, पनडुब्बियों का पता लगाया जा सकता है तथा वस्त्र-विज्ञान मे सहाय कलिलो का सघनन किया जा सकता है। यह भौतिकी और रसायन के समन्वय—सहयोग का उत्तम उदाहरण है और वस्तुत. किसी बडी समस्या के हल मे यह समन्वय अनिवार्यतया आवश्यक है।

वस्त्रोद्योग में रसायन का प्रभाव केवल बढ ही नही रहा है वरन् उसका वेग भी

तीव्रतर होता जा रहा है और अन्य विज्ञानो से होड़ ले रहा है। पचीस वर्ष पूर्व अमेरिका में वस्त्रोद्योग नगण्य सा था परन्तु आज यह महत्त्वपूर्ण स्थिति में है। वहाँ की प्रयोगशालाएँ प्रगतिशील एव उन्नतिशील है, एतदर्थ उन्हें सफलता प्राप्त होना अवश्यभावी है। कूलिज ने लिखा है--"१९१६ ई० में अमेरिका में केवल १९ औद्योगिक अनुसन्धानशालाएँ थी और आज लगभग २००० हैं।"

ग्रथसूची

BALLS, W L *Studies of Quality in Cotton*. Macmillan & Co., Ltd.
KNECHT, E., AND FOTHERGILL, J B. *Principles and Practice of Textile Printing*. Charles Griffin & Co., Ltd.
MATHEWS, J M. *The Textile Fibres* John Wiley & Sons, Inc.
SKINKLE, J H. · *Textile Testing* Howes Publishing Co.

सेलुलोज़, सेलुलायड और रेयान

एल० जी० एस० हेड्म, ए० आर० आई० सी०

कोशा भित्तियों की रचना के मुख्य पदार्थ के रूप में सेलुलोज़ पौधो में सदा विद्यमान रहता है, यद्यपि उसका भौतिक रूप समय समय पर बदलता रहता है, लेकिन रासायनिक निबन्ध[1] बराबर एकसम होता है।

रासायनिक भाषा में सेलुलोज को कार्बोहाइड्रेट कहते है, अर्थात् उसमें कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन होता है तथा एक अणु में अन्तिम दो तत्त्वो का अनुपात जल के समान होता है। सेलुलोज़ इस वर्ग के सर्वाधिक निष्क्रिय यौगिको में से है। सक्रियता के इस अभाव से ही यान्त्रिक ढग से बने इसके सामान बडे टिकाऊ होते रहे है, लेकिन सेलुलोज़ पर आधारित रासायनिक उद्योगो के विकास में इतना समय लगने का कारण भी यही है।

जब सेलुलोज को वानस्पतिक पदार्थों से एकत्रित किया जाता है तो उसकी

[1] Composition

तान्तव रचना (फाइब्रस स्ट्रक्चर) होती है। इसके तन्तु अपनी औसत मोटाई के १००-१००० गुने लम्बे होते हैं। अन्तिम तन्तुओं की औसत लम्बाई भिन्न भिन्न होती है। शीघ्र बढ़नेवाले पौधों के तन्तुओं की लम्बाई औसतन $\frac{1}{2}$ इंच होती है, किन्तु कपासबीजों के बाल १ इंच लम्बे होते हैं और वास्ट तन्तु की लम्बाई २ इंच होती है।

प्रारम्भिक सेलुलोज़-उद्योग में वस्त्र बनाने के लिए केवल शीघ्र पृथक् किये जाने-वाले लम्बे तन्तु ही प्रयोग किये जाते थे। रस्से, रस्सियाँ तथा डोरी बनानेवाली सुतली के लिए ऐसे छोटे वास्ट तन्तु इस्तेमाल किये जाते थे जो विधायन में पादप-स्थित अपनी तन्तु-बण्डल अवस्था बनाये रख सकते हैं।

प्राकृतिक तन्तुओं के प्राय अपरिवर्तनीय परिमाण के कारण औद्योगिक विकास में काफी बाधा अनुभव की गयी। इस बाधा का निवारण सेलुलोज़ को विलेय अथवा प्लैस्टिक अवस्था प्रदान कर विक्षेप्य (डिस्पर्सिबल) बनाकर ही किया जा सका। एतदर्थ शुद्ध सेलुलोज़ पर मिश्रित नाइट्रिक और सल्फ्यूरिक अम्लों की क्रिया कराकर सेलुलोज़ नाइट्रेट बनाना पड़ा। सेलुलोज़ नाइट्रेट के उत्पादन का प्रथम वर्णन ब्रैकोनॉट ने १८३३ में किया था परन्तु उस समय उसके विस्फोटक गुणों पर अधिक ध्यान दिया गया। १८५५ ई० में पार्क्स ने सेलुलोज़ नाइट्रेट में कुछ मृदुकर्मक अथवा प्लैस्टिककर्ता मिलाकर तापीप्लैस्टिक (थर्मोप्लैस्टिक) पदार्थ बनाने का सुझाव किया। अन्तत १८६८-१८७५ की कालावधि में स्पिल ने इसके लिए कपूर और ऐल्कोहाल का प्रयोग करके इसे औद्योगिक रूप से सफल बनाया। उसी समय सेलुलायड के एक व्यापक उद्योग की नींव पड़ी और तभी से तापी-प्लैस्टिक ढालने योग्य पदार्थों का उत्पादन होने लगा।

सेलुलायड के उत्पादन के लिए विस्फोटक बनाने में प्रयुक्त होनेवाले सेलुलोज़ नाइट्रेट की अपेक्षा कम नाइट्रोजन मात्रावाला सेलुलोज़ नाइट्रेट इस्तेमाल किया जाता है। सेलुलोज़ नाइट्रेट को यन्त्रों द्वारा चूर्ण करके उसे कपूर (प्राय ३०%) के साथ गूँधा तथा ऐल्कोहाल डालकर उसका पूर्ण विक्षेपण किया जाता है। इसी समय रागपदार्थ अथवा रागद्रव्य भी छोड़े जाते हैं। इसके बाद उष्ण-बेल्लन करते तथा सुखाते समय ऐल्कोहाल तो उड़ जाता है तथा सेलुलायड की सिल्लें, चद्दरें अथवा छड़ें बना ली जाती हैं, जिन्हें आवश्यकतानुसार साँचे में ढालने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

सर्वप्रथम वाणिज्यिक पैमाने पर उत्पन्न 'कृत्रिम रेशम' का पैठिक पदार्थ भी सेलुलोज़ नाइट्रेट ही था।

१६६५ ई० में हूक[1] ने तथा १७३४ ई० में रयूमर[2] ने आश्लेषी (ग्लूटिनस) पदार्थ से कताई अथवा खिंचाई द्वारा रेशम जैसे रेशे बनाने का सुझाव दिया था। आगे चलकर १८४२ ई० में सूक्ष्म छिद्रोवाले एक ऐसे कर्तनाभ[3] के प्रयोग का सुझाव दिया गया जिसके द्वारा पुञ्ज को खीच कर रेशे बनाये जा सकें। परन्तु काफी समय तक ये सुझाव कार्यान्वित न हो सके। १८८० में विद्युत्-दीपो के लिए अखण्ड सतन्तु (फिलामेन्ट) बनाये गये, जिससे वस्त्रो के लिए सूत बनाने में महती प्रेरणा मिली।

स्वान ने १८८३ ई० में दीपो के लिए सतन्तु बनाने की रीति का पेटेण्ट लिया। उन्ही ने वस्त्रोद्योग में ऐसे धागो के प्रयोग की सभावना का अनुभव किया तथा १८८५ ई० में 'कृत्रिम रेशम' के नाम से कुछ नमूनो का प्रदर्शन भी किया।

इग्लैण्ड में हो रहे इस विकास के साथ साथ उसी कालावधि में चार्डोनेट भी फ्रास में सेलुलोज़ नाइट्रेट से सूत तैयार करने में लगे थे, परन्तु आग लगने की जोखिम के कारण प्रगति बहुत धीमी रही। आगे चलकर सूत का विनाइट्रीयन करके तथा पुन सेलुलोज़ में परिवर्तित करके उसकी ज्वलनशीलता कम की जा सकी।

पहले कृत्रिम रेशम बनाने की एक मात्र यही विधा (प्रक्रिया) थी, किन्तु शनैः शनैः अन्य विधाओ का प्रचलन होने लगा, फिर भी १९०९ ई० तक केवल इसी विधा से ५०% कृत्रिम रेशम तैयार होता रहा। लेकिन आगे चलकर तो इसका और शीघ्र विस्थापन हुआ। आज कृत्रिम रेशम के कुल उत्पादन का ०·५% से भी कम उस पुरानी प्रक्रिया से उत्पन्न किया जाता है।

अनुवर्ती विधाओ में कताई की ऐसी रीतियाँ अपनायी गयी जिनमें सेलुलोज़-व्युत्पत्तिविक्षेपण (डिस्पर्सन) को छोटे-छोटे छिद्रो में से खीचकर तथा वाष्पशील (वोलाटाइल) विलायक को उद्वाष्पित करके या लवण-अवक्षेपण से स्कदन करके तथा ऊष्मक में रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा सतन्तु (फिलामेन्ट) बनाये जाते है।

यद्यपि रेयान की कताई वस्तुत एक यान्त्रिक विधा है, परन्तु कताई योग्य विक्षेपण का उत्पादन तथा सेलुलोज अथवा उसकी व्युत्पत्ति का अखण्ड सतन्तु के रूप में पुनर्जनन रासायनिक रीतियो पर ही आधारित है।

क्युप्रिक हाइड्राक्साइड के अमोनिया विलयन में सेलुलोज़ के विक्षेपण का श्रेय श्वीज़र[4] (१८५७) तथा समकालीन रसायनज्ञ मर्सर[5] को दिया जाता है। अन्ततः

[1] Hooke　[2] Reaumur　[3] Spinneret
[4] Schweiser　[5] Mercar

यही रेयान उत्पादन की एक दूसरी विधा का आधार बना जिसमें सेलुलोज नाइट्रेट विधा की तरह आग लगने का जोखिम न था। इस विधा से बारीक तथा मजबूत सूत भी बनने लगे, लेकिन यह थोडी जटिल थी तथा विक्षेपण बनाने और प्रयुक्त रस-द्रव्यो की पुन प्राप्ति में कठिनाई होती थी। यद्यपि इस विधा से सूत तो १८८५ ई० में तैयार कर लिया गया था, लेकिन उसका वाणिज्यिक उत्पादन १८९५-१९०० ई० के पूर्व सभव नही हुआ।

क्युप्रामोनियम विधा में सेलुलोज के लिए प्राय छोटे तन्तुओ वाली कपास (कॉटन लिण्टर्स) इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि परिष्कृत काष्ठलुगदी भी सफलता-पूर्वक प्रयुक्त की गयी है। सेलुलोज की उपस्थिति में, ताम्र अथवा अवक्षेपित ताम्र-लवण को निम्न ताप पर अमोनिया मे विलीन करके विक्षेपणकारक तैयार किया जाता है। इस विक्षेपण को कनवस पर लगाने से उसमे आर्दतारोधी तथा अपक्षयसहता (रॉट प्रूफ) के गुण आ जाते है। और ऐसे कनवस के उत्पादन के लिए यह रीति व्यापक रूप से प्रयुक्त भी होती है।

रेयान बनाने की क्युप्रामोनियम विक्षेपण विधा की विशेषता यह है कि कताई के समय काफी अधिक तनाव प्रयुक्त किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप प्रारम्भिक अवस्था मे ही अति सूक्ष्म तन्तुक बना लिया जाना, जो लाभ अन्य रीतियो में सभव नही था। तनाव कताई से प्राप्त सूत के भौतिक गुणो के कारण ही यह रीति बनी रह सकी तथा बढी भी। १९३२ ई० में इस रीति से ससार के कुल उत्पादन का ३% रेयान तैयार होता था और आज यह उत्पादन बढकर ४% हो गया है।

१८९२ ई० मे क्रॉस और बिवँन ने सेलुलोज विक्षेपण की एक विधा (प्रोसेस) का आविष्कार किया जो आगे चलकर 'विस्कोज' विधा कहलाने लगी। यह आज रेयान उत्पादन की सबसे बडी आधार विधा है। सूत-निर्माण के लिए प्रयुक्त होने से पहले यह विधा दीप सतन्तुओ के उत्पादनार्थ अपनायी गयी थी। रेयान उत्पादन की अन्य विधाओं के समान इसका विकास भी बहुत धीरे-धीरे हुआ, क्योकि इसकी प्रारम्भिक अवस्था में बडी प्राविधिक कठिनाइयाँ थी तथा आर्थिक हानि भी हुई। किसी कारण से १९१० ई० तक यह विधा सफलतापूर्वक न अपनायी जा सकी।

इस रीति के कुछ प्रत्यक्ष लाभ है, इसमें अपेक्षाकृत सस्ते रसद्रव्यो एव कच्चे माल की आवश्यकता होती है। काष्ठलुगदी के स्तारो को प्रबल दह-सोडा-विलयन में डुबाया जाता है और फिर दबाने तथा उपविभाजित करने के बाद कार्बन डाइसल्फा-इड के उपचार से ऐसी सेलुलोज व्युत्पत्ति तैयार होती है जो दह-सोडाविलयन में विक्षेप्य होती है।

विस्कोज़ नामक विक्षेपण से सूत तैयार करने के लिए मुख्यत सल्फ्यूरिक अम्ल और धात्वीय सल्फेट वाले संस्थापक उष्मक (सेटिंग बाथ) में डुबोये कर्तानाग में से उसे खींचा जाता है। इससे दहसोडा का उदासीनीकरण भी हो जाता है तथा सेलुलोज़ व्युत्पत्ति के विच्छेदन से अखण्ड तन्तुक के रूप में सेलुलोज़ की पुन प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि आरम्भ में इस रीति से कुछ मोटा सूत प्राप्त होता था परन्तु आगे चलकर इसमें काफी उन्नति हुई और असली रेशम के समान या उससे भी अधिक बारीक सूत बनने लगे। 'तनाव' कताई की प्रविधि से सूत की मजबूती बढी और वे अब असली रेशम के सूतों के बराबर मजबूत होने लगे है।

इसके प्रयोग का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि आजकल विस्कोज़ विधा से संसार में प्रतिवर्ष १०० करोड पौण्ड का रेयान सूत तैयार हो रहा है। यह मात्रा ससार में असली रेशम की खपत की आठगुनी है। १९४० ई० के पूर्व ७ वर्षों में ससार के कुल उत्पादन का औसतन ८६% रेयान विस्कोज़ विधा से तैयार किया गया था, यद्यपि यह बात सभी देशों मे एकसमान नही थी।

रेयान उत्पादन की एक दूसरी विधा का भी औद्योगिक प्रयोग होता है, यह विलायक उद्वाष्पन कताई पर आधारित है। यह रीति मूलत. सेलुलोज़ नाइट्रेट के लिए निकाली गयी थी लेकिन अब इसमे एसिटोन में विक्षेपित सेलुलोज़ एसिटेट प्रयुक्त होने लगा है।

सेलुलोज़ से उसका एसिटेट १८६९ ई० में ही बनाया गया था लेकिन उसमें भी काफी प्राविधिक कठिनाइयाँ थी जिनकी वजह से इस व्युत्पत्ति का भी वाणिज्यिक विकास अवरुद्ध रहा। अन्तत. ऐसे सेलुलोज़ एसिटेट बनाने की रीति निकाली जो एसिटोन में सरलता से विक्षेपित हो सके और इसका बड़े पैमाने पर सर्वप्रथम प्रयोग १९१६-१८ मे वायुयानो के वस्त्र पक्ष (फैब्रिक विंग) के उपचारार्थ किया गया था।

तदन्तर उपयोगी सूत तैयार करने में अनेक समस्याएँ हल की गयी और अन्तत. इसका उद्योग भी जम गया। पिछले १० वर्षों से ससार के कुल उत्पादन का ८-१०% रेयान इस रीति से तैयार होता है।

सेलुलोज एसिटेट बनाने के लिए बहुत दिनो तक छोटे तन्तु वाली कपास ही प्रयुक्त होती रही परन्तु अब अति परिष्कृत काष्ठ-लुगदी का प्रयोग दिनो-दिन बढता जा रहा है। एसिटेट बनाने के लिए सेलुलोज़ को एसेटिक ऐनहाइड्राइड तथा एसेटिक अम्ल से उपचारित किया जाता है, और इन प्रतिकर्मको की पुन प्राप्ति के लिए विस्तृत व्यवस्था की आवश्यकता होती है। परन्तु उनके अधिक मूल्य के कारण उनको पुन प्राप्त करना अनिवार्य है, अन्यथा यह विधा वाणिज्यिक रूप से सफल नही हो सकती।

इस विधा से उत्पन्न सूत सेलुलोज एसिटेट के रूप में रहता है जब कि अन्य औद्योगिक रेयानों में सेलुलोज व्युत्पत्ति पुनः सेलुलोज के रूप में परिवर्तित कर दी जाती है। सेलुलोज एसिटेट और विस्कोज सूत के बने मिश्रित वस्त्रों का बड़ा लाभ यह है कि इन दोनों की रजकप्रियता भिन्न होने से वस्त्रों पर बड़ा आकर्षक एवं सुन्दर तिरोरंजिन (क्रास डाइंग) प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

अभी हाल में कुछ सर्वथा नये प्रकार के रेयान पॉलिमराइज्ड विनाइल रेजिन सदृश ऐसे पदार्थों से बनाये गये हैं जो सेलुलोज पर आधारित नहीं है। इनकी कताई एसिटोन विभेपणों से की जाती है और उसके बाद सूत को नियंत्रित ताप पर 'तान' दिया जाता है।

अब समनित सूपरपॉली ऐमाइडों (नाइलॉन) से रेयान बनाने में कताई की एक नयी प्रविधि अपनायी जाने लगी है, इसमें द्रावित पदार्थ को कर्तानागों द्वारा निकाल करके शीत तनाई विधा से उच्च तनाव सामर्थ्यवाले सूत तैयार किये जाते हैं। इसके लिए धागों को उनकी मूल लम्बाई से ४ से ७ गुना अधिक लम्बा ताना जाता है। ऐसे सूत की मजबूती उसी भारवाले असली रेशम सूतों से कहीं अधिक होती है। निम्नलिखित सारणी में विविध प्रकार के रेयानों के सामर्थ्य-मान दिये गये हैं। तुलना के लिए समभार के असली रेशम के मान भी लिखे गये हैं। इन मानों के अंक 'ग्राम प्रति डेनियर' के पदों में दिये गये हैं जिससे उनकी अनाश्रित तुलना हो सके।

असली रेशम और रेयानों का आपेक्षिक सामर्थ्य

(ग्राम प्रति डेनियर)

पदार्थ	तनाव-सामर्थ्य		वितान्यता प्रतिशत (एक्सटेन्सिबिलिटी)	
	शुष्क	आर्द्र	शुष्क	आर्द्र
१. असली रेशम	४.०	३.५	२३	३४
२ क्युप्रामोनियम (तनाव कताई)	२.१	१.०	१२	१५
३ विस्कोज	२.१	१.०	२१	२८
४ विस्कोज (विशेष)	३.२	२.१	१४	१६
५. विस्कोज (लिलीन फेल्ड)	५.२	३.५	७	७
६ सेलुलोज एसिटेट	१.३	०.८	२५	३७
७ सेलुलोज एसिटेट (तानित एवं साबुनीकृत)	५.०	३.७	६	६
८. सूपर पॉली ऐमाइड (शीत उन्मारित)	६.५	४.८	१५	१५

इस संदर्भ में यह जानना भी आवश्यक है कि इसी आधार पर गणित इस्पात तारो के मान ०·५ ग्राम फी डेनियर (निर्बल इस्पात) से लेकर ४ ६ ग्राम फी डेनियर (प्रबल इस्पात) तक होते है। इसका अर्थ यह है कि सेलुलोज अथवा सश्लिष्ट पदार्थों से बने सूत समभारवाले इस्पात से अधिक मजबूत होते है।

'कृत्रिम रेशम' अथवा 'नकली रेशम' कहने से ऐसा ध्वनित होता है कि यह असली रेशम से कुछ घटिया वस्तु है, परन्तु अब वस्तुस्थिति ऐसी है कि 'कृत्रिम रेशम' असली रेशम से कही उत्तम गुणोवाला होने लगा है। आजकल ससार में उत्पन्न रेयान की मात्रा असली रेशम की १०गुनी है और यह अनुपात गत कई वर्षों से स्थिर बना हुआ है।

रेयान-उद्योग-विकास के प्रारम्भिक काल में ऐसा सोचा गया था कि विविध विधाओं से उत्पन्न अखण्ड सतन्तुओ को १-२ इच के टुकडो में काट-काटकर अधिक उपयोगी वस्त्रतन्तु तैयार किये जा सकते थे, तथा इस प्रकार तैयार किये गये कौशेय तन्तुओं (स्टेप्ल फाइबर) को कपास सूत कताई मशीनो पर विधायित किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विकास की प्रगति भी बडी धीमी थी क्योंकि प्रारम्भ में सतन्तु[1] अपेक्षाकृत मोटे होते थे, फिर भी १९१४-१८ के बीच कौशेयक तन्तु[2] के एक प्रतिस्थापक पदार्थ के रूप में इनका अच्छा प्रयोग हुआ। लेकिन १९३४ में तो कम खर्च में ही बड़ी ऊँची श्रेणी के कौशेयक तन्तु बने जो सूक्ष्मता में अमेरिकी अथवा मिस्री कपास-तन्तुओं से किसी प्रकार कम न थे। उस समय से मिश्रित वस्त्रो के बनाने में इन तन्तुओ का प्रयोग उत्तरोत्तर बडी तीव्र गति से बढता गया। १९३४ ई० में इसका कुल उत्पादन ६ करोड पौण्ड का था, परन्तु केवल पाच-छ साल के अन्दर इसके उत्पादन में चामत्कारिक वृद्धि हुई अर्थात् १९३९ ई० में कौशेयक तन्तुओं का ससार भर का कुल उत्पादन १०० करोड पौण्ड यानी १९३९ के उत्पादन का लगभग १७गुना हो गया था। प्राय यह समस्त उत्पादन विस्कोज विधा से हुआ।

तात्पर्य यह है कि कौशेयक तन्तुओं का उत्पादन लगभग रेयान के बराबर हो गया। यद्यपि इन तन्तुओं के उत्पादन की इस भीषण वृद्धि का मुख्य कारण कुछ देशो की अधिकेन्द्रित (टोटॅलिटेरियन) राजनीतिक अवस्था रही, लेकिन अब तो इसका उद्योग अन्य देशो में भी बडी तेजी से जमता जा रहा है क्योंकि इन तन्तुओं के कुछ अपने विशेष गुण है जो बुनाई के लिए बडे उपयुक्त है।

[1] Filaments [2] Staple fibre

आज के ससार में रेयान अथवा कौशेयक तन्तुओ के 'मानव निर्मित' वस्त्रो का प्रयोग ऊनी कपडो से अधिक है। कौशेयक तन्तुओ के वस्त्रो का उत्पादन सूती वस्त्रो की कुल खपत के ५% है और इसका प्रयोग दिनो-दिन बढता जा रहा है।

इन उद्योगो के कारण कम कीमत में इतने सुन्दर एव मनोहारी कपडे, मोजे, बनियाइने तथा अन्य प्रकार के वस्त्र उपलब्ध होने लगे हैं कि बहुसख्यक महिलाओ के जीवन का ढग तथा उनके दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन हो गया है जिसका समाज पर भी महज प्रभाव पडा है।

ग्रथ-सूची

CROSS, C F, AND BEVAN, E J *Cellulose* Longmans, Green & Co., Ltd

LIPSCOMB, A G J *Cellulose Acetate* Ernest Benn, Ltd

WHEELER, E *Manufacture of Artificial Silk* Chapman & Hall, Ltd

WORDEN, E. C *Technology of Cellulose Esters* D Van Nostrand Co, Inc

अध्याय १०

लुगदी और कागज

छपाई और लेखन-सामग्री; रोशनाई; पेन्सिल

लुगदी और कागज

जूलियस ग्रान्ट, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० आर० आई० सी०

किसी समय एक उपन्यास में लिखा गया था कि कुछ गैसों के विमोचन से संसार का समस्त कागज नष्ट होकर राख हो गया। अकस्मात् कागज-रहित हुए संसार की दैवावस्था की कहानी अवश्य ही रोचक रही और उनसे आधुनिक सभ्यता में कागज की अनिवार्यता भी सिद्ध हुई। बालू अथवा मिट्टी पर कुछ खरोंच कर समाचार वहन का जो प्राचीनतम ढंग था वह कदाचित् मानवता के प्रारम्भिक इतिहास के साथ ही लुप्त हो गया। ३००० वर्ष ईसाकाल के पहले तो हमें वे श्रीपत्र (पैपिरस) भी ज्ञात न थे, जिनमें हमें कागज का सर्वप्रथम दर्शन हुआ था। ये श्रीपत्र पौधों की छाल के पतले-पतले टुकड़ों से बने पत्रदली स्तार (लैमिनेटेड शीट) होते थे, यानी यथार्थतः वह भी कागज नहीं होते थे। श्रीपत्र कठोरीकृत चमड़े के बने चर्मपत्र (पार्चमेन्ट) से भी भिन्न थे। चर्मपत्र का सबन्ध एशिया माइनर के 'परगामस' (२०० ई० पू०) से बताया जाता है। कागज बनाने की कला ईसा युग के प्रारम्भ के पहले से ही चीन में प्रचलित थी और वहीं से यह यूरोप में भी फैली। यूरोप में इसके प्रवेश के दो मार्ग थे, एक तो टारटरी, मध्य एशिया तथा यूनान, जहाँ से यह वेनिस होता हुआ जर्मनी पहुँचा, और दूसरा अरब और मोरक्को होते हुए स्पेन का मार्ग। युद्धबन्दियों के स्थानान्तरण से भी इस कला का अच्छा प्रचार हुआ। यद्यपि स्पेन में ११५० ई० तथा फैब्रियानो (इटली) में १२८० ई० में कागज बनाने की मिलें विद्यमान थीं, लेकिन इंग्लैण्ड में सबसे पहली कागज मिल १४९० में बनी, किन्तु वह तथा उसके तुरन्त बाद बनी मिलें असफल ही रहीं। वस्तुतः १६७८ तक इंग्लैण्ड में कागज का उद्योग प्रतिष्ठित नहीं हो पाया, लेकिन लगभग उसी समय ह्यूगोनॉट शरणार्थियों द्वारा इसका उचित समारम्भ हुआ।

उस समय का कागज-निर्माण वर्तमान उद्योग से बहुत भिन्न था, यद्यपि अन्तिम उत्पत्ति के सामान्य गुण प्रायः एकसमान थे। पहले चीथड़ों को कूट तथा रेशेदार बनाकर पानी में आलोड़ित किया जाता था। इसी तनु जलीय आलम्ब में एक तार की छलनी को खड़ा करके डुबाया जाता और क्षैतिजावस्था में निकाल लिया जाता जिससे छलनी की जाली पर रेशों का एक नमदित पट (फेल्टेड मैट) बन जाता। इस प्रकार बने रेशों के स्तर को नमदे से दबाकर उनसे पानी निकाल दिया जाता और अन्त में उनको नमदे से छुड़ाकर जिलैटिन से उसका सज्जीकरण (साइजिंग) करके सुखा लिया जाता। प्राचीन काल में इसी प्रकार कागज तैयार किया जाता था। आज का भी हाथ-बना कागज बहुत कुछ इसी विधि से बनाया जाता है।

कागज-निर्माण के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ एक युगान्तर चिह्न है। प्रायः उसी समय इस उद्योग में वैज्ञानिक, विशेषकर रसायनिक, रीतियों का प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश हुआ। मशीन द्वारा कागज बनाने का आविष्कार इस दिशा में प्रथम पद था। यह आविष्कार लगभग एक ही समय दो स्थानों में हुआ। एक मशीन फोर्ड्रिनियर ब्रदर्स द्वारा फ्रॉगमोर (हर्टफोर्डशायर) में स्थापित की गयी, इस मशीन में कागज की लुगदी को तार के चल रहे एक अन्तहीन पट्टे पर बहाया जाता था और नमदित पट को नमदा से ढके एक बेलन पर उठा कर सुखा लिया जाता था। दूसरी मशीन का आविष्कार जॉन डिकिन्सन ने १८०९ ई० में किया, यह कुछ दूसरे प्रकार की थी और इसमें तार की जाली से ढका रन्ध्रदार खोखला बेलन लुगदी में घूमता था कि लुगदी उसकी सतह पर लग जाती और पानी रंध्र के अन्दर से होकर बह जाता, लुगदी की तह को उस पर से छुड़ा कर अनन्त स्तरों के रूप में उसी प्रकार सुखा लिया जाता जैसे फोर्ड्रिनियर की मशीन में। ये दोनों रीतियाँ आज भी प्रचलित हैं।

मशीनों के प्रयोग से कागज का उत्पादन बढ़ गया, साथ ही शिक्षा-प्रसार के कारण पुस्तकों की माँग ने भी कागज-निर्माण की गति को और त्वरित किया। फिर तो इसके निर्माण के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होनेवाले चीथड़ों की अत्यधिक कमी पड़ गयी। एक समय तो ऐसी स्थिति आ गया कि कागज बनाने के लिए मुर्दों के वस्त्र भी खसोटे जाने लगे। अनेक वैकल्पिक पदार्थ सोचे और आजमाये जाने लगे, यहाँ तक कि १८५४ ई० में 'टाइम्स' ने कागज-निर्माण के उपयुक्त कच्चे माल की खोज के लिए एक सहस्र पौण्ड का एक पुरस्कार घोषित किया। आजमाइश तो बहुतों ने की, लेकिन सफल बहुत कम ही हुए। यहीं रसायनज्ञों को इस उद्योग में अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का प्रथम अवसर मिला। फलस्वरूप एस्पार्टो घास, काष्ठ लुगदी तथा तृण (स्ट्रा) का इसके लिए प्रयोग करना सम्भव हो सका। कच्चे माल में से सेलुलोज को

छोड़कर *अन्य सभी पदार्थों को अलग करना भी अब इस विद्या का सबसे बड़ा काम* है। सेलुलोज ($C_6H_{10}O_5$) ही वह तन्तुमय ढाँचा है जिस पर कागज के स्तारों[1] की रचना होती है। कागज-निर्माताओं को केवल इसीकी आवश्यकता भी होती है। अधिकांश श्रेणियों के कागज बनाने के लिए अन्य पदार्थों को पृथक करना बहुत जरूरी है। हाँ, यदि कागज में रंग, स्वच्छता, सामर्थ्य एवं टिकाऊपन का कोई विशेष महत्त्व न हो तो सेलुलोज के संग अन्य अशुद्धियाँ छोड़ दी जा सकती हैं। इस प्रकार लुगदी बनाने के लिए छाल-रहित वृक्षों को केवल कूट लिया जाता है, तथा इससे बने कागज में सेलुलोजिक तन्तु और अन्य अशुद्धियाँ दोनों विद्यमान रहती हैं। इन कच्चे मालों में ४०-५०% सेलुलोज होता है और शेष अशुद्धियों के रूप में लिग्निन, वसा, रेजीन, कार्बोहाइड्रेट तथा पेक्टिन होती हैं। इसमें से कुछ अशुद्धियों का निस्सारण तो उच्च दबाव में अम्ल पाचन से किया जाता है तथा कुछ का क्षारों से।

लुगदी उद्योग के प्रारम्भिक दिन रसायनज्ञ के लिए बड़ी कठिनाई के थे। उपर्युक्त अशुद्धियों का निस्सारण तो उतना कठिन न था, लेकिन सेलुलोज की तन्तुमय प्रकृति को क्षति पहुँचाये बिना ऐसा करना अवश्य एक कठिन समस्या थी, क्योंकि *सेलुलोज की क्षति होने से लुगदी कागज बनाने योग्य नहीं रह जाती। और जब सेलुलोज* को अक्षत रखते हुए अशुद्धियों के निस्सारण की विधा ज्ञात हुई तब उसे बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करने की समस्या उत्पन्न हुई। क्रास और बेवन की प्रारम्भिक रीति सेलुलोज एकलन की सर्वोत्तम रीतियों में से थी। इस रीति में लुगदी के साथ क्लोरीन की प्रतिक्रिया करायी जाती, जिससे क्लोरीन से संयुक्त होकर लिग्निन क्षार में विलीन हो जाती है। यह एक बड़ी चुनावशील रीति थी क्योंकि इससे सेलुलोज प्रायः सम्पूर्णतः अपरिवर्तित रह जाता था तथा अन्य क्रियाओं के मेल से बड़ी शुद्ध *श्रेणी का सेलुलोज उत्पन्न होता था। वस्तुतः यह वर्षों पूर्व से प्रयोगशाला में सेलुलोज* एकलन की प्रमाणित रीति मानी जाती रही। लेकिन आर्द्र क्लोरीन से बड़े पैमाने पर काम करना बड़ा कठिन था और केवल पिछले दशक में यह रीति पुनः प्रयुक्त होने लगी। इस रीति के विधायन में प्रायः प्रत्येक पद पर रसायनज्ञ और रासायनिक इंजीनियर का निकट सहयोग परमावश्यक है।

उपर्युक्त क्षारीय एवं अम्ल पाचन रीतियों में भी इंजीनियरी की अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। उदाहरणार्थ यद्यपि टिल्घमैन ने १८६३ ई० में अम्ल पाचन

[1] Sheet

विधा प्रस्तावित की थी, परन्तु जब तक एक उपयुक्त पाचित्र (डाइजेस्टर) तैयार न हुआ तब तक इसका प्रयोग न किया जा सका। १८७२ ई० में एकमैन ने एक उपर्युक्त पाचित्र बनाया। इस रीति में कैल्सियम अथवा मैग्नीशियम बाइसल्फाइट तथा स्वतंत्र सल्फर डाइआक्साइड के विलयन से लिग्निन का संयोजन होता है। इस प्रकार उत्पन्न लिग्नो-सल्फॉनिक अम्लों के लवण विलीन किये जा सकते हैं। लिब्लांक विधा से सस्ते क्षार उत्पन्न किये जाने के कारण इस क्षारीय विधा का अच्छा विकास हुआ। यद्यपि प्रारम्भ में कठिनाइयाँ अधिक न थीं, लेकिन काष्ठ लुगदी, एस्पार्टो घास और तृणों के लिए जब यह विधा एक बार प्रतिष्ठित हो गयी तो इसमें रासायनिक कठिनाइयों की एक शृंखला-सी निकल पड़ी। पाचन की पूर्ति हो जाने पर अवशिष्ट क्षारीय द्रवों का निरसन ही एक समस्या बन गयी। यह द्रव इतना क्षारीय था और साथ ही मूल्यवान् भी कि इसको किसी जलधारा अथवा मलप्रणाल में बहा देना उचित न था, अतएव रसायनज्ञ को इसका कोई हल निकालना पड़ा। इस द्रव को उद्वाष्पित करके जलाना समस्या का एक समाधान था। कार्बनिक पदार्थों के जलने से उत्पन्न उष्मा का प्रयोग कागज मिल के लिए आवश्यक भाप तैयार करने में किया जाने लगा और भस्म में से सोडियम कार्बोनेट निस्सारित करके उसे चूने से मिलाकर दह सोडा पुनः प्राप्त कर लिया जाता। इस विशुद्ध रासायनिक विधा के कारण ही लुगदी बनाने की यह विधा वाणिज्यिक रूप से सफल हो सकी तथा कम मूल्य पर कागज की विशाल मात्रा प्राप्त करना संभव हो सका।

क्षारीय विधा को संशोधित करके 'क्राफ्ट' विधा निकाली गयी जिससे बड़ा मजबूत कागज बनाया जाने लगा। क्षार की क्रिया को नियंत्रित करके ही कागज में विशेष मजबूती लायी गयी। आगे चलकर (१८७९) यह ज्ञात हुआ कि अगर पाचित्र में सोडियम सल्फेट डाल दिया जाय तो पुनर्प्राप्ति विधा में यह सोडियम सल्फाइड बन जाता है और फिर इस सोडियम सल्फाइड पर जल की क्रिया से प्रायः उसी गति से क्षार उत्पन्न होता है जिससे पाचन-विधा में उसकी खपत होती है। इस प्रकार पाचन काल में क्षार का सान्द्रण प्रायः बराबर एकसम बना रहता है, जिससे अति पाचन अथवा लघु पाचन नहीं होने पाता। विरंजन की आधुनिक रीतियों से भी इसके विधायन में अच्छी सहायता मिली और प्राप्ति-वृद्धि के साथ-साथ अच्छे रंग का मजबूत कागज उत्पन्न होने लगा, यद्यपि आपत्तिजनक उत्प्रवाह (एफ्लुयेण्ट) तथा उसकी गन्ध इस विधा के व्यापक प्रयोग में बाधक रहे हैं और उसे बहुत हद तक सीमित रखा है।

आज के कागज की स्वच्छता एवं उसका सुन्दर रंग रसायनज्ञ की दूसरी देन

है। कागज-निर्माण के प्रारम्भिक काल में उसका विरंजन केवल सूर्यप्रकाश में किया जाता था, परन्तु यह विधा इग्लैण्ड में तो कभी सभव न थी। ब्लीचिंग पाउडर और बाद में कैल्सियम हाइपोक्लोराइट विलयन के प्रयोग से कागज मिलो में अविरंजित कागज को लेकर उसे वही विरजित करने की प्रथा चली। गत कुछ वर्षो मे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि विरजन की समस्या पर क्लोरीनीकरण से सेलुलोज एकलन की ह्रास और वेवन-विधा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा है। विरजन भी तो अशुद्धि निवारण की ही एक रीति है, अतः उस पर भी पाचन-विधा के समान ही विचार करना चाहिए। इस उद्योग में रासायनिक इजीनियरो के पदार्पण से आर्द्र क्लोरीनरोधी सयन्त्रों का समावेश हुआ जिससे लुगदी-निर्माण की आधुनिक रीतियो में भी दिशा-परिवर्तन हुआ। अब कच्चे माल का परम्परागत क्षारीय अथवा अम्ल-विधा से ही अपेक्षाकृत केवल मृदुपाचन किया जाता है जिससे उसका गठन खुल जाता तथा कुछ रेजीन और मोम विलीन हो जाते हैं। तत्पश्चात् लुगदी को धोकर स्वतत्र गैस अथवा जल-वायस के रूप में क्लोरीन से उपचारित किया जाता है जिससे लिग्निन क्लोरीनीकृत हो जाती है। इस प्रकार उत्पन्न अम्ल सहित क्लोरी-लिग्निन को क्षार द्वारा निस्सारित कर लिया जाता है और तब कैल्सियम हाइपोक्लोराइट विलयन मे उसका मृदु उपचार करके पूर्ण श्वेत रग उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार विधा के पदों को और बढ़ाया जा सकता है तथा अशुद्धियो का इस प्रकार निस्सारण किया जा सकता है कि पुरानी अनाश्रित पाचन की प्रचण्ड विधा के प्रयोग से सेलुलोज का जो अपक्षय होता था काफी हद तक निवारण किया जा सके।

अभी तक हमने मुख्यत लुगदी उत्पादन की विवेचना की है, वस्तुत कागज निर्माण की वही पैठिक विधा है। यद्यपि इस उद्योग के उत्कर्ष में रसायनज्ञो का कुछ लघु योगदान नही रहा, फिर भी उसका सम्पूर्ण श्रेय उन्ही को नही दिया जा सकता। लुगदी तैयार हो जाने पर उसकी रगाई, सजाई एव भरण की विधाएँ भी रासायनिक समस्याएँ हैं। तन्तुओं की रगाई स्वयं एक विज्ञान बन गया है, क्योकि उसमें उसके प्रतिधारण (रिटेन्शन), प्रकाश में स्थिरता तथा आमंजक रोध-जैसे अनेक प्रश्न निहित होते हैं जिनका सफल समाधान आवश्यक है। उच्च श्रेणी की श्वेतता एव अपारदर्शिता उत्पन्न करने के लिए लुगदी का भरण आवश्यक है, लेकिन उसके कागज की मजबूती में कमी न आनी चाहिए। इसके लिए कागज-निर्माण में अब टिटैनियम डाइऑक्साइड-जैसे नये रग द्रव्य प्रयुक्त होने लगे है। सज्जीकरण (साइजिंग) क्रिया में क्षारीय विलयन अथवा रोज़ीन के पायस पर होनेवाली अलुमिनियम सल्फेट की जटिल प्रतिक्रियाओ पर विशेष ध्यान देने तथा उन्हें अध्ययन करने की बड़ी आवश्यकता

होती है। रसायनज्ञो ने इस समस्या को व्यावहारिकत तो अवश्य हल कर लिया है, लेकिन अभी तक उसका स्पष्टीकरण नही कर सके है।

आहनन क्रिया (बीटिंग आपरेशन) में तन्तुओं को एक परिभ्रामी बेलन पर लगे फलको और स्थिर फलक के बीच में डाल दिया जाता है जिससे वह ऐसा कटता, खण्डित होता और कुटता है कि कागज मशीन पर नमदन (फेल्टिंग) के योग्य हो जाता है। अतः यह क्रिया भी रसायनज्ञ-समस्या है, यद्यपि प्राय लोग इसे पूर्णत इजीनियरी का ही विषय मानते है। कुछ लोग इस क्रिया को मुख्यत जल और सेल्लुलोज का सयोजन ही मानते है, इस प्रकार कुछ लोग आहनन (बीटिंग) को रासायनिक और दूसरी भौतिक क्रिया स्वीकार करते है। एक तीसरा वर्ग इसे भौति-रासायनिक क्रिया समझता है। हमें इस उलझन को भी छोडना पडेगा क्योकि सज्जीकरण की भाँति इस दशा में भी सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण के पूर्व व्यावहारिक फल प्राप्त हो गया है।

कागज और लुगदी मिलो में अन्य कितनी ऐसी समस्याएँ उठती है जो अपेक्षाकृत कम महत्त्व की होती है और जिनका सबन्ध कागज-निर्माण की तुलना में अन्य रासायनिक उद्योगो से अधिक होता है। जैसे कागज मशीन में प्रयुक्त होनेवाले तारो के जीवन-काल एव बनावट के बारे में धातुकर्म विज्ञान से अधिक जाना जा सकता है। कागज के आर्द्र जाल को मशीनो की तार-जाली पर से अलग करके शोषक रम्भो के ऊपर ले जाने के लिए सर्वोत्तम नमदे वस्त्रोद्योग से ही प्राप्त होते है। जल की उचित प्राप्ति तथा उत्प्रवाह का शोधन दोनो ही परम महत्त्वपूर्ण बाते है, विशेषकर यह जान लेने पर इसकी महत्ता समझ में आती है कि १ टन कागज बनाने के विविध क्रिया पदो में १००,००० गैलन जल की आवश्यकता होती है। ये दोनो रसायनज्ञ के ही कार्यक्षेत्र है, विशेषतया दूसरी समस्या में उसकी काफी जवाबदारी है क्योकि पाचित्र के क्षेत्र द्रव में विविध प्रकार के मूल्यवान उपजात विद्यमान रहते है। इन सब के अतिरिक्त कच्चे माल्रो के नियत्रण के लिए सामान्य वैश्लेषिक रीतियाँ भी अपनायी जाती है, विशेषकर लुगदी के मूल्याकन के लिए प्रामाणिक रीतियाँ विकसित की गयी है, जिनसे अब यह सरलता से बताया जा सकता है कि लुगदी का अमुक नमूना कागज मिल में कैसा चलेगा, खरीदने के पूर्व थोक माल का भी परीक्षण कर लिया जा सकता है। अन्त में कागज की भी परीक्षा होनी चाहिए। यद्यपि इन परीक्षाओ की अधिकाश रीतियाँ भौतिक होती है, परन्तु वे रसायनज्ञो की ही जिम्मेदारियाँ होती है। कतिपय मिलें ऐसी है जहाँ इन दोनो विज्ञानो मे भेद समझा जाता है। अधिकाश स्थानो पर भौतिकोविद् भी एक प्रकार का रसायनज्ञ ही माना जाता है, अथवा इसका उलटा भी होता है। इसी कारण से रसा-

यनज्ञ को कागज के पीछे-पीछे आधुनिक सभ्यता की उन सभी शाखाओं-प्रशाखाओ में उत्तरदायित्व वहन करना पडता है जिनमें कागज प्रयुक्त होता है। आसजको का प्रयोग तथा छपाई और व्यापन (इम्प्रिग्नेशन) विधा इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं, परन्तु कागज रूपान्तर विधाओं में प्लास्टिक का नवागमन विशेष उल्लेखनीय है। कागज अथवा बोर्ड के ऊपर जब प्लास्टिक पोता जाता है अथवा उसके अन्दर व्याप्त किया जाता है तब वह उसमें एक आर्द्रबल (वेट स्ट्रेंग्थ) का सचार करता है जिससे उसमें जल, स्नेह, गैसो और वाष्पो के अन्त प्रवेश के लिए अवरोधी गुण उत्पन्न हो जाता है। इस क्रिया ने सवेष्टन विज्ञान (पैकेजिंग साइन्स) में एक नये अध्याय का समारम्भ किया है। यदि व्याप्त कागज को एक के ऊपर एक को जमाने के लिए इनका प्रयोग किया जाय तो बडी उच्च घनता एव प्रबलता के पदार्थ प्राप्त होते हैं जिनका प्रयोग दन्तिचक्र (गियरव्हील) तथा भवननिर्माण की सामग्री बनाने-जैसे अनेक प्रयोजनो में होता है। सेलुलोज लुगदीटान (पल्पिंग) विधा से प्राप्त क्षेप्य द्रव से एकलित लिग्निन के बने प्लास्टिक का प्रयोग इस प्रकार का एक नया एव रोचक विकास है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवरण से रसायनज्ञो के प्रति कागज उद्योग के ऋण का पर्याप्त आभास मिलता है। यह ठीक ही कहा गया है कि "इजीनियर लोग कागज की मिलें बनाते हैं और रसायनज्ञ उन्हें चलाते है।"

ग्रथ-सूची

CLAPPERTON, R H *Paper Making by Hand An Historical Account* Shakespeare Head Press.

CROSS, C F, AND BEVAN, E J *Text-book of Paper Making* E & F N Spon, Ltd

GRANT, J *Books and Documents.* Grafton & Co.

GRANT, J *Laboratory Handbook of Pulp and Paper Manufacture.* Edward Arnold & Co

GRANT, J *Wood Pulp.* Wm Dawson & Sons, Ltd.

WEST, C J *Bibliography of Pulp and Paper Making* Lockwood Trade Journal Co., Inc

मुद्रण और लेखन-सामग्री

जी० एल० ग्रिडेल, पी-एच० डी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

मुद्रण एव लेखन-सामग्री उद्योग भी रसायनविज्ञान का काफी ऋणी है क्योंकि न केवल मुद्रण प्रक्रियाओं का विकास रासायनिक अनुसन्धानो द्वारा हुआ है बल्कि उस उद्योग मे प्रयुक्त होनेवाले अनेक पदार्थो का उत्पादन रासायनिक नियत्रण के अन्तर्गत होता है। कागज और रोशनाई इस उद्योग के प्रमुख पदार्थ हैं जिनका वर्णन इस ग्रन्थ मे अन्यत्र किया गया है।

मुद्रण को केवल टाइपो द्वारा छपाई मानना भूल है, इसकी शाखाएँ उपशाखाएँ बहुत विस्तृत हैं। मुद्रण की तीन मुख्य विधाएँ (प्रक्रियाएँ) होती हैं और प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न। प्रथम, अक्षर-मुद्रण, पुस्तक एव समाचार पत्र छापने के लिए, द्वितीय, शिला-मुद्रण, इश्तहार, प्रदर्शन कार्ड, नामपत्र की छपाई तथा डब्बो, मिट्टी के बर्तनो इत्यादि को अलकृत करने के लिए, और तृतीय, प्रकाश-उत्किरण (फोटो ग्राव्यार) चित्रित पत्र-पत्रिकाओ तथा डाक-टिकट की छपाई के लिए।

अक्षर-मुद्रण विधा मे छपाई का उभरा हुआ तल (रिलीफ सरफेस) होना है, अर्थात् छपाई पट्ट का रोशनाई लगनेवाला भाग उभरा रहता है। मुद्रा छपाई के विकास का श्रेय अधिकाशत इजीनियरी को है, उन्नत छपाई मशीने बनाना उसी विज्ञान का कार्य है। *इन मशीनो मे सबसे निपुणता से बनी एकमुद्र और पक्तिमुद्र प्रकार की स्वच* चालित मशीनें हैं, जिनमें मुद्राओं की ढलाई और बैठाई अपने आप होती है। इनके क्रियाकरण की सफलता प्रयुक्त होनेवाली मुद्र-धातु अर्थात् टिन, ऐण्टीमनी और सीस के मिश्रधातु पर निर्भर होती है। इन मिश्रधातुओं का निर्माण रासायनिक नियत्रण से होता है। विश्लेषको तथा धातुकर्मज्ञो के निरन्तर प्रयत्न से उनकी क्रिया-शीलता बराबर एकसम बनी रहती है।

हाफ-टोन विधा से चित्रो की छपाई में रासायनिक विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है। चित्रो की छपाई के लिए चित्र को बिन्दुओं में विघटित किया जाता है और हाफटोन विधा मे ये बिन्दु विभिन्न परिमाण के होते है, गाढी आभा के लिए बडे तथा हलकी आभा के लिए छोटे। गाढी आभा में बडे होने के अतिरिक्त बिन्दु, हलकी आभा की अपेक्षा, अधिक पास-पास होते हैं। किसी समाचार-पत्र में छपे किसी चित्र को हाथ लैन्स से देखने पर बिन्दु स्पष्ट रूप से दिखाई देंगे तथा यह बात समझ में आ जायगी

हाफटोन प्रतिचित्र[1] साधारण फोटोग्राफी की रीति से बनाये जाते हैं, केवल भेद यह है कि फोटोग्राफी पट्ट के सामने एक सकाच (स्क्रीन) रख दिया जाता है और इसी सकाच पर विन्दु बनते हैं। सकाच में दो काच-पट्ट जुड़े रहते हैं, जिनमें से प्रत्येक के ऊपर समानान्तर काली रेखाएँ उत्कीर्ण (एन्ग्रेव्ड) रहती हैं और ये दोनो पट्ट इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि दोनो की रेखाएँ ९०° का कोण बनायें। एक इच में ५०-२०० रेखाएँ होती हैं और उनकी मोटाई दोनो रेखाओ के बीच रिक्त स्थान के बराबर होती है। सकाच रेखाओ के परिमाण पर ही मुद्रित चित्र के विन्दुओं की सख्या निर्भर करती है अर्थात् ५० रेखा सकाच पर प्रति इच ५० बिन्दु अथवा प्रति वर्ग इच २५०० विन्दु वनते हैं। तांबे अथवा यशद का एक चिकना स्तार[2] लेकर उस पर अमोनियम वाइ-क्रोमेट मिश्रित सरेस की एकसम परत पोत दी जाती है। सूखने पर यह प्रकाश सुग्राही और सरेस कठोर एव जल अविलेय हो जाता है। छपाई क्रिया में सुग्राहीकृत धातुपट्ट को हाफटोन प्रतिचित्र (निगेटिव) के नीचे रखकर कार्बन अथवा मर्करी आर्क के प्रचण्ड प्रकाश में विगोपित[3] करके पानी से विकसित करते हैं। कठोरीभूत सरेस को गरम करके और अधिक कठोर करते हैं जिससे अनुगामी निक्षारण (एचिंग) विधा के प्रति उसमें रोध उत्पन्न हो जाय। तांबे का निक्षारण फेरिक-क्लोराइड से और यशद का तनुनाइट्रिक अम्ल से किया जाता है तथा यह क्रिया आवश्यक गहराई प्राप्त होने तक जारी रखी जाती है। पट्ट के न छपनेवाले भाग का निक्षारण हो जाता है, लेकिन छपनेवाला भाग सरेस रोध के कारण सुरक्षित रहता है। (देखिए चित्र पृ० २०५)

हाफटोन विधा और फोटोग्राफी का प्रारम्भ एकसमान है, अत इसके विस्तृत विवरण के लिए इस पुस्तक के फोटोग्राफी अध्याय को पढना चाहिए। जे० नीप्से (जिन्होंने १८२५ ई० के लगभग प्रथम प्रकाश उत्किरण उत्पन्न किया था), फाक्स-टैलबॉट, मुंगो पॉन्टॉन, सर जोजेफ स्वान-जैसे फोटोग्राफी के अग्रगामी कार्यकर्ताओ के प्रारम्भिक कार्यों के फलस्वरूप फोटोग्राफी तथा फोटो प्रतिरूपण (रिप्रोडक्शन) उद्योगो की उत्पत्ति हुई और उनके तथा क्रोमियम के आविष्कर्ता लुई वँक्युलिन तथा १८३२ ई० में कुछ कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति में बाइक्रोमेटो की प्रकाश सुग्राह्यता का प्रथम अनुभव करनेवाले सुकाउ-जैसे प्रारम्भिक रसायनज्ञो के परिश्रमो से ससार की समृद्धि बढी तथा असख्य लोगो को जीविका प्राप्त हुई। १८९० ई०

[1] Negative [2] Sheet चद्दर [3] Exposed

मे फिलैडेलफिया के मैक्सलेवी नामक सस्थान में हाफटोन सकाच वनाया गया था, यद्यपि उसके लगभग आठ वर्ष पहले ही मीजेनवाख ने एक-रेखा सकाचवाला हाफटोन तैयार किया था।
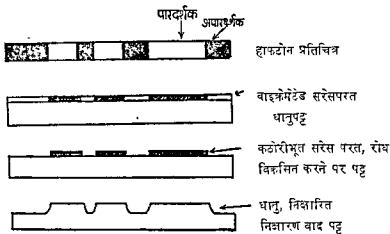
आज की अक्षर-मुद्रण-विधा में कागज, रोशनाई, ग्लिसरीन, सरेस के बने वेलन, फोटोग्राफी के सामान, धातु तथा निक्षारण[1] विलयन-जैसी अनेक वस्तुओं की आवश्यक्ता होती है, और इनमें से वहुतो में विशिष्ट गुणो की भी ज़रूरत होती है। ये सभी वस्तुएँ रासायनिक विज्ञान की सहायता से ही उत्पन्न की जाती है। सभव है, इस सहायता के अभाव में यह उद्योग अपना वर्तमान रूप न प्राप्त कर सका होता।

हाफटोन विधा से रगीन चित्रो की छपाई भी प्राय उपर्युक्त रीति से ही होती है, भेद केवल यह है कि मूल चित्र का तीन वार फोटो लिया जाता है, परन्तु हर वार विभिन्न रग के फिल्टर इस्तेमाल किये जाते है। ये फिल्टर नीले, हरे और लाल रग के होते है। इस प्रकार से वनाये गये प्रतिचित्रो से मुद्रण पट्ट तैयार करके क्रमश पीली, मैजेण्टा और नीली रोशनाई मे छपाई की जाती है। चार रग की छपाई में एक काले रग का मुद्रण पट्ट भी होता है। सर आइजक न्यूटन, टामस यग, हेल्म होज तथा क्लर्क मैक्सवेल-जैसे विशिष्ट कार्यकर्ताओं के अनुसन्धानो के फलस्वरूप रगीन

[1] Etching solutions

छपाई का प्रारम्भ हुआ तथा रासायनिक उद्योगो द्वारा उत्पन्न आवश्यक रजक रग द्रव्य फिल्टर, फोटोग्राफी सामग्री तथा रोशनाई के कारण ही रगीन छपाई की वर्तमान उत्कृष्ट अवस्था सभव हुई है।

बहुधा-मुद्रण पट्टो के द्वितीयक (डुप्लिकेट) भी बनाने पडते है, ये दोनो रीतियो से बनाये जाते है—(१) विद्युन्मुद्रण से (टास० स्पेन्सर ऐण्ड सी० जे० जॉर्डन, १८३९) तथा (२) सान्द्र मुद्रण (स्टीरियो टाइपिंग) (विलियम जेड, १७२५)। विद्युन्मुद्रण के लिए मूलमुद्रण पट्ट का मोम अथवा सीस स्तार[1] पर एक साँचा बनाया जाता है, जिस पर ग्रैफाइट पोत कर उसे विद्युत् सवाहन की शक्ति प्रदान की जाती है। इन्ही मोम अथवा सीस स्तारो के बने साँचो पर अम्ल कापर सल्फेट विलयन में से ताबे का विद्युत् रोपण (एलेक्ट्रो डिपाजिटिग) करके द्वितीयक पट्ट तैयार किये जाते है। आज का यह उद्योग वोल्टा तथा फैरेडे-जैसे विद्युत-रसायनज्ञों के प्रारम्भिक कार्यो का फल है और अब भी विद्युन्मुद्रण विलयनो के निबन्ध के नियत्रण तथा उस उन्नत करने के लिए रासायनिक अनुसन्धान बराबर चलते रहते है। मुद्रण-पट्टो को अधिक टिकाऊ बनाने के लिए अब निकेल और क्रोमियम का भी प्रयोग होने लगा है। निकेल और क्रोमियम पट्टण मे रसायनज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा है तथा अब भी है। द्वितीयक पट्ट बनाने की दूसरी रीति सान्द्रमुद्रण कहलाती है, जिसमें मूल पट्ट का साँचा 'पेपियर माशे' में बनाया जाता है और फिर इससे टिन, ऐण्टिमनी और सीस के मिश्र-धातु का प्रयोग करके पट्ट ढाल लिये जाते है। यह ढलाई बहुधा बडी तीव्र गति से होती है जिसके लिए मिश्र धातु में विशिष्ट गुणो की अत्यधिक आवश्यकता होती है। एतदर्थ रासायनिक नियत्रण अनिवार्य होता है।

छपाई की दूसरी मुख्य विधा (प्रोसेस) शिलामुद्रण कहलाती है। इसमें समतल सतह से छपाई की जाती है, जिसमें छपाई भाग स्नेही होता है तथा शेष भाग इस प्रकार उपचारित रहता है कि उस पर स्नेही रोशनाई नही लग पाती। १७९६ ई० में एलॉयस सेनेफेल्डर नामक एक गायक ने इस विधा का आविष्कार किया था और उसका अन्वेषण इतना सम्पूर्ण था कि उसकी विधा में आज तक कोई सारभूत परिवर्तन नही किया जा सका। इस विधा में मुद्रित होनेवाली लेख-सामग्री अथवा चित्र चून-पत्थर की एक समतल शिला पर स्नेही रोशनाई से लिखा या बनाया जाता है, शिला के शेष भाग पर तनु नाइट्रिक अम्ल द्वारा अम्लित बबूल गोंद विलयन

[1] Sheet lead

पोत कर सुखा दिया जाता है। शिला को पानी से आर्द्र करने पर गोंद की झिल्ली गीली हो जाती है, लेकिन स्नेही रोशनाई पर उसका प्रभाव नही पड़ता। पानी सूखने के पहले ही रोशनाई लगे बेलन को शिला-तल पर फेर दिया जाता है। रोशनाई की स्नेही प्रकृति के कारण आर्द्र गोंद उसे स्वीकार नही करता यानी शिला के न छपनेवाले भाग में रोशनाई नही लग पाती, परन्तु उसकी छपाई प्रतिभा पर रोशनाई लग जाती है और जब उस पर कागज लगा कर दबाया जाता है तो वाछित भाग छप जाता है। यद्यपि शिलामुद्रण की विधा का सबन्ध तल-रसायन से है और इसे 'रासायनिक छपाई' के नाम से सबोधित भी किया जाता रहा है, फिर भी रसायनज्ञो को इस विधा के अध्ययन का अवसर अभी हाल मे ही प्राप्त हुआ है।

यशद एव अल्युमिनियम पट्टो का प्रयोग, फोटोग्राफी का प्रयोग तथा अनुलम्ब (ऑफ सेट) मशीनो का प्रयोग शिलामुद्रण के मुख्य-मुख्य विकास है। यशद पट्ट १८२० ई० में तथा अल्युमिनियम पट्ट १८९० ई० में प्रयुक्त होने शुरू हुए थे यद्यपि अब तो सर्वथा इन्ही पट्टो का प्रयोग किया जाता है। यह न भूलना चाहिए कि सेनेफेल्डर ने भी धातु पट्टो के प्रयोग की सभावना का उल्लेख किया था। शिलामुद्रण में फोटोग्राफी का प्रवेश प्राय उसी प्रकार से हुआ, जैसे अक्षर-मुद्रण की हाफटोन विधा में, जिसका उल्लेख अभी किया जा चुका है। फोटो-शिलामुद्रण का बहुत पुराना प्रयोग (१८४०) अथवा दुष्प्रयोग जाली नोट बनाने में किया गया था। फोटो-शिलामुद्रण की वर्तमान विधा में प्रकाश सुग्राही लेप के लिए बाइक्रोमित ऐल्बुमेन का प्रयोग किया जाता है। एल्फोन्से पोर्टेविन ने १८५५ ई० में इसका पेटेण्ट कराया था। ऐल्बुमेन का प्रकाश विशेपन द्वारा कठोरीकरण होता है तथा शिलामुद्रण के लिए आवश्यक स्नेही रोशनाई इसी कठोरकृत ऐल्बमेन पर लग जाती है। अनुलम्ब विधा में चित्र मुद्रणपट्ट पर से एक बेलन के चारो ओर लिपटे रबर के गत्ते पर सक्रामित हो जाता है और तब उस पर से कागज पर छपता है। इस विधा मे टिन पट्टो को भी अलकारित करना सभव हुआ है, यही इसकी विशेपता है। विशेष प्रकार की रोशनाई, अनुलम्ब गत्ते के लिए विशिष्ट रबर के गत्ते बनाकर रसायनज्ञो ने इस विधा के विकास में भी अच्छा हाथ बटाया है।

छपाई की तीसरी मुख्य विधा प्रकाश उत्किरण है, जिसमें छपनेवाला लेख अथवा चित्र एक चिकने ताँबे के बेलन पर निक्षारित कर दिया जाता है। यह बेलन रोशनाई के पात्र में घूमता है जिससे इसके समस्त तल पर रोशनाई लग जाती है। उसके बाद बेलन के चिकने तल पर से रोशनाई एक छुरी से खुरच उठती है, लेकिन निक्षारित अवकाशो में वह भरी रहती है और जब बेलन पर कागज दबाया जाता

है तो उस पर निक्षारित चित्र अथवा लेख कागज पर छप जाता है। वेलन का निक्षारण सर जोज़ेफ स्वान (१८६५) द्वारा विकासित 'कार्बन' विधा से किया जाता है। एक कार्बन ऊतक अर्थात् बाइक्रोमेट द्वारा सुग्राहीकृत जिलैटिन से पुते कागज के स्तार को प्रकाश उत्किरण सकाच के नीचे रखकर आर्क दीप प्रकाश में विगोपित किया जाता है। यह सकाच भी पूर्ववर्णित हाफटोन संकाच के समान होता है, भेद केवल इतना होता है कि इसकी रेखाए पारदर्शक होती हैं तथा उनके बीच का स्थान काला होता है। इस सकाचन विधा के तुरन्त बाद ही सकाचित ऊतक पर उत्पन्न किये जानेवाले विषय के अखण्ड तान अस्ति (कॉण्टिनुअस टोन पॉजिटिव) को विगोपित किया जाता है। ऊतक का मुख नीचे करके उसे ताम्र वेलन पर रख कर जल से विकासित कर लिया जाता है। अब कागज को छुडाकर जिलैटिन को धो दिया जाता है। जिलैटिन का धोया जाना विगोपन की सीमा पर निर्भर होता है। जहाँ जिलैटिन पर प्रकाश की कडी क्रिया होती है वहाँ जिलैटिन कठोर हो जाती है और जल में विलेय नही होती, परन्तु जब इस पर थोड़ा प्रकाश पहुँचता है तब यह विलेय रहती है और जल से धुल जाती है। इसका फल यह होता है कि विकसित किये जाने के बाद ताम्र तल पर कठोरकृत जिलैटिन की विविध मोटाईवाली झिल्ली लगी रह जाती है। इसके बाद ताम्र वेलन को फेरिक क्लोराइड विलयन द्वारा निक्षारित किया जाता है। फेरिक क्लोराइड जिलैटिन के द्वारा विस्तृत हो कर नीचेवाले ताम्र-तल को निक्षारित करता है। जहाँ जिलैटिन का स्तर मोटा होता है वहाँ ताम्र-तल पर फेरिक क्लोराइड का मृदु आक्रमण होता है तथा वहाँ छिछला अवकाश (रिसेस) निक्षारित हो पाता है, इसी से चित्र के हलके रगवाले भाग में अवकाश छिछले होने के कारण उनमें कम रोशनाई भरती है तथा छपाई हलकी होती है। गाढे भागो के अवकाश गहरे होते है, रोशनाई अधिक भरती है और छपाई भी गाढी होती है। कार्ल क्लिक ने १८९५ ई० में इस विधा का आविष्कार किया था।

उपर्युक्त विधा के वर्तमान क्रियाकरण के प्रत्येक पद में रसायनज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यभाग होता है। कार्बन ऊतक का उत्पादन रासायनिक नियंत्रण में किया जाता है। वेलनो पर ताम्ररोपण विद्युदशिक रीति से किया जाता है तथा निक्षारण के बाद उसे अधिक टिकाऊ बनाने के लिए उस पर क्रोमियम का रोपण भी कर दिया जाता है। जिलैटिन रोध के द्वारा विस्तृत होकर फैरिक क्लोराइड से ताम्र का निक्षारण भी एक जटिल रासायनिक विधा है, जिसके सम्बन्ध में अभी हाल में ही अन्वेषण प्रारम्भ हुआ है।

मुद्रण अर्थात् छपाई की मुख्य विधा के अतिरिक्त छपाई और लेखन-सामग्री

उद्योग के अन्य कई ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें रसायनज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा और अब भी है। पुस्तकों की जिल्द-बधाई में चमडा, कपडा, आसजक[1] सीने के लिए तागा, सोने और कासे के पर्ण इत्यादि का प्रयोग किया जाता है, इन सभी वस्तुओ का उत्पादन रासायनिक नियत्रण मे होता है तथा उनकी उपयुक्तता की जाँच करने के लिए रासायनिक परीक्षाएँ भी निकाल ली गयी हैं। लेखन-सामग्री व्यापार में छपाई की सभी मुख्य विधाओ का प्रयोग होता है, कागज, रोशनाई तथा आसजको का बडी मात्रा में प्रयोग होता है, इनके अतिरिक्त मुहर लगाने की लाख, सूत और रस्सियाँ भी प्रयुक्त होती हैं और इन सभी चीजो के उत्पादन में रसायनज्ञ का कुछ कम योगदान नही होता।

ग्रंथ-सूची

ATKINS, W. · *Art and Practice of Printing*. Sir Issac Pitman & Sons, Ltd

BROMLEY, H. A. *Articles of Stationery and Allied Materials*. Grafton & Co.

BULL A J *Photo-Engraving*. Edward Arnold & Co.

KNIGHTS C. . *Printing : Reproductive Means and Materials*. Butterworth & Co (Publishers) Ltd.

MERTLE J S *Photolithographic Procedure Bulletin No.1*. Cincinnati : International Photoengravers' Union of North America.

रोशनाई

सी० एन्सवर्थ मिचेल, एम० ए०, डी० एस-सी० (ऑक्सन),
एफ० आर० आई० सी०

अग्रेजी शब्द—'इक', जिसे भारतीय भाषा मे रोशनाई या मसि कहते हैं, लैटिन शब्द 'एन्काउस्टम' अर्थात् 'बर्ण्ट इन्' से निकला है। क्योकि प्राचीन काल में मिस्र-

[1] Adhesives

वासियों द्वारा मिट्टी के बर्तन के टुकड़ों पर लिखने के लिए कार्बनीय कालिख का प्रयोग किया जाता था, और लिखने के बाद वे उन टुकड़ों को आँच पर सेंक लेते थे। ब्रुश या नरकल की कलम से रंगीन द्रव लगाकर एक प्रकार की लिपि बना लेते थे।

कार्बन रोशनाई—दिये की सूक्ष्म कालिख को सरेस अथवा गोंद के साथ मिला कर कार्बन रोशनाई बनायी जाती थी जिसका प्रयोग श्रीपत्रों अर्थात् 'पैपिराइ' पर लिखने के लिए किया जाता था। चीनी रोशनाई भी इसी प्रकार का पदार्थ है, लेकिन उसे पीस और दबा करके 'यष्टि' का स्वरूप दे दिया जाता था। यह प्राचीनकालीन कार्बन रोशनाई भारत तथा सुदूर पूर्व के देशों में अब तक इस्तेमाल की जाती है, लेकिन यूरोप में अब केवल कलाकार ही उसका प्रयोग करते हैं और 'आर्टिस्ट्स' ब्लैक इंक के नाम से ही मशहूर है। कार्बन रोशनाई के काले कण तत्स्थित सरेस अथवा गोंद की सहायता से कागज पर चिपक जाते हैं और सूखने पर वार्निश की तरह चमक उठते हैं। आगे चलकर लौह-टैनिन रोशनाई का उद्भव[1] हुआ, जो कुछ हद तक तन्तुओं में प्रवेश करके कागज के अन्दर एक रंगद्रव्य का निर्माण करती थी। रोशनाई के विकास में यह एक उल्लेखनीय कदम है।

लौह मांजूफल रोशनाई—सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में टैनीन विलयन में लौह लवण मिलाकर बनी रोशनाई का प्रचलन था। इंग्लैण्ड में कार्बन रोशनाई को छोड़कर टैनीन रोशनाई अपनाने में काफी समय लगा, लेकिन लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक टैनीन रोशनाइयों का प्रयोग प्रचलित हो गया था। और चूंकि टैनीन पदार्थ के लिए माजूफल अर्थात् गाल का प्रयोग होता था इसलिए यह लौह-माजूफल (आयरन-गाल) रोशनाई कही जाने लगी। लौह लवण के लिए फेरस सल्फेट अर्थात् कासीस का प्रयोग किया जाता था। १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में स्थायी काली रोशनाई बनाने में कासीस और टैनीन का सर्वोत्तम अनुपात खोजने के लिए बड़ा अनुसन्धान किया गया था। फलस्वरूप १ भाग कासीस और ३ भाग माजूफल के मिश्रण को गाढ़ा करने के लिए पर्याप्त गोंद डालकर छोटे-छोटे कुण्डों में खुला छोड़ देने से उसका आंशिक ऑक्सीकरण होता तथा वह थोड़ा और काला हो जाता था। अविलेय आयरन टैनेट कणों को कागज पर चिपकाने के लिए गोंद मिलाया जाता था।

[1] Invention

नीली काली रोशनाई—लौह-माजूफल रोशनाई का प्रचलन गत शताब्दी के मध्य तक जारी रहा लेकिन १८वीं शताब्दी के अन्त में अनऑक्सीकृत रोशनाइयों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इस नये प्रकार की रोशनाई को कुण्डों में छोड़कर उसका ऑक्सीकरण नहीं किया जाता था और अविलेय हो जाने से बचा लिया जाता था। अनऑक्सीकृत अवस्था में उसके स्थायीकरण के लिए उसमें थोड़ा अम्ल मिलाया जाता था जिससे कागज से सम्पर्क होने के पहले उसकी यह अवस्था बनी रहे और तत्पश्चात् तन्तुओं के अन्दर ही उसका आक्सीकरण हो। इस रोशनाई की लिखा-वट बड़े हलके पीले रंग की होती थी और ऑक्सीकरण के बाद ही काली होती है, इसलिए ऑक्सीकरण से काली होने तक रंगीन बनाने के लिए उसमें इण्डिगो मिला दिया जाता था। ऐनिलीन रंजकों के आविष्कार के बाद इण्डिगो के स्थान पर नीले, लाल अथवा हरे रंजक मिलाये जाने लगे, लेकिन नीला रंग अधिक लोकप्रिय हुआ। इस प्रकार 'नीली-काली' (ब्लू ब्लैक) रोशनाई का नामकरण हुआ।

ऐनिलीन रोशनाई—ऐनिलीन रोशनाई का प्रथम प्रयोग १८६१ ई० में प्रारम्भ हुआ। अधिक चलिष्णु होने के कारण स्टाइलोग्राफिक लेखनियों के लिए निग्रोसीन विलयनों का प्रयोग अधिक पसन्द किया जाता था। पुरानी रंगीन रोशनाइयों में प्रयुक्त होनेवाले कोचीनियल, मैंडर अथवा इण्डिगो-जैसे प्राकृतिक रंजक तथा प्रशन ब्लू अथवा हरिकी (वर्डिग्रिस) सदृश खनिज रंग द्रव्यों के आलम्बन के स्थान पर इयोसीन और ऐनिलीन ब्लू-जैसे कृत्रिम रंजक प्रयोग किये जाने लगे। लेकिन इन ऐनिलीन रोशनाइयों की त्रुटि यह थी कि उनसे तन्तु केवल रंग जाते थे और स्थायी नहीं होते थे। लौह-माजूफल रोशनाइयों की तरह कागज पर ही इनसे कोई रंग द्रव्य नहीं बनता।

प्रतिलिपि रोशनाई—लौह-माजूफल रोशनाई की लिखावट की प्रतिलिपि करना कठिन होता है और ऑक्सीकरण के बाद तो संभव ही नहीं होता। अतः व्याव-हारिक प्रयोजनों के लिए साधारण रोशनाई की अपेक्षा प्रतिलिपि रोशनाई में अधिक द्रव्य डालने की आवश्यकता होती है। इसीलिए ऐसी रोशनाई सान्द्रित रूप में बनायी जाती है तथा उसमें ग्लिसरीन सदृश ऐसे पदार्थ डाले जाते हैं जो कागज पर रोशनाई के ऑक्सीकरण को अवरुद्ध करें। इससे मूल रोशनाई कुछ समय तक चिपकदार बनी रहने से उसकी एक या अधिक प्रतिलिपियाँ बनायी जा सकती हैं।

मुद्रण रोशनाई—छपाई के लिए बनी रोशनाई में अलसी के उबले तेल के साथ सूक्ष्मतः विभाजित दीप-कालिख अथवा कार्बन-कालिख मिली रहती है और जब यह कागज पर लगायी जाती है तो शीघ्र ही सूख कर काले रंग लेप का रूप धारण कर

लेती है। तेल और कालिख का अनुपात आवश्यकतानुसार बदलता रहता है, उदाहरणार्थ समाचारपत्र छापने की रोशनाई का निबन्ध किताब की सुन्दर छपाई के लिये बनी रोशनाई के निबन्ध से बहुत भिन्न होता है। ऐसी रोशनाई के तान तथा गुण में हेर-फेर करने के लिए उसमें साबुन, खनिज तेल, रेजीन, प्रशन ब्लू इत्यादि सरीखे अन्य सघटक भी मिलाये जाते हैं। रगीन छपाई के लिए कार्बन कालिख के स्थान पर कोई खनिज रग द्रव्य अथवा कार्बनिक लाक्षक प्रयुक्त होता है। मॉनस्ट्रल ब्लू-जैसी ऐनिलीन की कुछ नयी व्युत्पत्तियाँ इतनी स्थायी सिद्ध हुई हैं कि मुद्रण रोशनाइयो में पुराने रग द्रव्यो के स्थान पर उनका प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार की रोशनाई बनाने में सघटको को यथासभव सूक्ष्मतम विभाजित अवस्था में प्रयोग करना अनिवार्य है।

मुद्रलेखन रोशनाई—पहले मुद्रलेखन (टाइपिंग) रोशनाई के लिए किसी ऐनिलीन रजक (बहुधा मिथिल व्यायलेट) के विलयन में ग्लिसरीन अथवा डेक्स्ट्रीन डालकर उसे थोड़ा गाढा कर लिया जाता था, लेकिन अब तो सूक्ष्मत विभाजित अथवा कलिलीय कार्बन से बनी काली रोशनाई बडी अधिकता से इस्तेमाल की जाती है। इस रोशनाई में मिथिल व्यायलेट रोशनाइयों की तरह उड़ जाने का अवगुण नही होता।

अंकन रोशनाई—ससार के विभिन्न भागों में अकन (मार्किंग) के लिए विविध पौधो के रसो का प्रयोग किया जाता है। न्यू ग्रैनाडा का 'इक प्लाण्ट' तथा भारतीय भिलावा (मार्किंग नट) इसके अच्छे उदाहरण हैं। परन्तु यूरोप में इस प्रयोजन के लिए मुख्यत रासायनिक रोशनाई का प्रयोग होता है। आजकल भी प्राय. १०० वर्ष पूर्व प्रचलित 'रेडउड्स सिल्वर इक' के ही आधार पर वाणिज्यिक अकन रोशनाइयाँ बनायी जाती हैं। अमोनिया में रजत नाइट्रेट का विलयन इनका मुख्य रूप है। इस विलयन से कपडे पर निशान बनाकर उसे लोहे से गरम कर दिया जाता है जिससे रजत अपचयित (रिड्यूस्ड) होकर काले अवक्षेप के रूप में स्थायी रूप से जम जाय। चिह्न के स्थिरीकरण के लिए कपड़े को गरम करने की असुविधा के कारण रजत रोशनाइयाँ जो एक समय बहुत चालू थी, अब कम पसन्द की जाती हैं और उनके स्थान पर ऐनिलीन रोशनाइयाँ इस्तेमाल की जाने लगी हैं। ये सस्ती भी होती हैं। इनका निर्माण दो प्रकार से होता है—द्विविलयन[1] रोशनाई तथा

[1] Two solutions

एक-विलयन रोशनाई। प्रथम प्रकार की रोशनाई के प्रयोग में किसी ऐनिलीन लवण के विलयन को इस्तेमाल के तुरन्त पहले कापर क्लोराइड और सोडियम क्लोरेट के मिश्रण सदृश ऑक्सीकारक के साथ मिलाया जाता है, जिससे प्रतिक्रिया वस्त्र के तन्तुओ के ऊपर तथा उनके भीतर होती है और धीरे धीरे ऐनिलीन ब्लैक बनता है, कपडे के भापन अथवा धावन से यह प्रतिक्रिया त्वरित होती है। परन्तु इसके प्रयोग की विधा भी रजत रोशनाई की प्रयोग-विधा से किसी प्रकार कम असुविधाजनक नही, इसलिए एक-विलयन ऐनिलीन रोशनाई की माँग बढी। यह रोशनाई जब तक बोतल में बन्द रहती है उसका ऑक्सीकरण नही होता। ऐसी रोशनाइयो के इस विलम्वित आक्सीकरण की रीति अब तक व्यापारिक रहस्य ही है।

मिली-जुली रोशनाइयाँ—कुछ विशिष्ट प्रयोजनो के लिए बनायी गयी रोशनाइयो में सवादी (सिम्पैथेटिक) रोशनाई है जिसका प्रयोग गोपनीय लेखनो में किया जाता है। इनमें ऐसे द्रव पदार्थ होते हैं जिनसे लिखने पर सद्य कुछ प्रत्यक्ष नही होता और उनके अक्षर किसी विशेष स्थापक द्वारा उपचार के बाद ही उभरते हैं। फुटकर रोशनाइयो में स्टेन्सिल रोशनाई भी गिनी जा सकती है, यह पतली काली अथवा रगीन वार्निश होती है। काठ और हाथी दाँत इत्यादि पर लिखने के लिए भी विशेष प्रकार की रोशनाइयाँ बनायी जाती हैं। चेक रोशनाइयो कि विशेषता यह होती है कि उनमें ऐसे सघटक मौजूद रहते हैं, जिनकी प्रतिक्रिया चेक पर से लेख मिटाने के लिए इस्तेमाल किये जानेवाले रसद्रव्यो के साथ होती है, अत वे सरलता से नही मिटायी जा सकती।

ग्रथ-सूची

HINRICHSEN F. W *Die Untersuchung von Eisengallustinten*

LEHNER S *Die Tinten-Fabrikation.*

MITCHELL C A *Inks Their Composition and Manufacture* Charles Griffin & Co. Ltd

MITCHELL C A *Documents and their Scientific Examination.* Charles Griffin & Co Ltd.

MITCHELL C A. *Allen's Commercial Organic Analysis.* J & A. Churchill Ltd

MITCHELL C. A : *Recent Advances in Analytical Chemistry.* J & A. Churchill Ltd

NEAL R. O. AND PERROTT G. S. J · *Carbon Black*. Bulletin No. 192, U. S. A Dept. of Interior Bureau of Mines.

SCHLUTTIG, O , AND NEUMANN, G. S. : *Die Eisengallustinten*.

SEYMOUR A · *Modern Printing Inks*. Ernest Benn Ltd.

UNDERWOOD N . AND SULLIVAN, J V · *The Chemistry and Technology of Printing Inks* D Van Nostrand Co., Inc.

BUREAU OF STANDARDS, WASHINGTON . *Composition, Properties and Testing of Printing Inks* Circular, No 55.

पेन्सिल

(स्वर्गीय) जॉन सैण्डर्सन, एफ० आर० आई० सी०

श्रीपत्रो (पैपिराइ) पर अक्षर अंकित करने के लिए बुरुश के प्रयोग का उल्लेख किया जा चुका है। 'पेन्सिल' शब्द का उद्भव लैटिन के 'पेन्सिलस' शब्द से है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'छोटी दुम'। प्रारम्भिक काल में कुछ लिखने के लिए लकडी, कोयले अथवा उसी प्रकार के अन्य पदार्थों का प्रयोग किया जाता था। हाथी दाँत, चर्मपत्र अथवा कागज पर चिह्न बनाने के लिए सीस इस्तेमाल किया जाता था इससे 'लेड पेन्सिल' तथा 'ब्लैक लेड' जैसे भ्रामक शब्दो का आज भी प्रयोग किया जाता है, *यद्यपि वस्तुस्थिति यह है कि आजकल पेन्सिल बनाने में जो ग्रैफाइट इस्तेमाल* किया जाता है उसमें प्राय सम्पूर्णत. कार्बन ही होता है, लेड का तो उसमें नाम तक नही होता। प्लम्बैगो अथवा ग्रैफाइट से बनाये गये चिह्न सीस से बने चिह्नो से अधिक काले होते हैं।

१६वी शताब्दी के प्रारम्भ में कम्बरलैण्ड स्थित बॉरोडेल नामक स्थान में ग्रैफाइट पाया गया था। वहाँ इसके बेढगे आकार के बडे ठोस टुकडे मिलते थे। इनको पतले-पतले पत्तरो में काटा जाता था और इन पत्तरो को दूसरी ओर से काटकर लम्बी चौकोर छडें बना ली जाती थी और इन्ही को लकडी मे धानीगत (एन्केस्ड) कर दिया जाता था और पेन्सिल तैयार हो जाती थी।

पेन्सिल बनाने की ग्रैफाइट बहुत वर्षों तक केवल बॉरोडेल की खानो से ही प्राप्त होती रही। फलत उसे प्राप्त करने के लिए बडी स्पर्धा करनी पडती थी। उक्त खान में साल में केवल ६ सप्ताह काम करने के लिए वहाँ की ससद में एक अधिनियम

पारित हुआ और खान की सुरक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध किया गया, चोरी रोकने के लिए साल के बाकी समय मे उसमें पानी भर दिया जाता था।

फिर भी १९वी शताब्दी के प्रारम्भ में यह खान समाप्त हो गयी और अनेक पेन्सिल-निर्माताओ ने कोई उपयुक्त प्रतिस्थापक ढूँढ निकालने के लिए बडे व्यापक प्रयत्न किये। पहले तो उन्होंने क्षेप्य को पीसकर विविध मिश्रणों के साथ उसकी छडे बनायी। इनसे केवल एक ही कठोरता की पेन्सिल बन पायी, जब कि उस समय विभिन्न कठोरतावाली पेन्सिलो की माँग होने लगी थी। इसकी पूर्ति के लिए विभिन्न अनुपात में बारीक पिसी ग्रैफाइट और मिट्टी मिलाकर उनकी पट्टियाँ बनायी गयी और उन्हें सेंककर पक्का किया जाने लगा। इस विधा के आविष्कार का श्रेय पेरिस के कॉण्टे को है। इस रीति से १४ अथवा उससे अधिक कोटि की कठोरता उत्पन्न की जा सकी, इनकी सीमा ६ H (हार्ड) से लेकर ६ B (ब्लैक) तक थी तथा HB (हार्ड-ब्लैक) मध्य की कोटि थी।

ग्रैफाइट, प्लम्बैगो अथवा ब्लैक लेड ससार के अन्य भागो में भी पाये जाते हैं, इनके दो प्रकार होते हैं—केलासीय और अनाकार। सर्वोत्तम केलासीय श्रेणी श्रीलंका से प्राप्त होती है, वहाँ यह बडे-बडे चिपटे पट्टों अथवा शल्कलों के रूप मे मिलता है। इसकी पिसाई मे बडी कठिनाई होती है तथा इससे काला चिह्न भी नही बनता, अतएव इसका प्रयोग पेन्सिल बनाने के लिए नही किया जाता, लेकिन बारीक पिसाई तथा कुछ रासायनिक उपचार करके थोड़ा भाग इस काम मे लगाया जा सकता है। अनाकार ग्रैफाइट के मुख्य प्रकार बोहेमिया, बवेरिया, मेक्सिको तथा कोरिया में पाये जाते हैं। खान से निकालने के बाद यह पानी के साथ खूब बारीक पीसा जाता और विभिन्न तडागों में से पार कराया जाता है। बडे-बडे कण प्रथम तडाग मे ही नीचे बैठ जाते हैं और सूक्ष्म कण पाँचवे अथवा छठवें तडाग मे बह जाते है, वही उनको एकत्र कर लिया जाता है। मिट्टी का भी वैसा ही उपचार किया जाता है।

गत कुछ वर्षो से जलप्लावन के बजाय वायु-प्लवन (एअर फ्लोटिंग) विधा प्रयुक्त होने लगी है। पिसी ग्रैफाइट अथवा मिट्टी को चलते हुए पखे के सामने डाला जाता है और वह हवा के झोंके से कई वेश्मो में होकर गुजरते है और अपनी सूक्ष्मता के अनुसार विभिन्न वेश्मो में बैठते चले जाते हैं। सूक्ष्मतम कण अन्तिम वेश्म में जमा होते है।

इस रीति से तैयार ग्रैफाइट और मिट्टी को वाछित अनुपात में जल की सहायता से एक मे मिलाकर उसकी घोटाई की जाती है जिससे आवश्यक कोटि की चिकनाहट उत्पन्न हो जाय, उसके बाद अतिरिक्त जल को निचोडकर निकाल दिया जाता

पेन्सिल निर्माण

मिट्टी — पिसाई — जल धावन या वायु प्लवन

ग्रैफाइट — पिसाई — जल धावन या वायु प्लवन

(मिट्टी और ग्रैफाइट की दोनों शाखाएँ मिलती हैं)

मिश्रण
पिसाई
अतिरिक्त जल का निरसन
उत्सारण (एक्सट्रूडिंग)
सुखाना
काटना
परीक्षण और सेंकना
विरचना (प्रीपेयरिंग)

मिट्टी, रंग — पिसाई — जल धावन या वायु प्लवन

मिश्रण
पिसाई
अतिरिक्त जल का निरसन
उत्सारण
सुखाना
काटना
परीक्षण
विरचना

(दोनों शाखाएँ मिलती हैं)

लकड़ी की नाली में रखना
सरेस लगाना
सधारण (क्लैम्पिंग)
सुखाना
शिरोघर्षण (एण्ड ग्राइण्डिंग)
आकार प्रदान
परीक्षण
बालुका पत्र से घर्षण
पालिश करना
शिरो घर्षण
ठप्पा लगाना
परीक्षण
बण्डल बाधना और बक्स में रखना
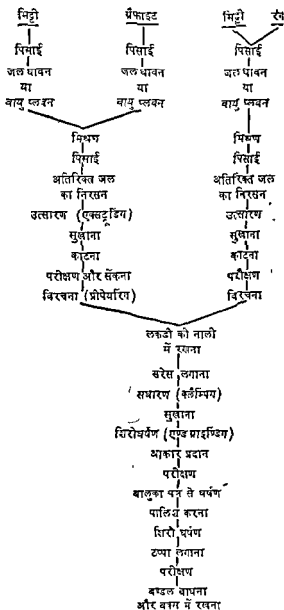
है। इस प्रकार एक सुघट्य पुञ्ज तैयार हो जाता है जिसे उच्च दाब से एक ठप्पे अथवा साँचे के द्वारा उत्सारित (एक्सट्रूडेड) करके आवश्यक माप एवं आकार की पट्टियाँ बना ली जाती है। इन्हें आच में सेंकने के बाद कुछ वसाओं तथा मोमो के मिश्रण से उपचारित कर दिया जाता है। इस प्रकार वह काष्ठ में बन्द करने के लिए तैयार हो जाता है।

प्राय सभी पेन्सिलें देवदारु की लकडी (सिडारउड) से बनती है क्योंकि वह बडी सीधी, उत्तम कणोंवाली तथा मुलायम होती है। लाल अथवा पेन्सिल देवदारु को 'जुनिपेरस वर्जिनियाना' कहते हैं तथा वह जुनियर जाति का होता और फ्लोरिडा तथा सयुक्त राज्य के अलबामा और टेनेसी क्षेत्रों में पाया जाता है। इससे लेबनान के देवदारु का भ्रम नही होना चाहिए क्योंकि वह सर्वथा भिन्न कुल का होता है। फ्लोरिडा देवदारु की अल्पता के कारण उसके उपयुक्त प्रतिस्थापक की बड़ी व्यापक खोज की जा रही है। कीनिया में एक लाल देवदारु मिला है, लेकिन इसकी लकडी बडी कठोर होती है और पेन्सिल के उपयुक्त बनाने के लिए उसका रासायनिक उपचार करना पड़ता है।

कैलिफोर्निया (यू० एस० ए०) में मिलनेवाले इन्सेन्स देवदारु (लेब्रोसीडस डिकरेन्स) के बारे में भी उपर्युक्त बात लागू है। पेन्सिल बनाने के लिए प्रयोग करने के पहले इसका भी रासायनिक उपचार आवश्यक है। इस लकडी को एक पेन्सिल के बराबर लम्बे तथा २ से ६ तक पेन्सिलें निकलने भर को मोटे टुकड़ो में काट लिया जाता है। इन टुकडो में ग्रैफाइट की पट्टी रखने के लिए पतली नाली बनायी जाती है और दो टुकडो को सरेस से जोड दिया जाता है। जब वे पूरी तरह से सूख जाते हैं तब उन्हें मशीन में डाल दिया जाता है, जो टुकडो की चौडाई के अनुसार उन्हें २–६ पेन्सिलो में काट देती है। विभिन्न माप एव आकार की—गोली, षट्कोणीय अथवा त्रिकोणीय पेन्सिलें बनाने के लिए इस मशीन का आपरिवर्तन (आल्टरेशन) किया जा सकता है। आकार ठीक हो जाने पर उन्हें बालुकापत्र से रगडा जाता है तथा पालिश करके बक्सो में रख दिया जाता है।

रंगीन पेन्सिलो के बनाने के लिए मिट्टी में सिन्दूर, प्रशन ब्लू, क्रोम ऐलो, गैरिक (ऑकर) तथा बभ्रुकी (अम्बर) जैसे रग को एक साथ पीसकर पट्टियाँ बना ली जाती हैं। ये पट्टियाँ सेकी नही जाती वरन् वसाओं और मोमो के मिश्रण से उपचारित की जाती हैं जिससे वे कडी और चिकनी हो जाती है, तदन्तर वे भी ब्लैक लेड की भाँति लकडी में रखी जाती हैं।

प्रतिलिपि-पेन्सिलें जल-विलेय ऐनिलीन रंगो से बनायी जाती हैं। कुछ अन्य

विशेष प्रयोजनों के लिए भी पेन्सिलें बनायी जाती हैं, जैसे काच अथवा चीनी मिट्टी पर लिखने के लिए अथवा शल्य चिकित्सकों द्वारा त्वचा पर लिखने के लिए। लिनेन पर लिखने के लिए लिनेन-अंकन पेन्सिलें भी होती हैं।

पेन्सिल बनाने के सब मिलाकर लगभग ५०० विभिन्न सूत्र हैं, जिन पर कड़ा रासायनिक नियंत्रण रहता है। ये सूत्र प्रत्येक संस्था के अपने-अपने रहस्य माने जाते हैं, लेकिन उनकी उत्तमता तथा उनके कच्चे मालों की शुद्धता एवं उपयुक्तता का उत्तरदायी रसायनज्ञ ही होता है। मशीनें तो मुख्यत. लकड़ी के टुकडे तैयार कर उन्हें पेन्सिल का आकार प्रदान करती हैं। बड़े-बड़े कारखानों में उनकी अपनी कर्मशाला होती है जहाँ इंजीनियर लोग नयी मशीनें बनाते रहते हैं तथा पुरानी की मरम्मत करते रहते हैं।

अध्याय ११

संश्लिष्ट रेज़ीन तथा प्लास्टिक; रंगलेप तथा वार्निश

संश्लिष्ट रेज़ीन तथा प्लास्टिक

सी० ए० रेडफार्न, बी० एस-सी०, पी-एच० डी० (लिव०),
एफ० आर० आई० सी०

'संश्लिष्ट रेज़ीन' से यह भ्रम होना सभव है कि इन पदार्थों की प्रकृति एव रासायनिक बनावट प्राकृतिक रेज़ीनो के समान है और वे केवल कृत्रिम रूप से उत्पन्न किये गये हैं। किन्तु यह केवल भ्रम मात्र है, वे तो विभिन्न रासायनिक निबन्धवाले रेज़ीनीय पदार्थ हैं जो सश्लेषण रीतियो से तैयार किये जाते हैं। 'प्लास्टिक' शब्द का प्रचार अमेरिकी विक्रेताओं ने इसी शताब्दी के दूसरे दशक में किया था और अब यह एक जातिनाम के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। इसके अन्दर कुछ ऐसे स्वच्छन्द कार्बनिक पदार्थ भी शामिल हैं, जिनकी निर्माण के किसी पद पर एक सुघट्य (प्लास्टिक) अवस्था रही हो और जो सामान्यत उसी अवस्था में ताप और दाब के प्रयोग से मन चाहे आकार के बनाकर आवश्यकतानुसार ठढा करके जमा लिये गये हैं। बहुधा सश्लिष्ट रेज़ीन ही प्लास्टिको के आधार होती हैं, लेकिन बहुत से प्लास्टिक सश्लिष्ट रेज़ीनो से नहीं बनाये जाते, साथ ही कुछ सश्लिष्ट रेज़ीनें ऐसी भी होती हैं जिनका प्लास्टिक के अतिरिक्त अन्य और भी प्रयोग है।

प्लास्टिको को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि यह कोई पूर्ण विभाजन नही है, बल्कि इसमें कुछ हद तक अतिच्छादन (ओवरलैंपिंग) भी हो गया है।

(क) उष्मस्थाप (थर्मोसेटिंग) प्लास्टिक जो ताप के प्रभाव से मृदु हो जाते हैं, तथा तापन जारी रखने पर कठोर और अगलनीय हो जाते हैं।

(ख) उष्म प्लास्टिक (थर्मो प्लास्टिक) जो गरम करने पर मृदु होते और उसी अवस्था में दबाकर वाछित आकार के बना लिये जाते हैं, परन्तु कठोरीकरण के लिए उन्हें ठढा करना पडता है। औद्योगिक दृष्टि से इनका विशेष गुण यह है कि इनके क्षेप्यों को फिर से इस्तेमाल किया जा सकता है।

सर्वाधिक महत्त्ववाले उष्म-स्थाप प्लास्टिक फिनाल-फार्मालिडहाइड रेज़ीन से व्युत्पन्न होते हैं। कोलतार से प्राप्त फिनाल तथा मिथेनाल के उत्प्रेरक आक्सीकरण से तैयार किया गया फर्मोल्डिहाइड इसका निर्माण-पदार्थ है। १८७२ में बायर ने यह उल्लेख किया था कि फिनालो एव ऐल्डिहाइडो की प्रतिक्रिया से रेज़ीनीय पदार्थ उत्पन्न किया जा सकता है। पुराने कार्बनिक रसायनज्ञो के लिए तो रेज़िनीय पदार्थ एक अभिशाप होते थे क्योकि उन्हें केलासन विधा द्वारा विशुद्ध बनाना सभव नही है और न उनके ऐसे भौतिक नियताक (कान्स्टैंण्ट) ही होते हैं जिनका उल्लेख बील्स्टीन की सारणियो में किया जा सके। १८९२ ई० में जी० टी० मॉर्गन द्वारा फिनॉल और फार्मल्डिहाइड से एक भूरे रग की रेज़ीन बनाये जाने का पुन उल्लेख मिलता है, परन्तु फिनालिक रेज़ीनो की दूसरी बार निकलने पर भी उस समय इसके सबन्ध में कोई औद्योगिक चेतना जाग्रत नही हुई।

इस शताब्दी के प्रथम दस वर्षों में जब कि फिनाल और फार्मल्डिहाइड केवल रासायनिक प्रतिकर्मक मात्र नही रह गये थे वरन् औद्योगिक पैमाने पर उनका उत्पादन होने लगा था, तब एच० एल० बेकलैण्ड नामक एक अमेरिकी नागरिक ने (जो मूलत बेल्जियन थे) फिनाल फार्मालिडहाइड के बने सामान तैयार किये और उन्ही के नाम पर ऐसे पदार्थों को 'बेकालाइट' कहा जाने लगा। मौलिक अथवा एक-पद रेज़ीनो का निर्माण फिनाल और फार्मालिड्हाइड की प्रतिक्रिया को अमोनिया से उत्प्रेरित करके किया गया था। निष्पन्न रेज़ीन विलेय, तथा ठण्डी अवस्था में ठोस होती है, परन्तु गरम करने पर द्रव हो जाती और फिर रबर जैसी और अन्तत कठोर, भगुर और अविलेय। ऐसी रेज़ीने अब भी स्पिरिट विलेय परितापन प्रलाक्षो (स्टोविंग लैकर्स), तथा उच्च आघातरोधी (शॉक रेजिस्टिंग) ढलाई पदार्थों के उत्पादन मे प्रयुक्त होती हैं, जिनमें पूरकों के रूप में कपडे अथवा लम्बे रेशेवाले सबलन (रीइन्फोर्सिग) पदार्थ इस्तेमाल किये जाते हैं। इसके अलावा उपर्युक्त प्रकार की रेज़ीनें पत्रदलीय (लैमिनेटेड) वस्तुओ के बनाने में भी प्रयुक्त होती हैं। इनके निर्माण में सूती कपडे, कागज, कनवस अथवा ऐसबेस्टस कपडो में रेज़ीन भरकर उनकी कई तहें गरम करके एक साथ दाब दी जाती हैं। इन पत्रदलीय वस्तुओं का प्रयोग विद्युत् पृथक्करण (इन्सुलेशन), अलकारिक पट्टन, मौन दन्तिचक्र (साइलेण्ट गियर व्हील) और ब्रेक इत्यादि के लिए किया जाता है। युद्धकाल में पत्रदलीय फिनालिक पदार्थों का प्रयोग वायुयानों के कुछ राचनिक भागों में भी किया जाता रहा है।

फिनाल रेज़ीनो का सबसे बडा उपयोग ढलाई चूर्णों (मोल्डिंग पाउडर) के बनाने में है, जो अब द्विपद विधा से बनती हैं। फिनाल और कुछ अपर्याप्त फार्मल्डि-

हाइड की प्रतिक्रिया अम्लावस्था में करायी जाती है, जिनमे पर्याप्त अकठोरकारी (नॉन-हार्डेनिंग) रेज़ीन बन जाती है, इसे 'नोवोलैक' कहते हैं। इसको हेक्जामियि-लीन-टेट्रामीन नामक फार्मेल्डिहाइड और अमोनिया के एक यौगिक के साथ गरम करके कठोर किया जाता है। हेक्जा एक फार्मेल्डिहाइड दाता एव पैठिक उत्प्रेरक का काम करता है और इस विधा से प्राप्त कठोर रेज़ीन भी प्राय सभी प्रयोजनों के लिए कठोरकृत एकपद रेज़ीन के समान होती है। ढलाई चूर्ण के निर्माण में नोवोलैक, हेक्जा, रग पदार्थ, माँचा स्नेहक सुघटक (मोल्ड लुब्रिकैंट प्लास्टिमाइज़र) एव पूरक पदार्थ अर्थात् काष्ट-चूर्ण अथवा छोटे ऐमब्रेस्टम तन्तु अथवा खनिज चूर्ण का उष्म मिश्रण किया जाता है, परन्तु मिश्रण को कठोरावस्था के पूर्व ही बन्द तथा ठडा करके विघटित कर लिया जाता है। इस रीति से प्राप्त चूर्ण से इस्पात साँचो में उष्म दाब से मिनटो में विविध आकार की वस्तुएँ बना ली जाती हैं। बहुधा भापतप्त मुद्र पटो (प्लेटेन्स) वाले द्रवचालित निपीड इस्तेमाल होते हैं। ऐसी वस्तुओ का सर्वाधिक प्रयोग बिजली के सामान बनाने में किया जाता है। सामान्यत फिनालिक प्लास्टिक हलके रग के नहीं होते। फिनाल प्लास्टिकों के उत्पादन में उसके सजातीय यौगिक, विशेषकर क्रिसॉल मिश्रणों का भी बहुत हद तक प्रयोग किया जाता है, लेकिन इनसे बनी वस्तुएं यद्यपि सस्ती परन्तु मध्यम गुणोंवाली होती हैं।

फिनॉल-फार्मेल्डिहाइड प्लास्टिक में एक 'कास्ट फिनालिक रेज़ीन' कही जाती है। इसके लिए विशिष्ट रीति से एक फिनाल-फार्मेल्डिहाइड चासनी बनायी जाती है जिसे सीम साँचो में ढालकर तथा मध्यम ताप पर कई दिनो तक सेंक करके कठोर किया जाता है। ऐसी रेज़ीनें कडी, उत्तम, हलकी और स्थायी होती हैं तथा इनसे रगीन, पारदर्शक तथा बहुरगी और चित्रित वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं। हजामत के बुरुम, छुरी तथा छातों की मुठिया, किवाडो के मुण्डे बनाने में इस प्रकार की रेज़ीन का बड़ा इस्तेमाल होता है।

उष्म-स्थाप प्लास्टिक का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग यूरिया और फार्मेल्डिहाइड से व्युत्पन्न किया जाता है। कार्बन डाइ ऑक्साइड और अमोनिया के उच्च दाब में अनाश्रित सयोजन से यूरिया का सश्लेषण किया जाता है। १९२८ ई० में यूरिया-फार्मेल्डिहाइड के ढलाई चूर्ण बाजार में बिकने लगे थे। इसके निर्माण की द्विपद विधा है, प्रथम पद में क्षारीय उत्प्रेरक की उपस्थिति में यूरिया और फार्मेल्डिहाइड विलयन की साधारण ताप पर प्रतिक्रिया होती है और फिर सल्फाइट काष्ठ-लुगदी तथा काष्ठ-चूर्ण-जैसे पूरक मिलाकर सुखाया और पीसा जाता है, इसमें कोई गुप्त अम्ल कठोरकारक भी प्रयुक्त होता है। इस चूर्ण की भी उष्म ढलाई प्राय. उसी प्रकार

होती है जैसे फिनालिक चूर्णो की, भेद केवल इतना होता है कि इसमें अपेक्षाकृत ऊँचे दाव तथा न्यून ताप की आवश्यकता होती है। इन दोनो प्रकार के उष्म-स्थाप प्लास्टिको का सबसे बडा अन्तर यह है कि यूरिया प्लास्टिक हलके स्थायी रगो में प्राप्य हैं जब कि फिनाल प्लास्टिक का रग हलका नही होता। इस प्रकार की रेजीन से भी पत्रदलीय पदार्थ बनाये जाते हैं, परन्तु ऐसे पदार्थो के लिए प्राविधिक कारणो से साधारण यूरिया की जगह सल्फर सजातीय यौगिक-थायोयूरिया का प्रयोग अधिक अच्छा माना जाता है। यूरिया प्लास्टिक के बहुरगी होने के कारण इसका प्रयोग मुख्यत सुन्दर और फैन्सी चीजों के बनाने में किया जाता है।

यूरिया-फार्मोल्डिहाइड प्लास्टिक की एक त्रुटि भी है, फिनाल प्लास्टिक की तुलना में इसका आर्द्रता अवशोषण बहुत अधिक है। एक त्रिअमिनो यौगिक, मेलानीन को भी यूरिया की ही तरह फार्मल्डिहाइड के साथ सयुक्त करके रेजीन और प्लास्टिक पदार्थ उत्पन्न किया जाता है, जिसका आर्द्रता-रोधी गुण अधिक उन्नत होता है। मेलानीन का वाणिज्यिक उत्पादन प्रारम्भ हो गया है तथा उसके बाद मेलानीन-फार्मल्डिहाइड प्लास्टिक का विकास भी सभाव्य है।

सेलुलायड उष्म प्लास्टिक पदार्थों का अग्रणी है, जो गन-काटन की अपेक्षा कम नाइट्रोजन मात्रा वाले नाइट्रो सेलुलोज (वस्तुत सेलुलोज नाइट्रेट) तथा कपूर मिला कर बनाया जाता है। इस योग मे कपूर एक सुघटक अर्थात् प्लैस्टिसाइज़र का काम करता है। सुघटक का तात्पर्य ऐसे पदार्थो से है जिनके मिलाने से प्लास्टिकों की भगुरता कम होती है और उसका ढलाई गुण उन्नत होता है। १८५५ ई० में साउथ वेल्स के बरी पोर्ट पर एलेक्जैण्डर पार्कस ने गन काटन और अरण्ड तेल से एक नाइट्रो सेलुलोज प्लास्टिक तैयार किया था, लेकिन सेलुलायड का प्रथम वाणिज्यिक उत्पादन न्युजर्सी (यू० एस० ए०) के 'ह्याट ब्रदर्स' द्वारा १८६९ ई० में हुआ। समय-समय पर नये-नये प्लास्टिकों के प्रचलित होते रहने पर भी सेलुलायड अभी तक अपने स्थान पर बना हुआ है। इस पदार्थ की ज्वलनशीलता ही इसका बहुत बडा दोष था, सो अब वह भी बहुत हद तक कम कर दिया गया है, इसका सस्तापन, इसकी नाम्यता तथा क्रियाकरण की सुविधा तो इसके ऐसे गुण हैं, जिनकी वजह से आजकल भी इसका व्यापार जारी है। छुरी तथा दन्त बुरुश की मुठियाँ, कघियों तथा सिनेमा की फिल्में बनाने के लिए सेलुलायड का सर्वाधिक प्रयोग होता है।

१९१४—१८ के प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भिक काल में वायुयानो के पखो के प्रलेपन के लिए नाइट्रो सेलुलोज प्रलाक्ष का प्रयोग किया जाता था। आगे चलकर ज्वलनशीलता कम करने के लिए सेलुलोज नाइट्रेट के स्थान पर इन प्रलेपो में सेलुलोज

एसिटेट प्रयुक्त होने लगा, तथा सेलुलोज एसिटेट के उत्पादनार्थ बडे-बडे सयन्त्र लगाये गये। युद्ध के बाद इन सयन्त्रों द्वारा उत्पन्न सेलुलोज एसिटेट की विशाल मात्रा के उपयोग का रास्ता ढूढना पडा। फलस्वरूप एसिटेट रेयान उद्योग का जन्म हुआ और सेलुलोज एसिटेटप्लास्टिक रेयान की एक शाखा के रूप मे प्रगट हुआ। किसी सुघटक (प्लास्टिसाइजर) के साथ सेलुलोज एसिटेट के सयोजन से वह पदार्थ बनता है जो एक समय अज्वलनशील सेलुलायड के नाम से ज्ञात था। सेलुलायड के स्थान पर सेलुलोज एसिटेट प्लास्टिक इस्तेमाल किये जा सकते हैं, लेकिन वे उतने मजबूत नही होते और साथ ही मँहगे भी होते हैं। सेलुलोज एसिटेट प्लास्टिक की श्रेष्ठता यह है कि इसका प्रयोग अन्त क्षेपी ढलाई (इन्जेक्शन मोल्डिग) के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार की ढलाई में प्रोथ (नॉज्ल) लगे रम्भ मे से एक प्रवेशी (प्लन्जर) की सहायता से तप्त प्लास्टिक पदार्थ को ठण्डे साँचे में उत्सारित किया जाता है, जहाँ जाकर प्लास्टिक तुरन्त जम जाता है। यह विधा जटिल आकारवाली वस्तुए, जिनमे अन्त प्रवेशी कोण (रीइन्ट्रेण्ट ऐंगिल्स) होते हैं, बनाने में विशेष उपयोगी है।

प्राय सभी उष्म प्लास्टिक पदार्थ अन्त क्षेपी ढलाई के लिए उपयुक्त होते हैं। गत कुछ वर्षो में एक प्रकार की अन्त क्षेपी ढलाई जिसे सक्रामण ढलाई (ट्रान्सफर मोल्डिग) कहते हैं उष्म-स्थाप प्लास्टिकों के लिए प्रयुक्त होने लगी है।

पिछले दस वर्षो के अन्दर 'इथेनायड' कही जानेवाली सश्लिष्ट रेज़ीनो का महान् औद्योगिक विकास हुआ है। इथिलीन की व्युत्पत्तियाँ इनके निर्माण पदार्थ माने जा सकते हैं, स्टाइरीन, विनाइल एसिटेट, विनाइल क्लोराइड, एक्रिलिक एस्टर तथा स्वय इथिलीन इनमें से मुख्य है। ऐसे किसी द्विबन्ध (डब्ल-बॉण्ड) पदार्थ मे पालीमराइज करने की शक्ति होती है, अर्थात् एक ही यौगिक के अनेक अणु परस्पर सयुक्त होकर पॉलीमर का एक बडा अणु उत्पन्न कर देते हैं। और ये पालीमर उष्म-प्लास्टिक पदार्थ होते हैं तथा इनके विशेष गुणो के कारण इनकी उपयोगिता बढती जा रही है।

पाली स्ट्रीन अपने विशिष्ट जलरोधी एव विद्युत गुणो के लिए विशेष उल्लेखनीय है और उच्चावृत्ति (हाई फ्रिक्वेन्सी) विद्युत् पृथक्करण मे प्रयुक्त होता है।

सशोधित पॉली विनाइल एसिटेट में उच्च नाम्यता तथा उत्तम आसजन[1] गुण होता है, अत यह अमेरिका मे पत्रदलीय निरापद काच (लैमिनेटेड सेफ्टी ग्लास)

[1]Adhesion

बनाने के लिऐ बडा उत्तम माना गया है। पाली विनाइल क्लोराइड भी यदि उपयुक्त ढग से सयोजित किया जाय तो उसमें रवर सरीखी नाम्यता तथा जल और तेल-रोधी विद्युत गुण आ जाते हैं तथा उसका शीघ्र ह्रास अथवा क्षय भी नही होता, इसलिए विजली के नाम्यसमुद्री तारो के आवरण के रूप में वे प्रयुक्त होते हैं।

पॉली ऐक्रिलिक एस्टरों मे वड़ी उच्च कोटि की स्वच्छता होती है तथा ताप परिवर्तनों का उन पर विशेष प्रभाव नही पड़ता, इसलिए वे वायुयान कवन्ध (फ्यूज़-लेज) बनाने के लिए विस्तृत रूप से प्रयुक्त होते है। हाल में इन एस्टरो का प्रयोग दन्त पट्ट एवं कृत्रिम दाँत बनाने के लिए भी होने लगा है।

पॉली इथिलीन अत्यधिक नाम्य एव रवर-जैसी होती है। समुद्री तारो के आवरण के लिए उसका इस्तेमाल होता है। इथेनायड रेज़ीनों के नवीन विकास से डाइ-ऐलिल थलेट सदृश दो इथेनायड ग्रन्यनों (लिकेज) वाले मानोमरो का उत्पादन होने लगा। इन मानोमरो के पालीमरीकरण से उष्मस्थाप[1] रेजीन प्राप्त होती है। यद्यपि औद्योगिक क्षेत्र में इथेनायड रेज़ीनो का प्रभाव प्राय पिछले १० वर्षों में ही हुआ है, लेकिन शैक्षणिक दृष्टि से तो काफी समय से उनका अध्ययन किया जाता रहा है। वैज्ञानिक साहित्य में पॉलीस्ट्रीन का प्रथम उल्लेख सन् १८३९ ई० में किया गया था तथा पॉली विनाइल एसिटेट सन् १९१२ ई० में, पौली विनाइल क्लोराइड १८७२ ईसवी में और पॉली एक्रिलिक एस्टर १८८० ईसवी में ज्ञात हुए थे।

सश्लिष्ट रेज़ीन एव सश्लिष्ट रवर के बीच की एक कडी के रूप में इथेनायड रेज़ीनों का विशेष महत्त्व है।

रिनेट नामक एन्ज़ाइम से मथित दूध का उपचार करने पर केज़ीन प्राप्त होती है। इस केज़ीन को धोकर तथा सुखाकर इससे प्लास्टिक पदार्थ बनाये जाते हैं। केज़ीन में उसके भार का २०% जल मिला कर एक जेल तैयार किया जाता है तथा मशीन में डालकर उसे समाग (होमोजीनियम) बनाया जाता है और अन्त में इस पदार्थ को फार्मल्डिहाइड के एक तनु विलयन में डाल कर कठोर बनाया जाता है। समागन के बाद प्राप्त पदार्थ उष्म प्लास्टिक होता है और उसे दवा करके उसके स्तार बनाये जा सकते हैं, लेकिन फार्मल्डिहाइड से उपचार करने के बाद वह

[1] Thermoset

अधिक कडा तथा कम जल-अवशोषक हो जाता है और अन्त ही ऊष्म-प्लास्टिक रह जाता है।

इंग्लैण्ड में केज़ीन प्लास्टिकों का विकास लगभग १९१२ ई० में प्रारम्भ हुआ था तथा इनका प्रयोग विशेषतया बटन और वस्तुओं बनाने के लिए किया जाता है। एतदर्थ इन प्लास्टिकों की आश्चर्यजनक मात्रा प्रयुक्त की जाती है। इनका एक बडा लाभ यह भी है कि इन्हे विविध रगों और रूपों मे परिवर्तित किया जा सकता है और साथ ही इनसे पदार्थों में वह कृत्रिमता भी दर्शित नहीं होती जो विशुद्ध सश्लिष्ट प्लास्टिकों की बनी वस्तुओं में दिखाई पडती है। यह एक विशिष्ट गुण है, जिसके कारण तथा साथ ही साथ सस्ता होने के कारण उच्च जलावशोषण के बावजूद और नये नये प्लास्टिक पदार्थ आ जाने पर भी केज़ीन प्लास्टिक तथा उससे बने पदार्थ अब भी खूब प्रचलित हैं।

ग्लिसरॉल तथा थैलिक ऐन्हाइड्राइड की प्रतिक्रिया से 'ऐल्किड' नामक रेज़ीन बनती है, जो अपेक्षाकृत मन्थर ऊष्मस्थायी गुणवाली होती है। प्लास्टिक के रूप में तो इसका सीमित प्रयोग होता है, अभ्रक के साथ कुछ विशिष्ट विद्युत्-पृथक्करण कार्यों में ही सामान्यत इसका इस्तेमाल किया जाता है।

कुछ प्राकृतिक रेज़ीन भी प्लास्टिको के रूप मे प्रयुक्त होती रही हैं। शिलैक अर्थात् लाख, जो कुछ कीटो का निर्यास होता है, किसी समय विद्युत्-पृथक्करण के लिए व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता था, परन्तु अब इसके स्थान पर फिनालिक प्लास्टिको का अधिक प्रयोग होने लगा है। लेकिन फिर भी ग्रामोफोन के रेकार्ड बनाने के लिए आजकल भी लाख सबसे महत्त्वपूर्ण रेज़ीन है।

गिल्सोनाइट एव रैफीलाइट जैसे प्राकृतिक बिटुमिनों और तारकोल से भी कुछ ऊष्म-प्लास्टिक पदार्थ बनाये जाते हैं। इन बिटुमिनो का मुख्यत ऐसबेस्टस जैसे पूरकों के साथ सयोजन किया जाता है तथा अम्ल-रोधी बैटरी-बक्स तैयार करने मे इनका मुख्य प्रयोग होता है।

प्लास्टिक में प्रयुक्त होने के साथ-साथ रगलेपों, वार्निशो एव एनामलो में सश्लिष्ट रेज़ीनो का बडा प्रयोग होता है। यह उनका बडा महत्त्वपूर्ण विकास माना जाता है। इन रगलेपो में मुख्यत अलसी और तुग तेल जैसे शोषक तेल, कुछ रग-द्रव्य, वाष्पशील तरलक (थिनर) तथा ऐसे धातवीय शोषक होते हैं जो वायु-शोषण को त्वरित करते हैं। तेलवार्निश में शोषक तेल, शोषक, रेज़ीन और तरलक होते हैं तथा रगद्रव्ययुक्त तेल-वार्निश ही ऐनामल कहा जा सकता है। शोषक तेल का प्रयोजन एक पतला स्तर बनाने का होता है और रेज़ीन से अच्छी चमक, आसजकता

अर्थात् चिपकाऊपन तथा ऋतुसहता के गुण आते है, जब कि रगद्रव्य से रंग एव गोपन (हार्डिंग) गुण उत्पन्न होते है तथा तरलक से श्यानता कम होती है जिसमे बुरुश से लेप करने में सुविधा हो। पहले रोज़ीन (कोलोफोनी) तथा कागो कोपल जैसे शोषक तेल-विलेय प्राकृतिक रेज़ीनो का प्रयोग होता था। इन प्राकृतिक रेज़ीनों में कुछ ऐसे दोष थे जिनका कुछ निवारण इनको ग्लिसराल के साथ सयुक्त करके रोज़ीन एस्टर तथा कोपल एस्टर बनाकर किया जाता था। साधारण फिनॉल-फार्मेल्डि-हाइड रेज़ीनें शोषक तेलो में विलेय नही होती, परन्तु रोज़ीन के साथ, अथवा अच्छा हो कि रोज़ीन एस्टर के साथ, मिलाकर इन्हें अधिक तेलविलेय बनाया जा सकता है। गत १० वर्षों में प्राप्त अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि अगर पारा-टर्शरी-ब्युटाइल अथवा अमाइल फिनॉल जैसे पारा-प्रतिस्थापित फिनालो और फार्मेल्डिहाइड की प्रतिक्रिया करायी जाय तो शोषक तेलो में सीधी विलेय रेज़ीन बन जाती है। "१००% फिनालिक तेलविलेय रेज़ीन" के व्यापारिक नाम से इनका बड़ा विस्तृत प्रयोग होने लगा है। तेलविलेय रेज़ीनो में तेलसशोधित ऐल्किडों का भी एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। ग्लिसरॉल और थैलिक ऐन्हाइड्राइड से बने ऋजु ऐल्किड तो शोषक तेलो में अविलेय होते हैं, परन्तु यदि थैलिक ऐन्हाइड्राइड के एक अंश के स्थान पर शोषकतेल-वसीय अम्ल जोड दिया जाय तो उनकी तेलविलेयता बहुत बढ जाती है। कुछ विशिष्ट रीति से बनी यूरिया-फार्मेल्डिहाइड रेज़ीन ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बनो में विलेय होती हैं, और प्राय तेलसशोधित ऐल्किडों के साथ रगलेपो में ये रेज़ीनें भी इस्तेमाल की जाती हैं, इनसे अधिक कठोर स्तर प्राप्त होता है।

स्तर-काष्ठ (प्लाइउड) उद्योग के पुन प्रतिष्ठापन एव विस्तरण में सश्लिष्ट रेज़ीनो का बडा महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा है। प्रारम्भ में लकडी के पतले पतले स्तारो को सरेस से जोडकर स्तर-काष्ठ बनाया जाता था, परन्तु ऐसे स्तर-काष्ठ का आर्द्रता-रोध अत्यन्त लघु था तथा सरेस के कारण उसमें फफूँदी उत्पन्न हो जाती थी, फलत. वह बहुत टिकाऊ नही होता था।

आगे चलकर फिनॉल-फार्मेल्डिहाइड तथा यूरिया-फार्मेल्डिहाइड मेलामीन के बने आसजकों के प्रयोग से बडे उन्नत एव टिकाऊ स्तर-काष्ठ बनने लगे। लकडी जोडने के लिए अब इसी प्रकार की सश्लिष्ट रेज़ीनों का प्रयोग होने लगा है। 'मास्क्विटो' नामक वायुयानों की रचना सश्लिष्ट रेज़ीन आसंजको का सबसे रोचक युद्धकालीन विकास है। ये वायुयान सश्लिष्ट रेज़ीन से जोडी गयी लकडी और स्तर-काष्ठ से बनाये गये थे।

शिकन न पडनेवाले कपडों का उत्पादन तथा जल-विलेय आयनों[1] का निरसन[2] (जैसे जल-मृदुकरण) संश्लिष्ट रेज़ीनों के प्रयोग के अन्य रोचक उदाहरण हैं।

पुराने प्रतिष्ठित रासायनिक उद्योगों की तुलना में लागत पूँजी के हिसाब से संश्लिष्ट रेज़ीन तथा प्लास्टिक उद्योग कदाचित् बहुत छोटा है, परन्तु फिर भी रासायनिक उद्योगों मे यह सबसे अधिक सक्रिय उद्योग है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि गत वर्षों में लिये गये रेज़ीनों और प्लास्टिकों के पेटेण्टों की संख्या रासायनिक उद्योग के अन्य किसी विभाग के पेटेण्टों मे कही अधिक है। प्लास्टिक पदार्थ बनाने के लिए नाइट्रोसेलुलोज, फिनॉल, फार्मेल्डिहाइड, सेलुलोज एसिटेट, यूरिया, ग्लिसरॉल तथा थैलिक ऐन्हाइड्राइड सदृश पूर्व-ज्ञात रासायनिक यौगिकों का प्रयोग करके यह उद्योग जमाया गया था। इन निर्माण-वस्तुओं के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रयोग से निष्पन्न पदार्थों के मूल्यों में भी बराबर कमी होती गयी है।

अब तो एकमात्र संश्लिष्ट रेज़ीनों तथा प्लास्टिकों के उत्पादनार्थ ही निर्माण-वस्तुएँ बनायी जाने लगी हैं। यह इस उद्योग की नवीन अवस्था है। तेलविलेय रेज़ीनों के लिए पारा-टर्शरी-फिनॉल, पॉलीऐक्रिलिक एस्टर प्लास्टिक के लिए मिथिल मेथाक्रिलेट तथा 'नाइलॉन' के लिए लम्बी शृंखलावाले डाइऐमाइड और लम्बी शृंखलावाले डाइकार्बोक्सिलिक अम्लों के उत्पादन इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

यान्त्रिक इञ्जीनियरी की दृष्टि से आशु उत्पादन के हेतु भी इस उद्योग ने एक नयी दिशा अपनायी है। अब स्वत चालित ढलाई प्रेसों के उपयोग से निष्पन्न वस्तुएँ बडी द्रुतगति से तैयार होती हैं तथा केवल छोटी-छोटी चीजें ही नहीं बल्कि बडे-बडे पदार्थ तैयार करने के यंत्र बन गये हैं। प्लास्टिक के ढले हुए शवसम्पुट, उपस्कर (फर्नीचर) वायुयानों के पंख तथा आत्मवाहनों के ढाँचे बनाने की योजना भी चल रही है।

ग्रंथसूची

BURK, THOMSON, WEITH AND WILLIAMS *Polymerisation* Reinhold Publishing Co

ELLIS, CARLETON *Synthetic Resins and their Plastics*. Reinhold Publishing Co

[1] Ions [2] Removal

High Polymers, Vols. I, II, III, IV, V and VI, Interscience Publishers Inc.
MORRELL, R. S. *Synthetic Resins and Allied Plastics*. Oxford University Press.
ROWELL, H. W. *Technology of Plastics*. Plastics Press, Ltd.
SUTERMEISTERE, E., AND BROWNE, F. L. : *Casein and its Industrial Applications* Reinhold Publishing Co.

रंगलेप और वार्निश

एच० डब्लू० कीनैन, पी-एच० डी० (कैम्ब्रिज), एफ० आर० आई० सी०

ठोस रगद्रव्य (पिग्मेण्ट) के सूक्ष्म कणो को तेल अथवा वार्निश के माध्यम में मिलाकर या विक्षेपित करके रगलेप (पेण्ट) तैयार किया जाता है और उसकी अन्तिम गाढता को उसमें टर्पेण्टाइन अथवा अन्य उपयुक्त तरलक[1] डालकर कार्यानुकूल बनाया जाता है।

रगलेप व्यापार में प्रयुक्त कच्चे मालों अर्थात् निर्माणद्रव्यो में रसायनविज्ञान के प्रयोग का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) रगद्रव्य—ह्वाइट लेड, जिक ह्वाइट, लियोपेन, एँण्टीमनी ह्वाइट और टिटैनियम ह्वाइट रगलेपनिर्माण में सामान्यत प्रयुक्त होनेवाले रगद्रव्य अर्थात् 'पिग्मेण्ट' हैं। रासायनिक अनुसन्धानो से ही इन द्रव्यों का विकास हुआ है, जिसके द्वारा उनकी बनावट यानी सूक्ष्मता, अपारदर्शिता, तेल-अवशोषण गुण, विपालुता तथा टिकाऊपन जैसे गुणों के बारे में हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई है। तेल-अवशोषण गुण से हमारा तात्पर्य तेल की उस मात्रा से ही है जिसे रगद्रव्य में मिलाने से एक कडा लेप बन जाय।

रगद्रव्य-ज्ञान में रासायनिक विकास एव प्रगति का आभास तत्सबधी अनुसधानो से प्राप्त होता है। ये अनुसन्धान-कार्य सदा आवश्यकताओं एव कठिनाइयों के अनुरूप रहे हैं। उदाहरण के लिए ह्वाइट लेड (श्वेत सीस) रगलेप को लीजिए, यह गधकयौगिक-मिश्रित औद्योगिक वातावरण में काला पड जाता है, इस दोष

[1] Thinner

को दूर करने के लिए जिंक ह्वाइट (यशद श्वेत) का प्रयोग होने लगा। परन्तु जिंक ह्वाइट को कुछ माध्यमों के साथ पीसने में विशेष कठिनाई अनुभव होने लगी, जिसका निवारण लिथोपोन का प्रयोग करके किया गया। लिथोपोन की अपनी अन्य विशेषताएँ एवं उपयोगिताएँ भी है। आगे चलकर औद्योगिक रंगद्रव्यो, विशेषकर शीकरन द्वारा व्यवहृत होनेवाले द्रव्यो के विकास में महत्तम अपारदर्शिता तथा संगतता (कॉम्पैटिबिलिटी) वाले रंगद्रव्यों की आवश्यकता हुई। इसकी पूर्ति के लिए ऐण्टिमनी ह्वाइट तथा टिटैनियम ह्वाइट का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

उपर्युक्त श्वेत रंगद्रव्यों को अलसी के तेल में मिलाने से जो रासायनिक संयोजन होता है, उसकी सीमा अलग-अलग रंगद्रव्यों के लिए भिन्न-भिन्न होती है, फलत: उनसे बने लेपों की प्रत्यास्थता, कठोरता तथा टिकाऊपन जैसे गुणो में भी अन्तर आ जाता है। रसायनविज्ञान की सहायता से रंगलेप-निर्माता इन विषमताओं को दूर करने में सफल हुए हैं और अब ऐसे रंगलेप तैयार करने लगे हैं जिनके गुण और प्रकृति पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार बनायी जा सकती है। श्वेत लेपों के रंग-रोध का भी अध्ययन किया गया तथा बहुमूल्य रंगो के प्रयोग में मितव्ययिता का समावेश किया जा सका।

विविध कारणो से कभी-कभी 'विस्तारक' (एक्सटेण्डर्स) कहे जानेवाले कुछ अक्रिय पदार्थों को मिलाकर रंगीन अथवा श्वेत रंगद्रव्यों का सान्द्रण कम करने की भी आवश्यकता होती है। बहुत समय तक विस्तारकों का प्रयोग केवल रंगलेप को सस्ता करने का साधन माना जाता था। परन्तु यह सिद्ध किया गया कि यदि विस्तारकों का ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय तो रंगलेप के सामान्य गुणों में काफी उन्नति होती है और कुछ दशाओं में तो उनका टिकाऊपन भी बढ़ जाता है। बैराइट, चाक, चीनी मिट्टी, जिप्सम, तालक, सिलिका तथा इसी प्रकार के रासायनिकतया तैयार किये गये अन्य पदार्थ विस्तारक के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

अस्थापन (नॉन-सेटिंग) रेड-लेड का विकास भी बड़ा उल्लेखनीय है। रेड लेड में २ : १ के अनुपात में सीस-मॉनोआक्साइड और सीस-पराक्साइड के अणुओं का मिश्रण होता है। पहले तेल में रंगद्रव्य मिलाने के तुरन्त ही बाद रेड-लेड रंगलेप को इस्तेमाल करना पड़ता था, क्योंकि रंगद्रव्य का बहुत शीघ्र स्थापन (सेटिंग) हो जाता था। लेकिन अब अस्थापन रेड-लेड की प्रयुक्ति से इसकी आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि केवल सीस-मॉनोआक्साइड प्रयोग करने से जो कठिनाई उत्पन्न होती थी वह मॉनोआक्साइड और पराक्साइड के मिश्रण से दूर हो गयी और अब मिश्रित रंगलेप को संतोषजनक अवस्था में महीनों तक रखना संभव है।

पीत रगद्रव्यो में पीले सीसक्रोमेट मुख्य होते है, परन्तु इनमें भी काला पड़ जाने का बडा भारी अवगुण है। रसायनज्ञों ने इस समस्या को भी हल किया तथा वर्तमान पीत-क्रोमो का प्रयोग करने लगे, जिनमें काला पड़ने की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। निर्माण काल में रामायनिक एव भौतिक अवस्थाओं के समुचित नियत्रण से अधिक चमकदार तथा स्वच्छ आभावाले रगद्रव्य और रगलेप तैयार करना सभव हुआ है। इन्ही अनुसन्धानो के फलस्वरूप सुन्दर स्कारलेट क्रोम भी उत्पन्न किया जा सका है।

पीले क्रोमो को तनिक प्रशन ब्लू के साथ मिलाकर हरे रगद्रव्य बनाये जाते है, परन्तु इनमे 'प्लवन' (फ्लोटिंग) का एक विचित्र दोष होता है जो दोनो रगो के पृथक्करण के कारण ही होता है। लेकिन अब इस पृथक्करण का कारण ज्ञात हो जाने से अप्लवन (नॉन-फ्लोटिंग) प्रकार के हरे क्रोमो का उत्पादन होने लगा है।

नीले रगद्रव्यो में अल्ट्रामेरीन ब्लू, प्रशन ब्लू, कोबल्ट ब्लू तथा 'मोनास्ट्रल फास्ट ब्लू' के नाम से ज्ञात रगद्रव्य उल्लेखनीय है। बहुत दिनो तक इग्लैण्ड को अल्ट्रामेरीन ब्लू के लिए अन्य देशो पर निर्भर रहना पड़ता था, किन्तु आगे चलकर स्वय ब्रिटिश रसायनज्ञो के अध्यवसाय से उच्च कोटि का अल्ट्रामेरीन ब्लू उसी देश मे बनने लगा। अल्ट्रामेरीन ब्लू प्रकाश एव क्षारसह होता है लेकिन अम्लसह नही, दूसरी ओर प्रशन ब्लू प्रकाशसह और अम्लसह होता है परन्तु क्षारसह नही। लेकिन मोनास्ट्रल ब्लू में प्रकाश, अम्ल और क्षार तीनो के प्रति प्रबल सहता होती है। यद्यपि इसका आविष्कार सर्वथा भिन्न यौगिकों का निर्माण करते समय सयोगवश हो गया था, किन्तु इसका वैज्ञानिक विकास सयोग की बात न थी वरन् यह शैक्षणिक एव औद्योगिक अनुसन्धान के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। ऐसी सहकारिता का यह उत्तम उदाहरण भी है।

उपर्युक्त रगद्रव्य अकार्बनिक वर्ग के है। इनके अलावा अनेक सुन्दर-सुन्दर कार्बनिक लाक्षक रगद्रव्य भी उत्पन्न तथा प्रयुक्त होते है। किसी उपयुक्त लवण द्वारा शुद्ध रजक का अवक्षेपण करके लाक्षक (लेक) बनाया जाता है। परन्तु इस प्रकार तैयार किये गये इन शुद्ध किन्तु महँगे लाक्षको का सामान्य रगद्रव्यो के रूप में *प्रयोग करना आर्थिक* दृष्टि से लाभप्रद नही है। इसलिए बैराइट, अलूमिना अथवा चीनी मिट्टी जैसे किसी उपयुक्त पीठ की उपस्थिति में उपर्युक्त क्रिया सम्पन्न की जाती है। इन पीठो पर लाक्षक स्थापित करने से न केवल उनका मूल्य कम होता है वरन् रग की पूरी चमक भी निखर उठती है। बहुत से उद्योगों में ऐसे रासायनिक यौगिकों का प्रयोग होने लगा है जो पहले केवल प्रयोगशालाओ में प्रतिकर्मक के रूप में प्रयुक्त

होते थे। किन्तु ऐसे यौगिकों की संख्या में अन्य कोई उद्योग संश्लेषक रंगद्रव्य-उद्योग का मुकाबला नहीं कर सकता।

(२) **माध्यम**—अलसी का तेल रंगलेपों के लिए प्रमुख माध्यम है। प्रति वर्ष इंग्लैण्ड में सहस्रों टन अलसी अर्जेण्टाइना, कलकत्ता तथा बाल्टिक से मँगायी जाती है। हाङ्काङ से आयातित 'चाइनीज उड आयल' मुख्यत: वार्निश बनाने के काम आता है। इन दोनों तेलों के प्राविधिक गुणों का उल्लेख आगे किया जायगा। रंग-लेप-उद्योग में थोड़ी मात्रा में पेरिल्ला तेल (मचूरिया), सोयाबीन तेल (हिन्दचीन), नाइजर-सीड तेल (भारत) तथा मत्स्य तेल (न्यू फाउण्डलैण्ड) भी प्रयुक्त होते हैं।

(३) **तरलक**—विशुद्ध अमेरिकी टर्पेण्टाइन सर्वोत्तम तरलक (थिनर) माना जाता है। यद्यपि इसका उत्पादन अमेरिका में सबसे अधिक मात्रा में होता है लेकिन फ्रांस, यूनान, भारत, रूस तथा स्पेन जैसे देशों में भी इसका उत्पादन होता है। पाइन वृक्षों के रेज़िनीय निर्यास से ही टर्पेण्टाइन प्राप्त होता है। 'ओलियो-रेज़ीन' कहे जानेवाले इस निर्यास के आसवन से एक जल-श्वेत द्रव के रूप में टर्पेण्टाइन प्राप्त होता है तथा एक ठोस पदार्थ अवशेष रहता है जिसे रोज़ीन अथवा राल कहते हैं। रंगलेपों के लिए टर्पेण्टाइन एक स्वीकृत तरलक है, लेकिन इसका मूल्य अधिक होने के कारण इसके प्रतिस्थापक की खोज स्वाभाविक थी। फलत: टर्पेण्टाइन प्रति-स्थापक के रूप में आजकल 'ह्वाइट स्पिरिट' बहुतायत से प्रयुक्त होने लगी है। यह जल श्वेत तथा मीठी गंधवाला एक पेट्रोलियम आसुत है, जिसमें न केवल टर्पे-ण्टाइन के अनेक अच्छे विलायक गुण हैं वरन् बहुत सी दशाओं में यह उससे भी अच्छा माना जाता है। मुख्यत: रूमानियाई, अमेरिकी तथा बोर्नियाई पेट्रोलियम से ह्वाइट स्पिरिट प्राप्त की जाती है। इनमें से अन्तिम को अपने अच्छे विलायक गुण के कारण अधिक पसन्द किया जाता है।

कोलतार आसवन से प्राप्त बेंज़ॉल, टोलुऑल, ज़ाइलॉल तथा विलायक नैप्था भी विशेष प्रकार के रंगलेपों के लिए प्रचुर मात्रा में इस्तेमाल किये जाते हैं।

तरलक उत्पादन की नयी रीतियाँ मालूम करने के लिए भी रसायनविज्ञान का अच्छा उपयोग किया गया है। अब तक क्षेप्य यानी बेकार समझे जानेवाले पदार्थ टर्पेण्टाइन उत्पादन के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं तथा निरुपयोगी समझे जानेवाले इन द्रव्यों से ह्वाइट स्पिरिट तैयार की जाने लगी है। यदि इस संदर्भ में सेलुलोज तथा आधुनिक संश्लिष्ट पदार्थों का उल्लेख किया जाय तो वाणिज्यिक विलायकों की ऐसी बृहद् सूची तैयार हो जायगी जिसमें अनेक ऐसे विलायक शामिल होंगे जिनका बहुत सी वर्तमान पाठ्य पुस्तकों में भी वर्णन नहीं है।

आलंकारिक रंगलेपों का प्राविधिक विकास—अलसी के तेल में किसी एक रंग-द्रव्य को पीसकर तथा उसमें टर्पेण्टाइन की समुचित मात्रा मिलाकर उसे बुरुश से पोतने योग्य बनाया जाता है। आलंकारिक रंगलेप बनाने का यह सरलतम उपाय है। किन्तु यह समझाने के लिए कि यह सरल मिश्रण किस प्रकार एक जल-सह एवं प्रत्यास्थ स्तर का रूप धारण करता है, अलसीतेल जैसे शोषक तेल की रासायनिक प्रकृति का थोड़ा दिग्दर्शन कराना पड़ेगा। अलसी के तेल में बहुत से वसीय अम्लों का जटिल मिश्रण होता है। ये वसीय अम्ल ग्लिसरॉल से संयुक्त होते हैं इसी लिए ऐसे तेल 'वसीय अम्लों के ग्लिसराइड' कहे जाते हैं। इन ग्लिसराइडों का विशेष गुण यह है कि इनमें ऑक्सीजन से संयोजन की क्षमता होती है जिससे उनकी रचना थोड़ी और जटिल हो जाती है और फलस्वरूप वह अपनी तरलावस्था छोड़कर एक ठोस रूप धारण कर लेते हैं। इसी को तेल का शोषण अथवा सूखना कहते हैं; यह परिवर्तन हवा की उपस्थिति में ही होता है। अगर एक काचपट्ट पर अलसीतेल की एक पतली परत पोत दी जाय तो उपर्युक्त रासायनिक क्रिया की पूर्ति में ३-४ दिन लगेंगे यानी तेल सूखकर ठोस हो जायगा। इस प्रतिक्रिया को त्वरित करने की भी रीतियाँ और साधन हैं। अगर तेल को ५००° फ० ताप पर खुली हवा में उबाला जाय अथवा उससे भी अच्छा हो कि उबालते समय उसमें सीस अथवा मैंगनीज अथवा कोबल्ट की थोड़ी मात्रा डाल दी जाय तो प्राप्त तेल के सूखने में ३-४ दिन के बजाय ८-१२ घण्टे ही लगेंगे। त्वरण-प्रभाव उत्पन्न करने के लिए धातु-तेल का आवश्यक अनुपात बहुत कम होता है तथा अलग-अलग धातु के लिए भिन्न होता है। सीस और मैंगनीज का सान्द्रण अगर क्रमश ०·२ और ०·०५ न हो तो अलसी तेल २४ घण्टे में सूख जायगा। हाँ, ये दोनों धातु सदा एक साथ प्रयुक्त होते हैं।

सीस, मैंगनीज और कोबल्ट की थोड़ी मात्राओं द्वारा उत्पन्न उपर्युक्त त्वरण-प्रभाव वर्षों से रासायनिक अनुसन्धान का विषय रहा है और आज भी इसका कोई ऐसा स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है जिस पर सभी कार्यकर्ता सहमत हो सकें। केवल इतना कहा जा सकता है कि ये धातु तेल के आस-पास की हवा के ऑक्सीजन-अणुओं का ग्लिसराइड अणु तक संक्रमण तथा वसीय अम्लों द्वारा उनकी अवशोषण-क्रिया का त्वरण करते हैं, इसी लिए उन्हें शोषक अथवा 'ड्रायर्स' कहते हैं। इस प्रयोजन के लिए सीस लियार्ज (लेड मॉनोक्साइड), रेड-लेड तथा सीस-एसिटेट के रूप में सीस और मैंगनीज डाइऑक्साइड अथवा मैंगनीज सल्फेट या बोरेट के रूप में मैंगनीज का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि कोबल्ट का प्रयोग कभी कभी एसिटेट के रूप में किया जाता है परन्तु साधारणत अलसीतेल और रोज़ीन से क्रमश कोबल्ट

लिनोलियेट अथवा रोजिनेट बनाकर उसका प्रयोग किया जाता है। सीस तथा मैंगनीज के लिनोलियेट अथवा रोजिनेट भी शोषक के रूप में प्रायः प्रयुक्त होते हैं। सीस मैंगनीज अथवा कोबल्ट नैफ्थिनेट नवीनतम शोषक हैं। ये यौगिक नैफ्थिनिक अम्ल नामक एक पेट्रोलियम व्युत्पत्ति तथा उपर्युक्त धातुओं के किसी लवण की प्रतिक्रिया से तैयार किये जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि लिनोलियेटों अथवा रोजिनेटों की तुलना में नैफ्थिनेट अधिक उत्तम शोषक हैं और इनसे अधिक टिकाऊ लेप प्राप्त होते हैं, परन्तु सच बात यह है कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना उपयोग है। ये शोषक विलयन के रूप में प्राप्य होते हैं तथा 'टेरीबीन' अथवा 'तरल शोषक' के नाम से बिकते हैं। इन शोषकों को इस्तेमाल करते समय उपर्युक्त धातवीय यौगिकों की सक्रियता का बराबर ध्यान रखना चाहिए क्योंकि कई बार उनका आधिक्य भी हानिकर सिद्ध होता है।

तेल रंगलेप—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि किसी धातवीय शोषक की उपस्थिति में अलसी तेल का विशिष्ट व्यवहार ही रंगलेप-प्रौद्योगिकी का आधारभूत सिद्धान्त है। केवल रंगद्रव्य, अलसी तेल और टर्पेण्टाइन मिले हुए सरल रंगलेप ही इस व्यापार में 'तेल रंगलेप' के नाम से जाने जाते रहे। बहुत वर्षों तक यही रंगलेप प्रमुख महत्त्व के माने जाते थे। लेपी के रूप में रंगलेप खरीदकर और अपने अपने अनुभव के अनुसार रंगलेप करनेवाले उसमें तेल, वार्निश अथवा टर्पेण्टाइन मिलाकर उसे अपने काम लायक बना लेते थे। इसमें सदेह नहीं कि इन पुराने रंगलेपकों द्वारा निर्मित लेप आधुनिक कारीगरों की कारीगरी से यदि उत्तम नहीं तो किसी प्रकार उनसे कम संतोषजनक तो नहीं होते थे। कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि पुरानी रीतियाँ अधिक उत्तम थी, लेकिन ऐसी तुलना करने में एक भ्रान्ति भी होती है जिसका निवारण आवश्यक है। लेप किये जानेवाले तेलों को उचित ढंग से तैयार करना तथा उन पर किये गये लेपों की संख्या भी अन्तिम फल की उत्तमता का कारण होती है और यह निश्चित है कि पुराने कारीगर इन दोनों बातों पर आज के कारीगरों की अपेक्षा अधिक ध्यान देते अथवा दे सकते थे।

एनामल—अलसी तेल को गरम करने की कालावधि एवं उसके ताप के पारस्परिक सम्बन्ध तथा तेल के तरमवादी व्यवहार के विषय में दीर्घकालीन अनुसन्धान किये गये हैं और आलंकारिक रंगलेपों के विकास में इन अनुसन्धानों से प्राप्त ज्ञान बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। समुचित रूप से परिष्कृत उच्चकोटि के अलसी तेल के उच्च ताप पर तप्त करने से उसकी श्यानता अथवा गाढ़ता में जो परिवर्तन होता है वह तापन

ताप पर निर्भर होना देखा गया है। गाढ़ता के सम्बन्ध में तापन के ताप और समय में प्रतिलोमानुपात होता है, परन्तु चूँकि निष्पन्न पदार्थ का पीलापन अधिकांशतः ताप से निर्धारित होता था इसलिए अलसी तेल को मध्यम ताप पर कई दिनों तक गरम करने की प्रथा थी, जिससे पीला गाढ़ा तेल तैयार हो जाय, इसे 'स्टैण्ड आयल' कहते थे। आधुनिक प्रविधि एवं यंत्रों की सहायता से उस कार्य को कुछ घण्टों में सम्पन्न किया जा सकता है जिसके लिए पुराने समय में कई कई दिन लग जाते थे।

यद्यपि तेल के तापनोपचार-सबन्धी अधिकांश महत्त्वपूर्ण आविष्कार इंग्लैंड में हुए, फिर भी वाणिज्यिक वस्तुओं के विकास का श्रेय अन्य देशों के निर्माताओं को है। तापनोपचारित तेलों के सबन्ध में डच लोगों के कार्यों की विशेष ख्याति मानी जाती है और किसी समय तो डच 'स्टैण्ड आयल' सर्वोत्तम कहे जाते थे।

स्टैण्ड आयल के सूखने पर प्राप्त लेप मूल अनुपचारित तेल के लेप से सर्वथा भिन्न होता है। स्टैण्ड आयलवाले लेपों में सूखने पर एक कठोर छवि (हार्ड ग्लॉस) आ जाती है तथा वे बहुत प्रत्यास्थ भी होते हैं। इन्हीं दोनों गुणों के समन्वय से एनामल रंगलेपों का प्रचलन हुआ। एनामल रंगलेपों से बुरुशचिह्न-रहित ऐसी सुन्दर, द्युतिमय एवं चिकनी पालिश प्राप्त होती है, जिसमें कठोरता तथा टिकाऊपन के उन्नत गुण भी होते हैं।

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी आजकल एनामल रंगलेप बहुत प्रचलित नहीं हैं क्योंकि वे इतने अधिक गाढ़े होते हैं कि उनका लगाना कठिन होने के अतिरिक्त महँगा पड़ता है। तदुपरान्त एनामल रंगलेपों के पश्चात् औद्योगिक क्षेत्र में जो प्रगति हुई वह उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। उदाहरणार्थ यशद आक्साइड के प्रयोग को ऐसा प्रोत्साहन मिला कि श्वेत रंगलेपों में उसका स्थान बड़ा उत्कृष्ट माना जाने लगा। अधोलेप (अण्डर कोटिंग) के सूत्र तैयार करने में अब केवल ह्वाइट लेड पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। एनामल रंगलेपों में रंगद्रव्य-मात्रा अपेक्षाकृत कम होने के कारण विशेष प्रकार के अधोलेप तैयार करने पड़े, जिनकी अपारदर्शिता एवं कठोरता अधिक हो और जिनके प्रयोग करने में बुरुश के चिह्न न पड़ें।

इन विकासों के कारण इन्जीनियरों को भी रंगलेप उद्योग की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान देना पड़ा, क्योंकि अब पहले की अपेक्षा अत्यधिक सूक्ष्म पिसाई की आवश्यकता होने लगी। इन्जीनियरों को यह क्षेत्र केवल रोचक ही नहीं वरन् लाभप्रद भी जान पड़ा, इसलिए उनका अधिकाधिक सहयोग प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप

आगे चलकर इस उद्योग मे विशेष उन्नति हुई। इस उन्नति में इञ्जीनियर एव रसायनज्ञ दोनों प्राय बराबर के साझीदार हुए।

कठोर-छवि रंगलेप—अपने कार्य में उत्तम छवि (ग्लॉस) उत्पन्न करने के लिए पुराने छविकार (डिकोरेटर्स) प्रथमक (प्राइमर) और अधोलेप के ऊपर उपयुक्त आभावाले रग का एक या अधिक लेप लगाते थे। उच्च कोटि की छवि प्राप्त करने के लिए बालुकापत्र रगडने के बाद चिकनी सतह पर स्वच्छ वार्निश का एल लेप *लगाना आवश्यक होता है। कुछ पुराने कारीगर अब उस तरीके से काम करते है* लेकिन वह महँगा पड़ता है। रसायनज्ञो ने ऐसे नये प्रकार के रगलेप के विकास की बात सोची, जिसके लगाने में सुविधा हो और जिसमे तेल-रगलेपो के अन्य अवगुण भी न हो तथा साथ ही एनामल रगलेप की उत्तम छवि भी उसमे मौजूद हो। ऐसे विकास में प्रथम आवश्यकता स्टैण्ड-आयल के स्थान पर प्रयुक्त होनेवाले किसी उपयुक्त *माध्यम को ढूंढ निकालने की थी। इसके लिए तेल में कोई उपयुक्त रेजीन* मिलाकर माध्यम तैयार किया गया। इस समस्या का हल कोई छोटी बात न थी क्योकि इसमें रग-द्रव्य तथा माध्यम की सगतता से सबद्ध अनेक रासायनिक कठिनाइयो का निवारण करना था, इञ्जीनियरो को अधिक उत्पादन तथा सूक्ष्म पिसाई करनेवाली नयी मशीनो का भी विकास करना पडा। साराश यह है कि रगलेप-उद्योग में कठोरछवि रगलेपो (हार्ड ग्लॉस पेण्ट्स) का निर्माण सभवत सबसे बडा काम है।

संश्लिष्ट एनामल—सश्लिष्ट रेजीनो की उत्पादनसबन्धी गहन गवेषणा के फलस्वरूप नवीनतम रगलेपो का विकास हुआ है। इन रेज़ीनो के दो मुख्य वर्ग है—(१) फिनॉल-फार्माल्डीहाइड रेज़ीन तथा (२) थैलिक ऐनहाइड्राइड-ग्लिसरॉल रेज़ीन। प्रथम वर्ग को फिनॉलिक रेजीन भी कहते थे यद्यपि उसे वार्निश-रेजीन कहना अधिक ठीक है। *यहाँ इनके सबन्ध में अधिक न कहकर इतना ही* कहना पर्याप्त होगा कि रगलेप-माध्यमो के निबन्ध मे इनका प्रचुर प्रयोग होता है। थैलिक ऐनहाइड्राइड-ग्लिसरॉल रेजीन को प्राय "ऐल्किड रेज़ीन" भी कहते हैं। थैलिक ऐनहाइड्राइड और ग्लिसरीन की प्रतिक्रिया से ही ऐल्किड रेज़ीन तैयार होती है, *थैलिक ऐनहाइड्राइड अप्रत्यक्ष रूप से कोलतार से प्राप्त एक सफेद केलासीय* पदार्थ है। उपर्युक्त प्रतिक्रिया की अवस्थाओ में सशोधन करके तथा शोषक तेलो के वसीय अम्लो की उपस्थिति मे विभिन्न प्रकार की ऐल्किड रेज़ीन तैयार की जा सकती है तथा एनामलो की योग-रचना (फार्मूलेशन) के लिए विविध प्रकार के ऐसे यौगिक उपलब्ध किये जा सकते हैं। सश्लिष्ट एनामलो की प्रमुख विशेषता उनके शोषण *तथा कठोर होने की शीघ्रता है, जिसका लाभ यह है कि साधारण लेपों*

की अपेक्षा इस पर बहुत कम धूल जमती है। उत्तम टिकाऊपन, विशेषकर शुष्क और गरम वातावरण में, तथा उत्तम प्रवाहिता (फ्लोएबिलिटी) जिससे बुरुश के निशान न पड़ें, इसके अतिरिक्त लाभ एव गुण हैं। लेकिन सश्लिष्ट एनामलो के लिए विशिष्ट प्रकार के प्रथमको (प्राइमर्स) तथा अधोलेपों की आवश्यकता होती है। ये ऐनामल बहुत जल्द सूखते हैं और इनमें एक अनूठी कठोरता उत्पन्न होती है। ऐल्किड वर्ग के सश्लिष्ट एनामलो के सबन्ध में जानने योग्य एक बात यह है कि छविकारो को इन्हें कठोरछवि रगलेपो के साथ मिलाना नही चाहिए।

डिस्टेम्पर—भवनो के भीतरी भाग को सजाने के लिए आजकल डिस्टेम्पर का बहुत प्रचलन है। पुराने समय में सरेस के गरम विलयन में पैरिस ह्वाइट और रग मिलाने की प्रथा थी, आधुनिक डिस्टेम्पर उसी प्रथा का विकसित रूप है। बहुत परिष्कृत न होने पर भी पुरानी प्रथा काफी दिनों तक चलती रही, किन्तु आगे चलकर रसायनज्ञो ने डिस्टेम्पर की सम्पूर्ण कला की उन्नति की, जिसके फलस्वरूप आज के तेल-बद्ध (ऑयल वाउण्ड) प्रकार के सुन्दर डिस्टेम्पर हमें प्राप्त हैं, जिन्हें आसानी से धोया और साफ किया जा सकता है। रसायनज्ञो ने तेल अथवा वार्निश मिलाकर डिस्टेम्परो में जलरोधी गुण उत्पन्न करने पर विशेष ध्यान दिया और पायस के सैद्धान्तिक एव प्रयोगात्मक ज्ञान का उपयोग करके आजकल के सुन्दर, सस्ते और आकर्षक डिस्टेम्परो की उत्पत्ति की।

चिकनी दीवारों के रंगलेप—सभवत डिस्टेम्परो की सफलता के फलस्वरूप आजकल के नये-नये प्रकार के चिकनी दीवारो के रगलेपो (फ्लैट वाल पेण्ट्स) का भी सफल विकास हुआ। डिस्टेम्पर चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों किन्तु उनसे 'उत्तम ठोस रूप' नही प्राप्त होता। यद्यपि भेद अत्यन्त सूक्ष्म है लेकिन अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि डिस्टेम्पर से 'फ्लैट वाल फिनिश' अधिक सुन्दर होता है।

उपर्युक्त प्रकार के रगलेपो अर्थात् 'फ्लैट वाल' तथा 'एगशेल फिनिश' को इस्तेमाल करने में रगसाजो को काफी कठिनाई होती है और इसमें सदेह नही कि इस प्रकार की रगाई के लिए उत्तम एव अनुभवी कारीगरो की ही आवश्यकता होती है। इन रगलेपो में माध्यम की अपेक्षा रगद्रव्य का अनुपात अधिक होना है, जिससे उसकी गाढता नवनीत के समान हो जाय। ऐसी गाढता सामान्य रगलेपो से सर्वथा भिन्न होती है। योग (फार्मूला) में तनिक सशोधन करके अन्तिम परिरूप में अण्डे के छिल्के के समान चमक उत्पन्न की जाती है, और इसी को 'एगशेल फिनिश' कहते हैं।

फ्लैट और एनमेल फिनिशों में बिन्दुछादन (स्टिप्लिंग[1]) करके बड़ी मनोहारी छवि प्राप्त की जा सकती है। तदर्थ छविकार एक मोटी परत लगाकर उत्तम बालों-वाले चौकोर बुरुश से गीले रंगलेप का पुचारा फेरते हैं, इसका फल यह होता है कि तलविशेष पर एक समरूप, चिकना और ग्रन्थामय[2] प्रभाव बन जाता है।

वार्निश—वार्निशों के भी दो मुख्य वर्ग होते हैं—(१) तेल वार्निश और (२) स्पिरिट वार्निश।

(१) तेल वार्निश के आवश्यक संघटक ये हैं—रेज़ीन (प्राकृतिक अथवा संश्लिष्ट), तेल और कोई तरलक। इनमें से रेज़ीन को छोड़कर अन्य संघटकों पर विचार किया जा चुका है, अतः सम्प्रति केवल उसी का वर्णन किया जायगा। बहुत समय तक वार्निश बनाने की कला बड़ी गोपनीय मानी जाती थी। उसमें रसायनज्ञ तथा उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रवेश तो हाल की घटना है और तभी उसका रहस्योद्घाटन हुआ है।

प्राकृतिक रेज़ीनों को एक प्रकार से फौसिल कहा जा सकता है, क्योंकि वे भी उस भूमि को खोदकर निकाली जाती हैं जहाँ चिरकाल से उनके स्रोत-वृक्ष दबे पड़े रहते हैं। वे अत्यन्त कठोर होती हैं तथा उनके अन्य गुण उनके वानस्पतिक एवं भौगोलिक उद्गम के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीकी कोपल तथा न्यूज़ीलैण्ड कौडी[3] उन प्राकृतिक रेज़ीनों के उत्तम उदाहरण हैं जिनका वार्निश बनाने में प्रयोग होता है। कांगो कोपल भी सर्वाधिक सामान्य रेज़ीन है।

प्राकृतिक रेज़ीनें तेल में अविलेय होती हैं परन्तु यदि उन्हें इस तरह गलाया जाय कि उनका भार २०–२५% कम हो जाय तो वे तप्त तेल में विलेय हो जाती हैं। भार की कमी रेज़ीन के प्रकार पर निर्भर होती है। रेज़ीनों को इस प्रकार गलाने के लिए तथा यह जानने के लिए कि गलाने की उपयुक्त सीमा क्या है, बड़ी निपुणता की आवश्यकता होती है, अन्यथा सारा माल और समय नष्ट हो जाता है। रेज़ीन के गल जाने पर उसमें पूर्वतप्त तेल धीरे धीरे छोड़ा जाता है तथा उसका बराबर विचालन किया जाता है। सारा तेल छोड़ देने के बाद गली हुई रेज़ीन और तेल के मिश्रण को उपयुक्त सीमा तक पकाया जाता है हाँ, इस उपयुक्त सीमा को ठीक ठीक जानने के लिए प्रचुर अनुभव एवं बुद्धि की आवश्यकता होती है। पकी वार्निश के ठंडी हो जाने पर शोषक मिलाकर तथा उसमें टर्पेण्टाइन सदृश कोई उपयुक्त

[1] Stippling [2] Nodular [3] Kauri

तरलक डालकर उसे पतला किया जाता है। वार्निश को पतली करने के लिए ह्वाइट स्पिरिट अथवा टरपेण्टाइन और ह्वाइट स्पिरिट का मिश्रण भी प्रयुक्त होता है।

वार्निश बनाने में अनेक जटिल प्रतिक्रियाएँ घटित होती हैं, और इनमें से कई तो वार्निश बन जाने के बाद तक चलती रहती हैं। इसलिए ताज़ी बनी वार्निश को दावक छन्ने (फिल्टर प्रेस) मे छानना अथवा अपकेन्द्रित्र (सेण्ट्रीफ्यूज) की सहायता से स्वच्छ करना पडता है, जिससे परिपक्व होने के लिए तड़ागों में रखने से पहले उसकी निलम्बित अशुद्धियाँ साफ कर दी जायँ। यह परिपक्वन नियंत्रित ताप पर ही सम्पन्न होता है तथा वार्निश की श्रेणी के अनुसार इसमें तीन मास से लेकर तीन वर्ष तक समय लग जाता है।

चीनी काष्ठ तेल (चाइनीज उड ऑयल) के आर्थिक विकास तथा उत्पादन की प्राविधिक रीतियों की उन्नति से वार्निश बनाने की कला में एक क्रान्ति-सी हो गयी है। सम्प्रति काष्ठ तेल इस उद्योग की सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु है। गरम करने पर इसमें विभिन्न परिवर्तन होते हैं—इसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) बड़ी तेज़ी से बढती है और यह एक अविलेय, दृढ (इन्ट्रैक्टेब्ल) तथा पारदर्शक जेली का रूप धारण कर लेता है। परन्तु काष्ठ तेल की इस विचित्रता का बुद्धि एव अनुभव से नियन्त्रण किया जा सकता है और एक चतुर वार्निशनिर्माता उपर्युक्त तेल के तेज़ी से गाढे होनेवाले गुण का भी लाभ उठाकर उसे अपने कार्यानुकूल नियंत्रित कर लेता है। चतुराई से इसमें अलसी तेल अथवा स्टैण्ड ऑयल मिलाने से उसमें जल एव ऋतुसहता, उत्तम चमक, प्रत्यास्थता, कठोरता तथा अन्य वाछनीय भौतिक गुण उत्पन्न होते हैं। इसी कारण से वार्निश के योगों में उपयुक्त अनुपात में काष्ठ तेल का समावेश होता है।

हाल के कुछ वर्षों में फिनॉल-फार्मालिडहाइड प्रकार की सश्लिष्ट रेज़ीनों के प्रचलन से वार्निश बनाने की रीतियाँ काफी सरल हो गयी हैं। फिनॉलिक रेज़ीन स्वच्छ, कठोर एव सुचूर्ण्य होती हैं तथा इनका रूप साधारण रोज़ीन की तरह का नही होता। इनके प्रयोग की सफलता का एक और कारण भी है, सश्लिष्ट फिनॉलिक रेज़ीनों और चीनी काष्ठ तेल के बीच तापन प्रभाव से रासायनिक सयोजन होता है और उसके फलस्वरूप जो परत बनती है उसमें जल, ऋतु एव तनु अम्लों और क्षारों के प्रति एक विशिष्ट सहता होती है।

प्राकृतिक रेज़ीन तथा सश्लिष्ट रेज़ीन वार्निशों का, जिनकी अभी चर्चा की गयी है, कठोरछवि माध्यम (हार्ड ग्लॉस वेहीकल) के लिए प्रचुर मात्रा में निर्माण होता है। आजकल कठोरछवि माध्यम साधारणतया ऐल्किड प्रकार की सश्लिष्ट रेज़ीनों

में ही बनाये जाते हैं, इनमें कभी-कभी प्राकृतिक एवं अन्य संश्लिष्ट रेज़ीन मिलायी जाती हैं अथवा उनके बग़ैर भी उनका निर्माण होता है। ऐसी वार्निशें अन्य प्रकार की वार्निशों की अपेक्षा बड़ी टिकाऊ होती हैं तथा उनका अन्तिम परिरूप[1] भी बड़ा आलंकारिक होता है।

(२) स्पिरिट वार्निश—वाष्पशील विलायकों में बनी रेज़ीनों के साधारण विलयन ही स्पिरिट वार्निश कहलाते हैं। 'फ्रेन्च पालिश' और 'नाटिंग' इनके उदाहरण हैं। ये औद्योगिक ऐलकोहाल में चपड़ा घोलकर बनाये जाते हैं। औद्योगिक ऐलकोहाल में मैनिला कोपल का विलयन ही ह्वाइट हार्ड स्पिरिट वार्निश कहलाता है तथा टरपेण्टाइन में पीत डैमर रेज़ीन विलयन का ही नाम 'क्रिस्टल वार्निश' है। इन वार्निशों के निर्माण में प्रयुक्त होनेवाली रेज़ीन बड़ी भगुर होती हैं अतः उनकी योग-रचना (फार्मूलेशन) में सुघट्यकरण (प्लास्टिसाइजिंग) की कला एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

स्पिरिट वार्निशों के लिए भी कुछ संश्लिष्ट रेज़ीन अच्छे पीठ का काम देती हैं। उनके भौतिक गुणों के अनुसार उन्हें विशिष्ट प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। ठीक ढंग से सुघट्यकृत जल-श्वेत विनाइल रेज़ीन को जाइलीन अथवा विलायक मिश्रणों में विलीन करके स्पिरिट वार्निश तैयार की जाती है। विनाइल रेज़ीनों में आसंजन (ऐडहिसन) का विशेष गुण होता है, इसलिए इनसे बनी वार्निशें धातुओं के लिए रक्षक आवरण (प्रोटेक्टिव कोटिंग) के रूप में प्रयुक्त होती हैं। संश्लिष्ट रेज़ीनों से बनी स्पिरिट वार्निश आजकल सड़क, फर्श एवं खिलौनों के रंगलेप, अम्ल एवं क्षारसह रंगलेप तथा अनेक औद्योगिक प्रयोजनों के लिए रंगलेप के रूप में इस्तेमाल होने लगी हैं।

प्रस्तुत लेख में रसायनज्ञ तथा रंगलेप उद्योग में उनके योगदान का विशद वर्णन संभव नहीं। आलंकारिक रंगलेप तथा वार्निश तो इस महान् उद्योग की एक शाखा मात्र है, इसलिए औद्योगिक महत्त्व की अन्य शाखाओं का भी संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

सेलुलोज फ़िनिश—स्वच्छ अथवा रंगद्रव्य-युक्त प्रलाक्ष रस[2] (लैकर्स) ही सेलुलोज फिनिश कहलाते हैं, और ये सावधानी से संतुलित विलायक मिश्रणों में नाइट्रो-सेलुलोज अथवा सेलुलोज नाइट्रेट विलीन करके तैयार किये जाते हैं। इनके

[1] Finish [2] Lacquers

महत्त्व का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि हवाई जहाज, उपस्कर (फर्नीचर), बेतार, विद्युत् एवं मोटरगाड़ी *उद्योगों में इनकी अत्यधिक खपत होती* है। पुंजोत्पादन रीतियों के लिए ये विशेष रूप से उपयुक्त होते है।

संश्लिष्ट औद्योगिक फिनिश—प्रलाक्ष रसो और एनामलो का विशेष ढग के बने चूल्हो पर परितापन (स्टोविंग) करने से विशिष्ट कठोर, दृढ एव टिकाऊ परतें बनती हैं। इसलिए जहाँ किसी पुंजोत्पादन केन्द्र में परितापन संयन्त्र की सुविधा होती है तो वहाँ के 'संश्लिष्ट औद्योगिक फिनिशो' ने कुछ हद तक 'सेलुलोज फिनिशो' से आगे बढने का प्रयत्न किया है।

कुछ समय पूर्व इन प्रलाक्ष रसो और एनामलो का परितापन ऐसे चूल्हो पर किया जाता था जिनमें ऊष्मा-सक्रमण चालन (कॉण्डक्शन) तथा सवहन (कॉन्वेक्शन) रीतियो से होता था। इसका अर्थ यह है कि तापन प्रत्यक्षत तापभेद (कॉण्डक्शन) तथा चूल्हे में तप्त वायु सचालन (कॉन्वेक्शन) पर निर्भर होता था। ऐसे चूल्हो की उत्पादन-गति बहुत सी आशु-वायु-शोषण परतो से कही अधिक त्वरित होती थी, किन्तु विकिरण (रैडियेशन) द्वारा पुते तलो तक ऊष्मा पहुँचाने की रीति अपनाने से तो परितापन प्रलाक्ष रसो एव एनामलो द्वारा वस्तुओं की परिरूपण-गति में विशेष वृद्धि हुई है।

विकिरण द्वारा ऊष्मा-सक्रमण के वैज्ञानिक सिद्धान्त सवहन (कॉन्वेक्शन) चूल्हो के सिद्धान्त से बहुत भिन्न है। सवहन द्वारा तापन में वायु का बडा महत्त्वपूर्ण भौतिक भाग होता है मगर विकिरण तापन में ऊष्मा-सक्रमण के नियम प्राय पूर्णतया ऊष्मास्रोत अर्थात् विकिरक (रैडियेटर) के ताप तथा विकिरित ऊर्जा (रैडियेटेड एनर्जी) प्राप्त करनेवाली वस्तु के प्रतिचार[1] से आवद्ध होते है। वस्तु का प्रतिचार भी इस विधा में एक महत्त्वपूर्ण कारक है, इसका अर्थ यह है कि रगलेप का रगविशेष भी एक कारक हो सकता है, क्योकि लेपकी हुई वस्तु द्वारा ऊष्मा अवशोषण तथा विकिरण पर रग का भी काफी प्रभाव पडता है। विकिरको में ऊर्जासचार गैस अथवा विद्युत् से किया जा सकता है।

विकिरण ऊष्मा शोषण (ड्राइग) में रगलेप के गुणो के प्रभाव के स्पष्टीकरण के लिए एनामलो के तापन के अन्तर्गत बतायी गयी स्टैण्ड ऑयल बनाने की रीति का हमें फिर उल्लेख करना होगा। उपचारविशेष में तेल के गाढे होने का कारण यह

[1] Response

है कि उसके अणु परस्पर पुनर्गठित होकर बड़े-बड़े एककों का रूप धारण कर लेते हैं; इसको पुरुभाजन ('पॉलीमराइज़ेशन') कहते हैं। अतः विकिरण-ऊष्मा-शोषण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रंगलेप-माध्यम वे हैं, जिनमें पॉलीमराइज़ेशन विशेष रूप से होता है, क्योंकि यह क्रिया ऊष्मा से काफी अधिक त्वरित होती है। ऐल्किड प्रकार की संश्लिष्ट रेज़ीनों में पॉलीमराइज़ेशन (पुरुभाजन) की मात्रा विशेषतया अधिक होती है अतएव वे विकिरण ऊष्मा-शोषण के उपयुक्त रंगलेपों के निर्माण के लिए अधिक अच्छी मानी जाती हैं। इस रीति की त्वरित गति का कुछ आभास इस बात से मिल सकता है कि एक युद्ध टैंक पर रंगलेप करके तथा उसे विकिरण ऊष्मानाली (टनेल) में से पार कराकर केवल मिनटों में (प्रायः ४ मिनट में) पूर्णतया शुष्क अवस्था में तैयार किया जा सका।

विकिरण-ऊष्मा द्वारा रंगलेपों के सुखाने की रीति अभी नयी है, और बहुत सी अन्य नयी चीज़ों की भाँति इसमें भी एक ओर अतिवाद का दोष है तो दूसरी ओर कट्टरपन्थ का विरोध। अनुभवी लोगों का कहना है कि संवहन चूल्हों (कॉन्वेक्शन ओवेन्स) को एकाएक बिल्कुल बेकार एवं गतकाल नहीं मान लेना चाहिए। उनका मत है कि दोनों रीतियों का सावधानी से तुलनात्मक अध्ययन करके, विशेषकर पूंजोत्पादन संबन्धी समस्याओं की पृष्ठभूमि में उनकी विवेचना करके तब अधिक दाम वाले संयन्त्रों के अधिष्ठापन का निश्चय करना चाहिए।

युद्ध की बढ़ती मांगों की पूर्ति के लिए रंगलेप उद्योग का संघटन युद्धकाल में ही बड़ी तीव्र गति से किया गया, इसके फलस्वरूप रसायनज्ञों के सामने बड़े-बड़े दुस्तर काम उपस्थित हुए। इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—जलसेना-विभाग एवं समुद्री व्यापारविभाग की ओर से जहाज़ों के लिए ऐसे रंगलेपों की मांग हुई, जिनके प्रयोग से जहाज़ों के पेंदे पर समुद्री पौधे इत्यादि न उग सकें, युद्ध कार्यालयों में गैस-रोधी, गैस-उपलम्भन (गैस डिटेक्टिंग) एवं अग्निरोधी रंगलेपों तथा स्फोट वार्निशों (शेल वार्निश) जैसे विशिष्ट प्रकार के रंगलेपों की विशाल मात्रा की आवश्यकता थी। राजकीय विमानसेना (रॉयल एयर फोर्स) में अनेक प्रकार के विशेष रंगलेपों की आवश्यकता थी, जैसे सभी प्रकार के हवाई जहाज़ों के लिए रंगलेप एवं प्रलेप (डोप), पहचान रंग, औज़ारों के लिए रंगलेप, दीप्त (लुमिनस) रंगलेप इत्यादि। गृह एवं सुरक्षा मंत्रालय में ऐसे छद्मावरण रंगलेप आवश्यक थे, जिन पर प्रकाश का परावर्तन (रिफ्लेक्शन) न हो तथा जो ऋतुसह एवं सभी प्रकार के तलों के लिए उपयुक्त हों, इस मंत्रालय में अग्निरोधी एवं प्रतिसंघनन (ऐण्टी कॉण्डेन्सेशन) रंगलेपों की भी आवश्यकता थी।

उपर्युक्त आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए रसायनज्ञो को दूसरे-दूसरे कच्चे मालो की खोज करने में भी बडा परिश्रम करना पडा, और उनकी सफलता एव योगदान से इस उद्योगविशेष का महान् कल्याण हुआ।

रगलेप उद्योग से रसायन और रसायनविज्ञान का संबन्ध—रगलेप उद्योग पर रसायनविज्ञान तथा रसायनज्ञो के प्रभाव का, बिना प्राविधिक भाषा की सहायता लिये, मूल्याकन करना बडा कठिन कार्य है, और रगलेप प्रौद्योगिकी की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का वर्णन करने में पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग प्राय अनिवार्य-सा होगा।

कच्चे मालों के उपर्युक्त सर्वेक्षण से रगलेप उद्योग के इस पहलू पर रसायन-*शास्त्र एव रसायनशास्त्रियो के प्रभाव का अच्छा आभास मिलता है। उद्योगपतियों* ने इस प्रभाव को समझा तथा रसायनज्ञो के सहयोग के उत्तम फल की सभावनाओं का ठीक अनुमान किया। इसी सहयोग के फलस्वरूप कच्चे मालो की श्रेणी एव उत्तमता पर निरन्तर चौकसी रखकर ससार भर के ससाधनो (रिसोर्सेज़) का पूरा *लाभ उठाया जा सका।*

शोषण-तेल-रसायन का अध्ययन बहुत दिनो तक प्राय उपेक्षित रहा, इसका विशेष कारण यह था कि लब्धप्रतिष्ठ रसायनज्ञ सुरभि-रसायन की ओर आकृष्ट होने लगे थे क्योकि उस क्षेत्र में चामत्कारिक प्रगति हो रही थी। शोषण-तेलो के ऊष्मोपचार में उनके निबन्ध (कॉम्पोज़ीशन), सरूप (कॉन्फिगुरेशन), रचना (स्ट्रक्चर) तथा रचनापरिवर्तन के जटिल प्रश्नों से सबद्ध सैद्धान्तिक कल्पनाओं के स्पष्टीकरण के लिए विश्वस्त विश्लेषण रीतियाँ अपनाना अनिवार्य था।

पिछले ४० वर्षों में शोषण-तेल रसायन में जो महत्त्वपूर्ण काम हुए हैं उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। आयोडीन अवशोषण पर आधारित असतृप्त ग्रन्थनों की निश्चयन रीतियाँ निर्धारित की गयी। कालान्तर में यह रीतियाँ ब्रोमीन अवशोषण पर और फिर एक-ग्रन्थनो से थायोसियनोजेन के मात्रात्मक सयोजन पर आधारित हुईं। इन रीतियों से शोषण तेलों में विद्यमान असतृप्ति की सीमा जानने में बडी सहायता मिली। हाइड्रॉक्सिल वर्गों के आगणन की रीतियों तथा *ग्लिसरीन, असाबुनीकरणीय* पदार्थो और अम्ल-मानो (एसिड वैलू) के मात्रात्मक निश्चयन की रीतियों में उन्नति तथा भौतिक नियताको (फिज़िकल कॉन्स्टैण्ट्स) की निश्चयन रीतियों के विकास से रगलेप तेलों की सरचना (कॉन्स्टिट्यूशन) के स्पष्टीकरण में बडी सहायता मिली है। या यों कहिए कि ये सभी रीतियाँ इस कठिन कार्य के साधन में अनिवार्यतया आवश्यक थी। ग्लिसराइड अणुओं का सरूप आज के रगलेप-रसायनज्ञो के

विवाद की मूल समस्या है। कुछ का मत है कि उसका स्वरूप E की भाँति है तो कुछ उसे Y की भाँति मानते हैं। फिर भी यह सामान्यत स्वीकृत है कि गाढे स्टैण्ड ऑयल बनाने के लिए रगलेप तेलो के ऊष्मोपचार में प्राथमिक सयोजकताबन्ध (प्राइमरी वैलेन्सी बॉण्ड) द्वारा अनुप्रस्थत ग्रन्थित (क्रॉस लिंक्ड) पॉलीमरो की रेखीय (लीनियर) बनावट को प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी से उसकी श्यानता एव अणु-भार में बडी वृद्धि होती है।

तेल और रगद्रव्य की मिश्रणविधा में भी कई ऐसी बातें उठती हैं, जिनका सबन्ध भौति-रसायनज्ञो से है। सहसा कोई एकस्तर अणुओ के अनुस्थापन (ओरियेण्टेशन) एव तल-रसायन के आधुनिक सिद्धान्तों का उपर्युक्त विधा से कोई घनिष्ठ सबन्ध मानने को तैयार न होगा। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि तेलो द्वारा रगद्रव्यों का आर्द्रण न केवल एक विशुद्ध भौतिक घटना है, जिस पर तल-तनाव एवं सस्पर्श कोण (कॉण्टैक्ट ऐंगिल) का विशिष्ट प्रभाव है, वरन् इसमें रगद्रव्य के कणो द्वारा ध्रुवीय अणुओ के एकस्तरो का विशेष प्रकार से अवशोषण भी होता है। इसके फलस्वरूप रगद्रव्य के कणो के चारो ओर एक रक्षक आवरण बन जाता है जिससे एक कण दूसरे से अलग हो जाता है। यदि रगद्रव्य सक्रिय होते हैं तो उनसे साबुन बन जाता है और उसके कणों के तल पर इसी साबुन के अणुओ का रक्षक आवरण बनता है। यदि किसी कारण से ठोस-द्रव अन्त सीमा (इण्टरफेस) पर की इस क्रिया में बाधा पडती है तब ऊर्णिकायन (फ्लॉकुलेशन) होने लगता है और गुरुत्वाकर्षण के कारण ऊर्णिकायित (फ्लॉकुलेट्स) नीचे बैठने लगते हैं यानी रगद्रव्य और माध्यम अशत विलग होना प्रारम्भ कर देते हैं। लेकिन अगर रगलेप को हिला दिया जाय तो रगद्रव्य पुन विक्षेपित (डिस्पर्स्ड) हो जाता है तथा उसकी अपारदर्शिता एव प्रसरण शक्ति ज्यों की त्यों हो जाती है।

कणो के आकार और रूप तथा तलसक्रियता को ध्यान मे रखकर ही एनामलो और कठोर छविरगलेपों के विकास मे रसायनज्ञो द्वारा किये गये योगदान पर विचार किया जाना चाहिए। इस कार्यक्षेत्र मे भौतिकीविदो का सहयोग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है क्योंकि विशुद्धतया भौतिक मापनो की रीतियाँ तो उन्ही की देन हैं। इन अध्ययनो का एक उद्देश्य कणों की लघुता की सीमा निर्धारित करना है, क्योंकि अत्यधिक लघु आकार के कणो से बडी हानियाँ होती हैं।

फ्लैट वाल रगलेप उनमें रगद्रव्य भर देने मात्र से अथवा किन्ही अक्रिय विस्तारको के उच्च तेल-अवशोषण का आश्रय लेकर तैयार नही किये जा सकते। इस सबन्ध मे रगलेप-प्रौद्योगिकीविद ने थिक्सोट्रोपी नामक एक नवीन विषय

का उद्घाटन किया है। यद्यपि अन्य कई संहितो (सिस्टम) में थिक्सोट्रोपी घटित होती है किन्तु रंगलेपसबन्धी उसका अध्ययन जितना रुचिकर और कठिन है उतना कदाचित् और किसी में नही। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नही कि इस विषय में औरो की अपेक्षा रगलेपरसायनज्ञो ने अनेक महत्त्वपूर्ण योगदान किये है।

जल में वेण्टोनाइट का आलम्बन (सस्पेन्शन) इसका सबसे साधारण उदाहरण है। यदि यह आलम्बन कुछ समय के लिए रख दिया जाय तो बडा दृढ बन जाता है। लेकिन हिलाने पर अपनी चलिष्णु अवस्था तुरन्त प्राप्त कर लेता है। कुछ एक रग-लेप-संहितो में भी ऐसा प्रभाव देखा जाता है। कुछ विक्षेपणो (डिस्पर्सन) के पुन-र्द्रवण (लिक्वीफाई) के लिए आवश्यक ऊर्जा भी मापी गयी है और इसे 'लब्धि मान' (ईल्ड वैल्यू) अथवा 'द्रवण प्रतिबल' (लिक्वीफाइंग स्ट्रेस) कहा जाता है। नवनीत की गाढ़तावाले फ्लैट वाल रगलेपो को तलो पर लगाने के लिए आवश्यक ऊर्जा उनके 'द्रवण प्रतिबल' से अधिक होती है, फलत बुरुश से ये रगलेप बडी कुशलतापूर्वक लगाये जाते है। फ्लैट एनामलो के प्रयोग में बहुधा अपनायी जाने-वाली विन्दुछादन (स्टिप्लिंग) विधा में भी थिक्सोट्रोपिक प्रभाव से बडी सहायता मिलती है।

सश्लिष्ट रेज़ीन रसायन का अब वार्निश रसायन से बडा घनिष्ठ सबन्ध हो गया है। इतने अल्पकाल में जो यह आश्चर्यजनक प्रगति हुई है, वह संश्लिष्ट रेज़ीनों के व्यापक औद्योगिक प्रयोग का ही फल है। अन्य उद्योगो में लगे रसायनज्ञो ने भी इन रेज़ीनों के उपयोग एव विकास में रगलेप और वार्निश रसायनज्ञ द्वारा किये गये योगदानों का बडे ध्यान एव रुचि से अनुशीलन किया है।

मई १९३९ में 'दि ऑयल ऐण्ड कलर केमिस्ट्स अमोसियेशन' ने हैरोगेट में वार्निश निर्माणसबन्धी एक सम्मेलन का आयोजन किया था। उसके अध्यक्ष ए० जे० गिब्सन, एफ० सी० एच०, एफ० एल० एस० तथा कौंसिल ने उक्त सम्मेलन का प्रतिवेदन 'वार्निश मेकिंग' नामक एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया था। यह अपने विषय का सर्वाधिक आधिकारिक एव व्यापक ग्रन्थ है। इन ग्रन्थ का उल्लेख अन्य उद्योगो में काम करनेवाले उन रसायनज्ञो एव भौतिकीविदो के लाभार्थ किया गया है, प्रस्तुत लेख पढकर वार्निश-निर्माण के बारे में और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की जिनकी जिज्ञासा जाग उठी हो।

लेख के मूललेखक ने डब्लू० ई० वोर्नम, एम० सी०, बी० एस सी०-एफ० आर० आई० सी० तथा अपने अन्य सहयोगियो के प्रति आभार प्रदर्शित किया है।

ग्रंथसूची

BEARN, J G. *The Chemistry of Paints, Pigments and Varnishes* Ernest Benn, Ltd

CHATFIELD, H W *Varnish Constituents* Leonard Hill, Ltd

DURRANS, T H *Solvents* 5th Ed Chapman & Hall, Ltd

FOX, J J, AND BOWLES, T. H. *Analysis of Pigments, Paints and Varnishes.* Ernest Benn, Ltd

GARDNER, H A *Physical Examination of Paints, Varnishes, Lacquers and Colour*, 9th Ed. Institute of Paint and Varnish Research, Washington, D. C

HEATON, NOEL *Outlines of Paint Technology* Charles Griffin & Co, Ltd

KRUMBHAAR, W *Chemistry of Synthetic Surface Coatings* Reinhold Publishing Co

MARSH, J J, AND WOOD, F C *An Introduction to the Chemistry of Cellulose* Chapman & Hall, Ltd

MATTIELLO, J J *Protective and Decorative Coatings*, Vols I-III John Wiley & Sons, Inc

MORRELL, R S *Synthetic Resins and Allied Plastics* Oxford University Press

NELSON, J H, AND SILMAN, H *The Application of Radiant Heat to Metal Finishing* Chapman & Hall, Ltd

OIL AND COLOUR CHEMISTS' ASSOCIATION *Varnish Making*

REMINGTON, J S *Zinc Oxide A Monograph on Zinc Oxide Leaded Zinc Oxides and Zinc Dust Paints Their Properties and Uses in Industry* Leonard Hill, Ltd

SMITH, J C *Manufacture of Paint* Scott, Greenwood & Son, Ltd

ZIMMER, F *Nitro Cellulose Ester Lacquers* Chapman & Hall, Ltd.

अध्याय १२

इण्डिया रबर, चमड़ा, आसंजक और सरेस

इण्डिया रबर

डगलस एफ० ट्विस, डी० एस-सी० (बर्मिंघम),
एफ० आर० आई० सी०

भूमिका—रबर का सर्वप्रथम उल्लेख १५२१ में किया गया था, परन्तु १६वी शताब्दी के अन्त तक प्रत्यास्थता एव जल-रोध जैसे इसके विलक्षण गुणों का ज्ञान न था। हेरिसैण्ट और मैकर ने सबसे पहले १७६३ में विविध कार्बनिक विलायकों में रबर के विलयन बनाने का अनुसन्धान किया था। इस कार्य के फलस्वरूप रबर-स्तरित (प्रूफ्ड) रेशम के वैमानिकीय बैलून बनाये गये, जिनमें बैठकर जे० ए० सी० चार्ल्स और उनके मित्र पहले पहल १७८५ में उडे थे। यह वही चार्ल्स महोदय थे जिनका ऊष्मा से गैसो के प्रसरण का नियम प्रसिद्ध है। मी० ग्रोमार्ट ने (Ann Chim १७९१, II, १४३) विलायकों में डुबोकर मृदुल की गयी पट्टियों को काच-रम्भो अथवा नालो के चारों ओर लपेटकर रबर-नाल बनाने की सभावना का उल्लेख सन् १७९१ में किया था। उसी वर्ष (Ann. Chim १७९१, II, २२५) में ए० एफ० फौरक्रॉय ने आक्षीर (लेटेक्स, जिस रूप में रबर वृक्षों से प्राप्त होता है) पर क्षारो की परिरक्षण-क्रिया का उद्घाटन किया। सयोगवश इस ज्ञान का बीसवी शताब्दी तक कोई व्यावहारिक उपयोग न किया जा सका। १७७० में ऑक्सीजन की प्रसिद्धिवाले जोज़ेफ प्रिस्ले ने 'थियोरी ऐण्ड प्रैक्टिस ऑफ पर्सपेक्टिव' नामक ग्रन्थ में कागज़ पर से काली पेन्सिल की लिखावट मिटाने के लिए एक पदार्थ का उल्लेख किया था। चूंकि यह क्रिया घिसकर पूरी की जाती थी इसलिए इस पदार्थ को अग्रेजी में 'रबर' (अर्थात् घिसनेवाला) कहा गया।

यद्यपि रबर उत्पन्न करनेवाले वृक्षों की अनेक जातियाँ है परन्तु आजकल प्रयुक्त होनेवाला प्राकृतिक रबर 'हेविया ब्रैसिलियेन्सिस' नामक वृक्ष से ही प्राप्त होता है;

और निम्नलिखित वर्णन में जहाँ विशेष रूप से लिखा न हो वहाँ रबर और आक्षीर[1] का तात्पर्य इसी वृक्ष से प्राप्त पदार्थ से है।

रबर की प्रकृति--पूर्व (दिशा) से प्राप्त अवल्कनीकृत सूखे रबर में प्राय ९५% हाइड्रोकार्बन होता है, रासायनिक विश्लेषण करके जिसका आनुभविक[2] सूत्र—$C_5\ H_8$ निश्चित किया गया है।

रबर के भौतिक गुणो से पता लगता है कि इसका अणुभार बहुत अधिक होगा। फैलायी अवस्था में लिये गये रबर के एक्स-रे चित्रों से पता चलता है कि इसके हाइड्रोकार्बन के अणु तन्त्वाकार हैं जिनमे $C_5\ H_8$ नाभिको (न्युक्लिअस) के एक दूसरे से जुडने से एक लम्बी शृखला बन जाती है। इनमे से प्रत्येक शृखला की रचना निम्नाकित है — $CH_2\ C\ \ CH—CH_2—$

CH_3

सम्पूर्ण अणु का सूत्र $(C_5\ H_8)_n$ होता है जिसमे n की सख्या सहस्रो के परिमाण की होती है। रबर-अणु की उपर्युक्त रचना का सुझाव एम० एस० पिकल्स ने १९१० में किसी प्रयोगात्मक प्रमाण के पूर्व ही दिया था, आगे चलकर उनकी कल्पना ठीक सिद्ध हुई। उपर्युक्त सूत्र मे n की सख्या स्थिर नहीं होती वरन् भिन्न भिन्न नमूनो एव भिन्न अवस्थाओ मे वह भिन्न होती है, कभी-कभी तो एक ही नमूने में रबर के अणु एक परिमाण के नही होते बल्कि उनमे विभिन्न परिमाणो के अणु विद्यमान रहते है।

जैसा कि ऊपर अकित है, रबर के अणु असतृप्त होते हैं, किन्तु फिर भी वे विशिष्टतया स्थायी होते हैं। वल्कनीकृत रबर के नमूने १००-१०० वर्ष तक अपरिवर्तित रूप मे ज्यो के त्यो रखे रहे है। अवल्कनीकृत अथवा वल्कनीकृत दोनो अवस्थाओ के रबर मे अम्लो तथा क्षारो के प्रति विशेष सहना होती है, इसी लिए आजकल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के सग्रहण एव परिवहन के लिए हजारो गैलनवाले रबरस्तरित तडागो और पीपो का प्रयोग किया जाता है। एबोनाइट रबर का एक अत्यधिक वल्कनीकृत रूप है और यह मृदु वल्कनीकृत रबर की अपेक्षा रासायनिकतया कही अधिक रोधी होता है।

अपरिष्कृत रबर—१९४१ तक सारे ससार की खपत का लगभग ९०% रबर मलय, डच ईस्ट इण्डीज, हिन्द चीन तथा सीलोन के क्षेत्रो से प्राप्त होता था।

[1] Latex [2] Empirical

इन स्थानों में रबरवृक्षों (हेविया ब्रैसिलियेन्सिस) का रोपण अच्छी तरह से जम गया था। ये वृक्ष ब्राज़ील में प्राकृतिक रूप से उपजनेवाले उन वृक्षों के ही वंशज है, जिनसे पुरानी परम्परा के अनुसार पारा रबर प्राप्त होता था। यद्यपि ब्राज़ील में पारा रबर अब भी उत्पन्न होता है परन्तु उपर्युक्त क्षेत्रों से प्राप्त रबर की तुलना में उसकी उत्पत्ति बहुत कम होती है। इन दोनों प्रकार के रबरों में केवल अति सूक्ष्म भेद होता है सो भी बड़ा विवादग्रस्त है।

वृक्षों से प्राप्त आक्षीर (लैटेक्स) में ४०% रबर होता है। यह दुग्धीय द्रव पेड़ की छाल के नीचे रहता है और छाल को काटकर आक्षीर-वाहिनियों से चुआया जाता है। ब्राज़ील में आक्षीर को धुआँ दिखाकर उसका स्कन्दन (कोआगुलेशन) किया जाता है, जब कि अन्य स्थानों में उसमें निश्चित अनुपात में फार्मिक अथवा एसेटिक अम्ल अथवा कभी-कभी तनु सल्फ्यूरिक अम्ल डालकर उपर्युक्त क्रिया प्रतिपादित की जाती है। प्राप्त स्कन्द (कोआगुलम या क्लॉट) को बेलनों के बीच बेलकर उनका स्तार (शीट) बनाया जाता है और इन्ही स्तारों को धूम-वेश्म (स्मोक चेम्बर) में सुखाकर सुविख्यात धूमित-स्तार (स्मोक्ड शीट) रबर बनता है। पीला क्रेप रबर बनाने के लिए स्कन्द को बेलते समय बहते पानी से धोया जाता है तथा धूमनक्रिया नही की जाती।

विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाने के लिए उपर्युक्त रबर को सबसे पहले पर्याप्त रूप से सुघट्य बनाना पड़ता है, जिससे उसमें विविध संयोजन-संघटक मिलाये जा सकें तथा सरलता से उसका संरूपण (शेपिंग) अथवा ढलाई की जा सके। रबर को अच्छी तरह कूट या गूँधकर ही उसे सुघट्य (प्लास्टिक) बनाया जाता है। यह क्रिया प्राय शक्तिशाली बेलनों द्वारा की जाती है। इस उपचार के समय रबर पर वायुमण्डलिक ऑक्सीजन का प्रभाव होता है, जिसके फलस्वरूप इस सुघट्य रबर का भौतिक बल कम हो जाता है, किन्तु तत्पश्चात् वल्कनीकरण से उसका यांत्रिक बल पहले से भी अधिक हो जाता है तथा अन्तिम पदार्थ में प्रत्यास्थता (इलैस्टिसिटी) एवं प्रत्यास्कन्दन (रेसीलियेन्स) के विशेष गुण आ जाते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें रोधी बल तथा अपघर्षण बचाव की शक्ति इस्पात से भी अधिक हो जाती है। सुघट्यन विधा को त्वरित करने के लिए लघु अनुपात में कुछ रासायनिक पदार्थों विशेषकर न्यून वाष्पशील एरिल मर्कैप्टनों का प्रयोग किया जाता है।

रबर के वल्कनीकरण के लिए प्राय एकमात्र गंधक का ही प्रयोग होता है और इस क्रिया में रबर के हाइड्रोकार्बन से गंधक का रासायनिक संयोजन होता है। यह क्रिया १२५°–१५०° सेण्टीग्रेड ताप पर सम्पन्न होती है। वल्कनीकृत रबर में

१–४% संयुक्त गंधक होता है। यह पदार्थ कोई निश्चित रासायनिक यौगिक नहीं होता, वरन् ऐसा समझा जाता है कि इसमें ऊपर बताये गये प्रकार के लम्बे-लम्बे अणु होते हैं जो बीच-बीच में पार्श्वन गंधकसेतुओं (ब्रिजेज़) द्वारा जुड़े रहते हैं। उपर्युक्त सूत्र से यह स्पष्ट है कि गंधक से रासायनिकत पूर्णतया संतृप्त रबर का निबन्ध $(C_5H_8S)_x$ होगा, और यह निबन्ध पूर्णतया वल्कनीकृत एबोनाइट के निबन्ध से बहुत मिलता है। संतृप्त होने के कारण एबोनाइट को रासायनिकतया बहुत स्थायी होना चाहिए। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि मृदु रबर तथा एबोनाइट के बीचवाले अन्तःस्थ यौगिक इन दोनों की अपेक्षा बहुत कम स्थायी होते हैं।

सेलीनियम और गंधक के सादृश्य से यह आशा की जाती है कि सेलीनियम भी रबर के वल्कनीकरण के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है, परन्तु इसका प्रयोग केवल मृदु रबर बनाने तक ही सीमित है। विशेषकर टेट्रामिथिलथ्यूरम-डाइसल्फाइड तथा सल्फर क्लोराइड जैसे कुछ ऐसे यौगिक भी, जिनके विच्छेदन से गंधक प्राप्त होता है, वाणिज्यिक वल्कनीकर्ता के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सल्फर क्लोराइड का शीत वल्कनीकरण के लिए बड़े व्यापक रूप से प्रयोग होता है। इसके लिए साधारण ताप पर किसी वाष्पशील विलायक में इस यौगिक का विलयन इस्तेमाल किया जाता है। सल्फर क्लोराइड द्वारा वल्कनीकरण का आविष्कार १८४६ में एलेक्ज़ैण्डर पार्कस ने किया था। इन्होंने व्यावहारिक रसायन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण विधाओं का भी आविष्कार किया था।

केवल गंधक से रबर का वल्कनीकरण १५०° से० ताप पर भी बहुत धीमी गति से होता है, अतः इस विधा को त्वरित करने के लिए आजकल कुछ उत्प्रेरक काम में लाये जाते हैं। जब चार्ल्स गुडइयर ने १८३९ में वल्कनीकरण का आविष्कार किया था तो उनके रबर में गंधक के अतिरिक्त ह्वाइट लेड जैसे त्वरक (ऐक्सिलरेटर) भी विद्यमान थे। बहुत से पैठिक खनिज पदार्थ, विशेषकर मैग्नीसियम ऑक्साइड, सीस ऑक्साइड तथा कैल्सियम ऑक्साइड अथवा हाइड्रॉक्साइड का त्वरक के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। पिछले लगभग ३० वर्षों में वल्कनीकरण त्वरकों के रूप में कार्बनिक यौगिकों की प्रयुक्ति का विशेष विकास हुआ है। रबर के अनुपात में इन त्वरकों की मात्रा बहुत कम होती है, प्रायः १% से भी कम, लेकिन उनकी कुल खपत बहुत अधिक होती है। इस कार्य के लिए प्रति वर्ष सहस्रों टन ऐसे कार्बनिक यौगिक बनाये जाने लगे हैं, जिनका पहले कोई विशेष महत्त्व न था। २–थियोलबेंज़थायज़ोल, डाइफिनिलग्वानिडीन, यशद आइसोप्रोपिल ज़ैन्थोजिनेट तथा पाइपिरिडीनियम पेण्टामिथिलीन डाइथायोकार्बामेट, यशद डाइइथिलथायोकार्बामेट

एवं टेट्रामिथिलथ्युरैम मोनो तथा डाई-सल्फाइड सदृश ऐलिफैटिक द्वितीयक अमीनों से व्युत्पन्न विविध डाईथायोकार्बमेट यौगिक इन त्वरकों के साधारण उदाहरण हैं। इनकी त्वरण शक्ति को पूर्णरूप से विकसित करने के लिए यशद ऑक्साइड का रहना भी आवश्यक है, इसी लिए गधक के साथ-साथ यशद आक्साइड भी वल्कनीकृत रबर में प्राय व्यापक रूप से मौजूद रहता है। इन त्वरकों की रासायनिक क्रिया अब भी ठीक-ठीक नही समझी जा सकी है।

प्रारम्भिक अनुभवों से यह ज्ञात हुआ था कि विभिन्न कार्बनिक त्वरको की प्रयुक्ति से वल्कनीकृत रबर के भौतिक गुणो पर विविध प्रकार के प्रभाव पडते है। यह भी देखा गया कि ऐसे कार्बनिक यौगिक, जो अपेक्षाकृत क्षीण त्वरक थे, वल्कनीकृत रबर के उपयोगी जीवन तथा वायुमण्डलिक ऑक्सीजन, सूर्यप्रकाश एव ऊष्मा के प्रति उसकी रोधशक्ति बढाने में विशेष प्रभावशाली थे। फलत 'प्रतिऑक्सीकारक' एव ऐण्टी एजर्स कहलाने वाले कार्बनिक यौगिको के बनाने के लिए एक बडा उद्योग उठ खडा हुआ। α और β फिनिलनैफ्थिलऐमीन तथा डाईनैफ्थिल-प-फिनिलीनडाईऐमीन सदृश द्वितीयक ऐरोमैटिक ऐमीन अथवा इथिलीडीन ऐनिलीन जैसे ऐरोमैटिक ऐमीनो और ऐलीफैटिक ऐल्डिहाइडो के सघनन पदार्थ उपर्युक्त यौगिको के अच्छे उदाहरण है।

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि सच्चे रासायनिक अर्थ में रबर का विवल्कनीकरण अभी तक सम्पन्न नही किया जा सका है। यह सभव नही कि वल्कनीकृत रबर में से गधक को निकालकर पुन मूल अपरिष्कृत रबर प्राप्त किया जा सके। वाणिज्यिक 'पुनर्जनित' अथवा 'पुन प्राप्त' रबर प्राय ऐसा वल्कनीकृत रबर होता है जिसे किसी क्षार के साथ गरम करके उसमें विद्यमान स्वतत्र गधक का निरसन कर दिया गया हो और जो गरम करने तथा यात्रिक उपचार से न्यूनाधिक रूप से सुघट्य हो गया हो। इस रबर में रासायनिकतया सयुक्त गधक फिर भी मौजूद रहता है।

रबर का संयोजन—यद्यपि वल्कनीकृत रबर तथा उससे और पदार्थ बनाने के लिए रबर और गधक प्रथम आवश्यकताएँ हैं, किन्तु इसके लिए अन्य सघटकों[1] का भी उपयोग होता है और इनके विभिन्न प्रयोजन होते हैं। पूरकों (फिलर्स) के अतिरिक्त सूक्ष्म कणोवाले कुछ चूर्ण रबर का बल बढाने में विशेष सहायक होते हैं। अनाकार[2] कार्बन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। नेचुरल गैस की लौ को इस्पात

[1] Ingredients [2] Amorphous

प्रणाल (चैनेल) से टकराकर इस प्रकार का कार्बन बनाया जाता है। टायर वगैरह जैसे रबर के ऐसे सामानों के बनाने में, जिन्हें अपघर्षण[1] तथा यांत्रिक प्रतिबल[2] सँभालना पडता है, रबर के बाद चैनेल ब्लैक ही मुख्य संघटक होता है। दीप-काजल (लैम्प ब्लैक), एसेटिलीन काल तथा गैसीय हाइड्रोकार्बनों के ऊष्मीय विच्छेदन अथवा विदरण (क्रैकिंग) से बने अनाकार कार्बन भी इस काम के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। यद्यपि रबर के सबलन (रीइन्फोर्सिंग) में ये उत्तम चैनेल ब्लैक से तनिक हीन होते हैं, किन्तु इनके अपने विशेष लाभ भी होते हैं। इसलिए रबरनिर्माता अपने कार्यानुकूल कोई कार्बन अथवा विभिन्न कार्बनों के मिश्रण चुन लेते हैं। निर्मित पदार्थों में यांत्रिक गुण उत्पन्न करने के लिए प्राकृतिक रबर की अपेक्षा संश्लिष्ट रबर में कार्बन काजल को मिलाना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अन्य विशिष्ट प्रयोजनों के लिए भी संयोजक संघटकों की आवश्यकता होती है, जैसे पिसाई-गुंधाई एवं अन्य यांत्रिक विधाओं को सरल बनाने के लिए पाइन-टार सदृश सुघट्यकारक (प्लैस्टि-साइज़िंग एजेण्ट) तथा ऐच्छिक रंग उत्पन्न करने के लिए रंगद्रव्य (पिग्मेण्ट)। त्वरक[3] एवं प्रतिऑक्सीकर्ता के अतिरिक्त अन्य संघटक वस्तुविशेष के अनुकूल चुने जाते हैं।

आक्षीर[4] विधाएँ—पिछले दो दशकों में रबरनिर्माण विधा में उल्लेखनीय विकास हुआ है, इनमे रबर का प्रयोग सीधे आक्षीर के रूप में किया जाने लगा है। १७९१ में एम० पील के एक पेटेण्ट में कपडों को जलरोधी बनाने के लिए रबर विलयन अथवा आक्षीर का वर्णन किया गया है। परन्तु इसके लिए अथवा अन्य प्रयोजनों के लिए आक्षीर का वाणिज्यिक उपयोग अभी हाल तक नहीं किया गया। परिवहन व्यय कम करने के लिए आक्षीर का सांद्रण करके उसकी रबर-मात्रा ६०% कर दी जाती है, यह क्रिया या तो अपकेन्द्र-पृथक्कारी की सहायता से पूरी की जाती है या सोडियम ऐल्गिनेट जैसे कलिलीय क्रीमिंग एजेण्ट डालकर। आक्षीर के सांद्रण के लिए उसमें पोटासियम हाइड्रॉक्साइड अथवा रक्षक कलिलीय पदार्थ डालकर उसे उद्वाष्पित भी किया जाता है। एक परिरक्षी[5] के रूप में अमोनिया अथवा पोटासियम हाइड्रॉक्साइड की लघु मात्रा सहित आक्षीर को पीपों अथवा बडे-बडे टैंकों में भरकर जहाजों में भेजा जाता है।

[1] Abrasive wear [2] Stress [3] Accelerator [4] Latex
[5] Preservative

सयोजक सघटक चाहे ठोस हो या द्रव, आक्षीर में मिलाने के पूर्व जल में सूक्ष्मत विक्षेपित कर लिये जाते है। इस प्रकार सयोजित आक्षीर से रबर की वस्तुएँ बनाने के लिए विभिन्न रीतियाँ अपनायी जाती हैं, जैसे थैलो अथवा बैलूनो के लिए निमज्जन (डिपिंग), धागे के लिए स्कन्दी ऊष्मक (कोआगुलैण्ट बाथ) से उत्सारण[1], स्तारो के लिए विस्तारण (स्प्रेडिंग) तथा कृत्रिम चमडे के लिए व्यापन[2] और वल्कनीकरण बहुधा सुखाने के बाद किया जाता है। उपयुक्त यत्रो की सहायता से आक्षीर को फेनायमान (फोमिग) बनाकर कोशामय (सेलूलर) रबर तैयार करने में भी सयोजित आक्षीर का बडा सफल एव व्यापक प्रयोग किया जाता है। फेनक (फॉय) को वाछित आकार के साँचो में ढालकर स्कन्दित तथा वल्कनीकृत करके धोने तथा सुखाने के बाद हलका और मुलायम रबर-स्पन्ज तैयार हो जाता है। इसकी बनावट में विशिष्ट एकरूपता होती है तथा वायु-कोशिकाएँ एक दूसरे से जुडी रहती है। विद्युत्-सचायक (ऐक्युमुलेटर्स) के पृथक्कर्ता बनाने के लिए सूक्ष्म रन्ध्रीय[3] एबोनाइट तैयार करते समय भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का सिद्धान्त अपनाया जाता है, उपयुक्त सयोजित आक्षीर के आर्द्र स्कन्द का वल्कनीकरण करके "कठोर रबर" बनाते समय उसके अन्दर पडे जल को बाहर नही निकलने दिया जाता।

आक्षीर की गोलिकाओं पर सामान्यत ऋणात्मक विद्युत प्रभार होता है और इसके स्कन्दन के बहुत से रूप (फीचर) इस प्रभार (चार्ज) पर निर्भर होते हैं। इसके अलावा इनके विद्युत प्रभार के कारण आक्षीर में विद्युत्धारा प्रवाहित कराकर रबर की वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं। धातुओं के विद्युत-निक्षेपण (इलेक्ट्रो डिपाजिशन) के प्रतिकूल रबर का निक्षेपण धनाग्र[4] अर्थात् उस विद्युदग्र[5] पर होता है जिसके द्वारा धारा द्रव में प्रवेश करती है। स्वाभाविकतया रबर उस तल का आकार ग्रहण कर लेता है जिस पर वह निक्षेपित होता है और बाद में उससे पृथक् कर लिया जाता है।

रबर-आक्षीर का एक अत्यन्त चमत्कारी गुण यह है कि जब इसका गधक (अथवा सगद ऑक्साइड तथा शक्तिशाली त्वरक) के साथ सयोजन होता है तो इसके रबर का बिना स्कन्दन के ही वल्कनीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार वल्कनीकृत आक्षीर की वल्कनीकृत गोलिकाओं पर अब भी विद्युतप्रभार एव साधारण रबर

[1] Extrusion [2] Impregnation [3] Microporous [4] Anode
[5] Electrode

गोलिकाओं के अन्य लक्षण बने रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुनिर्माण के लिए साधारण रबर-आक्षीर की तरह इस प्रकार वल्कनीकृत आक्षीर का भी सफलता-पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है, अन्तर केवल इतना होगा कि निष्पन्न वस्तु पहले से ही वल्कनीकृत होगी, उसे केवल सुखाना मात्र शेष रहेगा।

रबर की रासायनिक व्युत्पत्तियाँ—एक असतृप्त रासायनिक यौगिक होने के नाते तेलों की तरह रबर में भी कुछ सकाली[1] प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा की जा सकती है, यद्यपि यह पहले ही बताया जा चुका है कि इस असतृप्त सरचना के बावजूद भी रबर में अपूर्व स्थायित्व होता है। यह भी लिखा जा चुका है कि वल्कनीकरण में गधक का रबर से सयोजन होता है तथा एबोनाइट के रबर-अणु प्राय पूरी तरह सतृप्त माने जाते है। इसी प्रकार शीत वल्कनीकरण में सल्फर क्लोराइड की क्रिया भी तेलों की तरह होती है। रबर के तल का चिपकाऊपन[2] कम करने के लिए ब्रोमीन और क्लोरीन का प्रयोग किया जाता है।

प्राय पिछले दस वर्षो से दूसरे रासायनिक पदार्थ बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में रबर का इस्तेमाल करने का व्यापक प्रयत्न किया गया है। अधिक उत्पादन के समय रबर के भजक आसवन (डिस्ट्रक्टिव डिस्टिलेशन) द्वारा ऐसे वाष्पशील कार्बनिक विलायक तैयार किये गये, जो टर्पेण्टाइन के प्रतिस्थापक के रूप में प्रयुक्त हो सकें। इस प्रकार की विधा का १८३३ ई० में ब्रिटिश पेटेण्ट कराया गया था किन्तु बारबार इसकी पुनरावृत्ति होती रही। कोबल्ट साबुन जैसे उत्प्रेरकों[3] की उपस्थिति में रबर का ऑक्सीकरण करके 'रबोन'[4] नामक प्रलाक्षरस[5] जैसा एक पदार्थ उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया।

प्रारम्भ से ही रबर के क्लोरीनीकरण की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ था और इसके लिए १८५९ में लगभग एक साथ ही दो पेटेण्ट लिये गये थे। गत २५ वर्षों मे रबर के क्लोरीनीकरण में लोगों की रुचि फिर से जागी और विविध स्वामित्व-नामों से पदार्थ बने जिनका व्यापक प्रयोग भी हुआ। ऐसा पदार्थ केवल एक सकाली (ऐडिटिव) यौगिक नही बल्कि उसमें क्लोरीन द्वारा हाइड्रोजन का प्रतिस्थापन भी हो जाता है। इस प्रकार की एक उत्पत्ति का सूत्र $C_{10}\ H_{13}\ Cl_7$ निश्चित किया गया है। यह पदार्थ अज्वलनशील (नॉन-इन्फ्लेमेब्ल) है तथा इसका

[1] Additive [2] Tackiness [3] Catalysts [4] Rubbone
[5] Lacquer

रूपान्तरण करके लघु घनता एवं उत्तम उष्मा-विसवाहन (हीट इन्सुलेशन) वाली रन्ध्री (पोरस) तथा रेशेदार (फाइब्रस) वस्तु बनायी जा सकती है। इसमें अम्लों एवं क्षारों के प्रति विलक्षण रोध[1] भी होता है तथा यह रगलेपों के एक उपयोगी सघटक का भी काम करता है। साधारण ताप पर यह पदार्थ रबर की तरह नहीं होता। रबर तथा हाइड्रोजन क्लोराइड का सकाली यौगिक भी आकर्षक वस्तु है, इसमें विशेषतया नम्य एवं पारदर्शक झिल्ली बनने की क्षमता होती है और इस काम के लिए 'प्लियोफिल्म' के नाम से यह बाजारों में बिकती भी है।

यह एक बडी रोचक बात है कि परिशुद्ध गटापार्चा तथा परिशुद्ध रबर का रासायनिक विश्लेषण करने पर एक समान ही फल प्राप्त होते हैं। परन्तु एक को दूसरे का रूप देने का, विशेष कर सस्ता होने के कारण रबर को गटापार्चा बनाने का, कोई प्रयत्न सफल न हो सका। लेकिन कुछ रासायनिक प्रतिकर्मकों[2] की सहायता से रबर से उसी निबन्धवाले अन्य उपयोगी पदार्थ बनाये गये है। इनमें से कुछ पदार्थों का तो अब उत्तम वाणिज्यिक महत्त्व भी है। 'प्लियोलाइट' अथवा 'प्लियोफार्म' विशेष उल्लेखनीय हैं, ढलाई अथवा कपड़ों वगैरह पर विस्तारण (स्प्रेडिंग) के लिए इसका अच्छा उपयोग होता है। 'वल्कलॉक' नामक एक दूसरा पदार्थ लोहे तथा इस्पात पर रबर चढाने के लिए बन्धनकारक[3] के रूप में बहुतायत से प्रयुक्त होता है। प्लियोफार्म तथा वल्कलॉक दोनों ही ऊष्मप्लास्टिक हैं तथा साधारण ताप पर इनका कठोर, अवितान्य[4] ठोस रूप होता है।

सश्लिष्ट रबर—१८७९ में जी० बोखार्डाट ने आइसोप्रेन से रबर बनते देखा था, परन्तु रबर के भजक आसवन (डिस्ट्रक्टिव डिस्टिलेशन) के अतिरिक्त अन्य साधनों से प्राप्त आइसोप्रेन से रबर के सश्लेषण का प्रथम अनुभव डब्लू० ए० टिल्डेन ने ही किया, जिसके फलस्वरूप अन्य पदार्थों से भी सश्लिष्ट रबर का उत्पादन सभव हुआ। उसी समय से यह ज्ञात हुआ कि ऐसे अनेक हाइड्रोकार्बनो तथा उनकी व्युत्पत्तियो में, जिनमें C : C · C · C सूत्र की तरह की चार कार्बनपरमाणुओं की शृखला जुडी रहती है, स्वत एक में मिलकर रबर जैसे पदार्थ उत्पन्न करने की क्षमता होती है। यद्यपि साधारणतया इस प्रकार की प्रतिक्रिया बडी मन्द गति से होती है परन्तु कुछ उत्प्रेरकों द्वारा यह त्वरित की जा सकती हैं। रबर के सश्लेषण के लिए अगर आइसो-

[1] Resistance [2] Chemical agents [3] *Bonding agent*
[4] Inextensible

प्रेन के स्थान पर अन्य असन्तृप्त यौगिक प्रयुक्त किये जायें तो उत्पन्न पदार्थ की बनावट प्राकृतिक रबर की बनावट से भिन्न होती है, यद्यपि उसके भौतिक गुणों में अन्तर नहीं होता, क्योंकि वे लम्बी शृंखलावाले अणुओं की विशेषता है। प्रारम्भिक अवस्था में प्राकृतिक रबर-जैसे ही रासायनिक यौगिक उत्पन्न करने की कोशिश की गयी थी, किन्तु आगे चलकर बूटाडीन के पुरुभाजन[1] से संश्लिष्ट रबर तैयार करने में बड़ी प्रगति हुई। इस प्रतिक्रिया में बूटाडीन के साथ कुछ अन्य पुरुभाजन योग्य पदार्थ भी रखे जाते थे। जर्मनी में बने ऐसे संश्लिष्ट रबर को 'बूना' की संज्ञा दी गयी। इस नाम की उत्पत्ति 'बूटाडीन' से ही है। बूटाडीन के पुरुभाजन को सोडियम से उत्प्रेरित किया जाता था। बूना रबर के कई प्रकार होते हैं, जिनकी अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ पुरुभाजन के समय उपस्थित अन्य पुरुभाजन योग्य पदार्थों की प्रकृति एवं प्रतिक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं पर निर्भर करती हैं। 'बूना एस०' बूटाडीन और स्टाइरीन (C_6H_5 CH CH_2) का सह-पॉलीमराइड है, उसी प्रकार 'बूना एन०' बूटाडीन और ऐक्रिलिक नाइट्रील (CH_2 CH CN) का सह-पॉलीमराइड है, 'परबुनान' भी इसी प्रकार की उत्पत्ति है जिसमें ऐक्रिलिक नाइट्रील का अनुपात अधिक होता है। यद्यपि ऐसे पदार्थ प्राकृतिक रबर से रासायनिकतया भिन्न होते हैं परन्तु उनका महत्त्व तो अपघर्षण-रोध, तैल-अवशोषण-रोध तथा विद्युत्-पृथक्कारी जैसे गुणों के कारण होता है। ऐसे गुण इन संश्लिष्ट रबरों में ऐसी सीमा तक विकसित किये गये हैं जितना प्राकृतिक रबर में भी संभव नहीं हुआ।

१९४१ में जापानियों द्वारा रबर के मुख्य रोपण-क्षेत्रों पर अधिकार कर लिये जाने के बाद रबर के मुख्य स्रोत मित्र राष्ट्रों के हाथ से निकल गये। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रबल प्रयत्नों से सम्भावित संकट टला और १९४४ तक संश्लिष्ट रबर का ऐसा उद्योग स्थापित हो गया जिसमें प्रायः प्रति वर्ष १० लाख टन रबर उत्पन्न होने लगा। अमेरिका और कनाडा के कारखानों में उत्पन्न रबर बूटाडीन-स्टाइरीन सहपॉलीमर प्रकार के होते हैं तथा GR–S के नाम से जाने जाते हैं। प्राकृतिक रबर के स्थान पर इनका प्रयोग सब प्रकार की यन्त्रचालित सवारियों अथवा गाड़ियों के टायर बनाने के लिए किया जाता है। उत्तरी अमेरिका में अनेक अन्य प्रकार के भी रबर-संश्लिष्ट होते हैं, इनमें अवमन्दनीकरणीय एक रबर सदृश पदार्थ 'पॉली-आइसोब्यूटिलीन' भी है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह आइसोब्यूटिलीन और

[1] Polymerisation

बुटिलीनो तथा बूटाडीन या आइसोप्रेन के एक वल्कनीकरणीय सह-पॉलीमर के पुरुभाजन से बनता है। अन्य और कई प्रकार के सश्लिष्ट रबर बडे पैमाने पर बनाये जाते है, प्रयोगशाला-पैमाने पर तैयार किये जानेवाले ऐसे रबरो की संख्या सैकडों की है। सश्लिष्ट रबर का उद्योग रूस में भी विद्यमान है किन्तु उसके बारे में अधिक जानकारी नही है। अनुमान है कि जर्मनी के 'बूना' उद्योग का भी विशेष प्रसार एव विकास हुआ होगा।

नियोप्रेन सश्लिष्ट रबर का एक दूसरा वाणिज्यिक रूप है, जो क्लोरोबूटाडीन (CH_2 CH CCl CH_2) के पुरुभाजन से उत्पन्न किया जाता है, फलत: इसकी बनावट $(C_4 H_5 CL)_x$ होती है। इसमें पुराना न होने तथा ऊष्मा-स्थायित्व के बडे उत्तम गुण होते है, तथा बूना–N प्रकार के रबर की तरह इसमें तेलो और अनेक कार्बनिक विलायको की क्रियाओं का प्रतिरोध भी प्राकृतिक रबर की तुलना में कही अधिक होता है। प्राकृतिक रबर तथा बूटाडीन से व्युत्पन्न सश्लिष्ट रबरो की तरह वल्कनीकरण के लिए इसमें गधक अनिवार्य नही होता, बल्कि उसी प्रकार का भौतिक परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए इसे यशद ऑक्साइड के साथ गरम किया जाता है। यद्यपि प्रारम्भ में 'नियोप्रेन' नाम का प्रयोग क्लोरोबुटाडीन के पुरुभाजन से उत्पन्न पदार्थ के लिए ही किया गया था किन्तु बाद में इसका प्रयोग एक वर्ग के लिए किया जाने लगा और उसके आगे कोई एक अक्षर लगाने से पदार्थविशेष का बोध होने लगा।

'बूना' और 'नियोप्रेन' के सश्लेषण के लिए चूना और कोक प्रारम्भिक पदार्थ के रूप में इस्तेमाल होते है, जिनसे पहले कैल्सियम कार्बाइड और एसिटिलीन बनती है। इसी एसिटिलीन से विविध रासायनिक परिवर्तनो के बाद बूटाडीन या क्लोरो-बूटाडीन तैयार होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका में बूटाडीन उत्पादन के अन्य तरीको को भी प्रश्रय दिया गया है—ब्यूटेन तथा ब्युटिलीनो जैसी पेट्रोलियम गैसों के उत्प्रेरक हाइड्रोजनन की विधा और ऐलकोहाल से उत्प्रेरक विधा द्वारा बूटाडीन प्राप्त करना इनके उदाहरण है। GR–S के लिए स्टायरीन का उत्पादन बेंज़ीन तथा इथिलीन के उत्प्रेरक सघनन से किया जाता है।

उपर्युक्त सश्लिष्ट रबरो के अतिरिक्त आजकल विविध रासायनिक विधाओ (प्रक्रियाओ) से अनेक ऐसे वाणिज्यिक पदार्थ प्राप्त होते है, जिनमें रबर जैसे गुण होते है यद्यपि वे रासायनिकतया प्राकृतिक रबर से और भी भिन्न होते है। इनमें से अधिकाश पदार्थ अपने-अपने स्वामित्व (प्रोप्राइटरी) नामों से बाजार में बिकते है। इनके रबर जैसे गुण भी लम्बी शृखलावाली आणविक सरचना पर निर्भर होते है।

इस सबन्ध में थायकोलो तथा 'पॉलीथीन' की चर्चा की जा सकती है। इथिलीन-डाइसल्फाइड के पदार्थ थायकोलो के बड़े सरल उदाहरण हैं। इथिलीन के पुम्भाजन से ही पॉलीथीन तैयार होती है। ये पदार्थ बहुत कुछ गटापार्चा के समान होते हैं लेकिन ऊष्मा तथा ऑक्सीभवन के प्रति इनमें अधिक स्थायित्व होता है।

सयुक्त राज्य अमेरिका एव कनाडा के सश्लिष्ट रबर कारखानो के बन जाने से द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रो की फौजो के गमनागमन के लिए अत्यावश्यक पदार्थ रबर के भयकर अभाव की बडी सफल पूर्ति हुई। उस समय अधिकाधिक रबर उत्पन्न करने की समस्या थी, किन्तु आज रसायनज्ञो एव रासायनिक इन्जीनियरो के सामने इतने व्यापक पैमाने पर उत्पन्न होनेवाले रबर की खपत का विशाल प्रश्न उपस्थित हो गया है।

ग्रथसूची

BARRON H *Modern Synthetic Rubbers*, 2nd Ed Chapman & Hall, Ltd

DAVIS, C C, AND BLAKE, J T *Chemistry and Technology of Rudber.* Reinhold Publishing Co

GEER, W C · *Reign of Rubber* The Century Co

HENCOCK, THOMAS : *Personal Narrative of the Origin and Progress of the Caoutchouc or India-Rubber Manufacture in England* Longman, Brown Green, Longmans and Roberts

GOODYEAR, CHARLES *Gum Elastic* 1855 fascimile reproduction, 1937 , Maclaren & Sons

चमड़ा

डोरोथी जॉर्डन-लायड, एम० ए० (कैम्ब्रिज), डी०
एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

चमडे का उद्योग मानव-इतिहास के प्राचीनतम उद्योगो में से है। चमडा बनाने का काम सहस्रो वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था और प्राचीन लोगो में शायद ही कुछ ऐसे होंगे जिनकी सस्कृति में चमडा-कमाई की सरल रीतियो का उल्लेख न हो। फारो

की कब्रो से चमडे की ऐसी ऐसी वस्तुएँ मिली हैं, जिनसे उन पशुओं का भी पता लगता है जिनकी खाल से वे बनी थी। चमडा-निर्माण कला की इस प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए इसमें आश्चर्य ही क्या किया जा सकता है कि रसायनविज्ञान के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से यह कला अपनी अनुभवजन्य पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी।

प्राचीन समय के चमडा कमानेवालो के पास ऐसी चीजें थी जिनसे पशुओ की सड़नेवाली एव नाशवान् खाल से वे न सडनेवाला अच्छा चमडा तैयार कर लेते थे। इस कार्य के लिए प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ विविध प्रकार के होते थे—स्थावर, जगम एव खनिज। पशुओ की वसा तथा तेल तो इस काम के लिए बहुत समय से इस्तेमाल होते रहे है। बैल की खाल को पशुवसा से कमाने का उल्लेख होमर ने अपने 'इलियड' में किया है। यह विधा अब भी कारखानो मे कम्वाय चमडा बनाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। यह चमडा आजकल भेडो की खाल से तैयार किया जाता है। कम्वायकरण अर्थात् तेल से चमडा कमाई अब भी प्राय एक अनुभवजन्य विधा है। इससे जो चमड़ा तैयार होता है उसमें जलरोकता विशेष रूप से होती है। इसी लिए इसे धाव्य-चमडा[1] भी कहते हैं। इस विधा में तेल का स्वत ऑक्सीकरण होता है, जिससे ऐल्डिहाइड उत्पन्न हो जाते हैं। कच्चे चमडे के कमाये जाने से इस प्रतिक्रिया का सचमुच कितना सबन्ध है, नही बताया जा सकता। इस काम के लिए इस्तेमाल होनेवाले तेलो में काड तेल प्रमुख है, जिसमें असतृप्त वसीय अम्लो वाले कुछ ग्लिमराइड होते हैं। एस्किमो लोगो में तेल से चमडा कमाने की पुरानी विधा अब भी प्रचलित है। कुछ जातियो में सील की खाल को आदमी के बासी मूत्र में भिगोकर कमाने की प्रथा है। इस रीति में मूत्र के सघटको से खाल की वसा-कोशाओ की भित्तियाँ फट जाती हैं और उनमें से वसा निकलकर उसके तन्तुओ में फैल जाती है, जिससे वह कमा उठता है।

तेल से कमाये हुए चमडो की यह विशेषता होती है कि भीगने पर वे कडे हो जाते हैं लेकिन काम में लाये जाने पर फिर मुलायम हो जाते हैं। ऐल्डिहाइडो से कमाये चमडे में भी यह विशेषता होती है। उत्तरी एशिया के रेण्डियर तुगस लोगो द्वारा धुएँ से कमाये चमडे इस वर्ग के प्राचीन उदाहरण हैं। एस्किमो लोगो की तरह ये लोग भी पेडो की छाल और टहनियो से चमडे की कमाई करते थे। चमडा-कमाई की यह विधा यद्यपि अनुभवजन्य ही है, फिर भी लकडी के धुएँ में फार्मल्डिहाइड की

[1] Wash-leather

उपस्थिति जानी गयी है, और इसके धुएँ से कमाये चमडे फार्मांल्डिहाइड से कमाये चमडे के समान होते हैं। सीधे फार्मांल्डिहाइड इस्तेमाल करके चमडा कमाने की रीति रासायनिक ज्ञान पर आधारित है। इस रीति से "डोएस्किन" दस्ताने के चमडे बनाये जाते हैं, ये भी कम्वाय चमडे की तरह भेडो की खाल से ही तैयार किये जाते हैं। तेल से कमाये चमडे हल्के पीले अथवा पीले रग के होते हैं जब कि फार्मांल्डि-हाइड से कमाये चमडे सफेद होते हैं। इन दोनो प्रकार के चमडो को साबुन और पानी से धोया जा सकता है तथा सुखाकर और काम में लाकर मुलायम कर लिया जा सकता है। इसी लिए ऐसे चमडे दस्ताने बनाने के लिए बहुत प्रचलित हैं, उनका या तो प्राकृ-तिक रग रहने दिया जाता है या उन्हें रुचि-अनुसार रग लिया जाता है।

उपर्युक्त दोनो विधाओ (प्रक्रियाओ) में खाल के कणो अर्थात् उसकी ऊपरी सतह की कमाई में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को हल करने के लिए पहले यत्रो द्वारा खाल के कणो को साफ कर दिया जाता था, जिससे दोनो तरफ 'स्वेड' सतह वाला चमडा बन जाता था। लेकिन अब रासायनिक ज्ञान से बिना कणो को साफ किये हुए फार्मांल्डिहाइड चमड़े तैयार किये जाते हैं, जो सरलता से धोये जा सकते हैं। इनके एक ओर 'किड' सतह और दूसरी ओर 'स्वेड' सतह होती है। पूरे कणसहित फार्मांल्डिहाइड चमडे के निर्माण में प्रत्येक पद पर कठोर रासायनिक नियत्रण की आवश्यकता होती है।

वनस्पति पदार्थो के जलीय निस्सार से चमडा कमाना बडी प्राचीन रीति है, जो साधारणतया अब भी प्रयुक्त होती है। तल्ले के चमडे प्राय इसी तरह कमाये हुए होते हैं। इनके अतिरिक्त मशीनों के पट्टे, घोडे की काठी, लगाम, बाइसिकिल की गद्दी, अन्य प्रकार के पट्टे और तस्मे, सूटकेस, पम्प वगैरह के वाशर, कवच एव अन्य शस्त्रसभार, घर के सामान, मोटर गाडियो के सामान, हैट की पट्टी, जिल्दबन्दी के सामान, चश्मो के केस तथा अन्य प्रकार के सुन्दर सुन्दर बक्स और डब्बे इत्यादि ऐसे ही चमडे से बनाये जाते हैं। वस्तुत सभी प्रयोजनो के लिए चमडे की वानस्पतिक कमाई की जाती रही।

पुराने समय में वानस्पतिक कमाई करनेवाले सामान जुटाकर उनके जलीय आक्वाथ[1] अपने आप बना लेते थे। यह प्रथा कुछ हद तक अब भी प्रचलित है, विशेष कर कुछ विशिष्ट पदार्थों के लिए, किन्तु अब बहुधा बने-बनाये सान्द्रित निस्सारों[2]

[1] Infusion [2] Concentrated extracts

का प्रयोग बढता जाता है। पहले चमड़ा कमाने के द्रव ओक, मिमोसा, हेमलॉक, मैंग्रोव इत्यादि की छाल, सुमैक और खैर (गैम्बीर) की पत्तियो एव टहनियों, हरीतकी के फल और ऐल्गैरोबिल्ला, टारा, डिवी-डिवी की फलियों से तैयार किये जाते थे।

उपर्युक्त प्राकृतिक पदार्थ चमड़ा कमाने के लिए अब भी उपलब्ध हैं किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, आजकल इनके सान्द्रित निस्सारो का प्रयोग अधिक प्रचलित है। इन निस्सारों के बनाने का एक रासायनिक उद्योग ही खडा हो गया है जिसके फलस्वरूप कुछ ऐसी लकडियो से प्राप्त टैनीन भी काम में आने लगी, जो सरलता से प्राप्य न होने के कारण पहले कभी नही इस्तेमाल की जाती थी। इस प्रकार की लकडियो के निस्सारो का आधुनिक चमडा-कमाई में बड़ा महत्त्व है। इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दक्षिणी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका से प्राप्त चेस्टनट, दक्षिणी अमेरिका का क्युब्रैको, स्वीडन का ओकउड, स्प्रूस तथा अन्य कोनीफर हैं। इनके अलावा कागज उद्योग की लुगदी के अवशिष्ट सल्फोयित लिग्नीन भी बडे काम की चीज है।

यद्यपि प्राकृतिक पदार्थों से चमडा कमाने की प्रथा प्राय एक हजार वर्ष से प्रचलित है, लेकिन केवल पिछले लगभग पचास वर्षों से ही इसके विकास में रसायन-विज्ञान की सहायता ली गयी है। पुराने दिनो में कच्चे माल सस्ते थे तथा जहाँ के तहाँ मिल जाते थे, और सबसे बडी बात यह थी कि समय का कोई प्रश्न न था। चमडा कमाई का काम किसान लोग बहुधा जाडों में किया करते थे और जिस खाल को तनु द्रवों में एक ऋतु में डाल देते वह दूसरी ऋतु तक उसमें बिना खराब हुए पडी रहती। किन्तु आजकल चमडा कमाई एक सुगठित उद्योग है और इग्लैण्ड में प्राय बन्दरगाहों के नजदीक स्थित है, जहाँ सारे ससार से कच्चे माल आते हैं। इसके अलावा ऊपरी खर्चे को कम करने में समय की बचत भी बडी महत्त्वपूर्ण बात है। साथ ही चमडा कमाई विधा मे विशेष गति आ जाने के कारण उसके प्रत्येक पद पर कठिन एव सुतथ्य नियत्रण की आवश्यकता हो गयी जो रासायनिक रीतियों से ही सभव हुआ।

वानस्पतिक पदार्थों से चमडा कमाने के लिए अम्ल द्रव की आवश्यकता होती है। पुराने समय में यह अम्ल टैन द्रवों के किण्वन[1] से तैयार हो जाता था, किन्तु किण्वन केवल कुछ ही द्रवो में हो पाता था। कालान्तर में रासायनिक अनुसन्धानों से ठीक ठीक अनुपात में उपयुक्त अम्ल अलग से डालना सभव हो गया। इसके परि-

[1] Fermentation

णामस्वरूप न केवल किण्वन योग्य टैनीनो का अनुचित खर्च बच गया (क्योंकि टैनीनों से ही अम्ल तैयार होता था) वरन् ऐसे टैनीन निस्सार भी सफलतापूर्वक इस्तेमाल होने लगे, जिनके किण्वन से अम्ल नहीं उत्पन्न होता था।

हरीतकी टैनीन मे प्रचुर अम्ल उत्पन्न होता है किन्तु व्युवैको मे नही। किन्तु अब अलग से अम्ल डालने के कारण टैनीन और उपयुक्त अम्ल का ठीक ठीक चुनाव करके चमडा कमानेवाले अपने चमडे के प्रकार और गुण में यथेष्ट परिवर्तन कर सकते है, वह चाहें तो कडा चमडा तैयार कर लें चाहे मुलायम और चमडे की जल-पार-गम्यता (परमीयेबिलिटी) भी प्राय अपनी इच्छानुसार निश्चित कर सकते है। आजकल चमडा-कमाई के लिए निस्सार बनानेवाले भी मिश्रित निस्सार तैयार करने लगे हैं, लेकिन इनके प्रयोग से वाछित सफलता तभी प्राप्त होती है जब इनके सघटको के रासायनिक गुण अच्छी तरह ज्ञात हो।

चमडा-कमाई के लिए फिटकरी और नमक जैसे खनिज पदार्थों का प्रयोग भी बडा पुराना है। दस्तानो और जूतो के लिए सुन्दर सफेद और रगीन चमडे बनाने के लिए यह प्रक्रिया प्रयुक्त होती थी। आजकल भी यह रीति श्वेत चमडा बनाने तथा फर खाल एव ऊनी भेडो की खाल कमाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। फिटकरी से चमडा कमाने में सबसे बडी हानि यह है कि चमडे एकदम जल-अनवरोधी (नॉन-रेसिस्टेण्ट) हो जाते है, अर्थात् एक बार भीगकर कडे हो जाने पर फिर वे कभी मुलायम नही होते। पुराने काल में कुछ समय तक प्रयोग करने के बाद दस्तानो के कडे होकर खराब हो जाने का यही कारण था, क्योकि हाथ के पसीने से जहाँ वे एक बार कडे हो जाते फिर वे बेकार ही हो जाते थे।

आजकल फिटकरी के स्थान पर क्रोम लवणों से चमडे की कमाई होने लगी है। इस विधा के आविष्कार का श्रेय रसायनज्ञो को है। क्रोम लवण क्रोम अयस्को (ओर्स) से बनाये जाते है तथा सर्वथा रासायनिक उद्योग की ही देन है। १८५८ में नैप ने चमडा-कमाई की क्रोम विधा का पेटेन्ट कराया था और उन्ही ने १८७९ में इग्लैण्ड मे इसका प्रचलन भी किया। अच्छे जूतो का ऊपरी चमडा तथा कोट और वेस्ट कोट के लिए चमडे आजकल इसी विधा से तैयार किये जाते हैं।

क्रोम से कमाये चमडे की सबसे मनोरजक विशेषता यह है कि एक बार सूख जाने के बाद फिर यह भीगता नही यानी किसी विशेष रीति से जल-सह बनाये बिना ही यह जूतो के ऊपरी चमडे के लिए बडा उपयुक्त होता है। क्रोम चमडे पर वानस्पतिक पदार्थों से कमाये चमडे की तुलना में गरम जल का भी कम असर होता है।

रासायनिक अन्वेषणो के परिणामस्वरूप चमडा कमाई के लिए अन्य और

किन्तु आजकल चमडा बनाने में केवल उसे कमाना मात्र ही पर्याप्त नही, उसके लिए कितनी ही अन्य विधाएँ (प्रक्रियाएँ) भी अपनानी पडती है। पहले खाल को साफ करके उसके वाल निकाले जाते है, जिससे उसके छिद्र इस प्रकार खुल जायँ कि उनमें टैनीन के अणु सरलता से प्रवेश कर सकें। खाल से बालों की सफाई सोडियम सल्फाइड सहित चूने के आलम्बन (सस्पेन्शन) से की जाती है। चूने से हल्का सा जलाशन (हाइड्रॉलिसिस) होता है और सोडियम सल्फाइड अपचायक (रिड्यूसिग एजेण्ट) का काम करता है। इस प्रकार रसायनशास्त्र की सहायता से इस विधा का नियत्रण किया जा सकता है। कभी कभी खालो से वाल उतारने का काम दह-सोडा उपचार और तत्पश्चात् प्रोटीनाशिक एन्ज़ाइमो की क्रिया द्वारा भी सम्पन्न किया जाता है। यह रीति भी रासायनिक अन्वेषण का ही फल है तथा इसमें कठिन रासायनिक नियत्रण की आवश्यकता होती है। मुलायम चमडा बनाने के लिए हल्की खालोंको कमाने के पहले प्राय हमेशा उनका एन्ज़ाइम से उपचार करना पडता है। पुराने समय में इस क्रिया के लिए कुत्ते, मुर्गी तथा शेर तक के मल का आक्वाथ इस्तेमाल किया जाता था। आगे चलकर जे० टी० उड के कार्यो से यह स्पष्ट हो गया कि इस अनुभवजन्य रीति का रासायनिक आधार प्रोटीनाशिक एन्ज़ाइमों की ही क्रिया थी, और अब ये एन्ज़ाइम पैंक्रियास अथवा जीवाणु-सवर्ध (बैक्टीरियल कल्चर) से प्राप्त तथा दुर्गन्धयुक्त मल आक्वाथो के स्थान पर प्रयुक्त किये जाते है।

कमाये जाने के बाद चमडो का परिरूपण किया जाता है। तल्लो के चमडो को तैलोपचारित करके बेलनो द्वारा बेल दिया जाता है जिससे वे मजबूत और टिकाऊ हो जायँ।

मशीन के पट्टे, घोडे की काठी और लगाम, साइकिल की गद्दी तथा तस्मो के चमडो का खूब स्नेहन किया जाता है। इस उपचार से चमडे के तन्तुओं में स्नेह प्रवेश कर जाता है जिससे वह मजबूत और आनम्य (प्लायेब्ल) हो जाता है। चमडे के अन्दर तेल का प्रवेश उसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) तथा तलतनाव (सर्फेस टेन्शन) पर निर्भर होता है, साथ ही उसके भीतर तेल को अपरिवर्तित रूप में बनाये रहने के लिए हवा द्वारा उसके असतृप्त वसीय अम्लो के स्वत ऑक्सीकरण को रोकना पडता है।

जूतो, दस्तानो, वस्त्रो तथा शोभा की वस्तुओं के लिए चमडो को तरह-तरह के रगो मे रँगना पडता है, आजकल उन पर प्लास्टिक परिरूप भी चढाया जाता है। रँगाई उद्योग भी रसायनविज्ञान पर आधारित है और आज के प्राय सभी रग रासा-

यनिक प्रयोगशालाओं के उत्पादन हैं तथा सफल रँगाई के लिए सतर्क रासायनिक नियत्रण की आवश्यकता होती है।

रँगाई के सबन्ध में कपड़े और चमडे में एक आधारभूत भेद होता है। चमड़े की तन्तुरचना एकसम नही होती बल्कि विभिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न होती है। इसी लिए साधारणतया उनकी रँगाई एकरूप नहीं होपाती। इसके लिए आजकल चमडो पर रगद्रव्य-युक्त प्लास्टिक का एक स्तर चढा दिया जाता है। ये प्लास्टिक चाहे तो केजीन-फार्माल्डिहाइड प्लास्टिक हो अथवा नाइट्रो-सेलुलोज प्रलाक्ष (लैकर)। अन्य सश्लिष्ट एव प्राकृतिक रेजीनें भी प्रयुक्त होती हैं। चमड़ो का इस प्रकार परिरूपण प्लास्टिक उद्योग का एक भाग कहा जा सकता है और प्लास्टिक उद्योग तो सर्वथा रासायनिक विज्ञान पर ही निर्भर है। मोटर गाडियों के सामानो के लिए प्रयुक्त होनेवाले सभी चमडो का परिरूपण नाइट्रो-सेलुलोज प्रलाक्षो मे ही किया जाता है। पुराने ज़मानेवाले पेटेण्ट चमडे पर अलसी तेल की धीरे-धीरे जमनेवाली वार्निश का स्तर चढाया जाता था, किन्तु आधुनिक समय में चमडो का परिरूपण रगद्रव्य—युक्त प्लास्टिक अथवा नाइट्रो-सेलुलोज से किया जाता है, यह एनामलकृत चमडे कहे जाते हैं।

ग्रथसूची

ARNOLD, J R. : *Hides and Skins* A W. Shaw Co , Chicago

GNAMM, H *Gerbstoffe u Gerbmittel* Julius Springer

GRASSER, G , AND ENNA, F G A *Synthetic Tannins* Crosby Lockwood & Son.

HOUBEN, L *La Courroie*, Houben, Verviers

IMPERIAL INSTITUTE *Preparation of Empire Hides and Skins.*

IMPERIAL INSTITUTE *Tanning Materials of the British Empire.*

JORDON-LLOYD, D *Leather.* Royal Institute of Chemistry.

LAMB, M C *Manufacture of Chrome Leather* Anglo-American Technical Co , Ltd., London.

LAMB, M. C . *Leather Dressing* Anglo-American Technical Co , Ltd , London.

NIERENSTEIN, M *Natural Organic Tannins* J & A Churchill.

PROCTER, H. R. : *Principles of Leather Manufacture* E. & F. N. Spon, Ltd

SCHINDLER, W. *Die Grundlagen des Fettlickerns*. Sächsische Verlag, Leipzig

STIASNY, E. *Gerbereichemie*. Theodor Steinkopf

WILSON, J. A. *Chemistry of Leather Manufacture*. Reinhold Publishing Co.

WOOD, J. T. *Puering, Bating, and Drenching of Skins*. E. & F. N. Spon, Ltd.

आसजक और सरेस[1]

आर० वैरी ड्रयू, एम० एस सी० (मेनचेस्टर), एफ० आर० आई० सी०

आसजक अर्थात् 'ऐडहेसिव' उद्योग में सरेस, गोंद, लेई तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ तैयार की जाती है, जिनका अनेक औद्योगिक प्रयोजनों में उपयोग होता है। परन्तु सरेस इनका एक उत्तम उदाहरण है, जिसका प्रयोग प्राचीन मिस्र के लोग करते थे और तभी से सजावट और बनावट के काम में इसका इस्तेमाल होता आया है। उपस्कर (फर्नीचर) के कौतुकागारों (म्यूज़ियम) में ऐसी सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ संगृहीत हैं जो आज तक अपने मूल स्वरूप में पूर्णतया सुरक्षित है। दो लकड़ी के टुकड़ों को सरेस से जोड़ने की साधारण क्रिया का यह अति सूक्ष्म इतिहास है। इस सामान्य रीति के अध्ययन से यह ज्ञात होगा कि एक पुरानी कला विज्ञान के प्रभाव से किस प्रकार बढ़ी और कैसे आज एक विशाल आधुनिक उद्योग के रूप में विद्यमान है।

पुराने कारीगर पशुओं की खाल एवं स्नायुओं को पानी में उबालकर अपने काम के लिए सरेस बनाते थे। क्वाथ को निथारकर उसे उद्वाष्पित करके गाढ़ा सरेस द्रव तैयार किया जाता था। यही द्रव जो गरम रहते श्यान (विस्कस) द्रव के रूप में होता, ठंढा हो जाने पर जमकर जेली बन जाता। गरम श्यान द्रव को दो लकड़ियों के बीच लगाकर उन्हें बराबर बाँध दिया जाता। जोड़ के सूख जाने पर लकड़ी के दोनों टुकड़े आपस में जुड़ जाते।

स्पष्ट है कि जोड़ को पक्का करने के लिए कुछ अन्य बातें भी आवश्यक थीं।

[1] Adhesives and glues

अम्लों की क्रिया पर आधारित हड्डियों के मृदुलन की एक अन्य विधा भी विकसित हुई, किन्तु इसका अधिक प्रयोग खाद्य जिलेटिन तैयार करने में हुआ, अत यहाँ पर उसका कोई विस्तृत उल्लेख करने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक में सरेस उद्योग काफी अच्छी तरह विकसित हो गया था और उसमें बड़े पैमाने पर प्राविधिक रीतियाँ भी अपनायी गयी थी। यदि पॉसिन की प्रतिभा और उसके अनुशीलन की बात छोड़ दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त रीतियों के विकास में वैज्ञानिक अनुसन्धानो का कोई विशेष हाथ न था, वरन इसका श्रेय अधिकाशत उन कारखानेवालो की योग्यता और उनके *अध्यवसाय को है जो अपने समय की आर्थिक स्थिति एव प्राविधिक प्रगति के* साथ साथ बराबर चलते रहे। वस्तुत आज के रासायनिक इन्जीनियरिंग एवं प्रोटीन-रसायन को ध्यान में रखकर इस बात पर बडा अचम्भा होता है कि प्रोटीन जैसा जटिल पदार्थ केवल अनुभवजन्य रीतियो मे इतने बड़े औद्योगिक पैमाने पर कैसे इतनी सफलतापूर्वक विधायित होता रहा।

१९१४ के महायुद्ध का आसजको के अध्ययन पर विशेष प्रभाव पडा। हवाई जहाज बनाने में लकडी जोडने के लिए पशुसरेस की बडी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता हुई। ऐसे सरेस की अनिवार्य उत्तमता के कारण सरकार ने पशुसरेस की विशिष्टियाँ (स्पेसिफिकेशन्स) निर्धारित कर दी जिनमें उसके तनाव सामर्थ्य (टेन्सिल स्ट्रेंथ) *का निश्चयन भी शामिल था। इतना ही नही, सरकार ने इस समस्या पर समष्टि* रूप से अध्ययन करने के लिए एक समिति भी नियुक्त कर दी। मौलिक प्रयोगात्मक कार्य की एक योजना बनी एव कार्यान्वित हुई, और १९२२—२३ में उसकी रिपोर्ट तीन खण्डों में प्रकाशित हुई। "ऐडहेसिव कमेटी" के ये प्रतिवेदन (रिपोर्ट) बड़े उल्लेखनीय है, क्योंकि इनमें आसजन की समस्याओं को हल करने के लिए आधुनिक अन्वेषणरीतियो का प्रथम वर्णन है, इसके अतिरिक्त इनसे विषयविशेष की भावी प्रगति एव विकास के लिए बडी प्रेरणा और बडा उत्साह प्राप्त हुआ। इस प्रकार 'ब्रिटिश स्टैण्डर्ड्स इन्स्टिट्यूशन' प्रारम्भिक विशिष्टियो को निरन्तर *सशोधित करता* रहा तथा १९२७ में सरेसपरीक्षा की कुछ और रीतियाँ भी प्रकाशित की गयी। इन रीतियो के निर्धारण में रसायनज्ञों और निर्माताओ तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों ने काफी सावधानी एव जाँच-पड़ताल से काम लिया, जो परम्परागत रीतियो की तुलना में काफी विकसित एव प्रगतिशील सिद्ध हुई।

सरेस उद्योग में विश्लेषणरीतियों के प्रवेश के साथ साथ उस पर विज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव कलिलीय रसायन (कोलॉयड केमिस्ट्री) के विकास का पडा।

१८५० में ग्राहम ने "कोलॉयड" शब्द को जन्म दिया था, जिसका ध्येय जिलेटिन, स्टार्च तथा गोंद जैसी अकेलासीय (नॉन-क्रिस्टलाइन) पदार्थो की प्रकृति का बोध कराना था। १९१७ में कलिलीय रसायन की स्थिति एव उसकी औद्योगिक उपयोगिता के बारे में जाँच करने के लिए "ब्रिटिश असोसियेशन फॉर दि एडवान्समेण्ट ऑफ साइन्स" ने एक उप-समिति नियुक्त की, जिसने १९१७–१९२३ की कालावधि में अपना प्रतिवेदन विस्तृत खण्डो मे प्रकाशित किया। इस विषय की ततकालीन प्रगति का "फैरेडे सोसायटी" के "डिस्कशन्स" तथा "अमेरिकन कोलॉयड सिम्पोज़िया" के "मोनोग्राफ्स" में बडा सुन्दर विवरण है।

इन विकासो की पृष्ठभूमि तथा आधुनिक पदो मे लकडी जोडाई की आवश्यकताओं का वर्णन एक रोचक विषय है। गरम सरेसद्रव को अब भागश जलासित प्रोटीन का कलिलीय विलयन कहना अधिक उपयुक्त होगा। ऐसे विलयन में विद्यमान एकक विभिन्न आणविक (मॉलिक्यूलर) परिमाणो के होते हैं, जिनका प्रवेश भी विभिन्न रन्ध्रिता (पोरॉसिटी) वाले तलो में होता है। इस द्रव का तल-तनाव कम तथा श्यानता का उच्च तापगुणाक (हाई टेम्परेचर कोइफिशेण्ट ऑफ विस्कॉसिटी) अधिक होता है। यह भी ठडा होने पर जमकर जेली बन जाता है, जिसके सूखने पर ऐसा दृढ और ठोस स्तर बनता है जो फिर से पानी नही सोखता अर्थात् आर्द्र नही होता। इस स्तर की तनावसामर्थ्य दो बातो पर निर्भर होती है—(१) मूल प्रोटीन की शुद्धता एव उसके जलाशन (हाइड्रॉलिसिस) की सीमा, और (२) जोड की अन्तिम आर्द्रतास्थिति। जोडो को सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लकडी के दो तलो के बीच सरेस का एक ठोस एव अखण्ड स्तर होता है जो दोनो तलो के रन्ध्रो के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, इसी से वे दोनो तल परस्पर आबद्ध होते हैं और खूबी यह है कि जब ऐसे जोडो पर बलप्रयोग किया जाता है तब जोड के बीच का स्तर नही टूटता बल्कि उसकी समीपस्थ लकडी टूट जाती है।

प्रस्तुत लेख मे सरेस की काफी चर्चा की गयी क्योकि आसजक वर्ग का यह बडा महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। आसजक बहुधा ऐसे पदार्थो से बनाये जाते है जिनके अणु काफी बडे होते हैं, जैसे प्रोटीन, स्टार्च, रेजीन, रबर इत्यादि। द्रव मे इनका ऐसा विक्षेपण (डिस्पर्शन) होता है कि इनके अणु खण्डित होकर विभिन्न परिमाणो के हो जाते हैं। द्रव भी ऐसा होना चाहिए जो तलविशेष को आर्द्र कर सके, इसी लिए लकडी के लिए जलीय विलयन, सेलुलायड के लिए एसिटोन विलयन तथा रबर के लिए बेन्ज़ीन विलयन प्रयुक्त होते हैं। सूखने पर आसजक का यथावश्यक एक दृढ अथवा

लचकीला ठोस स्तर बनना चाहिए और इस स्तर में जुडनेवाले तलो के प्रति एक स्वाभाविक बन्धुता भी होनी चाहिए। तल के रन्ध्रो में आसजक अणुओ की प्रविष्टि से उसमें और भी अधिक मजबूती आ जाती है। अशत अपचयित (डिग्रेडेड) प्रोटीन और स्टार्च अथवा अशत रचित सश्लिष्ट रेज़ीन उत्तम आसजक का काम करती है। इनकी कुछ ऐसी भौतिरासायनिक सक्रियता होती है जिसके कारण उनमें विशिष्ट आसजन गुण आ जाता है, विशेष कर उनके अणुओ के अनेकत्व (प्लूरेलिटी) के कारण तलरन्ध्रो में उनका प्रवेश सहज हो जाता है जिससे जोड में विशेष सामर्थ्य आ जाती है। न सूखनेवाले आसजक द्रव ही रह जाते हैं और उनके जोडने की क्रिया उनकी चिपचिपाहट (टैकीनेस) के गुण पर ही निर्भर होती है, इसी से ऐसे जोड लचीले किन्तु कमजोर होते हैं।

यद्यपि इस लेख की सीमा के अन्दर सपूर्ण विषय का प्रतिपादन सभव नही, फिर भी कच्चे मालो के आधार पर वर्गीकृत कुछ उदाहरण तथा उनके वैज्ञानिक विकास का सक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है।

पशु-सरेस—*लकडी के कामो में तथा अपघर्ष*[1] *पत्र एव गोदलगे पत्र बनाने तथा* जिल्दसाज़ी के काम के लिए पशु-सरेस का प्रयोग होता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, आजकल के सरेस-निर्माता अपने निष्पन्न पदार्थ की नम्यता, चिपकाऊपन, *श्यानता जैसे गुणो पर विशेष नियन्त्रण रखने में सफल हुए हैं तथा वे प्रयोजनविशेष* के लिए विशिष्ट श्रेणियों के सरेस बना भी सकते हैं। पशु-सरेस का प्रयोग प्राय तप्त दशा में किया जाता है, लेकिन सूख जाने पर उसके स्तर में पुन आर्द्र होने अर्थात् *भीग जाने का गुण बना रहता है, इसलिए इस सरेस से जुडी वस्तुएँ खुली नही रखी जा* सकती, यद्यपि घर के अन्दर रखने पर ये असीम काल तक टिकती हैं।

मत्स्य-सरेस—यह सरेस एक श्यान द्रव के रूप में बिकता तथा लकडी के काम, *जिल्दसाज़ी और सामान्य मरम्मत के काम में प्रयुक्त होता है।*

केज़ीन-सरेस—गत महायुद्ध में हवाई जहाज़ बनाने के काम के लिए इस प्रकार के सरेस का विशेष विकास किया गया था, और आज भी उस प्रयोजन के लिए इसका बडा महत्त्व है। यह सरेस चूर्ण अवस्था में मिलता है, और इसमें केज़ीन, चूना तथा सोडा मिला होता है। इसमें ठडा पानी मिलाकर इसका इस्तेमाल किया जाता है। इस प्रकार जल मिलाने से भागश जलाशित केज़ीन का एक श्यान विलयन तैयार हो

[1] Abrasive paper

जाता है, जिसे ६ से ८ घण्टे के अन्दर इस्तेमाल कर लेना पड़ता है। सूखने पर जोड के बीच मे अविलेय कैल्सियम केजिनेट का एक दृढ स्तर बन जाता है। कैल्सियम केजिनेट के जल-अविलेय होने के कारण एक बार सूख जाने पर इसके स्तरो पर पानी का फिर कोई प्रभाव नही होता, इसी लिए केज़ीन-सरेस के जोड बहुत कुछ आर्द्रता-अवरोधी होते है। इस सरेस का विशेष गुण यह है कि इसे साधारण ताप पर बनाया और इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके निर्माण-उद्योग में भी वैज्ञानिक अनुसन्धान का बडा महत्त्व रहा है।

संश्लिष्ट सरेस—सश्लिष्ट सरेस सर्वथा रासायनिक अनुसन्धानो के फलस्वरूप प्राप्त हुए तथा प्लास्टिक उद्योग के प्रभाव में ही विकसित हुए है। ये सश्लिष्ट ऊष्म-स्थाप[1] रेजीनों के विलयन होते है और इनकी विशेषता यह है कि जहाँ पशुसरेस ठडा होने पर जमते है वहाँ ये गरम करने पर जमते हैं। मुख्यत इनका उपयोग स्तरकाष्ठ (प्लाईउड) बनाने में होता है। लकडी के स्तारो पर द्रव आसजक पोत दिया जाता है, अथवा उसको पतले कागज पर पोतकर सुखा लिया जाता है और इसी कागज को दो स्तारो के बीच रख दिया जाता है। इस प्रकार सरेसलगे स्तारो को ९०°-१४०° से० ताप पर रखे यात्रिक प्रेसो में दबा देने से वे आपस में जुड जाते हैं। यह सारी क्रिया बहुत शीघ्र हो जाती है जिससे उत्पादन भी बडे पैमाने पर हो सकता है। इस प्रकार तैयार किये गये स्तरकाष्ठ में जल की अतिरिक्त मात्रा की आवश्यकता नही होती। इन आसजको का विकास जलाभेद्य[2] स्तरकाष्ठ बनाने के लिए हुआ था और वे सफल भी हुए। पुरुभाजित फिनॉल-फार्मॉल्डिहाइड से सर्वथा जलावरोधी स्तर बनता है अत वायुयानों के प्रतिबलित (स्ट्रेस्ड) भागों के लिए पत्रदलीय[3] लकडी बनाने में इसका विशेष प्रयोग होता है। यूरिया-फार्मॉल्डिहाइड इतना अवरोधी नही होता किन्तु इसमें कुछ अन्य गुण होते हैं, जिनके कारण यह दारुफलक[4] काष्ठ के लिए उपयुक्त होता है। इन दोनो प्रकार के सश्लिष्ट सरेसो के लिए वायुयान-विशिष्टियाँ निर्धारित होती हैं। साधारण लकडी जोडने के काम में भी इनका प्रयोग होता है जो प्राय साधारण ताप पर ही किया जाता है, परन्तु इसके लिए इसमें कोई कठोरकारी[5] पदार्थ मिलाना पडता है। आधुनिक अनुसन्धान-रीतियो से इसका उद्योग भी बडी द्रुत गति से आगे बढ रहा है।

[1] Thermosetting [2] Waterproof [3] Laminated [4] Veneering [5] Hardening

स्टार्च आसंजक—३५०० ईसा पूर्व में भी महत्त्वपूर्ण कागजों को चिपकाने के लिए स्टार्च आसंजकों का प्रयोग होता था। स्टार्च अथवा मैदे को जल के साथ उबालकर एक लेपी (पेस्ट) तैयार करना स्टार्च आसंजक बनाने की सर्वसाधारण रीति है। इसमें क्षार मिला देने से कुछ अवस्थाओं में इससे लकड़ी भी भली प्रकार जोड़ी जा सकती है, इसलिए स्तरकाष्ठ यानी प्लाईउड बनाने के लिए भी ऐसे आसंजक प्रयुक्त होते रहे हैं। अम्ल, क्षार अथवा लवण मिलाकर इस प्रक्रिया में भी संशोधन करके उसे कागज तथा गत्तों के लिए विशेष उपयोगी बनाया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में डेक्स्ट्रीन अथवा "ब्रिटिश गम" का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। इसके बनाने के लिए *स्टार्च में कोई उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) मिलाकर उसको शुष्क अवस्था में गरम किया* जाता है। इस पदार्थ को जल में विलीन करने से एक श्यान (विस्कस) एवं चिपकदार विलयन तैयार हो जाता है, जो सूख जाने पर प्रयोग के लिए फिर गीला किया जा सकता है। इस गुण के नाते यह टिकटों एवं लिफाफों के लिए विशेष रूप से इस्तेमाल किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि *आसंजन के लिए स्टार्च-अणुओं का आंशिक* खण्डन आवश्यक है, किन्तु यदि उसका अपचयन (डिग्रेडेशन) अधिक सीमा तक हो जाय और माल्टोज़ बन जाय तो उसका आसंजन गुण गायब हो जाता है। पिछले कुछ दशकों में स्टार्चरसायन का बड़ा विकास हुआ है जिसके फलस्वरूप विशिष्ट प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के स्टार्च तैयार किये जा सके हैं। इन आसंजकों के *विश्लेषण की रीतियाँ 'ब्रिटिश स्टैण्डर्ड पब्लीकेशन' में दी गयी हैं।* इस उद्योग पर भी विज्ञान का प्रमुख प्रभाव रहा है, जिसके परिणामस्वरूप इसमें यथावश्यक संशोधन, परिवर्तन होते रहे हैं।

सोडियम सिलिकेट—सोडियम सिलिकेट विलयन का विकास अभी हाल की *बात है और यह अकार्बनिक आसंजक का एक रोचक उदाहरण है। यह विलयन* क्षारीय होता है और इसकी श्यानता भी अधिक होती है तथा इसमें विशिष्ट कलिलीय गुण भी होते हैं। इसके स्तर सूखने पर जलावरोधी नहीं होते। कागज के डब्बे तथा वलयित (कॉरुगेटेड) पत्र बनाने के उद्योग में इसका मुख्य प्रयोग होता है।

निर्जलीय आसंजक—*निर्जलीय (नॉन-ऐक्वुअस) आसंजकों का विकास भी* आधुनिक काल की ही बात है और अब इनका महत्त्व भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इनका उपयोग मुख्यतः इस बात पर आधारित है कि आसंजक द्वारा जोड़े जानेवाले तलों का आर्द्र होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ रबर को बेन्ज़ीन में विलीन करके एक श्यान विलयन बना लेने से रबर-सीमेण्ट तैयार हो जाता है। उसी प्रकार एसिटोन में सेलुलोज़ नाइट्रेट के विलयन से सेलुलायड जोड़ा जा सकता है। लाख

को भी ऐलकोहॉल में घुला कर अथवा यो ही गलाकर जोडने के काम मे लाया जा सकता है। लकडी वाले सश्लिष्ट सरेस तनु ऐलकोहॉल में विलेय होते हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो अन्य कार्बनिक विलायको में घुलनशील होते है, लेकिन *इनका प्रयोग उष्मस्थाप (थर्मोसेटिंग) सिद्धान्त पर नही, केवल विलायक के साधारण* उद्वाष्पन पर ही आधारित होता है। विनाइल एव स्टायरीन रेजीन तथा सेलुलोज ईथर और एस्टर ऐसी सश्लिष्ट रेज़ीनो के उत्तम उदाहरण है। वस्तुत. आजकल किसी भी प्रकार के तल के लिए उपयुक्त आसजक प्राप्य है।

अभिनव विकास—युद्ध काल में आसजको के विकास में भी रोचक एव महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई। पशु-सरेस की बेन्ज़ीन में अविलेयता का विशेष लाभ उठा कर उससे युद्ध-वायुयानो की ईंधन टकियाँ बनाने का काम लिया गया। और वायुयान बनाने में प्रतिबलित[1] जोडो के लिए सश्लिष्ट सरेसो का प्रयोग हुआ। उष्मस्थाप सश्लिष्ट सरेसो का उपयोग जलावरोधी स्तरकाष्ठ, सपीडित काष्ठ तथा व्यापित (इम्प्रेग्नेटेड) काष्ठ बनाने में किया जाता है। इन काष्ठो का विशेष प्रयोग वायुयान एव जलयान बनाने में होता है। इन सरेसो के उष्मस्थापन के लिए भापचोलि[2] प्रेसो के स्थान पर अब रेडियो आवृत्ति (फ्रिक्वेन्सी) शक्ति का प्रयोग होने लगा है। इसका विशेष लाभ यह है कि जोडो मे एकरूप ताप उत्पन्न किया जा सकता है। आजकल अलुमिनियम के स्तारो को स्थानिक सधान (स्पॉट वेल्डिंग) से न जोडकर कार्बनिक आसजको की सहायता से ही जोडा जाने लगा है।

आधुनिक प्लास्टिको के क्षेत्र में भी असाधारण विकास हुआ है और सश्लिष्ट आसजको की उन्नति में उससे विशेष लाभ हुआ। इसका पेटेण्ट वाङमय बडा विस्तृत है और दिनोदिन तेजी से बढता जा रहा है।

आसजको का बडा प्राचीन इतिहास है, किन्तु इनका उद्योग समय की माँग के साथ-साथ बराबर चलता, बदलता रहा तथा नयी माँगो की पूर्ति और नये ज्ञान का उपयोग करता रहा है। *प्रबल आशा है कि भविष्य में भी यह इसी प्रकार उन्नति* करता रहेगा।

[1] Stressed [2] Steam-jacketed

ग्रंथ-सूची

BOGUE, R H. : *Chemistry and Technology of Gelatine and Glue.* Mc-Graw Hill Book Co , Inc.

DULAC, R. · *Industrial Cold Adhesives.* Charles Griffin & Co., Ltd.

ELLIS, C *Chemistry of Synthetic Resins.* Reinhold Publishing Co.

HILL, F. T. *Materials of Aircraft Construction.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd

MORRELL, R. S. *Synthetic Resins and Allied Plastics* Oxford University Press

RADLEY, J A. *Starch and its Derivatives* Chapman & Hall Ltd.

SUTERMEISTER, E AND BROWNE, F L. : *Casein and its Industrial Applications* Reinhold Publishing Co

SMITH, P I *Glue and Gelatine.* Sir Isaac Pitman & Sons Ltd.

PERRY T D . *I. and S C. News* 1944, p. 700

DE BRUYNE *Aircraft Eng.*, Vol XVI. 1944 Pp 115. 140.

ARTICLE ON CYCLEWELD . *Modern Plastics (U S A.)* Sept 1943.

BOOKLET ON PLASTICS . *Postwar Building Studies, No.* 3, 1944. H. M. Stationery Office.

अध्याय १३

फोटोग्राफी

डी० ए० स्पेन्सर, पी-एच०डी० (लन्दन), ए०आर०सी०एम०,
एफ०आर०आई०सी०

रजत लवणों के प्रकाश-सुग्राही होने की बात प्रायः १७वीं शताब्दी के मध्य में ज्ञात हुई थी, किन्तु इस तथ्य का व्यावहारिक प्रयोग करके फोटोग्राफी का प्रारम्भ गत सौ वर्ष के पहले नहीं हुआ। फ्रान्स की सरकार ने १८३९ में डाग्युरे के आविष्कार का एक विस्तृत विवरण प्रकाशित कराया था। डाग्युरे ने अपने इस आविष्कार में यह प्रदर्शित किया था कि यदि रजत आयोडाइड के एक बहुत पतले स्तर को अल्प समय तक प्रकाश में विगोपित[1] किया जाय तो उसमें प्रत्यक्षतः कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उस पर एक 'गुप्त प्रतिबिंब' (लेटेण्ट इमेज) अंकित हो जाता है, इसे पारद वाष्प में विकसित किया जा सकता है। प्रकाश द्वारा रजत आयोडाइड के विच्छेदन से उसके तल पर जो लेशमात्र अदृष्टव्य रजत विमुक्त हो जाता है, उसी के साथ पारद का सरसीकरण[2] होने से द्रष्टव्य प्रतिबिंब उत्पन्न हो जाता है। पट्ट को सोडियम थायोसल्फेट विलयन में डुबो करके अपरिवर्तित रजत आयोडाइड को साफ कर देने से वह प्रतिबिंब स्थायी बनाया जा सकता है। इसी सोडियम थायो-सल्फेट को फोटोग्राफर लोग 'हाइपो' कहते हैं।

डाग्युरे के फोटो चित्र धातु-पट्टों पर बनते थे तथा उन्हें परावर्तित प्रकाश (रिफ्लेक्टेड लाइट) में ही देखा जा सकता था। दूसरी बात यह थी कि उनकी अतिरिक्त प्रतियाँ नहीं बनायी जा सकती थीं। किन्तु १८४० में इंग्लैण्ड में फॉक्स टेलबॉट ने फोटोग्राफी की आधुनिक विधा का समारम्भ किया। उन्होंने यह दिखलाया कि प्रकाश विगोपित रजत हैलाइड को हलके अपचायक (रिडक्टेण्ट) में उपचारित

[1] Exposed [2] Amalgamation

करके गुप्त प्रतिबिंब को द्रष्टव्य चित्र के रूप में विकसित किया जा सकता है। इस उपचार से सुग्राही पदार्थ पर जहाँ-जहाँ प्रकाश पडता है वहाँ वहाँ काला रजत जमा हो जाता है, फलत अंकित चित्र में मूल वस्तु का प्रकाश काला एव उसकी छाया सफेद हो जाती है। प्रकाश सुग्राही पदार्थ लगे कागज पर मोम लगा करके उसे पारभामक (ट्रान्सलसेन्ट) बनाया और इस प्रतिचित्र[1] के द्वारा दूसरे सुग्राही स्तार (शीट) को अवगुण्ठित (मास्क) करके उसे विगोपित किया गया। इस दूसरे स्तार को विकासित करने से ऐसा अनुचित्र[2] बना जिसमें वस्तु का मूल प्रकाश और छाया प्राकृतिक रूप से अंकित थी।

कालान्तर में ऐसे कैमरे बनाये गये जिनमें रखकर कोलोडियन लगा काच पट्ट विगोपित करने से रजत हैलाइड का स्वस्थाने[3] अवक्षेपण (प्रेसिपिटेशन) हो जाता था। किन्तु इस विधा में यह कठिनाई थी कि कोलोडियन पायस (इमल्शन) को विगोपन के तुरन्त पूर्व बनाना पडता तथा उसका विकासन भी स्तार के आर्द्र रहते-रहते कर लेना होता था। परन्तु जिलेटिन का आविष्कार हो जाने से एक ऐसा उत्तम माध्यम मिल गया जो रजत हैलाइड को यथास्थान धारण किये रह सकता था, परिणामस्वरूप शुष्क पट्ट (ड्राई प्लेट) बनने लगे। अब फोटोग्राफरो को अपनी सामग्री अपने आप तैयार करने की आवश्यकता भी न रह गयी। १८७७ से फोटोग्राफी के सामान तैयार करने का एक उद्योग भी प्रारम्भ हो गया। १८८४ में सेलुलायड के आविष्कार से कैमरो के लिए हलकी रोल फिल्में बनने लगी, इसके फलस्वरूप फोटोग्राफी का लोगो को व्यापक शौक हो गया तथा सिनेमैटोग्राफी का प्रारम्भ हुआ। यह लोगो के ससारव्यापी मनोरजन का साधन बना। फोटोग्राफी के शौक और सिनेमा के मनोरजन की व्यापकता के कारण लोग फोटोग्राफी को एकमात्र इन्ही के निमित्त मानने लगे और इस बात को प्राय एक दम भूल गये कि विज्ञान की प्रगति में भी उसका बडा आधारभूत योगदान हुआ।

फोटोग्राफी के ससार-व्यापी एव महत्त्वपूर्ण उद्योग ने मानव सुख एव कल्याण मे बडा उत्तम योगदान किया है और इसकी कहानी व्यावहारिक रसायन का एक बडा मनोहारी अध्याय बन गया है। पूर्वगामी अव्यवस्थित दशा से लेकर आधुनिक फोटोग्राफी के विकास तक की कहानी बडी लम्बी है, जिसके वर्णन के लिए वर्तमान लेख में पर्याप्त स्थान नही है, इसलिए हम पाठकों को सीधे वर्तमान स्थिति

[1] Negative [2] Positive [3] In situ

का अवलोकन करायेंगे तथा विस्तृत विवरण जानने के लिए उन्हें ग्रन्थ-सूची का सकेत करेंगे।

उन पदार्थों को, जिन पर डागुरे और फॉक्स टैल्बॉट ने फोटो चित्र बनाये थे, कई मिनट तक विगोपित करना पड़ता था, जिसके कारण प्रकृति का केवल एक रग-अन्ध प्रतिरूप (कलर ब्लाइण्ड रिप्रेजेण्टेशन) प्राप्त हो पाता था क्योकि रजत हैलाइड स्वय प्रथमत केवल परा-नीललोहित तथा नीले प्रकाश के ही सुग्राही थे। किन्तु आधुनिक फोटोग्राफी मे पायस की सहायता से एक सेकेण्ड के दस लाखवे भाग को भी अकित किया जा सकता है तथा उसे २००० से लेकर १२००० ऐंग्स्ट्राम तक के विकिरण वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम ऑफ रैडियेशन) के लिए सुग्राही बनाया जा सकता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि दृश्य वर्णक्रम का विस्तार ४००० से ७००० ऐंग्स्ट्राम (A°) तक होता है। इसके परिणामस्वरूप अनुसन्धान, नियत्रण एव सलेखन कार्य मे फोटोग्राफी एक अति उत्तम साधन बन गया, क्योकि स्थायी एव अमिट स्मृति के प्रतिरूपण के अलावा इसमे ऐसे तथ्यो का रहस्योद्‌घाटन भी हुआ जिनके सबन्ध में अन्यथा किसी प्रकार से नही जाना जा सकता था।

फोटोग्राफी पायस एक काफी जटिल सहित (कॉम्प्लेक्स सिस्टम) होता है, जिसके सफल निर्माण में विज्ञान एव कला दोनो निहित होते हैं। प्रथमत यह ० १-५ μ (माइक्रान) परिमाण के रजत हैलाइड केलासो (क्रिस्टल) का आलम्बन (सस्पेन्शन) है। विभिन्न परिमाणवाले कणो का अनुपात एव उनके परिमाणो की सीमा तथा किसी हैलाइड विशेष अथवा कई हैलाइडों के मिश्रणो की उपस्थिति, ये सब बाते प्रयोजन विशेष के अनुसार नियोजित की जाती हैं, क्योकि उत्किरणकर्ता (एग्रेवर), ज्योतिषी (ऐस्ट्रॉनोमर), रेडियो शास्त्री (रेडियॉलोजिस्ट), धातुकर्मज्ञ (मेटलर्जिस्ट), वाटर वोर्ड इञ्जीनियर, मुद्रक तथा सिनिमैटोग्राफर—सभी की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। निर्माताओ द्वारा १०० से भी ऊपर किस्म के पायस प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रेमानुशीली अर्थात् अव्यवसायी फोटोग्राफरो के प्रयोग के लिए इनमें से ४–५ से अधिक का महत्त्व नहीं होता। किसी पदार्थ की कार्यकारी गति (वर्किंग स्पीड) कुछ हद तक कणो के परिमाण से सवन्धित होती है, सामान्यत बडा कण सर्वाधिक सुग्राही होता है। इसलिए कैमरो में प्रयुक्त होनेवाले पायसो को निर्माण की किसी अवस्था पर उपयुक्त समय के लिए गरम रखा जाता है जिससे छोटे-छोटे कण मिलकर बड़े कणो का सर्जन करते हैं। अमोनिया के उपचार से भी ऐसा फल प्राप्त होता है। इस परिपक्वन (राइपनिंग) रीति से पदार्थ की कार्यकारी गति आश्चर्यजनक सीमा तक बढ़ जाती है। फोटोग्राफी पायसो को रग-सुग्राही

बनाने के लिए कणों को पॉलीमेथीन रजकों से रजित कर दिया जाता है, इससे रजत हैलाइड के कण वर्णक्रम के उस क्षेत्र के लिए सुग्राही बन जाते हैं जिन्हें रजक विशेष रूप से अवशोषित कर सकता है। पॉलीमेथीन रजक पैठिक रजक होते हैं, जिनमें दो नाभिक CH वर्ग से जुड़े होते हैं। आजकल ऐसे रजकों की प्रचुर संख्या उपलब्ध है, जिससे फोटोग्राफ किये जानेवाले वर्णक्रम की सीमा अव-रक्त[1] क्षेत्र तक बढ़ गयी है। सफल पायस बनाने में निर्माताओं द्वारा अब भी बड़ी गोपनीयता बर्ती जा रही है, इसका कारण यह है इसमें निहित रासायनिक प्रतिक्रियाएँ बड़ी जटिल हैं और बहुत-सी कार्य-रीतियाँ केवल अनुभव पर ही आधारित हैं। लेकिन बड़ी-बड़ी निर्माणशालाओं के अनुसन्धान विभागों में भौतिक, कलिल एवं कार्बनिक रसायनज्ञ आधारभूत सिद्धान्तों के रहस्योद्घाटन में सलग्न हैं तथा बहुतों के स्पष्टीकरण में वे सफल भी हुए हैं, जिससे फोटोग्राफी सम्बन्धी सामग्री के उत्पादन में विशेष उन्नति हुई है।

हमारे मन में यह प्रश्न भी उठने लगा है कि जिस समय रजत ब्रोमाइड के केलासों पर प्रकाश पड़ता है उस समय वस्तुतः क्या होता है? यह बात तो वैसे बहुत समय से ज्ञात है कि केलास-विशेष के तल के ऊपर ऐसे अत्यन्त छोटे-छोटे क्षेत्र फैले हुए हैं जिनका परिमाण कण-तल के दस लाखवें भाग के बराबर होता है और जो विकासन के लिए नाभिक (न्यूक्लिअस) का काम करते हैं। आधुनिक पायसों *(इमल्शन) के प्रकाश के प्रति असीम सुग्राह्यता इन्हीं नन्हें-नन्हें बिन्दुओं के कारण* होती है। इन बिन्दुओं पर रजत सल्फाइड होता है, जो केलास के विगोपन से उसके समस्त पुञ्ज (मास) भर में उन्मुक्त एलेक्ट्रानों को पाशित (ट्रैप) कर लेता है। इस प्रकार इन बिन्दुओं पर ऋणात्मक आवेश (निगेटिव चार्ज) चढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप ये केलास-काय के अन्दर से रजत आयनों को आकृष्ट करने लगते हैं और सुग्राह्यता बिन्दुओं पर उदासीन रजत परमाणु बन जाते हैं तथा विकासन के लिए नाभिक का काम करने लगते हैं। फोटोग्राफी का मूल-भूत आधार इस तथ्य पर निर्भर करता है कि गुप्त प्रतिबिम्ब बनने में लगी अति सूक्ष्म ऊर्जा (एनर्जी) का उपयोग हो सके, क्योंकि इसी ऊर्जा से गुप्त प्रतिबिंब (लेटेण्ट इमेज) रजत हैलाइड केलास पर विकासक अर्थात् 'डेवेलपर' द्वारा होनेवाले कार्य का उपक्रमण करता है।

[1] Infra red

विकासक यानी डेवेलपर अपचायक पदार्थ (रिड्यूसिंग सब्सटैन्सेज) होते हैं। इन पदार्थों का रजत हैलाइड द्वारा ऑक्सीकरण होता है तथा रजत हैलाइड स्वयं अपचयित होकर रजत का रूप धारण कर लेता है। यह आवश्यक है कि केवल वे ही कण अपचयित हो, जिनके तल पर उपर्युक्त ढंग से रजत नाभिक बन गये हैं। यदि अपचायक अधिक प्रबल हुआ तो वह विगोपित तथा अविगोपित रजत हैलाइड दोनो का समान रूप से अपचयन कर देगा। दूसरी ओर अति क्षीण अपचायक का विगोपित कणो पर भी कोई प्रभाव न होगा। रसायनज्ञो की कृपा से आजकल आवश्यकतानुसार अपचयन विभव (रिडक्शन पोटेंशियल) वाले विभिन्न अपचायक पदार्थ प्राप्य हो गये हैं। इनमे मे कुछ के ऑक्सीकृत पदार्थ रगीन एव अविलेय होते हैं, जिसके कारण रजत प्रतिबिंब के साथ-साथ रगीन रजक प्रतिबिंब भी बन जाता है, और अगर रजत के काले प्रतिबिंब को विलीन कर दिया जाय तो रगीन प्रतिबिंब बच रहेगा। प्राकृतिक रगवाली फोटोग्राफी की विधा मे आवश्यक प्राथमिक रगीन प्रतिबिंब तैयार करने के लिए यह बडी सरल रीति है। रगीन फोटोग्राफी में प्राकृतिक रगो के वर्णक्रम निबन्ध (स्पेक्ट्रल कॉम्पोजीशन) की नकल करने का प्रयास नही होता, वरन् तीन प्राथमिक रगो के उपयुक्त मिश्रण से उसकी बराबरी करायी जाती है। सबसे पुरानी विधा में किसी प्राकृतिक दृश्य के तीन प्रतिचित्र (निगेटिव) तैयार कर लिये जाते थे, इनके लिए कैमरे के लेन्स के सामने लाल, हरा तथा नील-नीललोहित स्क्रीन या फिल्टर लगा दिया जाता था। इस प्रकार वस्तु विशेष से परावर्तित होने वाले लाल, हरे और नीले विकिरणो (रेडियेशन्स) को तीनो प्रतिचित्रो की तत्समवादी अपारदर्शिता (ऑपैसिटी) के रूप मे अंकित कर लिया जाता। इन प्रतिचित्रो की अपारदर्शिता को अनुचित्रो (पॉजिटिव) की पारदर्शिता (ट्रान्सपैरेन्सी) में बदल कर लाल, हरे और नीले फिल्टरो द्वारा पर्दे पर प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करने से मिश्रण का जो रग उत्पन्न होता है वह कार्यकारी परिस्थितियो मे मूल प्राकृतिक रग के इतना निकट अथवा समान होता है कि उसका सूक्ष्म भेद दर्शक की अनुभूति के परे होती है। इस विधा की आधुनिक रीति में तीनो सलेख पायस आधार में ही विद्यमान छोटे-छोटे अदृष्टव्य फिल्टरो की सहायता से एक ही पायस पर अंकित कर लिये जाते हैं।

एक दूसरी रीति मे तथाकथित कलाकार के प्राथमिक रग अर्थात् मैजेण्टा, पीत तथा हरिनील (सियान) का प्रयोग किया जाता है। इस रीति का प्रयोग उस समय किया जाता है जब पारदर्श अनुचित्र (पॉजिटिव ट्रान्सपैरेन्सी) के स्थान पर चित्र को कागज पर छापना होता है, और आजकल इसका प्रचलन धीरे-धीरे बढ रहा है।

उपर्युक्त रग (मैजेण्टा, पीत एव हरिनील) पहले वताये गये सकालीत्रय[1] के अनुपूरक रग है। और इन व्यवकाली[2] विधाओ में पूर्व-प्रचलित सकाली प्रथा के अनुसार अलग अलग स्रोतो से लाल, हरे और नीले रगो को मिलाकर वाछित रग नही उत्पन्न किया जाता, बल्कि श्वेत प्रकाश के एक ही स्रोत में से अवाछित विकिरण (रेडियेशन) के व्यवकलन से ऐच्छिक रग प्राप्त किया जाता है।

कागज पर रगीन छपाई के लिए सकाली विधा की ही तरह लाल, हरे और नीले फिल्टर लगा कर पृथक प्रतिचित्र तैयार किये जाते है, परन्तु मुद्रित अनुचित्र (पॉज़िटिव प्रिण्ट) रगीन रोशनाई (फोटोकेमिकल प्रॉसेसेज़), रगीन रगद्रव्य (कार्ब्रो, वाइवेक्म), अयवा रगीन रजको (ईस्टमैन वाश-ऑफ रिलीफ, टेक्नीकलर) से बनाये जाते हैं। कोडाक्रोम विधा में तीनो प्रतिचित्रो को एक ही जिलेटिन फिल्म पर बनाया जाता है। ऐसी फिल्म के बनाने में उपयुक्ततः रग-सुग्राहीकृत पायसो के स्तर एक दूसरे के ऊपर जमाये जाते है और फिर ये स्तर रग विकासन प्रविधियों की सहायता से उपयुक्त रगो में परिवर्तित कर दिये जाते हैं।

आधुनिक रगीन फोटोग्राफी रसायन-शास्त्र की देन है और रसायनज्ञो की ही कृपा से किसी वस्तु के विविध रगों की सूक्ष्म आभा का ठीक-ठीक चित्रण करना सभव हुआ है। इस विकास मे निर्माताओं की विक्रय-शक्ति में निस्सदेह वृद्धि हुई है। फिर भी अभी इस उद्योग में फोटोग्राफी की अन्य शाखाओं का भी वडा महत्त्व है और सम्प्रति हम उन शाखाओं पर भी दृष्टिपात करेंगे।

व्यावहारिक फोटोग्राफी का कदाचित् सवसे मूल्यवान् गुण यह है कि वह हमारी अनुभूतियों को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसीलिए इसे विज्ञानों और कलाओं का "सलेखक देवदूत" (रेकार्डिङ्ग ऐन्जिल) कहा जाता है, क्योकि शायद ही कोई ऐसी घटना अथवा क्रिया हो जिसे फोटोग्राफिक सलेखों में रूपान्तरित अथवा मूर्त न कर लिया जा सके। आधुनिक कैमरा सचमुच एक ऐसा सश्लिष्ट नेत्र है, जो मानव-नेत्रों की सीमा से बहुत परे है, और वह जो कुछ भी एक बार देख लेता है उसे ऐसा स्थायी बना देता है कि उसकी स्मृति अमिट हो जाती है। एडिंगटन ने कहा था कि हम प्रकृति के बारे में जो कुछ जान सके है या जान सकते है वह साकेतिक ज्ञान मात्र है। फोटोग्राफी से ऐसी कठिनाई एव परिश्रम समाप्त हो गये और अब तो मस्तिष्क को केवल सलेखो के समझने या निर्वचन का ही काम शेष रह गया है, उनके अवलोकन का नही।

[1] Additive trio　[2] Subtractive

ग्राहकों द्वारा हजारों बार किये गये टेलीफोनों का हिसाब यद्यपि अनाश्रित ढंग से भी रखा जा सकता है, किन्तु उसके साथ परिश्रम एवं गलती होने की संभावना लगी रहती है। लेकिन कैमरे की सहायता से न केवल समय और परिश्रम बचाया जा सका है बल्कि हिसाब भी एकदम सही-सही रखा जा सकता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं। ऋणाग्र-किरण दोलनलेखी (कैथोड रे ऑसिलोग्राफ) में प्रकाश-बिन्दु की गति को मानव नेत्रों से केवल एक बड़े धुँधले तरीके से देखा जा सकता है, अतः इस गति को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने के लिए गतिमान फोटोग्राफिक फिल्म अनिवार्यतः आवश्यक है।

फोटोग्राफिक चित्रों एवं संलेखों को यथावश्यक रूप से बड़ा अथवा छोटा भी किया जा सकता है। मानव शरीर अथवा यांत्रिक कल पुर्जों के सूक्ष्म दोषों के कारण उत्पन्न अत्यन्त लघु स्पन्दनों का कैमरा द्वारा चित्र लेकर तथा उन्हें बड़ा करके केवल उन्हें स्पष्ट देखा ही नहीं वरन् उनके कारणों को भलीभाँति आँका और समझा जा सकता है।

आधुनिक फोटोग्राफी का आजकल एक बड़ा उपयोगी प्रयोग और भी है। ग्रन्थालयों की पुस्तकों और पाण्डुलिपियों, टाउन हाल के दस्तावेजों, बैंकों के चेकों एवं वाणिज्यिक संस्थाओं के पत्राचारों तथा लेखाओं को फोटोग्राफी की सहायता से अत्यन्त सूक्ष्म रूप में संलेखित कर लिया जा सकता है, जो मूल वस्तुओं की अपेक्षा अत्यन्त छोटे स्थान में रखे जा सकते हैं। इस प्रविधि से न केवल उपर्युक्त संलेखों को थोड़े स्थान में सुरक्षित रखा जा सकता है वरन् इस यंत्र की सहायता से वांछित वस्तु को बड़ी जल्दी और सुविधा से ढूंढ भी लिया जा सकता है। इन लघु संलेखों को पर्दे पर उनके मूलाकार में प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करके विद्यार्थी-वर्ग का बड़ा लाभ किया जा सकता है और साथ ही ऐसे ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों एवं अन्य वस्तुओं की भी सुरक्षा की जा सकती है, जो फिर से कभी प्राप्त न की जा सकती हों। फोटोग्राफी के इस प्रयोग का स्पष्ट दृष्टान्त कल-पुर्जे-कारखानों का है जहाँ उन्हें यंत्रों के लाखों चित्र रखने पड़ते हैं, जहाँ पहले इन चित्रों को रखने के लिए १५०० वर्गफुट भूमि स्थान की आवश्यकता होती थी वहाँ अब सूक्ष्म फोटोग्राफी की सहायता से उन सबको दो दराजों में ही बन्द कर लिया जा सकता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कैमरे की आँख उन स्थितियों में भी चीजों को भलीभाँति देख लेने में सफल होती है, जहाँ मनुष्य की आँखें कदापि नहीं देख सकतीं। फोटोग्राफिक प्लेट का एक बड़ा भारी गुण यह है कि उस पर किसी अति धुँधले प्रकाश को भी बड़ी लम्बी कालावधि तक अंकित करके उसके प्रत्यक्ष प्रभाव को संचित किया

जा सकता है। हमारी अपनी आँख यह काम नही कर सकती क्योकि अगर हम किसी धुँधली वस्तु को बहुत देर तक देखते रहें तो स्वय हमारी आँख ही धुँधला जाती है और हम उस वस्तु को उतना भी नही देख सकते जितना प्रथम दृष्टि में देख सके थे। चाँदनी रात में यदि हम स्वय अपनी आँखो से १०,००० तारे देख सकते है तो ज्योतिषीय कैमरो को घण्टो तक विगोपित रख कर लगभग तीन खर , नक्षत्रो के चित्र लिये जा सके है।

एक ओर तो ज्योतिषीय कैमरे होते है जो टनो भारी होते है, दूसरी ओर अति सूक्ष्म जठरान्तर (इण्ट्रागैस्ट्रिक) कैमरे होते है, जो रोगियो द्वारा निगल लिये जा सकते हैं। इन कैमरों द्वारा पेट के अन्दर का चित्र लिया जाता है जिससे डाक्टर अथवा सर्जन को रोग-निदान एव उसकी चिकित्सा में बडी सहायता मिलती है। इस कैमरे में एक छोटा-सा दमक दीप (फ्लैश लैम्प) भी लगा रहता है, जिसकी दमक लगभग १/१०,००० सेकण्ड तक रहती है और उसी से कैमरे को चित्र लेने के लिए प्रकाश प्राप्त होता है। कभी-कभी उपर्युक्त समय से भी कम विगोपन की आवश्यकता होती है और एक सेकेण्ड के दस लाखवें भाग के विगोपन से फोटोचित्र बनाये जा सकते है। इस अति लघु काल तक दमक देनेवाले भी दमक-दीप[1] होते है।

सामान्यत अत्यल्प विगोपनो की आवश्यकता उस समय अधिक होती है जब फोटो चित्रो की माला तैयार की जाती है। इस प्रकार उन अल्पकालिक घटनाओं को समझने में सुविधा होती है जिन्हें हम अपने नेत्रों से देख-समझ नही सकते। इस प्रकार एक विद्युत स्फुल्लिंग अर्थात् चिनगारी के, जो केवल १/५० सेकेण्ड तक ही द्युतिमान रहती है, एक सहस्र अलग-अलग चित्र लेकर उसके क्षणिक जीवन का सारा इतिहास जाना जा सकता है। ऐसे अध्ययन से स्फुल्लिंग अन्तरालो (स्पार्क गैप्स) तथा स्विचों की प्ररचना (डिजाइन) में बडी सहायता मिलती है।

उपर्युक्त प्रकार की चित्र-माला के परीक्षण का सबसे सुविधाजनक एव सार्थक तरीका अत्यन्त शीघ्रता से पर्दे पर उनका प्रक्षेपण करने का है, यानी मूल-माला को एक विशेष प्रकार के सिनमैटोग्राफ कैमरे में स्थानान्तरित कर लेना। पाठक गण कसरती लोगो के व्यायामो की गतिविधि के मन्द-गति विश्लेषण से परिचित होगे। यह मनोरजक चित्रण तीव्रगतिक सिनमैटोग्राफ कैमरे की सहायता से ही सभव होता है। उद्योगकर्मियो को गतिविधि का समय-विश्लेषण करना भी इसका एक व्यावहारिक

[1] Flash lamps

प्रयोग है। इस अध्ययन से बार-बार की जानेवाली क्रियाओ के परिश्रम एव उससे उत्पन्न होनेवाली थकान को कम करने में बडी सहायता मिलती है। समय-मापन (टाइम स्केल) के इस परिवर्तन का उस समय दुगुना लाभ होता है जब 'स्पार्क' सिनिमैटोग्राफी से अल्पकालिक घटनाओ का वैसा ही विश्लेषण किया जाता है। उदाहरणार्थ इसकी सहायता से एक मनोवैज्ञानिक मानव शरीर पर किसी अनपेक्षित आघात से उत्पन्न हुई तात्कालिक प्रतिक्रिया का सरलता से अध्ययन कर सकता है। उसी प्रकार मोटर टायर निर्माता उस क्रिया के सम्पूर्ण विवरण को जान सकता है जिसके कारण किसी रुकावट से मोटर टायर एकाएक फट जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि गैस और द्रवों से लेकर अत्यन्त द्रुत गति से चलनेवाली मशीनों की किसी प्रकार की गतिविधि को चित्रित करके उसका पूर्ण अध्ययन और विश्लेषण किया जा सकता है।

दूसरी ओर समयावसान (टाइम-लैप्स) सिनमैटोग्राफ स्टूडियो में विज्ञापनो की माला जो शायद घण्टो का अन्तर देकर ली जाती है, तैयार हो जाने के बाद पर्दे पर उसका प्रक्षेपण बडी शीघ्रता से किया जा सकता है। इस प्रविधि से अनुसन्धान कार्यों मे बडी सफलता मिलती है और इसीलिए इसका महत्त्व बढता जाता है। भूमि के नीचे जानेवाले मूलाग्र अर्थात् जडो की नोक की वृद्धि तथा शरीर के अन्दर बढते हुए कैन्सर की गतिविधि को समयावसान (टाइम लैप्स) साइन कैमरे की सहायता से चित्रित करके थोडे समय मे उनका निरीक्षण तथा अध्ययन किया जा सकता है। यह बताने की आवश्यकता नही कि ऐसे अध्ययनो से अनुसन्धान-कार्य को कितनी सहायता एव स्फूर्ति प्राप्त होती है और उसमें नयी दिशा का निर्धारण होता है।

अन्त में उप-मानक (सब-स्टैण्डर्ड) साइन कैमरों का भी उल्लेख करना आवश्यक है। वायुयानों के उतरते तथा उडते समय के क्रियाकरण से सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन तथा किसी विदेशी खरीदार को एक जटिल मशीन को खोलने, लगाने एव चलाने की रीति समझाने मे ऐसे कैमरे बहुत सहायक होते है। शिक्षण एव प्रशिक्षण प्रयोजनों के लिए उपमानक सिनिमैटोग्राफिक कैमरो का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है।

विकिरण के प्रयोग से मनुष्य-नेत्रो पर किसी प्रकार के दुष्प्रभाव के बिना प्रकृति के अनेक सार्थक रूपों का उद्घाटन किया जा सकता है। चिकित्सीय जगत् मे एक्स-किरण की उपयोगिता से सभी परिचित है किन्तु औद्योगिक नियत्रण एव सलेखन में एक्स-किरण फोटोग्राफी का महत्त्व निरन्तर बढता जाता है। उदाहरण के लिए इञ्जनों की धुरी तथा वायुयानो के अधोभाग (अण्डर कैरेज) के एक्स-किरण फोटोग्राफ लेना तो आजकल नित्य का काम है, क्योंकि इनकी रचना के ऊपर असख्य लोगो का जीवन निर्भर होता है। ऐसे फोटो चित्रण के व्यावहारिक प्रयोग की एक रोचक

सीमित कर देती है। अवरक्त अर्थात् इन्फारेड फोटोग्राफी का चिकित्सा एवं औद्योगिक क्षेत्रों में अभी अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन अवरक्त तरगें बाह्य त्वचा (एपीडर्मिस) में प्रवेश कर जाती है। इस तथ्य का उपयोग करके अब अपस्फीत शिराओं[1] (वैरिकोज वेन्स), चर्मक्षय[2] अथवा मोतियाबिन्द के कारण अपारदर्शी मूर्तिपट (रेटिना) के फोटोचित्र बनाये जाने लगे हैं। इसके अलावा भट्ठियों की दीवालों, विकिरकों (रेडियेटर्स) तथा इजनो के रम्भों (सिलिण्डर) में उष्मा वितरण को भी उनके आनुषगिक अवरक्त विकिरण का फोटोचित्र लेकर उन्हें अंकित किया जा सकता है।

उद्योगों में भी फोटोग्राफी का प्रयोग एव महत्त्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है, फलत फोटोग्राफी उद्योग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। फोटोग्राफी के सामान बनाने में प्रति वर्ष ५०० टन रजत, ३००० टन जिलेटिन, ६००० टन कपास तथा १२००० टन काष्ठ-लुगदी लगायी जा रही है। इन सामग्रियों की सबसे ज्यादा खपत चलचित्रों के निर्माण के लिए होती है। चलचित्रों के बनाने में लगभग पाँच लाख मील लम्बी फिल्म लग जाती है। किन्तु जन-समुदाय के कल्याण के लिए अथवा विभिन्न उद्योगों में फोटोग्राफी के महत्त्व को ऐसे आंकड़ो से उतना नहीं जाना जा सकता जितना उसके उपयोग की विविधता से। मानव-प्रतिभा ने फोटोग्राफी प्रविधि को बहु-प्रयोजनीय एवं बहुमुखी बना दिया है।

ग्रंथ-सूची

Kodak Data Book of Applied Photography. Kodak Ltd. Harrow.
MEES C. E. K *Photography* George Bell & Sons Ltd
Photography as an Aid to Scientific Work (Booklet Ilford Ltd.
ROEBUCK AND STAEHLE *Photography—Its Science and Practice* Appleton Century Co
SPENCER D A *Photography To-day* Oxford University Press

[1] Varicose veins [2] Lupus

अध्याय १४

कोयला और उसके उत्पादन; अन्य गैसें; खनिज तैल

कोयला और उसके उत्पादन

एल० मिल्वर, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० सी० एस०,
डी० आई० सी०, ए० आर० आई० सी०

यह प्राय निर्विवाद है कि ससार में ग्रेट ब्रिटेन की ऊँची स्थिति, उसका महत्त्व एव उसकी उन्नति और सफलता उसके कोयले की खानो की प्रचुरता के ही कारण है। बहुत दिनो तक ये खानें प्रकृति की अनिरस्रोप्य (इनएक्जास्टिब्ल) देन मानी जाती थी जिसके फलस्वरूप उन्हें सुरक्षित रखने की बात पर कोई ध्यान नही दिया जाता था।

सर्वप्रथम डब्लू० एस० जेवोन्स ने १८६५ में लोगो का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया और उन्हें चेतावनी दी कि यदि यह कोयला समाप्त हो गया तो "उसके बिना हम (अर्थात् इग्लैण्ड के निवासी) पुन अपनी प्राचीन-कालीन दरिद्रता को प्राप्त हो जायेंगे।" उस समय से अब तक कई बार कोयले की खानो का अनुमान *लगाया गया और प्रमुख वैज्ञानिको ने उनके अपव्यय के विरुद्ध चेतावनियाँ भी दी।* सर विलियम रैमजे ने इस बात पर बडा जोर दिया कि अगर इग्लैण्ड वासी ससार के राष्ट्रो में अपनी ऊँची स्थिति बनाये रखना चाहते है तो उन्हे प्रकृति की इस महती सम्पत्ति का अविवेकपूर्ण अपव्यय रोकना होगा।

वर्तमान शताब्दी में कोयले को बचा रखने और बडी सावधानी एव मितव्ययिता से खर्च करने की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढी है तथा इस दिशा में रसायनज्ञो एव इन्जीनियरो ने बडे महत्त्वपूर्ण और प्रभावी काम भी किये है। प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८) में कोयला उद्योग से उसके उत्पादनो की भीषण माँग हुई जबकि उसके अधिकाश कर्मी भी युद्ध में भाग लेने के लिए चले गये थे। ऐसे समय में ब्रिटिश राष्ट्र को इधन की मितव्ययिता का विशेष ध्यान हुआ तथा लोगो ने उसके सच्चे महत्त्व को

समझा। वे ही समस्याएँ और भयकर रूप में गत महायुद्ध में भी उठी और मितव्ययिता की आवश्यकता और भी नग्न रूप में लोगों के सामने आयी। अपने कोयले का कुशलता-पूर्वक पूरी तरह उपयोग करने के लिए जो वैज्ञानिक प्रयत्न आज हो रहे हैं वैसे पहले कभी नहीं हुए।

कोयले के बहुमुखी उपयोग होते हैं और उनकी सख्या एव विविधता दिनो-दिन बढती जा रही है। घरेलू एव अन्य प्रकार के उष्मन के लिए तथा शक्ति उत्पादनार्थ भाप तैयार करने के लिए कच्चे कोयले का सीधा दहन (कम्बस्चन) उसकी खपत का सबसे बडा पद है। उसके व्यवहार के प्राय अन्य सभी तरीको में इस खनिज विशेष का रासायनिक विच्छेदन करके उससे दूसरे अधिक सुगम इधन अथवा अन्य उपयोगी उत्पादन तैयार किये जाते हैं, और ये सभी प्रयोग रासायनिक विज्ञान पर ही आश्रित हैं। खानो में से कोयला निकालने में भी रसायनज्ञो के सहयोग का बहुत बडा महत्त्वपूर्ण अश रहा है। १८१५ मे सर हम्फरी डेवी द्वारा निरापद दीप (सेफ्टी लैम्प) के आविष्कार मे लेकर ह्वीलर और अन्य कार्यकर्ताओं के कोयला धूलि मे होनेवाले विस्फोटो के निवारणार्थ प्रस्तर धूलन (स्टोन डस्टिंग) सबन्धी कामो तक रसायनज्ञो ने इस उद्योग में हताहत होनेवाले असख्य मनुष्यो के प्राण बचाने में योगदान किया है। फलत ऐसी-ऐसी खानो से भी कोयला निकाला जा सका, अन्यथा जिनमें काम करना महा भयावह था।

इस छोटे से प्रकरण में कोयला प्रयोग करनेवाले उद्योगो के विकास एव उन्नति में रसायनज्ञो द्वारा किये गये योगदान का पूर्ण विवरण सभव नहीं है। इसलिए जो कुछ यहाँ लिखा गया है वह सामान्य विषय का दृष्टान्त मात्र है।

भाप बनाने के लिए कोयले के सीधे दहन मे रसायनज्ञो का काम मुख्यत कच्चा कोयला तथा उसके गैसीय एव ठोस उत्पादनो के विश्लेषण तक ही सीमित था। इस विश्लेषण का विशेष प्रयोजन कोयले की कोटि पर नियत्रण रखना तथा विशिष्ट कामो के लिए उपयुक्त कोटि के कोयले का चुनाव करना था, साथ ही दहन की कुशलता बढाना भी इसका महत्त्वपूर्ण ध्येय था।

१९१४-१९१८ वाले महायुद्ध के बाद बिजली तैयार करने में शक्ति उत्पादन की कार्यकुशलता एव आर्थिक व्यवस्था पर अत्यधिक ध्यान दिया जाने लगा। एलेक्ट्रिक कमिश्नरो ने छोटे-छोटे और कम कार्यकुशलता वाले केन्द्रो को बन्द करके सारे देश को विद्युत शक्ति उपलब्ध कराने के लिए कुछ थोडे-से किन्तु बहुत बडे-बडे केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया। 'सूपर-पावर स्टेशन' कहे जानेवाले इन विशाल केन्द्रो में कोयला-दहन, भाप-जनन एव उससे विद्युत-शक्ति-उत्पादन में उच्चतम

कुशलता और क्षमता लाने के लिए सभी आधुनिक विकास-साधनों को प्रयुक्त करने का विचार किया गया। लेकिन शक्ति-वितरण में न्यूनतम खर्च करने के लिए इन विशाल केन्द्रो को बडी-बडी बस्तियों के अन्दर अथवा उनके समीप बनाना आवश्यक था। किन्तु इसमें भी धुएँ, धूमकण तथा अम्ल गैसों से वायुमण्डल के व्यापक दूषण का भी बड़ा भारी डर था, क्योंकि इससे समीपस्थ जन-बस्तियों के स्वास्थ्य एव धन-सम्पत्ति के विनाश की बडी सभावना थी। इस प्रकार की बुराइयो और हानियों की ओर जनता का ध्यान भी आकृष्ट हुआ और लन्दन के पार्लिमेण्ट भवन तथा अन्य बड़े बडे भवनो के पत्थरो को हुए बड़े नुकसान सबन्धी स्मारक-पत्र के प्रकाशन से लोगों में काफी अशान्ति फैल गयी। इन कारणों से ऐसे विशाल केन्द्र बनाने के लिए पार्लिमेण्ट का समोदन (सैन्कशन) इस स्पष्ट शर्त पर प्राप्त हुआ कि वाहिनी गैसों (फ्लू गैस) को वायुमण्डल में छोड़ने के पहले उसमें से धुआँ और गधक के ऑक्साइडो का सम्पूर्ण निरसन कर दिया जायगा। किन्तु उस समय इतने बड़े-बड़े केन्द्रो की चिमनियो से निकलनेवाली गैसों की अति विशाल मात्रा में से गधक ऑक्साइडो के निस्सारण की कोई उत्तम अथवा सतोषप्रद विधा ज्ञात न थी। इस क्रिया की विशालता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि केवल एक केन्द्र में ही प्रति मिनट १५ लाख घनफुट गैस का उपचार करना पड़ता, जिसमें गधक ऑक्साइड की प्रारम्भिक मात्रा ०·०२–०·०५% होती थी।

'बैटरसिया पावर स्टेशन' बनाने के पहले लन्दन पावर कम्पनी के इञ्जीनियरों और रसायनज्ञो ने अन्य तत्कालीन प्रख्यात रसायनज्ञों के सहयोग से कई वर्ष तक अनुसन्धान करके ऐसी रीतियाँ आविष्कृत की जिनसे वे पार्लिमेण्ट की शर्तों को पूरी कर सकें। इस प्रकार नये शक्ति-केन्द्र (पावर स्टेशन) का सयत्र (प्लाण्ट) लगाया गया, जो विद्युत-शक्ति सचार करनेवाला ससार का सबसे बडा केन्द्र बन गया। प्रारम्भ से ही इस सयत्र द्वारा बडी कुशलतापूर्वक काम होता आया है, तथा गंधक ऑक्साइडो का ९०-९५% तक निरसन किया जा सका है और धुएँ एव धूम-कणों को एकदम निकालना सभव हुआ।

उपर्युक्त रीति में गैसों के क्षैतिज प्रवाह (हॉरिज़ॉण्टल फ्लू) पर टेम्स नदी का प्रचुर जल छिडका जाता है, शीकरन अर्थात् छिडकाव का अन्तर देकर गैसों पर लौह व्यारोधो (बैफल्स) के प्रयोग से गधक डाइऑक्साइड के ऑक्सीकरण से गधकाम्ल बनता है। साथ ही साथ गैस को जल से धो लेने के बाद चिमनी के अगल-बगल दोनो ओर लगे स्तम्भो में चाक के क्षीण आलम्बन से अन्तिम क्षारीय धावन उपचार करके स्वच्छ, शीत एव उदासीन गैस को वायुमण्डल में छोड़ दिया जाता है। सयत्र से निकले

धावन जल का वातन[1] (एरेशन) करके सल्फाइट का सल्फेट बनाया जाता है और अन्त में इसे मघनकों (कॉण्डेन्सर) से निकले जल में मिलाकर पुन टेम्स नदी में बहा दिया जाता है। जल की प्राकृतिक कठोरता उसकी विशाल मात्रा के कारण इतनी पर्याप्त होती है कि उससे तद्विलीन अम्लों का उदासीनीकरण हो जाने से उत्प्रवाही[2] जल उदासीन एव निरापद हो जाता है।

बैटरसिया केन्द्र जब कुछ वर्षो तक सफलतापूर्वक चल चुका, तब टेम्स के ऊपरी भाग में स्थित फुल्हैम नामक स्थान पर एक दूसरा बडा शक्तिकेन्द्र (पावर स्टेशन) बनाया गया। इसके लिए भी क्षेप्य गैसों की शुद्धता सबन्धी वे ही शर्तें लागू थी। किन्तु यहाँ उपर्युक्त रीति नहीं लागू हो सकी क्योंकि यह स्पष्ट था कि अनावृष्टि में टेम्स का सम्पूर्ण जल दोनो केन्द्रों की गैसों के शोधन एव उत्प्रवाही गधकाम्ल के उदासीनीकरण के लिए पर्याप्त न था। इसलिए ऐसी युक्ति निकालने का प्रयत्न किया गया जिसमें द्रव उत्प्रवाही (एफ्लुयेण्ट) उत्पन्न ही न हो। वाहिनी गैसों को चूने अथवा चाक के आलम्बन से धोकर उनमें से सल्फर डाइऑक्साइड को पूरी तरह निकालने की एक रीति निकाली गयी। किन्तु दुर्भाग्यवश कैल्सियम सल्फाइट और सल्फेट के अतिसतृप्त विलयन बन जाने से इन लवणों का धावन-तलों पर केलासन होने लगा जिससे अवरोध होने के कारण यह विधि क्रियान्वित न की जा सकी। गहन अन्वेषण के बाद इस रीति में सशोधन किया गया और धावनजल में पहले से ही ५% अवक्षेपित[3] कैल्सियम सल्फेट डाल दिया जाने लगा। इस युक्ति से अति सतृप्तीकरण कम होने से केलासित लवणों का जमना भी कम हो गया और रीति अधिक सुचारु रूप से चलने लगी। लवणों का अवक्षेपण धावकों के बाद बने टैंको में होता और वहीं उनका तलछटीभवन[4] होता है। फुल्हैम शक्तिकेन्द्र पर लगे सयत्र मे यह रीति क्रियान्वित होने लगी और इससे चिमनियों से निकली गैसो में गधक की मात्रा कम होकर प्रति घनफुट ० ००४६ ग्रेन रह जाती है, यह मात्रा अनुज्ञापित मात्रा का केवल छठा भाग है। इस रीति की यह विशेषता है कि इसमें उत्पन्न किसी प्रकार का कोई उत्प्रवाही (एफ्लुयेण्ट) नदी में नहीं डाला जाता। ये दोनों विशाल शक्तिकेन्द्र, जिनसे प्रति दिन लगभग १०० टन गधकाम्ल निकलता है, बिना किसी हानिकारक परिणाम के वर्षों से काम कर रहे हैं।

कोल गैस का निर्माण उद्योगों पर विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रभाव का एक उल्लेखनीय

[1] Aeration [2] Effluent [3] Precipitated [4] Sedimentation

दृष्टान्त है अत. इसकी चर्चा तनिक विस्तारपूर्वक की जायगी। इसके विकास में दार्शनिक (फिलासोफिकल) प्रयोगों का भी हाथ होने से इसका इतिहास और भी रोचक हो गया है। सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक अनुशीलन केवल कुछ विद्वान् व्यक्तियों, विशेषकर पादरियों के शौक का विषय था। क्रॉफ्टन के रेक्टर रेवरेण्ड डा० क्लेटन ने कोयले का आसवन करके गैस प्राप्त की और उसे ब्लैडर में एकत्र किया। इस तथ्य की सूचना ब्यायल ने रॉयल सोसायटी को १६८८ में दी। १७५० में लैण्डॉफ के बिशप डा० वाट्सन ने कोयले के आसवन से न केवल गैस प्राप्त की वरन् नलों के द्वारा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में भी वे सफल हुए। लेकिन रोशनी करने के लिए कोल गैस का प्रथम सुझाव देने का श्रेय विलियम मुरडॉक नामक एक इञ्जीनियर को दिया जाता है। १७९२ में उन्होंने ही रिटॉर्ट में कोल गैस उत्पन्न करके कलई किये हुए लोहे और तांबे के नलों की सहायता से ७० फुट दूर अपने मकान और कार्यालय में ले जाकर उनसे रोशनी की थी। उनके ये प्रारम्भिक प्रयोग रेड्थ में किये गये थे और उसके छ वर्ष बाद वह बाउल्टन के सोहो ढलाई घर तथा बर्मिंघम-स्थित वैट में कोल गैस से प्रकाश करने में सफल हुए। १७९९ में लीबॉन ने फ्रान्स में भी ऐसे ही प्रयोग प्रारम्भ किये। १८०७ में जब पाल माल के एक तरफ विन्सर द्वारा रोशनी की गयी तो लन्दन में भी कोल गैस उपलब्ध करने के लिए एक कम्पनी को अधिकार देने के निमित्त एक विधेयक उपस्थित किया गया और इसी प्रयोजन के लिए एक अधिनियम पारित हुआ। इसके दो वर्ष बाद 'गैस लाइट ऐण्ड कोक कम्पनी' को एक निगम-राजलेख (चार्टर ऑफ इन्कार्पोरेशन) भी दिया गया। यह कम्पनी आज भी ससार भर में इस प्रकार की सबसे बड़ी सस्था है। वेस्ट मिनिस्टर पुल तथा पार्लिमेण्ट भवनों को १८१३ में कोल गैस से प्रकाशित किया गया। उस समय से कोल गैस से प्रकाश करने की प्रथा ससार के अन्य सुसभ्य देशों में फैली।

कोल गैस का निर्माण मुख्य रूप से रासायनिक उद्योग है क्योंकि इसमें कोयले के भजक विच्छेदन (डिस्ट्रक्टिव डिकॉम्पोजिशन) से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जो रासायनिक एव भौतिक रूप में मूल पदार्थ से सर्वथा भिन्न होते हैं। इन सभी उत्पादनों के विशिष्ट गुण होते हैं, जिनके कारण ये खास खास प्रयोजनों में काम आते हैं। हाँ इनमें से कोल गैस प्राथमिक महत्त्व का उत्पादन है। प्रारम्भिक काल की अपेक्षा अब उसकी प्राप्ति (ईल्ड) और श्रेणी (कोटि) में बड़ी उन्नति हुई है और इसका श्रेय प्राय सर्वथा रसायनज्ञों को ही है। कार्बनीकरण (कार्बोनाइजिंग) तथा उत्पन्न गैस की बनावट एव उसकी मात्रा पर कठोर नियत्रण द्वारा वांछित घटकों को सुरक्षित रखकर शेष के विच्छेदन से तैयार गैस की श्रेणी और प्राप्ति बढ़ायी

जाती है। क्षेप्य गैसो के विश्लेषण से रिटॉर्ट से अनुचित च्याव अर्थात् हानि का पता लगता है तथा उसका निवारण किया जाता है। कोल गैस का शोधन इस उद्योग में रसायनज्ञो के माहात्म्य का बडा उत्तम उदाहरण है।

रिटॉर्टो से निकली कोल गैस मे २% हाइड्रोजन सल्फाइड होता है, जो अति विषालु गैस होने के साथ सडे अण्डे की तरह बदबू करता है। कोल गैस के हाइड्रोजन सल्फाइड के इन दुर्गुणो का अनुभव तभी होता है जब वह कही से निकलने लगती है। लेकिन कोल गैस के दहन में हाइड्रोजन सल्फाइड भी जलकर गधक डाइऑक्साइड और गधकाम्ल का रूप ले लेता है, और जब चारो ओर की हवा मे ये पदार्थ अधिक मात्रा में फैलते हैं तो श्वासरोध होने लगता है। इसके अतिरिक्त घर की साज-सज्जा एव वस्त्रो पर गधकाम्ल जमने से उनका सक्षारण (कोरोजन) भी होने लगता है। इन कारणो से गृहकार्यों के लिए गैस प्रयुक्त होने के पूर्व उसमें से हाइड्रोजन सल्फाइड को निकालना अत्यावश्यक हो गया। कारखानो में हाइड्रोजन सल्फाइड का कुछ भाग अमोनियाई द्रव में सघनित हो जाता है किन्तु उसका अधिक अश बच जाता है जिसके निरसन के लिए अन्य रासायनिक उपचारो की सहायता लेनी पडती है। इस उद्योग के प्रारम्भिक काल में गैस को भीगे चूने के मिश्रण मे प्रवेश कराया जाता था जिससे गैस में से तो हाइड्रोजन सल्फाइड अवश्य निकल जाता था लेकिन एक दुर्गन्धियुक्त, निरर्थक अर्ध-द्रव पदार्थ, जिसे "ब्लू बिली" कहते हैं, बच रहता। इस पदार्थ का कारखाने के कर्मियो एव उसके समीप रहनेवाले जन-समुदाय के स्वास्थ्य पर बडा घोर दुष्प्रभाव पडने लगा। इसको बाहर फेंकने से वायुमण्डल कलुषित होता तथा नदी में बहाने से प्रणाल एव स्वय नदी दूषित हो जाती थी। इसलिए भीगे चूने के स्थान पर सूखा चूना प्रयुक्त होने लगा, लेकिन फिर भी गैस-लाइम का दुर्गन्धयुक्त तथा उपयोगरहित अवशिष्ट बचने लगा। इससे भी कारखाने और उसके चारो ओर का वातावरण दूषित होने लगा, यह अवशिष्ट इतना घृणास्पद होता था कि इसे सडक पर ले चलना भी अपराध माना जाने लगा।

कोल गैस शोधन की कोई कम हानिकर रीति खोज निकालने का भार भी रसायनज्ञो पर ही पडा। १८४९ में शोधक के रूप में हाइड्रेयित लौह ऑक्साइड का प्रयोग होने लगा। इसकी प्रयुक्ति से शोधनविधा में विशेष उन्नति हुई, क्योकि यह नया पदार्थ एक बार प्रयुक्त अर्थात् परिदूषित हो जाने के बाद हवा में खुला रखने से पुनर्जनित हो जाता था, यानी वह ठोस गधक और हाइड्रेयित ऑक्साइड का एक मिश्रण बन जाता, और हाइड्रोजन सल्फाइड अवशोषण की उसकी क्षमता प्राय मूल ऑक्साइड के ही समान हो जाती थी। इस प्रकार यह हाइड्रेयित ऑक्साइड अनेक बार प्रयुक्त

हो सकता था, लेकिन अन्ततोगत्वा उसमें गधक की मात्रा इतनी अधिक हो जाती कि उसे बदल देना पड़ता।

काम आया हुआ हाइड्रेयित लौह ऑक्साइड बहुत नागवार भी नही होता था तथा इसका हटाना गैसनिर्माताओं के लिए कोई समस्या न थी, उलटे यह एक लाभप्रद पदार्थ हो गया जिससे अच्छा खासा दाम वसूल होने लगा, क्योंकि उसमें से गधकाम्ल बनाने के लिए पर्याप्त गधक प्राप्त होता था। इस प्रकार गैस-शोधन की विधा इस उद्योग के लिए कोई रुकावट की बात न रह गयी; फलत बिना किसी प्रकार के झगड़े के इसका स्वाभाविक प्रसार होने लगा।

वैज्ञानिकतया नियत्रित होने पर यह विधा इतनी उत्तम सिद्ध हुई कि आज लगभग १०० वर्ष के बाद भी यह व्यापक रूप से प्रचलित है, यद्यपि हाल में द्रव अवशोषकों द्वारा सशोधन की अधिक सरल लेकिन कम कुशल रीति चलायी गयी है। ऑक्साइड वाली शोधनरीति से शोधित गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड की मात्रा साधारणतया प्रति दो करोड भागो में एक भाग के अनुपात से भी कम होती है।

कोल गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड के अतिरिक्त भी कार्बन डाइ सल्फाइड सदृश गधक के कुछ अन्य यौगिक विद्यमान होते हैं, यद्यपि हाइड्रोजन सल्फाइड की अपेक्षा इनकी मात्रा बहुत कम होती है और शायद प्रारम्भिक दिनों में और भी कम होती थी। जब गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड की उपस्थिति पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा तब गधक के ये यौगिक भी उसमें शामिल कर लिये गये। उस समय कार्बन डाइसल्फाइड को निकालने की कोई रीति ज्ञात न थी लेकिन लगभग १० वर्ष बाद डब्लू० आँडलिंग ने एक रीति का प्रवर्तन किया। इसमें ऐसे चूना-शोधकों के प्रयोग का उल्लेख किया गया था जिनके जरिये हाइड्रोजन सल्फाइड के अवशोषण से बने कैल्सियम सल्फाइड द्वारा कार्बन डाइसल्फाइड का अवशोषण होता था। लन्दन की गैस कम्पनियों ने इस रीति को अपनाया लेकिन इसमें चूनाशोधन के अनुत्रास (नूइसेन्स) के साथ कार्बन डाइसल्फाइड निरसनविधा की अनिश्चितता और शामिल हो गयी। १९०५ में पार्लिमेण्ट ने एक ओर हाइड्रोजन सल्फाइड के अतिरिक्त अन्य गधकयौगिकों के हानिकारक प्रभावों और दूसरी ओर उपर्युक्त विधा के क्रियाकरण और समीपस्थ जिलों के जन-स्वास्थ्य पर उसके दुष्प्रभावों के बारे में विचार किया और अन्त में कोल गैस में अन्य गधकयौगिकों की उपस्थिति पर से प्रतिबन्ध हटा लिया।

किन्तु इस उद्योग में कार्यरत रसायनज्ञों ने 'अन्य गधकयौगिकों के निरसन की समस्या को छोडा नही वरन् तत्सबन्धी अनुसन्धान बराबर जारी रखा। लगभग ३० वर्ष हुए, कार्पेण्टर और इवान्स के प्रयोगों के बाद 'साउथ मिट्रोपॉलिटन गैस कम्पनी'

ने एक विधा प्रचलित की, जिसमें गैस को ४५०° से० ताप पर रखे गये एक निकेल उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) के ऊपर से पार कराया जाता है। इस उपचार से कार्बन डाइ-सल्फाइड का अपचयन होकर हाइड्रोजन सल्फाइड बन जाता और कार्बन निकेल उत्प्रेरक के ऊपर ही जमा हो जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड को तो ऑक्साइड शोधकों की सहायता से निरसित किया जाता है तथा उत्प्रेरक पर जमे कार्बन को समय समय पर हवा की उपस्थिति में जलाकर उत्प्रेरक को पुनर्जीवित कर लिया जाता है। इस विधा से गंधकयौगिकों का लगभग ८० % भाग निरसित हो जाता है। 'साउथ मिट्रोपॉलिटन गैस कम्पनी' यद्यपि अब भी इस विधा का सफल प्रयोग करती है, फिर भी यह व्यापक रूप से स्वीकार नहीं की गयी।

पिछले कुछ सालों में आर० एच० ग्रिफिथ ने एक प्रक्रिया निकाली है, जिसमें उत्प्रेरक तो निकेल ही होता है लेकिन क्रियाकरण का ताप केवल १८०° से० के समीप होता है। इस विधा में कार्बन डाइसल्फाइड के ऑक्सीकरण से कार्बन डाइऑक्साइड और गंधक डाइऑक्साइड बन जाते हैं, और गैस को सोडा के तनु विलयन से धोकर उसमें से गंधक डाइऑक्साइड निकाल दिया जाता है। प्रतिक्रिया के लिए आवश्यक वायु के प्रवेश का नियमन करके ताप का नियंत्रण किया जाता है तथा अतिरिक्त ऑक्सीजन का जल बना दिया जाता है। इस उपचार के बाद गैस में उसकी मूल गंधक मात्रा का केवल लघ्वंश मात्र बच जाता है।

डब्लू० के० हचिन्सन ने इसी समस्या को दूसरी तरह से हल करने का प्रयत्न किया है। उनकी विधा में गैस को तेल से धोकर उसमें से गंधकयौगिक निकाले जाते हैं। तेलपरिचालन (सरकुलेशन) की गति बढ़ाने से अधिकांश कार्बन डाइ-सल्फाइड बेन्ज़ॉल में विलीन होकर निकल जाता है, साथ ही ऊष्माविनिमय (हीट एक्सचेन्ज) का उत्तम प्रबन्ध होने से शक्ति भी अधिक नहीं लगती।

ये दोनों विधाएँ (प्रक्रियाएँ) 'गैस लाइट ऐण्ड कोक कम्पनी' द्वारा काफी बड़े पैमाने पर *क्रियान्वित की जा रही हैं। वर्तमान समय में नगरों में उपलब्ध गैस* एक परम स्वच्छ ईंधन मानी जाती है, क्योंकि उसके शोधन का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी कारण से इसका उपयोग भी विविध क्षेत्रों एवं प्रयोजनों के लिए किया जाने लगा है, जो अन्यथा संभव न होता। गंधकयौगिकों के निरसन से यह अब इतनी निरापद हो गयी है कि इसका प्रयोग बहुत से आधुनिक उपकरणों में भी किया जाता है।

नैप्थैलीन भी गैस-शोधन की एक ऐसी समस्या रही है, जिसका समाधान करके भी रसायनज्ञों ने इस उद्योग की बड़ी सेवा की है। समस्याविशेष का कोई हल नहीं

बल्कि इसके कारण संयंत्र के दूसरे भागों में उत्पन्न अप्रत्याशित कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया।

रिटॉर्ट गृह में जितने ही ऊँचे ताप का प्रयोग किया गया, प्रनाड़ी (मेन्स) और *शोधन संयंत्र में ठोस नैप्थैलीन जम जाने से उतना ही कष्ट उत्पन्न होने लगा।* नैप्थैलीन एक बेलानीय ठोस हाइड्रोकार्बन है जो वाष्पशील होने के कारण रिटॉर्टों के ऊँचे ताप पर उड़कर गैस के साथ चला जाता है, लेकिन रिटॉर्टों से निकलकर गैस ज्यों ही ठंडी होती है त्यों ही यह प्रनाड़ी एवं सघनकों (कॉण्डेन्सर) में सघनित होकर जम जाता है। यह पदार्थ इतना हल्का-फुल्का होता है कि इसकी थोड़ी मात्रा भी बहुत थोड़े ही समय में प्रनाड़ों को बन्द कर देती है। ऐसी परिस्थिति में गैस का सतत प्रवाह अत्यन्त कठिन हो जाता है।

परिवर्त्य सघनकों (रिवर्सिब्ल कॉण्डेन्सर) की चतुर युक्ति लगाकर कारपेण्टर *ने प्रनाड़ों को साफ रखने तथा गैस उत्पादन विधा को निरन्तर जारी रखने में काफी* सफलता प्राप्त की। इस विधा में पूर्वसघनित टार को ऐसा परिचालित किया जाता है कि वह प्रनाड़ों में जमे नैप्थैलीन को विलीन करके उन्हें बराबर साफ रखता है। आगे चलकर वितरणक्षेत्रों के प्रनाड़ों में गैस और भी ठंडी हो जाती तथा सकरे होने के कारण उन प्रनाड़ों के बन्द हो जाने की बड़ी सम्भावना रहती है। इस कारण गैस-प्रदाय में बड़ी अनियमितता होती और कभी कभी एकदम रुकावट हो जाती। इससे उपभोक्ताओं को स्वाभाविक रोष एवं खीझ होती थी और गैसकम्पनी को प्रनाड़ों की सफाई में पर्याप्त कठिनाई होती और खर्च पड़ता। इस कठिनाई के निवारणार्थ *गैस को कारखाने में ही थोड़े तेल से धो लिया जाने लगा।* इससे गैस में नैप्थैलीन की मात्रा इतनी कम हो जाती कि न केवल उसका जमना बन्द हो गया वरन् जमी हुई नैप्थैलीन फिर से गैस में अवशोषित हो जाने लगी।

गैस सफाई की उपर्युक्त विधा कुछ दिन तो ठीक से चलती रही लेकिन थोड़े समय के बाद धारकों (होल्डर्स) से निकली गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड का दूषण होने लगा, *जिसका कारण पहले समझ में न आया। बड़ी खोज-बीन के बाद यह मालूम हुआ कि* धारकों में पड़े जल में ऐसे जीवाणु होते हैं जो जल में से सल्फेट लेकर उसका हाइड्रोजन सल्फाइड बना देते हैं, जो गैस में मिलकर उसे दूषित कर देता है। पहले जब गैस में नैप्थैलीन मिली रहती थी तो उससे या तो जीवाणुओं का सर्वथा हनन हो जाता था अथवा उनकी वृद्धि एवं क्रियाशक्ति अत्यन्त कम हो जाती थी। लेकिन जब गैस *नैप्थैलीनरहित हो गयी तो जीवाणुओं को स्वच्छन्द रूप से क्रियाकरण का अवसर* मिला और वे हाइड्रोजन सल्फाइड उत्पन्न करके शोधित गैस को पुनः दूषित करने लगे।

जीवाणुओं को अपना काम करते रहने देना ही युक्तिसंगत समझा गया, परन्तु उनकी गति-विधि पर दृष्टि रखने एवं उनका नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया। इसके लिए गैस में लेश मात्र हाइड्रोजन सल्फाइड का भी पता लगाने के लिए बड़ी कोमल विश्लेषण-रीतियाँ निकाली गयीं। गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड सांद्रण की घातक सीमा लाँघने के पहले ही धारकोवाले जल में यशद ऑक्साइड अथवा एसिटेट डाल दिया जाता। इस प्रकार जल में सल्फेट की मात्रा शून्य करा दी गयी और जब पानी में सल्फेट रह ही नहीं गया तो जीवाणुओं के लिए खाद्य ही न रहा और गैस का दूषण भी बन्द हो गया।

प्रायः उपर्युक्त घटना की तरह ही कोल गैस सुखाने की विधाओं के सफल क्रिया-करण से भी ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हुई जिन्हें हल करने में रसायनज्ञों को विशिष्ट बुद्धि एवं प्रतिभा लगानी पड़ी। गैस जब तैयार होती है तब जलवाष्प से संतृप्त होती है और जब वितरण-प्रणाली में ताप-परिवर्तन होता है तब यह जल प्रनाडों एवं उप-करणों में संघनित हो जाता है। इससे न केवल गैसप्रदाय में विघ्न पड़ता बल्कि लोहे का संक्षारण भी होता था, जिससे नाडों तथा अन्य उपकरणों का उपयोग-काल अति अल्प हो जाने से कम्पनियों के खर्चे में काफी वृद्धि हो गयी। फलस्वरूप गैस में जलवाष्प की मात्रा इतनी कम कर दी जाने लगी कि वह किसी भी अवस्था में संघनित न होने पाये। इसके लिए कैल्सियम क्लोराइड के सांद्रित विलयन जैसे कुछ शोषकों द्वारा गैस के उद्धावन (स्क्रबिंग) की प्रथा चालू की गयी। इससे प्रदायों की निरन्तरता में उन्नति हुई एवं खर्चे में भी ऐसी कमी हुई कि उपर्युक्त उपचार तथा उसका खर्च लाभ-प्रद ही सिद्ध हुआ। लेकिन जब प्रनाडों में पानी जमना बन्द होने से गैस का अवरोध कम हुआ तब से एक दूसरी कठिनाई का अनुभव होने लगा। कुछ क्षेत्रों में उपकरणों के पाइलट जेटों, छोटे वाल्वों तथा गवर्नरों में और गैस-कारखाने के गवर्नरों में कुछ गोंद जैसा पदार्थ जमने लगा। इस कठिनाई का कारण ढूँढ़ना तथा उसका स्पष्टीकरण एक प्रबल समस्या हो गयी, विशेष कर इसलिए कि गैस में बाधक पदार्थों की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म थी। यह पता लगाया गया कि गैस के प्रति दस लाख घनफुट में केवल ५० ग्रेन गोंद रहने से भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। अन्वेषण से यह भी पता चला कि इस प्रकार का गोंदीय पदार्थ नाइट्रिक ऑक्साइड, ऑक्सीजन और कुछ असंतृप्त हाइड्रो कार्बनों की अति लघु मात्राओं की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न होता है। गैस में नाइट्रिक ऑक्साइड की मात्रा अत्यन्त कम होती है, अन्य दो प्रतिकारकों (रिऐ-क्टेन्ट्स) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसलिए विश्लेषण की कुछ ऐसी विशिष्ट रीतियाँ विकसित करने की आवश्यकता हुई जिनसे गोंद और नाइट्रिक ऑक्सा-

इड की सूक्ष्मतम मात्राओं का आगणन किया जा सके; क्योकि गैस के प्रति दो करोड़ भाग में इनका एक भाग भी विद्यमान रहने से कठिनाई हो सकती है।

गोद बनने की प्रतिक्रिया बडी मन्द गति से चलती है और इसका निर्माण अधिकाशत उस कालावधि में होता है जब गैस धारको में सगृहीत रहती है। उत्पन्न गोद के कण इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनके बैठने की भी सभावना नही होती। अत जब सग्रहण के पहले गैस सुखा ली गयी होती है तो धारको से निकलने पर उसके साथ गोद भी चलती है और उपयोगक्षेत्रो में उपकरणो की पतली नालियो एव छोटे छिद्रो में जमा होकर अवरोध उत्पन्न कर देती है। लेकिन अगर गैस को धारको में प्रवेश करने के पहले सुखाया न जाय तो वह जलवाष्प से सतृप्त अथवा प्राय सतृप्त होती है, फलत सघनन धारको के अन्दर होता है और सभवत गोद के कणो पर ही जल-बिन्दु बनते हैं। इस प्रकार जल के साथ नीचे बैठने से गैस में गोद की मात्रा कम हो जाती है और जब वह सजल धारको से निकलकर वितरणार्थ नाडको में चलती है तो गोद रहित होती है और उसके जमने के कारण होनेवाली रुकावटें नही होने पाती। इसलिए सतृप्त गैस को ही धारको में सग्रहण करना तथा वितरण के पूर्व ही उसे सुखाना लाभप्रद सिद्ध हुआ। इससे सूखी गैस के लाभो के साथ साथ उपकरणो में गोद जमने की कठिनाई भी दूर हो गयी।

गैस निर्माण के प्रारम्भिक दशको में प्राय इसका एक मात्र उपयोग रोशनी करने के लिए ही होता था और इस काम के लिए उच्च दीप्ति (लुमिनॉसिटी) की गैस की आवश्यकता होती थी। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में जब विद्युत्प्रकाश का प्रचलन हुआ तो ऐसा मालूम हुआ कि गैस का उपयोग और उसका उद्योग एकदम समाप्त हो जायगा, लेकिन दो महत्त्वपूर्ण रासायनिक आविष्कारो ने उसकी रक्षा की। प्रथम आविष्कार बुन्सन द्वारा "बुन्सन ज्वालक" (बर्नर) का था। बुन्सन के एक सहायक ने अदीप्त (नॉन-लुमिनस) गैसज्वाला (फ्लेम) की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया, जिसे देखकर उन्होने ऐसी युक्ति निकाली जिसमें दहन के पूर्व गैस में थोडी वायु मिल जाती और वह अदीप्त एव धूमरहित ज्वाला से जल उठती। तापन के लिए यह ज्वाला परम उपयुक्त सिद्ध हुई। ३५ वर्ष बाद हाइडलबर्ग की उसी प्रयोगशाला में डा० आँर वान वेल्सबाख ने, विरल मृदा (रेयर अर्थ) का अनुशीलन करते समय, एक गैस-दीपाधार (मेण्टल) विकसित किया, जिससे वह गैस से तापदीप्त (इन्कैण्डिसेन्ट) प्रकाश उत्पन्न करने में सफल हुए। बुन्सन-ज्वाला द्वारा ऊष्मसह (रिफ्रैक्टरी) पदार्थों के तापन से उत्पन्न तापदीप्ति (इन्कैण्डिसेन्स) का रोशनी के लिए प्रयोग करने का पहले भी प्रयत्न किया गया था, लेकिन इसमें दो कठिनाइयों का अनुभव हुआ

था। एक तो तप्त माध्यम का उपयोगी काल बहुत कम होता था, दूसरे दीप्ति बहुत न्यून होती थी। बेल्सबाख के प्रारम्भिक दीपावार भी कुछ बहुत अच्छे नहीं थे किन्तु कालान्तर में उनकी उत्तमता बढ़ी और १८९२ के लगभग ९९% थोरिया और १% सीरिया का एक संतोषजनक योग तैयार किया गया, जिससे उच्च दीप्ति प्राप्त होने लगी और साथ ही वह टिकाऊ भी थी। दीपावारों का यह निबन्ध प्रायः आज तक अपरिवर्तित है। तापदीप्त प्रकाश मे उत्तम रोशनी मिलने के कारण विद्युत-प्रकाश के प्रचलन के बावजूद भी इस काम के लिए गैस की खपत जारी रही। इसके अतिरिक्त बुन्सन-सिद्धान्त के प्रयोग मे खाना पकाने अथवा गरम करने की अन्य विधाओं मे गैस की प्रयुक्ति बढ गयी। आगे चलकर गैसप्रदाय का इधनभार (फुएल लोड) इतना बढ गया कि उसका प्रकाशभार अपेक्षाकृत नगण्य हो गया, क्योंकि यह प्रायः स्थिर रह गया जब कि इधनभार में सदा वृद्धि होती गयी। फलतः कार्बनीकरण विधा मे विकास करके गैस की ऊष्माक्षमता में विशेष उन्नति की गयी।

इस दिशा में अनुगामी विकासों का मुख्य ध्येय गैस की उपयोगिता को अधिकाधिक कुशल बनाने का रहा है। उदाहरणार्थ गैस-कूकरों के ज्वालकों तथा अन्य भागों की बनावट में उन्नति करके इंधन-मितव्यय में विशेष कुशलता प्राप्त की गयी। गैस-अग्नि में विकीर्ण ऊष्मा (रैडियेण्ट हीट) के उत्सर्जन (एमिशन) के उच्च अनुपात के साथ साथ सवातन (वेण्टिलेटिंग) क्षमता बढ़ायी गयी है और अनुसन्धानों द्वारा यह सिद्ध किया गया कि इस प्रकार के गैसदहन मे कोई हानिकारक पदार्थ उत्पन्न होकर वायुमण्डल में नही फैलता। शीत उत्प्रेरक के आविष्कार से गैसतापन की बची कमी भी पूरी हो गयी और अब उसे जलाने के लिए अलग से कोई युक्ति लगाने की आवश्यकता नही पडती, अर्थात् आधुनिक गैस-अग्नि भी विद्युततापकों की भाँति स्विच की सहायता से ही जलायी-बुझायी जा सकती है।

प्रारम्भिक काल में रिटॉर्ट से निकली गैस के ठंडी होने पर जो टार प्रनाडों एवं सघनकों में जमा हो जाती थी, वह एक क्षेप्य पदार्थ मानी जाती थी और उसका हटाना फेंकना भी एक समस्या थी। किन्तु आज स्थिति बहुत भिन्न है क्योंकि अब वही अवाछित पदार्थ रासायनिक उद्योग की प्रायः सभी शाखाओं के लिए एक महत्वपूर्ण कच्चा माल बन गया है। गत एक पीढी में कार्बनिक रसायन-उद्योग का जो विस्तृत प्रसार हुआ है उसमें कोलतार-सघटकों का विदोहन (एक्सप्लॉयटेशन) एक मुख्य बात रही है। कोलतार के आसवन से अनेक प्राथमिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना विशेष महत्त्व होता है। ये ही पदार्थ अनेक द्वितीयक उत्पत्तियों के निर्माण में प्रारम्भिक पदार्थ का भी काम देते हैं। बेन्ज़ॉल इनमें से सबसे अधिक

वाष्पशील पदार्थ है, जो एक बड़ा मूल्यवान् मोटर-इंधन है क्योंकि इसके मिलाने से मिश्रणों में 'ऐण्टीनॉक' गुण आ जाता है। पिच कोलतार-आसवन का अन्तिम अवशिष्ट है, जिसका प्रयोग कोल-ब्रिकेट्स बनाने में किया जाता है और क्रियोज़ोट का उपयोग डीज़ेल इञ्जनों के इंधन के रूप में होता है लेकिन इसका अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग लकड़ी के परिरक्षण का है, क्योंकि इसके लगाने से लकड़ी के शहतीरों, रेलवे के स्लीपरों, टेलीग्राफ के खम्भों इत्यादि का उपयोगी जीवन बहुत बढ़ जाता है।

कोलतार का सर्वाधिक भाग सड़क बनाने के काम में आता है। इस काम के लिए पहले पहल जब तार का प्रयोग किया गया तब उसकी कोटि बड़ी उत्तम एवं संतोषजनक न थी। तार-लगी सड़कों के बगल से बहनेवाली नालियों के द्वारा जलधारों का दूषण होने लगा, जिसके कारण मछलियाँ मरने लगीं और मत्स्योद्योग को हानि होने लगी। किन्तु इस काम में प्रयुक्त होनेवाले तार की श्रेणी तथा उसके निबन्ध पर बड़ा रासायनिक नियंत्रण करके उपर्युक्त कठिनाइयों का निवारण किया गया और आज की कोलतार की सड़कें सभी प्रकार से संतोषजनक होती हैं।

कोलतार-आसवन के अन्य उत्पादन रंगलेप, वार्निश एवं रबरनिर्माण में विलायकों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका प्रयोग अपक्षालक (डिटरजेण्ट्स) तथा विस्नेहन (डिग्रीज़िंग) निबन्धों[1] में भी होता है।

कोलतार के प्राथमिक प्रभागों से निर्मित अथवा संश्लिष्ट द्वितीयक उत्पत्तियों की विस्तृत चर्चा करना तो अनावश्यक जान पड़ता है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक वर्ग ऐसे विशिष्ट रासायनिक उद्योगों के आधार हैं, जिनका विकास रासायनिक अनुसन्धान के ही व्यावहारिक प्रयोग का प्रत्यक्ष फल है। जैसे रंजक पदार्थों के उद्योग को ही लीजिए। इसका आज हमारे दैनिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं से घनिष्ठ सबन्ध है, यह सम्पूर्णतया कोलतार-उत्पत्तियों पर ही आधारित है। सुगन्धित पदार्थ, खाद्य पदार्थ, इसेन्स, औषध तथा प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक) सभी इसी कोलतार के, रासायनिक चमत्कार के फल हैं; और यही कोलतार एक समय निरर्थक मानकर फेंक दिया जाता था। रबर-त्वरक (ऐक्सीलरेटर), विशिष्ट विलायक, अपक्षालक (डिटरजेण्ट्स) एवं शुष्क धावनकर्ता, संश्लिष्ट टैनीन तथा फोटोग्राफी की रासायनिक सामग्रियाँ इसी से प्राप्त की जाती हैं। यह सूची तो वैसे भी सर्वथा अपूर्ण है

[1] Compositions

किन्तु उद्योगों के सुसगठित अनुसन्धानो के फलस्वरूप ऐसे पदार्थों की सख्या दिन प्रति दिन बढती ही जा रही है।

विस्फोटको के निर्माण के मुख्य कच्चे पदार्थो के लिए भी टॉलुइन और फिनॉल जैसे उन रासायनिक यौगिको पर निर्भर रहना पडता है, जो कोलतार-आसवन तथा कोल-गैसधावन से प्राप्त होते हैं।

कोलतार रसायन की बहुफलदायिनी रीतियो की थोडी चर्चा के बाद रासायनिक सश्लेषण के उन नवीन विकासो का उल्लेख भी आवश्यक है, जिनका प्रादुर्भाव पिछले दो दशको मे हुआ है और जिनके फलस्वरूप अनेक नये-नये एव उपयोगी रासायनिक उत्पादन प्रस्तुत किये जा सके हैं। इनके निर्माण मे बडे सरल यौगिको को लेकर उनके छोटे-छोटे अणुओं के सघनन तथा पुरुभाजन से नवीन प्लास्टिको तथा सश्लिष्ट रबर की जटिल शृखलाएँ एव जाल तैयार कर लिये जाते हैं। और इन सरल पदार्थो के लिए भी कोयले का ही आश्रय ग्रहण करना पडा है। लेविन्स्टीन का कथन है (Chem. and Ind., १९५४, P २२५) कि प्लास्टिक उद्योग के लिए कच्चे मालो का लगभग ७० % भाग कोयले से प्राप्त होता है।

सश्लिष्ट रेजीनो के निर्माण के लिए कोल गैस से इथीलीन, बेञ्जीन और अमोनिया, कोक ओविन गैस तथा वाटर गैस से हाइड्रोजन, कोक से कैल्सियम कार्बाइड के द्वारा एसिटिलीन और टार से फिनाल इत्यादि सभी चीजे इग्लैण्ड मे तैयार कर ली जाती हैं, यद्यपि वहाँ खनिज तेलो का अभाव है। उसी प्रकार सश्लिष्ट रबर बनाने के लिए बूटाडीन भी बेञ्जीन से तैयार की जाती है। एसिटिलीन, नियोप्रेन, स्टायरीन तथा रबर सश्लेषण के लिए आवश्यक अन्य यौगिक भी कोयले से व्युत्पन्न किये जा सकते हैं।

गत कुछ वर्षों मे सीधे कोयले से द्रव इधनो को तैयार करने में भी विशेष प्रगति हुई है। यह बडी जटिल रासायनिक समस्या है किन्तु विपुल धन और शक्ति लगाकर किये गये अनुसन्धानो के फलस्वरूप आखिर यह समस्या भी हल कर ली गयी। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से यह प्राकृतिक खनिज तेलो का मुकाबला नही कर सकता-क्योकि कोयले से मोटर स्पिरिट बनाने का खर्चा आयातित पेट्रोलियम स्पिरिट के दाम का तीन गुना पडता है। किन्तु राष्ट्रीय सुरक्षा एव अपने को आत्मनिर्भर बनाने के प्रश्न ने इस प्रत्यक्ष आर्थिक हानि को गौण बना दिया तथा यूरोपीय राष्ट्रों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे इस साधन को अपनाकर वायु, जल तथा स्थल के सभी परिवहन क्षेत्रों में पेट्रोलियम के आयात से अपने को मुक्त कर लें। इस प्रकार की सबसे बडी आवश्यकता जर्मनी में हुई, क्योकि ब्रिटिश नौसेना के घेरे के कारण

विदेशो से तेल की उसकी उपलब्धि एकदम बन्द हो गयी, जब कि उसके पास और कोई प्राकृतिक स्रोत भी न था। इस स्थिति के परिणामस्वरूप इस समस्या का अधिकाश प्रारम्भिक कार्य जर्मनी में ही हुआ।

इग्लैण्ड में उच्च और निम्न ताप कार्बनीकरण के उत्पादनों से उसके तेलप्रदाय में विशेष वृद्धि हुई। कोल गैस तथा कोक ऑवेन उद्योगो से प्राप्त अपरिष्कृत बेञ्जॉल से प्रति वर्ष लगभग पाँच करोड गैलन मोटरस्पिरिट बनने लगी है, यह राशि सम्पूर्ण खपत की लगभग ४% है। निम्न ताप कार्बनीकरण से प्राप्त कुल स्पिरिट लगभग १० लाख गैलन ही होती है।

यदि कोयले को सीधे तेल के रूप में परिवर्तित करना हो तो उसकी बनावट की हाइड्रोजनमात्रा बढाना ही मुख्य बात है। इसके लिए जर्मनी में १९१३ में 'बर्जियस विधा' के नाम से जो विधा विकसित हुई थी उसमें हाइड्रोजनन की यह क्रिया एक उत्प्रेरक की उपस्थिति में उच्च दाब और ताप से पूरी की जाती है। उस समय से जर्मनी में भूरे कोयले और भूरे कोलतार के हाइड्रोजनन पर बडा काम किया गया है, तथा इग्लैण्ड में 'इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज़' ने बिलिंघम में एक सयत्र लगाकर बिटुमिनी कोयले एवं क्रियोज़ोट से प्रति वर्ष १५०,००० गैलन पेट्रोल तैयार करना प्रारम्भ किया।

इस विधा के लिए आवश्यक हाइड्रोजन स्वय कोयले का एक उत्पादन है और कोक पर भाप की क्रिया से उत्पन्न की गयी वाटर गैस से प्राप्त होता है। वाटर गैस में मुख्यत. हाइड्रोजन और कार्बन मॉनोऑक्साइड होता है, और भाप के साथ इसको एक तप्त उत्प्रेरक के ऊपर से पार कराने से कार्बन डाइऑक्साइड तथा थोडा और हाइड्रोजन बन जाता है। इस मिश्रित गैस को सपीडित करके जल से धोया जाता है जिससे कार्बन डाइऑक्साइड निकल जाय और शेष हाइड्रोजन को और सपीडित करके उस पर २५० वायुमण्डल का दाब डाल दिया जाता है। इस विधा के लिए कोयले को पहले साफ कर लेना चाहिए जिससे उसकी भस्म-मात्रा यथासभव कम हो जाय। तत्पश्चात् इसे पीस और बारीक चूर्ण बनाकर गुरु तेल के साथ उसका एक लेप तैयार कर लिया जाता है। इस लेप में उत्प्रेरक मिला कर उसे तप्त किया जाता और एक विशाल प्रतिक्रियापात्र में पम्प कर दिया जाता है। इस पात्र में सपीडित हाइड्रोजन रहता है और ४५०° से० ताप पर प्रतिक्रिया होती है जिसके फलस्वरूप गुरु तेल उत्पन्न होता है। अवशिष्ट भस्म तथा कुछ कार्बनीय पदार्थों में से गुरु तेल को निकालकर उसे जला दिया जाता है। गुरु तेल के द्वितीय हाइड्रोजनन से अपेक्षाकृत अधिक वाष्पशील तेल बनता है जिसे 'मध्य तेल' अर्थात् 'मिडिल ऑयल' कहते हैं। इस तेल

की वाष्प बनाकर अन्तिम बार हाइड्रोजन से उपचारित करने से पेट्रोल तैयार होता है। एक टन पेट्रोल तैयार करने के लिए लगभग डेढ़ टन कोयले का हाइड्रोजनन करना पड़ता है तथा हाइड्रोजन, भाप एवं शक्तिसंचार के लिए दहन किये गये कोयले को मिलाकर कुल ४–५ टन कोयला खर्च होता है।

कोयले से तेल तैयार करने की एक दूसरी प्रक्रिया है जिसे 'फिशर-ट्रॉप्श संश्लेषण' कहते हैं। इसका क्रियाकरण साधारण ताप पर होता है तथा बर्जियस विधा के समान यह खर्चीली एवं अधिक तूलवाली भी नहीं है, अतः अपेक्षाकृत अधिक सरलता से प्रयुक्त हो सकती है। इसका एक लाभ यह भी है कि इसमें निम्न श्रेणीवाले ईंधन भी इस्तेमाल किये जा सकते हैं क्योंकि इसकी प्रथम अवस्था में ईंधन पर वाटर गैस की प्रतिक्रिया से हाइड्रोजन और कार्बन मॉनोऑक्साइड का मिश्रण तैयार होता है। वाटर गैस में से गंधक यौगिकों के निरसन के लिए एक उत्प्रेरक विधा काम में लायी जाती है तथा उसके एक भाग का अधिक भाप से उपचार करके उसमें हाइड्रोजन और कार्बन मॉनोऑक्साइड का २ : १ अनुपात कर दिया जाता है, क्योंकि 'संश्लेषण गैस' के लिए यही अनुपात उपयुक्त होता है। वायुमण्डलिक अथवा उससे तनिक ऊँचे दाब और २००° से० ताप पर इन मिश्रित गैसों को एक विशेष उत्प्रेरक के ऊपर से पार कराया जाता है। इस उपचार से हाइड्रोकार्बन वाष्प और भाप का एक मिश्रण उत्पन्न होता है। वाष्पों के सघनन एवं उद्धावन से उनका द्रवण हो जाता है और अवशेष गैस को या तो उत्प्रेरक पात्र में लौटा दिया जाता है या ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से तैयार किये गये तेल के शोधन के लिए भी प्राकृतिक पेट्रोलियम शोधन की रीतियाँ ही इस्तेमाल की जाती हैं।

उपर्युक्त विधा की रूपरेखा वैसे तो काफी सरल है लेकिन उसके सफल क्रियाकरण में बड़ी कठिनाइयाँ भी हैं। एक ऐसे उत्प्रेरक की आवश्यकता हुई जो गैसों के रूपान्तरण के लिए काफी सक्रिय एवं गतिक होने के साथ दीर्घकाल तक उपयोगी भी हो। गैसों में विद्यमान गंधक से उत्प्रेरक बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता था, इसलिए ऐसी रीति निकालनी पड़ी जिससे साधारण ऑक्साइड शोधकों की सहायता से हाइड्रोजन सल्फाइड के निस्सारण के बाद उसमें से कार्बनिक गंधक यौगिकों को पूरी तरह से निकाला जा सके। इन कठिनाइयों का भी निवारण किया गया और महायुद्ध के कुछ ही पूर्व फिशर-ट्रॉप्श विधा से जर्मनी में प्रति वर्ष सात करोड़ गैलन पेट्रोल तैयार किया जाने लगा। आवश्यकता पड़ने पर उत्पादन की गति और भी बढ़ायी जा सकती थी।

रसायनज्ञों के सहयोग से कोयला और उसके उत्पादनों के विदोहन[1] के अनेक रूप हो गये हैं। कोक की सक्रियता एवं उनके कुशल उपयोगसंबन्धी कार्य, निम्न ताप कार्बनीकरण का विकास, तथा स्वयं कोयले की बनावट सबन्धी कार्य इनके कुछ उदाहरण हैं। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कोयले पर आधारित विशाल औद्योगिक भवन के निर्माण में रसायनविज्ञान का महान् योगदान है।

ग्रंथसूची

BONE W. A AND HIMUS G. W. : *Coal, its Constitution and Uses.* Longmans. Green & Co , Ltd.

BRAME, J S S , AND KING, J. G. · *Fuel, Solid, Liquid and Gaseous* Edward Arnold & Co.

BUNBURY, H. M., AND DAVIDSON, A. : *Industrial Applications of Coal Tar Products.* Ernest Benn, Ltd.

GRIFITH, R. H. : *The Manufacture of Gas : Water Gas.* Ernest Benn, Ltd

MEADE, A. : *New Modern Gas Works Practice.* Ernest Benn, Ltd.

PORTER, H C. : *Coal Carbonisation* Reinhold Publishing Co.

WARNES, A. R : *Coal Tar Distillation.* Ernest Benn, Ltd.

अन्य गैसें

ए० ए० एल्ड्रिज, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० के० सी०,
एफ० आर० आई० सी०

गैस, द्रव्य का सबसे सरल रूप है और गैसों के विशुद्ध वैज्ञानिक अनुशीलन से उन सार-भूत सिद्धान्तों को समझने में असीम सहायता मिली है, जिन पर आज के वैज्ञानिक उद्योगों की समस्त रचना आधारित है।

'गैस' शब्द से हमारे मन में दो प्रक्रियाओं (फंक्शन) का भान होता है—एक

[1] Exploitation

तो उसके दहन से प्राप्त सुखद गर्मी और सुन्दर प्रकाश का, और दूसरे मृत्यु और नाश का। किन्तु प्रस्तुत प्रसग में इन दोनों में से किसी की भी चर्चा नही की जायगी। कोल गैस, जिसका वर्णन 'कोयला' शीर्षक लेख मे किया जा चुका है, केवल एक पदार्थ नही वरन् अनेक गैसीय पदार्थों का मिश्रण है, जिसकी बनावट उसकी उत्पादनरीति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। गैसीय पदार्थों में "सैनिक गैसों" का भी उल्लेख न किया जायगा क्योकि उनमें से बहुत सी तो गैस कही ही नही जा सकती तथा उन गैसो का भी, जिनका कोई औद्योगिक अथवा अन्य उपयोग नही होता, जिक्र करना निरर्थक है। यहाँ उन विशुद्ध गैसीय तत्त्वो एव यौगिकों का उल्लेख किया गया है जिनका औद्योगिक प्रविधियों के विकास मे विशिष्ट योगदान है।

'गैस' शब्द का प्रयोग वान हेल्माण्ट (१५७७—१६४४) नामक एक फ्लेमिश रसायनज्ञ ने किया था, सभवत उन्होने इसको ग्रीक शब्द 'कैयास' से व्युत्पन्न किया था, यद्यपि कुछ लोग इसका स बन्ध जर्मन शब्द 'जीस्ट' से जोडते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति चाहे जो भी हो लेकिन इसका मतलब उन पदार्थों मे था जिन्हे न तो किसी पात्र में बन्द किया जा सकता था और न द्रष्टव्य बनाया जा सकता था। वान हेल्माण्ट ने अपनी इस परिभाषा मे वायुमण्डलिक हवा एव सरलता से सघनन योग्य वाष्पो की गणना नही की। इस विभेदकरण का विशेष महत्त्व था, क्योकि पूर्वगामी कार्य-कर्ताओं ने गैसो में विविधता का अनुभव नही किया था, फलत सभी हवाओं को समान प्रकृति की मानते थे। जब विधिवत् प्रयोगों और उनके तर्कयुक्त परिणाम मे समन्वय किया जाने लगा तभी गैसो के उन विभिन्न गुणो का ज्ञान हुआ जिनका उद्योगो की अनेकानेक शाखाओं में व्यवहार किया गया।

गैसो का एकैकश वर्णन करने के पहले उनके सामान्य गुणों की विवेचना कर लेनी चाहिए, क्योकि किसी भी गैस के बनाने, उन्मुक्त करने, घुलाने, बोतलो मे बन्द करने, बेचने अथवा उसे घर या कारखाने मे किसी प्रयोजन के लिए इस्तेमाल करने मे इन गुणो का सदा ध्यान रखना आवश्यक है। भौतिकतया गैस, द्रव्य का सरलतम रूप है, अत. इसके आचरण के नियम अर्थात् 'गैस नियम' साद्रो एव द्रवो के नियमो से कम जटिल होते हैं। दाब और ताप के प्रति गैसों के आचरण का मुतथ्य गणितीय ढग से अभिव्यक्त किया जा सका है। कोई गैस आर्द्र होने की तुलना मे शुष्कावस्था मे कितना स्थान घेरेगी, तथा सपीडित अथवा प्रस्तृत दशा मे उसका क्या आयतन होगा, तथा तप्त या शीत होने पर किस प्रकार आचरण करेगी, इन सबकी गणना करना काफी सरल काम है। यद्यपि इन नियमो के प्रवर्तकों के नाम इनके साथ ही हमारे मन मे आ जाते हैं, लेकिन जब हम गैस बनाने अथवा उसके उपयोग की बात

सोचते हैं तब उनका ध्यान नही करते और न उनकी सेवाओ के महत्त्व को ही पूरी तरह समझते हैं। गैसो का उपयोग केवल उस मोटर इन्जीनियर तक ही सीमित नही, जो उच्च दाव पर किसी बन्द स्थान में उत्पन्न गैसो से महत्तम कार्य कर लेना चाहता है, और न ही वह केवल विमानो और वायुयानों को बनाने या चलाने में उपयोगी है वरन् उस ऋतुवैज्ञानिक का भी उससे सम्बन्ध होता है, जो वायु की गति, उसके ताप एव आर्द्रता का अनुशीलन करता रहता है। वस्तुत: मानवकल्याण के लिए तथा मनुष्य की सुख-सुविधा बढाने के निमित्त किसी भौतिक तथा रासायनिक कार्य में सलग्न कार्यकर्ताओ को गैसो का उपयोग करना पडता है।

गैस के ताप, दाव तथा उसके आयतन-सम्बन्धी नियम के प्रवर्तक रॉबर्ट बॉयल (१६२७—१६९१) थे। यह कॉर्क के प्रथम अर्ल के सातवें पुत्र थे। उनके नियम के अनुसार एक नियत ताप पर किसी गैस की स्थिर मात्रा का आयतन उस पर पडे दाव क प्रतिलोमानुपाती (इन्वर्सली प्रपोर्शनल) होता है। रॉबर्ट बॉयल ने सैद्धान्तिक विचार-विमर्श एव पदार्थो की परीक्षा तथा उनके आचरणसबन्धी प्रयोगात्मक कार्यो के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने पर बडा जोर दिया। इसका वैज्ञानिक ज्ञानवर्धन पर इतना प्रभाव पडा कि उन्हे "आधुनिक रसायन का जनक" कहा जाने लगा। बॉयल नियम को बीजत $pv = k$ के समीकरण से अभिव्यक्त किया जाता है, जिसमें नियताक k का मान गैस की राशि, उसके ताप एव p और v के मापन की इकाइयो पर निर्भर है। अनेक गैसो पर यथार्थ प्रयोग करके इस सरल नियम की सत्यता की जाँच करने पर यह पता चला कि यद्यपि यह मोटे तौर पर तो ठीक है, लेकिन अनेक दशाओ में गैसो का आचरण इस नियम से काफी विचलित हो जाता है। यदि दाव निम्न तथा गैस का ताप उसके द्रवणताप से काफी ऊँचा हो तो उसके गणित एव अवलोकित आचरण का भेद प्राय नगण्य होता है, लेकिन जब गैस अपेक्षाकृत बहुत शीत और अति सपीडित होती है तो उसके यथार्थ एव गणित आचरण में बडा विभेद होता है। इसके प्रत्यक्षत दो कारण हैं, एक तो गैस के अणु स्वय कुछ स्थान घेरते हैं और दूसरे वे क्षीणत एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं। यह बॉयल-नियम का प्रतिवाद नही बल्कि उसकी सार्थकता सिद्ध करता है कि इन बाधक बातो का शोधन कर देने के बाद यह नियम ताप और दाव की लम्बी सीमा के अन्दर गैसो और द्रवो पर अच्छी तरह लागू होता है। उपर्युक्त शोधन को नियम-आबद्ध करने का श्रेय वान डेर वाल (१८३७—१९२३) नामक एक डच भौतिकीविद को है। 'The Sceptical Chymist' (१६६१) नामक उनके विख्यात ग्रन्थ का उल्लेख किये बिना बॉयल का वर्णन पूरा नही हो सकता, उसमें उन्होंने 'तत्त्व' की लगभग वही परिभाषा लिखी है जो वर्तमान

समय में मान्य है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि मैरियट ने, जिसका नाम कभी-कभी "p v = k" की अभिव्यक्ति के साथ जोड़ा जाता है, काफी बाद में इसका ज़िक्र किया।

गरम या ठंढी की जाने पर सभी गैसें सामान्य सीमा तक फैलती अथवा आकुंचित होती हैं। जे० ए० सी० चार्ल्स (१७४६—१८२३) नामक एक फ्रांसीसी भौतिकीविद ने उष्मीय परिवर्तनों से गैसों के आचरण-भेद के सम्बन्ध में एक नियम का प्रवर्तन किया था। उनका कथन है कि *नियत दाब पर किसी गैस की स्थिर मात्रा का आयतन उसके 'परम' ताप (ऐब्सोल्यूट टेम्परेचर) का अनुपाती होता है।* 'परम ताप'-२७३° से० को शून्य मानकर सेण्टीग्रेड डिग्री में मापा गया ताप होता है। औद्योगिक व्यवहार की साधारण बातों में प्रयुक्त होनेवाले अन्य गैसीय नियमों के सम्बन्ध में अपने 'परमाणु सिद्धान्त' के लिए सुविख्यात जॉन डाल्टन (१७६६—१८४४) तथा विलियम हेनरी (१७७४—१८३६) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हेनरी ने यह बताया कि *जब कोई गैस किसी द्रव में विलीन होती है तो अवशोषित गैस की मात्रा द्रव के ऊपर पड़ रहे दाब की अनुपाती होती है।* और डाल्टन ने यह दिखाया कि किसी गैसीय मिश्रण का दाब एकैकश उसके संघटक गैसों के आंशिक (पार्शल) दाब के सरल योग के बराबर होता है, आंशिक दाब का अर्थ उस दाब से है जो एक गैस अकेली उतने ही स्थान में डालती है। प्रस्तुत विषय के इस छोटे वृत्तांत में भी इटालियन भौतिकीविद अमीडियो ऐवोगाड्रो (१७७६—१८५६) की दूरदर्शी परिकल्पना (हाइपोथिसिस) तथा उनके देशवासी स्टैनिसलाओ कैनिजारो (१८२६—१९१०) द्वारा उसकी प्रयुक्ति को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना परमावश्यक है। इस परिकल्पना से रासायनिक परमाणु-भारों की सारी प्रणाली तथा गैसों और उनकी प्रतिक्रियाओं के मात्रात्मक अध्ययन के महत्त्वपूर्ण आगणन बड़े सरल हो गये।

अब तक गैसों के उन सारभूत गुणों की समीक्षा की गयी है जो सभी गैसों में सामान्य हैं तथा जो उनकी रासायनिक प्रकृति एवं उनके निबन्ध (कंपोजीशन) के पदार्थ से प्रभावित नहीं होते। इन गुणों का उल्लेख विशेष रूप से इसलिए किया गया है कि गैसों का काम करनेवाले उद्योगपतियों के लिए गैसीय मात्राओं को जानने के हेतु इनका ज्ञान बड़ा आवश्यक होता है। किन्तु उनके लिए यह जानना भी अनिवार्य है कि *किन-किन परिस्थितियों में गैस की बनावट में परिवर्तन हो सकता है।* ये परिवर्तन अकेली गैस में भी होते हैं तथा उसके अन्य पदार्थ के सम्पर्क में आने पर भी। जैसे वैज्ञानिक इतिहास के एक काल (ऐलकेमिस्टों के काल) में विज्ञान का एकमात्र ध्येय पारस पत्थर ढूंढ निकालना था जिससे सभी निम्न धातुओं से सोना

बनाया जा सके और दूसरे काल में रसायनज्ञ लोग 'अमृत' की खोज में लगे हुए थे, उसी प्रकार बॉयल के समय से "न्युमैटिक रसायन" के युग का प्रारम्भ हुआ। उसी समय से गैसों का गहन रासायनिक अनुशीलन तथा उनके दहन और उस पर वायुमण्डल के प्रभाव की परीक्षा प्रारम्भ हुई। इसी में जोसेफ प्रिस्ले (१७७३—१८०४) द्वारा ऑक्सीजन का आविष्कार, एल० ए० लवायजियर (१७४३—१७९४) द्वारा वायुमण्डल के योगदान का स्पष्टीकरण तथा रॉबर्ट हूक (१६३५—१७०३), जॉन मेयो (१६४३—१६७९), रेवेरेण्ड स्टिफेन हेल्स (१६७७—१७६१), हेनरी कैवेण्डिश (१७३१—१८१०), सी० डब्लू० शीले (१७४२—१७८६) एवं मानव-जाति के कल्याण के लिए वैज्ञानिक अनुशीलन में सलग्न अन्य कार्यकर्ताओं के अनुसन्धान शामिल हैं। यद्यपि वर्तमान समय में यह भी प्रत्यक्ष हो गया है कि जैसे अन्य उत्तम एव लाभकारी कार्यकलापों का दुरुपयोग हुआ है उसी प्रकार दुष्टों द्वारा विज्ञान का भी निकृष्ट कार्यों में दुरुपयोग किया गया है। लेकिन एक सतुलित मन से विचार करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने आज की मानव सभ्यता पर, प्रत्यक्षत उसके पदार्थवादी पक्ष तथा परोक्षत उसके अनेक कल्पनातीत पहलुओं पर जो अनुकूल प्रभाव डाला है, उसकी तुलना में उसका दुष्प्रयोग प्राय. नगण्य है। इस कथन की सत्यता सुज्ञात गैसों तथा उनके लाभों की समीक्षा करने से सिद्ध हो जायगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक वायु के अन्य सघटक गैसों का आविष्कार नहीं हुआ था, किन्तु उसी कालावधि में लार्ड रैले और सर विलियम रैमज़े ने विविध स्रोतों से प्राप्त नाइट्रोजन का घनत्व निकालने के फलस्वरूप आर्गन (विदाउट एनर्जी अर्थात् ऊर्जा रहित) का एकलन किया। तत्पश्चात् मॉरिस ट्रैवर्स के सहयोग से रैमजे ने निम्नलिखित रासायनिकत निष्क्रिय गैसों का आविष्कार किया—नियॉन (न्यू अर्थात् नया), हीलियम (सन अर्थात् सूर्य), क्रिप्टॉन (हिडेन अर्थात् गुप्त), तथा ज़ेनन (स्ट्रेन्जर अर्थात् अपरिचित)।

हीलियम—इसका प्रथम आविष्कार सूर्य से हुआ, यद्यपि वाणिज्यिक रूप से यह नैचुरल गैस से प्राप्त किया जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका में यह वायुयानों की स्फीति (इन्फ्लेशन) के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इस काम के लिए हाइड्रोजन की अपेक्षा इसका सबसे बडा लाभ यह है कि यह अज्वलनशील होता है। इसका दूसरा उपयोग वातिबुद्बुद रोग (कैसन डिजीज) की चिकित्सा में किया जाता है। *हीलियम-ऑक्सीजन का मिश्रण वायु की अपेक्षा रक्त में कम घुलनशील होता है।* इसके प्रयोग से उक्त रोग का घातक प्रभाव कम हो जाता है।

आर्गन—आर्गन द्रव-वायु से प्राप्त किया जाता है। न्यून दाब पर इस गैस से भरे विद्युत् दीपो के फिलामेण्ट निर्वात दीपो की अपेक्षा बिना काला पडे उच्च ताप तक गरम किये जा सकते हैं। आर्गन के इसी गुण के फलस्वरूप "हाफ वाट" दीप बनाये जा सके हैं।

नियॉन—रासायनिकत सर्वथा निष्क्रिय एव स्थायी होते हुए भी नियॉन दीप्त विज्ञापन (लूमिनस ऐडवर्टाइजमेण्ट) का प्रतीक बन गया है, क्योकि समस्त गैसो में से यह सर्वाधिक सरलता से विद्युत प्रतिबल (स्ट्रेस) का प्रतिचार (रिस्पॉण्ड) करता है और एक चालन (कॉण्डक्टिग) एव दीप्त काय (लूमिनस बॉडी) बन जाता है।

हाइड्रोजन—जल से हाइड्रोजन बनाने की अनेक रीतियाँ हैं, लेकिन उनसे प्राप्त गैस की शुद्धता भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए रीति-विशेष के चुनाव मे अभिप्रेत प्रयोजन में हाइड्रोजन की आवश्यक शुद्धता का ध्यान रखना पडता है। यदि जे० ए० सी० चार्ल्स ने बैलूनो के लिए इस गैस का उपयोग न किया होता और फ्रिज हावर (१८६८—१९३४) ने हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के सश्लेषण से अमोनिया बनाने का आविष्कार न किया होता तो कदाचित् हाइड्रोजन की वर्तमान समय में इतनी बडी माँग न हुई होती। बैलूनो तथा वायुयानो के काम के लिए हाइड्रोजन तप्त लाल लोहे पर भाप की अथवा क्षेप्य धातुओ पर तनु अम्ल की क्रिया से तैयार कर लिया जाता है क्योकि इसके लिए बहुत शुद्ध गैस की आवश्यकता नही होती। कभी-कभी इस काम के लिए हाइड्रोलिथ (कैल्सियम हाइड्राइड) पर जल की क्रिया अथवा फेरोसिलिकॉन पर गरम दह सोडा विलयन की क्रिया से भी हाइड्रोजन बनाना अधिक सुविधाजनक होता है। १ घन मीटर हवा का भार १.२९ किलो होता है, किन्तु १ घन मीटर हाइड्रोजन का भार केवल ०.०९ किलो होता है, इस प्रकार हाइड्रोजन से भरे १ घन फुट वरिमा (स्पेस[1]) की उडान शक्ति १.२ किलो होगी। हीलियम यद्यपि हाइड्रोजन से चार गुना भारी होता है, लेकिन उसमें हाइड्रोजन की ९/१० उडान शक्ति होती है और साथ ही उसमें आग लगने का खतरा भी नही होता। इसीलिए हाइड्रोजन के स्थान पर वायुयानो में हीलियम का प्रयोग होने लगा है। हावर विधा मे अमोनिया सश्लेषण के लिए हाइड्रोजन जल अथवा लवण-जल के विद्युदाघान[2] से अथवा वाटर-गैस से या जीवाणुओ की सहायता से प्राप्त किया जाता है। हाइड्रोजन बनाने की दूसरी विधा मे, जो हावर के सम्बन्धी, कार्ल बॉश के नाम से प्रसिद्ध है, भाप के साथ हवा

[1] Space दिक् या देश, अन्तरिक्ष [2] Electrolysis

मिला करके उसको दहकते कोक के ऊपर पार कराया जाता है, जिससे हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्बन मॉनोआक्साइड का एक मिश्रण प्राप्त होता है। कार्बन मॉनो-आक्साइड उत्प्रेरक आक्सीकरण से विलेय कार्बन डाइआक्साइड बनाकर उक्त मिश्रण में से उसका निरसन किया जाता है। हाइड्रोजन चाहे जिस तरीके से बनाया जाय, लेकिन उसमें ऐसी अशुद्धियाँ बिलकुल नही होनी चाहिए, जो उत्प्रेरक अथवा त्वरक की क्रिया को अवरुद्ध करें।

वर्तमान समय में हाइड्रोजन का प्रयोग केवल नाइट्रोजन से अमोनिया बनाने के ही लिए नहीं वरन् अनेक प्रकार की हाइड्रोजनन विधाओं के लिए किया जाता है। कुछ वनस्पति द्रव तेलों को सूक्ष्मत: चूर्णित निकेल की उपस्थिति में हाइड्रोजनित करके ठोस वसा तैयार की जाने लगी है; इसका प्रयोग साबुन बनाने के लिए तथा मक्खन प्रतिस्थापक तैयार करने में किया जाता है। जब किसी उपयुक्त उत्प्रेरक की सहायता से पेट्रोलियम तथा कोयले का हाइड्रोजनन किया जाता है तो उससे प्राप्त आसुत द्रव में लघु तेल की अधिकाश मात्रा होती है। कार्बन मॉनोआक्साइड के साथ हाइड्रोजन के सश्लेषण से मिथिल ऐलकोहल बनाया जाने लगा है, पहले यह ऐलकोहल काष्ठ के भंजक आसवन (डिस्ट्रक्टिव डिस्टिलेशन) से ही प्राप्त होता था। इन विशाल उद्योगों का विकास एवं वर्धन उन प्रयोगों के ही फल हैं जो प्राय छोटी-छोटी प्रयोग-शालाओं में धैर्यपूर्वक बहुत समय तक बारबार किये गये है।

जब हाइड्रोजन की उपस्थिति में दो टग्सटन विद्युदग्रों (एलेक्ट्रोड) के बीच विद्युत् चाप (आर्क) जलता है तो हाइड्रोजन के कुछ अणुओं के खण्डन से उसके पर-माणु बन जाते हैं। इस तथ्य का भी लाभ उठाकर हाइड्रोजन का एक और उत्तम प्रयोग किया गया है, अर्थात् अगर उपर्युक्त चाप के आरपार हाइड्रोजन की एक प्रधार (जेट) फूंकी जाय तो ऐसी प्रचण्ड ज्वाला उत्पन्न होती है जिससे टग्सटन तथा अन्य उष्मसह (रिफ्रेक्टरी) धातुओं का बिना तल ऑक्सीकरण के ही द्रावण किया जा सकता है। हाइड्रोजन परमाणुओं के योग से अणु बनने से ही इतना प्रचण्ड ताप उत्पन्न होता है। इस युक्ति से बनाये गये उपकरण को 'परमाणु हाइड्रोजन फुंकनी" (एटामिक हाइ-ड्रोजन ब्लोपाइप) कहते है।

ऑक्सीजन—आगे चलकर 'ऑक्सीजन' के नाम से सबोधित होनेवाली गैस के निर्माण की सर्वप्रथम घोषणा करने का श्रेय जोसेफ प्रीस्ले को है, जो उस समय (१७७४) लॉर्ड शेल्बर्न (कालान्तर में मार्क्विस ऑफ लैन्सडाउन) के साहित्यिक सहयोगी थे। प्रीस्ले ने इस गैस को "डिफ्लॉजिस्टिकेटेड एयर" की सज्ञा प्रदान की थी। इससे उक्त आविष्कर्ता द्वारा कल्पित उस 'दहन-सिद्धान्त' की विभ्रान्ति भासित

होती है, जो आगे चलकर उन्ही के अवलोकनों की सहायता से लवायजियर द्वारा मिथ्या सिद्ध किया गया। अब यह सर्वविदित है कि शीले ने इस गैस को प्रीस्ले से तीन वर्ष पूर्व बना लिया था और उसे "फायर एअर" अर्थात् अग्नि वायु का नाम दिया था, किन्तु इसकी घोषणा बाद में की गयी।

आजकल ऑक्सीजन एक वाणिज्यिक वस्तु है जो काले सिलिण्डरों में सपीडित रहती है। एक समय इसका निर्माण ब्रिन की रासायनिक विधा से किया जाता था। इस विधा में दाब के परिवर्तन से तप्त बेरियम ऑक्साइड द्वारा वायुमण्डलिक हवा में से आक्सीजन का अवशोषण कराया और फिर उससे उसे मुक्त करा लिया जाता था। किन्तु आजकल यह द्रव वायु के प्रभाजिक उद्वाष्पन (फ्रैक्शनल इवेपोरेशन) से प्राप्त किया जाता है। जब सपीडित गैसों को एक सुति (जेट) के द्वारा नियंत्रित दशा में छोड़ा जाता है तो वे ठंडी हो जाती है क्योंकि ऊर्जा (एनर्जी) उन अणुओं के पृथक्करण में लग जाती है, जो सपीडित अवस्था में एक दूसरे को आकृष्ट किये रहते हैं। यह शीतल प्रभाव धीरे-धीरे पद प्रति पद उत्पन्न किया जाता है और अन्त में गैस का तरलन हो जाता है। द्रव वायु के औद्योगिक निर्माण की लिण्डे-हैम्पसन विधा गैसों के उपर्युक्त आचरण पर ही आधारित है। नाइट्रोजन का तरलन ऑक्सीजन की अपेक्षा अधिक कठिन है, फलत द्रव वायु में से उबल कर वह शीघ्रता से उड भी जाता है और ऑक्सीजन एक नीले द्रव के रूप में शेष रह जाता है। कभी-कभी द्रव ऑक्सीजन को कार्बन और तेल से मिला कर उसे विनाशकारी विस्फोटक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि इसकी अधिकाश खपत श्वसन की सहायता के लिए चिकित्सीय प्रयोजनार्थ अथवा ऊँची उडानों के लिए होती है। इनके अतिरिक्त इसकी आवश्यकता आक्सी-एसिटिलीन ज्वाला के लिए होती है, जिसका ताप २,५००° से० होता है और जो धातुओं के सधान (वेल्डिंग) के लिए प्रयुक्त होती है। ऑक्सीजन की प्रबल प्रधार (जेट) के साथ यह ज्वाला इस्पात के पट्टों को काटने के काम में भी आती है। ऑक्सी-कोल गैस तथा ऑक्सी-हाइड्रोजन धमनाड (ब्लो पाइप) भी बहुधा इस्तेमाल किये जाते हैं।

ओजोन—जब ऑक्सीजन को ऐसे स्थान में पारित किया जाता है जिसमें से होकर मूक विद्युत् विसर्जन (साइलेण्ट एलेक्ट्रिक डिस्चार्ज) पार कर रहा हो, तो उसमें से कुछ गैस ऐसा रूप धारण कर लेती है, जिसमें एक विचित्र गन्ध होती है और जिसमें सुस्पष्ट भौतिक एव रासायनिक गुण आ जाते है। वस्तुत यह ऑक्सीजन का ही एक अपररूप (एलोट्रॉपी) है, जिसे 'ओजोन' कहते हैं। यह ओजोनित ऑक्सीजन एक बडा सक्रिय ऑक्सीकर्ता है, जिसका प्रयोग कागज की लुगदी, हाथी-

दाँत और आटे के विरंजन तथा जल-पदार्थों के जीवाणुहनन (स्टेरीलाइजेशन) के लिए होता है। इसका उपयोग भूमिस्थ रेलवे प्रणाली के संवातन (वेण्टीलेशन) के लिए भी किया जाता है। लवंग तेल से वैनिलीन बनाने के लिए भी ओज़ोन का प्रयोग होता है। वैनिलीन वैनिला का एक सुगन्धयुक्त बहुमूल्य घटक है, जिसकी अपेक्षा लवंग तेल काफी सस्ता होता है। अलसी के तेल से लिनोलियम बनाना आक्सीकरण क्रिया का ही रूप है और इसके लिए भी ओज़ोन काफी प्रभावी सिद्ध हुआ है।

क्लोरीन—ब्लीचिंग पाउडर की गंध से परिचित कोई भी व्यक्ति क्लोरीन की गन्ध पहचान सकता है। यह एक पीत-हरित गैस होती है और बुझाये चूने पर इसी की क्रिया के फलस्वरूप 'ब्लीचिंग पाउडर' अथवा 'क्लोराइड ऑफ लाइम' बनता है। क्लोरीन स्वयं क्षार-निर्माण में लवण-जल के विद्युदंशन (एलेक्ट्रालिसिस) अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के रासायनिक ऑक्सीकरण से उत्पन्न होती है। यह एक बड़ा सक्रिय विरंजनकारक है, लेकिन अगर कपड़ों को इसके सम्पर्क में अधिक समय तक छोड़ दिया जाय तो उनका नाश भी हो जाता है, इसीलिए इसकी अधिक मात्रा को सोडियम थायोसल्फेट (फोटोग्राफरों का 'हाइपो') जैसे 'प्रति क्लोर' के प्रयोग से निरसित कर दिया जाता है। कागज-निर्माण में पौधों के रेशों के पृथक्करण के लिए भी क्लोरीन का उपयोग किया जाता है। रोगाणुनाशन के लिए तो यह गैस काफी प्रसिद्ध है। आजकल पेय जल के क्लोरीनीकरण से सभी परिचित हैं, एतदर्थ या तो उसमें ब्लीचिंग पाउडर डाल दिया जाता है अथवा सम्पीडित क्लोरीन भरे सिलिण्डरों में से शुद्ध गैस की उपयुक्त मात्रा जल में निरन्तर मिलायी जाती है। क्लोरीन के औद्योगिक उपयोग के दो और उदाहरण भी हैं, एक कार्बोनिल क्लोराइड अर्थात् 'फॉस्जीन' जो रंजक पदार्थों एवं सूक्ष्म रसद्रव्यों के निर्माण में अन्तःस्थ का काम करता है और दूसरा सल्फर क्लोराइड जो रबर के वल्कनीकरण के लिए प्रयुक्त होता है। स्क्रैप टिन पट्टों की कलई उतारने के लिए भी क्लोरीन इस्तेमाल की जाती है। इस क्रिया में टिन के वाष्पशील यौगिक का आसवन होता है। प्रमीलक (नारकोटिक) क्लोरल तथा निश्चेतक (ऐनेस्थेटिक) क्लोरोफार्म भी इसी के उत्पादन हैं, चिकित्सा में जिनका अत्यधिक महत्त्व है।

हाइड्रोजन क्लोराइड—नमक-जैसा कोई क्लोराइड जब सान्द्रित सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ तप्त किया जाता है तब धूमायमान अम्ल गैस के रूप में हाइड्रोजन क्लोराइड निकलता है। इसके जलीय विलयन को धातुओं को साफ करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। परन्तु मुख्यतः यह गैस क्लोरीन के स्रोत के रूप में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

हाइड्रोजन फ्लुओराइड—फ्लुओस्पार से प्राप्त होता है, यह भी एक अम्ल गैस है। काँच एव बालू-जैसे सिलिकामय पदार्थों पर आक्रमण करना इसका विशेष गुण है। इसीलिए काँच के निक्षारण[1] तथा धातु की ढली वस्तुओ पर से बालू हटाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। इसके जलीय विलयन को मोम, सीस अथवा रबर की बोतलो मे रखना पडता है।

अमोनिया—कृषि बडा पुराना और महत्त्वपूर्ण उद्योग है, जिसमें गैस कारखानों, कोक भट्टियों तथा नाइट्रोजन स्थिरीकरण की हावर विधि इत्यादि मे उत्पन्न अमोनियम सल्फेट की भारी खपत होती है। नाइट्रोजन के स्थिरीकरण से प्राप्त अमोनिया का प्लैटिनम की उपस्थिति मे वायु से ऑक्सीकरण करके नाइट्रोजन डाइऑक्साइड बनता है जिसे पानी में विलीन करने से नाइट्रिक अम्ल तैयार हो जाता है। नाइट्रिक अम्ल का उपयोग रजक, भेषज एव विस्फोटक बनाने में बहुतायत से होता है। सारभूत रस द्रव्य, सल्फ्यूरिक अम्ल के निर्माण में भी पुराने नाइटरपात्रों के उत्पादनो के स्थान पर अब इन्ही नाइट्रस गैसो का प्रयोग होने लगा है। प्रशीतन (रेफ्रिजरेटिंग) सयत्रो मे अमोनिया का काफी इस्तेमाल होता है। सपीडन द्वारा इस गैस का बडी सरलता से तरलन हो जाता है, और द्रव अमोनिया को निम्न दाब पर विस्तारोद्वाष्पित[2] करने से ताप एकदम कम हो जाता है। अमोनिया, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन दोनो का बडा सस्ता और परिवहन योग्य स्रोत है, उपर्युक्त गैसें अमोनिया का क्रमश उत्प्रेरक विच्छेदन अथवा नियत्रित दहन करके प्राप्त की जा सकती है। जलप्रदायों में क्लोरीन के साथ अमोनिया का भी प्रयोग किया जाता है, इससे जल का दुस्स्वाद ठीक हो जाता है। रबर के वल्कनीकरण में अमोनिया एक त्वरक के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

नाइट्रिक ऑक्साइड—सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की सीसकक्ष विधा (लेड चेम्बर प्रॉसेस) में नाइट्रिक ऑक्साइड का मुख्य औद्योगिक उपयोग होता है। यह एक रगहीन गैस है, किन्तु इसके दैहिक (फिजियालोजिकल) गुणों का पता नही है क्योकि वायु से सम्पर्क होने पर इसका ऑक्सीजन से तुरन्त सयोजन हो जाता है और एक विषाक्त, भूरी गैस, नाइट्रोजन टेट्राक्साइड अथवा नाइट्रोजन डाइक्साइड उत्पन्न हो जाती है। दूसरी ओर अपनी इसी प्रतिक्रिया के कारण सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन के बीच यह एक उत्प्रेरक का काम करके सल्फ्यूरिक अम्ल तैयार करने में

[1] Etching [2] Exaporating

बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्यभाग पूरा करता है। यद्यपि इस विधा की उत्प्रेरक क्रिया का पूर्ण स्पष्टीकरण हुआ नही माना जाता, फिर भी इससे नाइट्रिक आक्साइड की उपयोगिता में कोई अन्तर नही पड़ता। अकेले ग्रेट ब्रिटेन में प्रतिवर्ष दस लाख टन सल्फ्यूरिक अम्ल तैयार होता है, जिसमें से लगभग तीन-चौथाई नाइट्रिक ऑक्साइड—नाइट्रोजन पराक्साइड, प्रतिक्रिया के ही आधार पर बनता है।

नाइट्रस ऑक्साइड—इस गैस का औद्योगिक योगदान प्राय. नगण्य है, किन्तु दन्त-चिकित्सा में दुखते दाँत को बिना पीडा के उखाड़ने में एक निश्चेतक के रूप में इसके उपयोग की उपेक्षा भी नही की जा सकती। प्रसव वेदना के शमन में नाइट्रिक ऑक्साइड का एक वेदनाहर[1] के रूप में अच्छा स्थान है। इस प्रकार औद्योगिक मानव-शक्ति में इसका परोक्ष योगदान तो माना ही जाना चाहिए।

सल्फर डाइऑक्साइड—रोगाणु-नाशन के लिए जब गंधक जलाया जाता है तो उत्पन्न धूम में मुख्यत सल्फर डाइऑक्साइड होता है, जो एक तीखी गंधवाली तथा श्वासरोधी गैस है। श्लेष्म झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) पर भी इस गैस की विचित्र सतापक (इरीटेटिंग) क्रिया होती है। धातुकर्मिक क्रियाओं में यशद ब्लेण्डे-जैसे सल्फाइड अयस्को (ओर्स) के भूँजने (रोस्टिंग) से भी यह गैस उत्पन्न होती है, लौह माक्षिक[2] तो इसका प्रधान स्रोत ही है। इसके ऑक्सीकरण से सल्फ्यूरिक अम्ल उत्पन्न किया जाता है और इस काम के लिए इसकी खास आवश्यकता होती है। सल्फ्यूरिक अम्ल उत्पादन की एक विधा (प्रक्रिया) का उल्लेख किया जा चुका है, जिसमें नाइट्रिक ऑक्साइड का प्रयोग होता है, दूसरी विधा में सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन को तप्त प्लैटिनम अथवा वैनेडियम सिलिकेट के ऊपर से पार कराने से सल्फर ट्राइऑक्साइड उत्पन्न होता है जिसे सल्फ्यूरिक अम्ल में विलीन करने से 'ओलियम' कहलानेवाला धूमायमान (फ्यूमिंग) सल्फ्यूरिक अम्ल प्राप्त होता है। क्लोरीन से नष्ट होनेवाली वस्तुओं के लिए सल्फर डाइऑक्साइड विरजक का भी काम करता है, साथ ही एक प्रति-क्लोर[3] के रूप में विरंजित वस्त्रों में से अतिरिक्त क्लोरीन का निरसन भी करता है। जैम, सूखे फल, चटनी, बिअर, शराब इत्यादि के परीक्षण के लिए भी सल्फर डाइऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में इसके प्रयोग करने के विशिष्ट नियम हैं जिनके अनुसार किसी खाद्य पदार्थ में इसका अनुपात एक सीमा से अधिक नही हो सकता। अमोनिया की भाँति इस गैस का भी

[1] Analgesic [2] Ironpyrites [3] Anti-chlor

तरलन सरलता से हो जाता है तथा विस्तारोद्वाष्पन में पर्याप्त उष्मा का अवशोषण करके यह प्रशीतन प्रभाव उत्पन्न करती है। रेजीनो और मोमो के विलायक के रूप में भी यह द्रव उपयोगी होता है।

कार्बन मॉनोऑक्साइड—प्रोड्यूसर गैस तथा वाटर गैस-जैसे गैसीय ईंधनो में कार्बन मॉनोऑक्साइड प्रमुख सघटक होता है। तापदीप्त कोक के ऊपर वायु सचारित करके प्रोड्यूसर गैस तैयार की जाती है, जिसमें कार्बन मॉनोऑक्साइड और नाइट्रोजन मिश्रित होते हैं। और वाटर गैस बनाने के लिए श्वेत-तप्त कोक पर से भाप पार करायी जाती है, इसमें कार्बन मॉनोऑक्साइड और हाइड्रोजन का मिश्रण होता है। पहली विधा में उष्मा का विकास तथा दूसरी मे उष्मा का तनिक अवशोषण होता है, अत अक्सर इन दोनो विधाओ को एक साथ चलाकर सेमी-वाटर गैस तैयार की जाने लगी है। वाटर गैस के सघटको का उष्मीय मान (कैलॉरिफिक वैल्यू) बहुत अधिक होता है, जिससे वे उत्तम ईंधन का काम देते हैं, लेकिन इसके अलावा किसी उत्प्रेरक की उपस्थिति मे उच्च दाब से उनकी प्रतिक्रिया कराकर मिथिल ऐलकोहाल (मिथेनॉल) उत्पन्न किया जाता है। मिथेनॉल उड-स्पिरिट का मुख्य संघटक होता था। ऐलकोहाल में इसी को डाल कर उसे अपेय बनाया जाता है, इसीलिए उसे "मिथिलीयित स्पिरिट" कहते हैं। अनेक कार्बनिक रसद्रव्यो के निर्माण मे भी मिथिल ऐलकोहाल का महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है। दह सोडा विलयन पर उच्च दाब में कार्बन मॉनोऑक्साइड की प्रतिक्रिया से सोडियम फार्मेट उत्पन्न होता है। यह लवण कार्बनिक तथा अकार्बनिक रसायन के बीच की सुन्दर कडी है। निकेल के धातुकर्म में भी कार्बन मॉनोऑक्साइड का विशिष्ट उपयोग होता है। अपरिष्कृत धातु को इस गैस के साथ जब जल के क्वथनाक के नीचे गरम किया जाता है तो वह गैस के साथ सयुक्त होकर एक विषाक्त वाष्प के रूप मे कार्बोनिल क्लोराइड बन जाता है, जिसका आसवन कर लिया जाता है। इस पदार्थ का उच्च ताप पर पुन गरम करने से कार्बन मॉनोऑक्साइड तथा विशुद्ध निकेल प्राप्त होता है।

कार्बन डाइआक्साइड—यह गैस पत्थर का चूना जलाने से बनती है, वायु के आधिक्य मे कोक को जलाने मे भी यह उत्पन्न की जाती है। मद्यासवनियों (ब्रूअरीज) की किण्वन विधा में भी कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है और वहां तो केवल उसे एकत्र करने मात्र का ही प्रश्न होता है। यह गैस दाब मे विशेष रूप से जल-विलेय है तथा सपीडन से इसका तरलन भी सरलता से होता है। इसके शोधन मे इन्ही गुणो का लाभ उठाया जाता है। सिलिण्डरो में से छोडे जाने पर द्रव गैस बडी शीघ्रता से उद्वाष्पित होती है जिससे उसका अतिशीतन (सूपर

कूलिंग) होने से उसका एक भाग जमकर हिम बन जाता है, इसे "सूखी बर्फ" अथवा "ड्रिकोल्ड" कहते है और प्रशीतन (रेफ्रिजरेशन) कार्यो के लिए इसका बडा व्यापक प्रयोग होता है। खाद्य पदार्थों का सडना या खराब होना भी इससे रुक जाता है, क्योकि इसके प्रयोग से एक तो पदार्थों का ताप बहुत कम हो जाता है दूसरे उनके चारो ओर कार्बन डाइऑक्साइड का ऐसा वातावरण बन जाता है जिसमें जीवाणुओं का वर्धन सभव नही होता। इस "सूखी बर्फ" (ड्राई आइस) के आविष्कार का श्रेय टामस ऐण्ड्रूज (१८१३—१८८५) नामक एक आयरिश सज्जन को है, जिन्होने तीनो *अवस्थाओ (ठोस, द्रव और गैस) में कार्बन डाइऑक्साइड के गुणो का विशेष अध्ययन* करके इस चमत्कार को मूर्त किया। "ड्रिकोल्ड" (सूखी बर्फ) के प्रयोग ने नाशवान् खाद्य पदार्थों के सग्रहण एव परिवहन में सचमुच एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। और इसी क्रान्ति का परिणाम है कि दिसम्बर के महीने में भी लोगो को ताज़ी-ताज़ी स्ट्रावेरी मिल सकती है। वातित पेयो के बनाने में भी कार्बन डाइऑक्साइड का काफी प्रयोग होता है तथा ह्वाइट लेड बनाने में भी। कुछ प्रकार के दमकलो की कार्यक्षमता इसी गैस पर निर्भर होती है क्योकि कार्बन डाइऑक्साइड से आग बडी जल्दी बुझ *जाती है।*

मिथेन—मिथेन को 'मार्श गैस' अथवा 'फायर डैम्प' भी कहते है। यह नेचुरल गैस का मुख्य सघटक है, जिसके दहन से शक्ति प्राप्त होती है। आंतो में सेलुलोजीय पदार्थो के जीवाणविक किण्वन से यह हाइड्रोकार्बन उत्पन्न होता है। इस प्राकृतिक प्रतिक्रिया से लाभ उठा करके आजकल रासायनिकत मिथेन का उत्पादन किया जाता है।

इथिलीन—ऐलकोहॉल के विजलीयन (डिहाइड्रेशन) से इथिलीन बनती है। अर्ध परिपक्व फलो के रग बढाने के लिए इस गैस का प्रयोग होता है, किन्तु इसके साथ क्लोरीन और ब्रोमीन के सयोजन से प्राप्त द्रवों का अधिक महत्वपूर्ण उपयोग है। इथिलीन डाइक्लोराइड का इस्तेमाल शुष्क धावन (ड्राइ क्लीनिंग) के लिए भी किया जाता है। जल के साथ गरम करने पर इससे ग्लाइकोल उत्पन्न होता है जो एक 'प्रति-हिम'[1] है। *अभिहनन (नॉक) को दबाने के लिए पेट्रोल में प्राय मिलायी* जानेवाली "इथिल फ्लुइड" का मुख्य सघटक इथिलीन डाइब्रोमाइड होता है।

एसेटिलीन—चालीस वर्ष पूर्व एसेटिलीन का रोशनी करने के लिए बहुत प्रयोग

[1] Antifreee

होता था, किन्तु आजकल इसका मुख्य उपयोग ऑक्सी-एसेटिलीन ज्वाला में होता है जिससे धातुओं को काटने और जोड़ने का काम सरलता से किया जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक कार्बनिक यौगिकों—मुख्यतः एसेटिक अम्ल और एसिटोन के निर्माण में एसिटिलीन प्रारम्भिक पदार्थ होता है। एसिटेट रेशम तथा एसिटेट फिल्म उद्योगों में एसेटिक अम्ल की काफी खपत होती है। एसिटोन एक उत्तम विलायक भी है।

हाइड्रोजन सायनाइड तथा इथिलीन ऑक्साइड—ये दोनों बड़ी विषाक्त गैसें हैं, जिनका खाद्य पदार्थों एवं तम्बाकू के संग्रहण के लिए धूमक (फ्यूमिगैण्ट्स) के रूप में व्यापक प्रयोग होता है। आधुनिक जीवन में खाद्य पदार्थों का यातायात बड़ी दूर-दूर तक होता है और उन्हें बड़े लम्बे समय तक संगृहीत करना पड़ता है। इनमें अनाज, सुखाये फल, तम्बाकू के साथ-साथ 'मन्ना' अर्थात् क्षीरी (एक प्रकार के पौधों का मीठा उत्स्वेद) जैसी वस्तु भी होती है जिसे यदि दिन भर भी यों ही रख दिया जाय तो शाम तक उसमें कीड़े पड़ जायें और दुर्गन्धि आने लगे। धन-धान्य की हानि करने में मूषों, पतंगों, शलभों और कीड़े-मकोड़ों का बड़ा हाथ होता है। हाल में रसायनज्ञों और जैविकीविदों ने परस्पर सहयोग से धूमकों के प्रति इन कीड़ों की आग्राहिता (ससेप्टिबिलिटी) का अध्ययन किया, और इनके नाशनार्थ प्रस्तुत गैसें सर्वोत्तम प्रभावी सिद्ध हुईं। लेकिन इस अभियान में गैसों का चुनाव बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि एक ओर उन्हें कीड़ों के प्रति प्रभावी रूप से विषालु होना चाहिए और दूसरी ओर वस्तुओं और पदार्थों पर कोई अवांछित प्रभाव न उत्पन्न करना चाहिए। एतदर्थ इन गैसों के विसरण (डिफ्यूज़न) प्रवेशन, ज्वलनशीलता, उत्पादन, वाष्पी-करण तथा विश्लेषण सम्बन्धी अन्वेषण करना आवश्यक था। हाइड्रोजन सायनाइड यद्यपि कीड़ों को मारने के लिए अत्यन्त प्रभावी है और तदर्थ उसका व्यापक प्रयोग भी होता है, लेकिन उसका इस्तेमाल करना बड़ा भयानक है क्योंकि वह मानव जाति के लिए भी बड़ी विषाक्त गैस है। इथिलीन ऑक्साइड कीड़ों मकोड़ों के लिए विषालु होते हुए भी मनुष्यों के लिए कम विषाक्त है, लेकिन ज्वलनशीलता उसकी बड़ी कमी है। इसी प्रकार कार्बन डाइ सल्फाइड वाष्प भी इस प्रयोजन के लिए काफी इस्तेमाल होता है, लेकिन यह भी बड़े भयंकर रूप में ज्वलनशील है। इथिलीन क्लोराइड और कार्बन टेट्राक्लोराइड यद्यपि सफलतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं, लेकिन सामान्य प्रयोग के लिए बड़े मँहगे होते हैं।

रासायनिक पदार्थों के व्यावहारिक प्रयोग में रसायनज्ञों के बहुमुखी कार्यकलाप हैं। ऐसे पदार्थों को बनाकर पहले बहुत काल तक उनके गुणों का अध्ययन किया

जाता है और अन्त में जब किसी विशिष्ट औद्योगिक प्रयोग के लिए उनकी प्रस्तावना होती है तो उनके सबन्धित गुणो एव प्रतिक्रियाओ की पुन परीक्षा करने के लिए रसायनज्ञो की आवश्यकता पडती है। विभ्रमों के विलोपन, विधाओ की सुतथ्यता एव सयत्रो और प्रविधियो सम्बन्धी समस्याओ को हल करना ही कदाचित् इस प्रकार के पुनरवलोकन का अभिप्राय होता है। रसायनज्ञो को निर्माण की मूल विधाओ में कभी कभी आमूल परिवर्तन करना पडता है जिससे अधिक शुद्ध एव सस्ते पदार्थ उत्पन्न किये जा सकें, इसके अलावा निर्माण की विविध कियाओ के सतत नियत्रण के लिए उनकी निरन्तर आवश्यकता होती है। उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल विश्लेषण की रीतियाँ भी निकालनी पडती हैं।

प्रस्तुत लेख में मानव की व्यापक और बहुगुणी सेवा में लगनेवाली गैसो का वर्णन किया गया है। इनके विकास एवं उत्पादन में रसायन विज्ञान ने जो योगदान किया है वह भी स्पष्ट है। इस विज्ञान के अनुशीलन से उद्योगो को नये-नये गुणों और नयी-नयी उपयोगितावाली वस्तुएँ निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। इतना ही नही, प्रत्येक पद पर उनके प्रभावी प्रयोग का दिग्दर्शन कराना तथा उसकी प्रतिभूति प्रदान करना भी रसायन-विज्ञान का ही काम है।

ग्रंथ-सूची

HOWE, H E *Chemistry in Industry.* Chemical Foundation Inc.

MELLORE, J W. *A Comprehensive Treatise on Inorganic and Theoretical Chemistry. Longmans, Green & Co , Ltd*

MORGAN, SIR G. T., AND PRATT, D. D *British Chemical Industry.* Edward Arnold & Co.

PARTINGTON, J R. *A Short History of Chemistry.* Macmillan & Co , Ltd

PARTINGTON, J. R., AND PARKER, L H *The Nitrogen Industry* Constable & Co., Ltd.

TEED, P. L *The Chemistry and Manufacture of Hydrogen.* Edward Arnold & Co

Text Book of Inorganic Chemistry. Edited by J N Friend. Charles Griffin & Co., Ltd.

खनिज तेल

पेट्रोलियम, शैल तेल, स्नेहक

ए० ई० डन्स्टन, डी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्योगों में रसायनज्ञों के कार्यभाग का ही विशिष्ट उल्लेख है, अत. तेल की खोज में भौमिकीय (जियोलॉजिकल) एव भूभौतिकीय (जियोफिज़िकल) रीतियों, तेलोत्पादन के लिए कूपो की खोदाई और उनमें से तेल निकालने एव लम्बे-लम्बे पाइपों द्वारा अपरिष्कृत तेल को परिष्करणियो (रिफाइनरी) तक ले जाने का विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह बताना आवश्यक है कि इन सब कार्यों में रसायनज्ञो का भी उतना ही महत्त्व है जितना इस्पात एव मिश्रधातुओं की योगरचना के लिए किसी धातुकर्मज्ञ का अथवा कूपदाब (वेल प्रेशर) को सहन करने योग्य व्यव-पक (ड्रिलिंग मड) के उत्पादन तथा कूपो को साफ करके उसके तल पर स्तर चढाने के लिए कलिल-वैज्ञानिक का। इसके अतिरिक्त तेल क्षेत्रों एवं परिष्करणियों के कर्मियो की स्वास्थ्य-रक्षा का भी काफी भार रसायनज्ञो के ऊपर होता है क्योंकि जल-शोधन एवं खाद्य-विश्लेषण का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर होता है और इस अर्थ में वह चिकित्सकों के दाहिने हाथ माने जाते हैं।

१९३८ तक के प्राप्त प्रामाणिक आँकडो से ज्ञात होता है कि ससार का कुल पेट्रोलियम उत्पादन २७ करोड टन था। उसके मुख्य-मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं—

यू० एस० ए०	१६४,०००,००० टन
यू० एस० एस० आर०	२९,०००,००० टन
वेनेज़ुएला	२८,०००,००० टन
ईरान	१०,०००,००० टन
डच ईस्ट इण्डीज़	७,०००,००० टन

तेल की इस बडी राशि के साथ-साथ ३,५००,०००,०००,००० घनफुट गैस (निम्न पाराफिन हाइड्रो कार्बन) भी लगी हुई हैं। गैस की इस विशाल मात्रा में से १९३८ में केवल सयुक्त राज्य अमेरिका में ही १५०,०००,००० गैलन तरलित ब्यूटेन और प्रोपेन का विक्रय हुआ था। खनिज तेलो की आनुषगिक गैसें इस प्रकार हैं—मीथेन (CH_4), ईथेन (C_2H_6), प्रोपेन (C_3H_8) तथा नार्मल एवं आइसो ब्यूटेन (C_4H_{10})। इनके साथ-साथ न्यून मात्रा में पेन्टेन (C_5H_{12}) तथा हेक्ज़ेन (C_6H_{14}) भी होते हैं। तेल मे गैस अलग करने के लिए उच्च दाब

पृथक्कारक (सेपरेटर्स) प्रयोग किये जाते है, इस अवस्था में प्राय. मीथेन और ईथेन अलग होते हैं। इसके बाद तेल को वायुमण्डलिक दाब पर लाया जाता है और फिर धीरे-धीरे निम्न दाब पृथक्कारको में, जिससे उसमें विलीन शेष गैसें भी अलग कर ली जाती है।

निम्न दाब पर पृथक की गयी गैसों मे पेण्टेनो और हेक्ज़ेनो-जैसे तरलेय पदार्थ होते है, जिन्हे फिर से पेट्रोल मे मिलाया जा सकता है। ये हाइड्रोकार्बन वाष्प गैसो में से विलायक तेलो में अवशोषण द्वारा उसी प्रकार विपाटित[1] कर लिये जाते है, जैसे कोल गैस में से बेंजॉल। गैस पृथक्करण के बाद विगैसित (डिगैस्ड) तेल को पम्प करके परिष्करणियो में पहुँचाया जाता है।

विभिन्न उत्पादन-केन्द्रो से प्राप्त अपरिष्कृत तेल में हाइड्रोकार्बनो का अनुपात भिन्न-भिन्न होता है, और कभी कभी उनकी (हाइड्रोकार्बनो की) प्रकृति में भी थोड़ा अन्तर होता है। ईरानी तेल यद्यपि मुख्यत पाराफीनिक प्रकार का होता है, फिर भी उसमें ऐरोमैटिक एव सतृप्त चक्रिक[2] (साइक्लिक) हाइड्रोकार्बन भी होते हैं। कैलिफोर्निया से प्राप्त अपरिष्कृत तेल नैप्थीनिक अर्थात् सतृप्त चक्रिक प्रकार का होता है। बोर्नियो के कुछ तेल निश्चित रूप से ऐरोमैटिक होते है, तथा मध्य अमेरिका, वेनेजुएला और मेक्सिको के तेलो में काफी ऐस्फाल्ट मिला होता है। सभी अपरिष्कृत तेलो में हाइड्रोकार्बनो के अतिरिक्त गधक जैसे अन्य पदार्थ भी होते हैं। गंधक बहुधा समस्त प्रकार के तेलो में लेश मात्र से लेकर ६% तक विद्यमान रहता है। कैलिफोर्नियाई तथा रूसी तेलो में तथाकथित नैप्थीनिक अम्ल के रूप में ऑक्सीजन और पिरिडीन और क्वीनोलीन पीठो के रूप में नाइट्रोजन होते हैं। इनके प्रज्वलन (इग्नीशन) मे भस्म भी प्राप्त होता है जिसमें निकेल, वनेडियम, लोहा, सिलिका तथा अन्य अकार्बनिक पदार्थ होते है।

स्थूल रूप से सभी पेट्रोलियम भूगर्भ से ही प्राप्त होते हैं। भौमिकीय विज्ञान की यह मान्यता है कि पेट्रोलियम जीवाणुओ द्वारा चिरकाल से हो रहे भूगर्भ के कार्बनिक अवशिष्टो के अपह्रास (डिग्रैडेशन) का फल है।

पहले मीथेन, ईथेन, प्रोपेन, ब्यूटेन तथा थोडे-से पेण्टेनो-जैसे अपरिष्कृत तेलो से सलग्न सतृप्त गैसों की उपयोगिता का वर्णन करने में सुविधा होगी।

वस्तुस्थिति यह है कि ये वस्तुएँ प्रायः निष्क्रिय होती है, किन्तु इन पर दो प्रकार

[1] Stripped [2] Saturated cyclic

के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है, जिनका आजकल वाणिज्यिक उपयोग किया जाता है। प्रथम तो ताप का परिवर्तन, जिसे उत्तापन[1] कहा जा सकता है, इससे इनके विदरण (कैकिंग) से हाइड्रोकार्बन बनते हैं ये नुहयत. ऐरोमैटिक प्रकृति के होते हैं।

विहाइड्रोजनीकरण दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसके महत्त्व का वर्णन आगे किया जायगा। उदाहरणार्थ ब्यूटेन के विहाइड्रोजनीकरण से ब्यूटीन उत्पन्न होते हैं, जो अधिक प्रतिक्रियाशील होने के कारण उच्च आक्टेन मोटर ईंधनो के उत्पादन में अत्यन्त का काम करते हैं। पहले तो इन ईंधनो का स्पष्टीकरण आवश्यक है। पेट्रोल अथवा स्फुल्लिंग प्रज्वलन (स्पार्क इग्नीशन) इजनो के प्रचलन के बाद इजीनियरो ने इजन के प्रथम गति-दाता (मूवर) में बराबर ऐसा विकास किया है जिससे उच्च एवं उच्चतर उत्पीड क्षमता प्राप्त हुई है। किन्तु इस उच्च उत्पीड क्षमता के साथ अधिक प्रभावी ईंधनो की भी आवश्यकता हुई। इजीनियरो ने सपीडन अनुपात को ३ से बढ़ाकर ६ या ७ कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि निम्न अनुपात पर ठीक काम करनेवाले ईंधनो में उच्च अनुपात पर अभिहनन (नाक) तथा प्रस्फोटन (डिटोनेशन) होने लगा। अत रसायनज्ञो को इजीनियरो की प्रगति के साथ चलकर उच्च मान वाले ईंधनो का विकास करना पड़ा। इनके ऑक्टेन मान का निश्चयन इनके परीक्षण का वर्तमान और कदाचित् स्थायी साधन है। अब यह निश्चय किया जाता है कि नार्मल-हेप्टेन और आइसो-आक्टेन के मिश्रण में नार्मल-हेप्टेन की कौन-सी प्रतिशत मात्रा रहने से वह परीक्षण स्पिरिट की बराबरी कर सकता है। कुछ वर्ष पूर्व ४० प्र० श० आइसो-आक्टेन से यह काम हो जाता था, किन्तु आज ८० प्र० श० और कल शायद १०० प्र० श० की आवश्यकता होगी। उड्डयन प्रयोजनो के लिए तो १५०°, की भी बात चल रही है। निष्पादन के इस स्तर तक पहुँचने के लिए पेट्रोलियम रसायनज्ञो ने सभी प्रकार की युक्तियाँ लगायी लेकिन अपरिष्कृत तेलो से सीधे-सीधे प्राप्त की गयी गैसें केवल कुछ ही हद तक इनकी पूर्ति कर पाती और सम्प्रति विदरण (कैकिंग) क्रिया से उत्पन्न गैसें अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रही है।

अब परिष्करणियो में आये अपरिष्कृत तेल की बात लीजिए। वायुमण्डलिक दाब पर और उच्च शून्यक में भी प्रभाजन आसवन द्वारा इनके खण्डन से वाणिज्यिक उपयोगवाले उत्पादन प्राप्त होते हैं निम्न क्वथनाक के क्रम से ये मोटर

[1] Pirolysis

स्पिरिट इस प्रकार हैं—विलायक तथा स्वेत स्पिरिट, केरोसीन, प्रकाश स्तम्भों के लिए तेल, गैस तेल, डीज़ल तेल, स्नेहकों के लिए भारी आसुत, मोम और अन्त में पिच अवशिष्ट।

अपरिष्कृत तेल के उपर्युक्त प्रभाग यद्यपि क्वथनांक सीमाओं के अनुसार सुस्पष्टतया विभिन्न होते हैं, फिर भी उनके परिष्करण की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ उनमें गंधक के यौगिकों तथा अन्य गंधक व्युत्पत्तियों (डेरीवेटिव्स) जैसे बहुत-से नामक पदार्थ होते हैं, जिनके कारण उनमें बदरंग आ जाता है और जो उनके सामान्य अस्थायित्व के कारण बन जाते हैं। इसके अलावा उनमें केरोसीन सदृश कदाचित *हाइड्रोकार्बन भी हो सकते हैं, जिनकी वजह से उनके जलने में धुंआ उत्पन्न होता है।* परिष्करण की रीतियां रासायनिक एवं भौतिक दोनों प्रकार की होती हैं। मोटर स्पिरिटों की थायोव्युत्पत्तियों के आक्सीकरण के लिए क्षारीय हाइपोक्लोराइट अथवा सोडियम प्लम्बाइट अथवा क्युप्रिक क्लोराइड अथवा कोई प्रभावी आक्सीकारक प्रयोग किया जा सकता है। केवल ऐरोमैटिक अथवा असंतृप्त हाइड्रो कार्बनों *को निकालने के लिए चुनावशील विलायकों का प्रयोग करना पड़ता है।* 'एडेलिन्यु रीति' में केरोसीन इसी विधि से निकाली जाती है, इसके लिए विलायक के रूप में द्रव सल्फर डाइऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है। स्नेहक (लुब्रिकेटिंग) तेलों में से ऐसे विलेय एवं अस्थायी संघटकों को निकालने के लिए क्लोरेक्स, फरफूरल, नाइट्रोबेंज़ीन, फिनॉल, बेंज़ीन तथा सल्फर डाइऑक्साइड का इस्तेमाल किया जाता है। फलस्वरूप रासायनिकतः स्थायी स्नेहक प्राप्त होता है, किन्तु यह संयोग की बात है *कि इससे वे ही ध्रुवीय वस्तुएँ निकल जाती हैं जो तेल को स्नेहन-शक्ति यानी स्नेहकता* अथवा स्निग्धता प्रदान करती हैं। यह बात दरअसल इतनी विचित्र है कि सचमुच उन स्नेहकों में कुछ अन्य ध्रुवीय संघटक डालने पड़ते हैं, जिनमें उच्च कार्यक्षमता की आवश्यकता होती है।

मोटर स्पिरिट की ऐसी मांग की पूर्ति करने के लिए अपरिष्कृत तेल की विपुल राशि के आसवन की आवश्यकता पड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप केरोसीन, गैस तेल तथा अन्य व्युत्पत्तियों की अत्यधिक मात्रा उत्पन्न हो जाती है। पेट्रोलियम इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही विदरण (क्रैकिंग) की विधा (प्रक्रिया) प्रयुक्त होने लगी थी जिससे भारी अवशिष्टों तथा आसुतों जैसे सस्ते एवं अनावश्यक अधिक पदार्थों का

[1] Thio-derivatives

ऊष्मीय विच्छेदन होता था जिनसे एक ओर तो गैस और मोटरस्पिरिट प्राप्त होती और दूसरी ओर गुरु पदार्थ तथा कोक। कुछ समय तक विदरण की क्रिया मात्रात्मक आधार पर चलती रही और सचमुच प्रति टन अपरिष्कृत तेल से पेट्रोल की प्राप्ति दूनी हो गयी। किन्तु जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, आजकल पेट्रोल की मात्रा नहीं वरन् उसकी कोटि या किस्म पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इसी का फल है कि आजकल विदरण अर्थात् क्रैकिंग विधा का प्रयोग सीधे प्राप्त स्पिरिट की किस्म उन्नत करने के लिए किया जाता है। आजकल के इन ऊष्मोपचार को 'रिफार्मिंग' कहते हैं। यह कोई अनहोनी बात नहीं कि भविष्य में सीधे प्राप्त गैसोलीन को शायद ही कोई इस्तेमाल करे और प्राकृतिक ईंधन के स्थान पर अधिकाधिक सश्लिष्ट ईंधन का ही प्रयोग होने लगे।

विदरण (क्रैकिंग) विधा में उत्पन्न होनेवाली गैसों की विशाल राशि के उपयोग की ओर भी ध्यान देना चाहिए। केवल सयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति दिन एक अरब (१,०००,०००,०००) घनफुट गैस उत्पन्न होती है। गैस की इस राशि का अर्थ प्रति वर्ष १४ करोड़ टन हाइड्रोकार्बन का है।

इन गैसों में C_2 से C_4 वाली ओलीफीन प्रायः आधे आधे अनुपात में होती हैं। ओलीफीन प्रतिक्रियाशील होती है और आगे (पृष्ठ ३२३ पर) दिये गये चार्ट में सरल रूप से यह दर्शाया गया है कि वर्तमान पेट्रोलियम उद्योग में इन गैसों का स्थूलतया क्या होता है।

पेट्रोलियम उद्योग में डीज़ल ईंधनों और स्नेहक तेलों के क्षेत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिस तरह स्फुलिंग-प्रज्वलन इजनों की स्पिरिट की परीक्षा 'ऑक्टेन-सख्या' निश्चय करके की जाती है, उसी प्रकार डीज़ल इजनों का भी एक मानक है जिसे 'सीटेन-सख्या' कहते हैं। यह एक ऋजु शृखलावाली पाराफीन, सीटेन $(C_{16}H_{34})$ तथा अल्का-मिथिल-नैफ्थलीन के बीच की तुलनात्मक सख्या है। उपर्युक्त दोनो सघटकों में से सपीडन-प्रज्वलन इजनों के लिए एक अति उत्तम और दूसरा अति निकृष्ट है। आजकल सड़कों पर चलनेवाली भारी भारी गाड़ियाँ अधिकाधिक डीज़ल इजनों से चलायी जाती हैं तथा समुद्री यातायात में भी उन्हीं का अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है इसलिए अपरिष्कृत तेल के गुरु प्रभागों (हैवी फ्रैक्शन) की अधिक माँग होने लगेगी।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि अपरिष्कृत तेल का अन्तिम आसवन शून्यक में किया जाता है। इससे आसवनताप में बड़ी कमी हो जाती है, फलतः विदरण (क्रैकिंग) भी कम हो जाता है। इस प्रकार स्नेहकों की सम्पूर्ण श्रेणी निकाल ली

जाती है और पिच अवशिष्ट बच रहता है। इसका प्रयोग सड़क बनाने के लिए अथवा तलों पर छिड़कने के लिए पायस बनाने के निमित्त किया जाता है।

लघु एवं गुरु मशीन तेल, आन्तर-दहन (इण्टरनल कम्बस्चन) इंजनों तथा भाप-सिलिण्डरों वाले स्नेहक और लघु तकुआ तेल, स्नेहक तेल प्रभागों के उपयुक्त उदाहरण हैं। इन प्रभागों का परिष्करण परम्परागत अम्ल और सोडा उपचार से, विलायक निस्सारण (सॉलवेण्ट एक्सट्रैक्शन) से तथा बाक्साइट जैसे खनिज जेल[1] द्वारा पार-च्यवन (परकोलेशन) से किया जाता है, किन्तु यदि ठोस पाराफीन मौजूद हों तो पहले उन्हें निकालना आवश्यक है। कुछ प्रकार के मोम तो आसुत को दाब-छन्ने (फिल्टर प्रेस) से छानने पर निकल जाते हैं, लेकिन सूक्ष्म केलासीय रचनावाले मोम, जिन्हें अनाकार मोम भी कहते हैं, तनूकृत एवं अभिशीत (चिल्ड) विलयन का अपकेन्द्रण करके निकाले जाते हैं। अन्य दशाओं में उन्हें ऐसे विलायकों के साथ मिलाकर, जिनमें तेल विलेय हो लेकिन मोम अविलेय, मोम का अवक्षेपण कर दिया जाता है। वाणिज्य में मोमों का उनके द्रवणांक के आधार पर श्रेणीकरण किया जाता है। उच्चतम द्रवणांक वाले मोम से मोमबत्ती बनती है एवं निम्न द्रवणांक वाला मोम जलसह कागज बनाने तथा दियासलाई के सिरे पर लगाने के काम आता है।

अगले पृष्ठ की सारणी में यद्यपि उत्तम कार्यक्षमता वाले ईंधनों के उत्पादन में हाइड्रो-कार्बन गैसों की उपयोगिता पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि यथार्थतया इन प्रारम्भिक पदार्थों पर आधारित एक नवीन संश्लेषण-रसायन का विकास हो रहा है। इनमें से कुछ संश्लिष्ट उत्पादनों का उल्लेख किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं—प्रतिहिम (ऐण्टी फ्रीज़) के रूप में इथिलीन ग्लाइकोल, विलायकों के रूप में ग्लाइकोल व्युत्पत्तियाँ, प्लास्टिकों की सम्पूर्ण श्रेणी, टी० एन० टी० जैसे विस्फोटक, ब्यूटाडीन एवं स्टायरीन अथवा आइसोब्युटिलीन और तनिक ब्यूटा-डीन से संश्लिष्ट रबर, उसी प्रकार की उच्च श्यानतावाले अन्य पॉलीमर जो स्नेहन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पाराफीनों के ऊष्मायन अथवा नार्मल-हेप्टेन जैसी वस्तुओं के चक्रीकरण (साइक्लाइज़ेशन) एवं विहाइड्रोजनीकरण से बनी ऐरोमैटिक हाइड्रो-कार्बनों की सुज्ञात व्युत्पत्तियाँ।

शैल तेल—कुछ शैलों (एक प्रकार के पत्थर) के आसवन से एक प्रकार का खनिज तेल प्राप्त होता है जिसे द्वितीयक मूल्यवाला पेट्रोलियम कहा जा सकता है।

[1] Mineral gel

कूपों से निकला अपरिष्कृत तेल
गैसरहित स्थायीकृत अपरिष्कृत तेल
गैसीय पाराफीन (C_1 से C_4)
आसुतों की सम्पूर्ण श्रेणी—पेट्रोल, ह्वाइट स्पिरिट, केरोसीन, स्नेहक तेलों के लिए मोम-आसुत तथा पिच अवशिष्ट
ऊष्मापघटन (पाइरोलिसिस)
आइसो-ब्यूटेन विहाईड्रोजनीकरण द्वारा प्रतिक्रियाशील ओलीफीनों के ऐल्किलीकरण के लिए
ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन
चुने हुए आसुतों का विदरण और रिफार्मिंग
विदीर्ण स्पिरिट
पाराफीन तथा ओलीन हाइड्रोकार्बन (C_1 से C_4)
C_3 और C_4 प्रभाग
फास्फोरिक अम्ल एवं फास्फेट उत्प्रेरकों के ऊपर उत्प्रेरक पुरुभाजन
शीत सल्फूरिक अम्ल द्वारा पुरुभाजन
आइसो-ब्यूटेन द्वारा उपचारित (ऐल्किलीकरण विधा)
डाइ आइसो-ब्यूटेन
उच्च ऑक्टेन स्पिरिट
चुना हुआ C_8 प्रभाग
हाइड्रोजनीकरण
आइसो-ऑक्टेन
आइसो-ऑक्टेन (२ २ ४ ट्राई-मिथिल पेन्टेन)
हाइड्रोजनीकरण
मिश्रित आइसो-ऑक्टेन

जेम्स यग और उनके सहयोगियो के तत्सबन्धी कार्यों से ही पेट्रोलियम के वाणिज्यिक उपयोग का आधार बना। क्योंकि आसवन, उत्पत्तियो का परिष्करण, दबाकर मोम का अलग करना, स्वेदन (स्वेटिंग) और चारकोल जैसे अवशोषक द्वारा पारच्यवन (पर्कोलेशन) से अपरिष्कृत मोम का परिष्करण इत्यादि सभी रीतियाँ 'मिड्लोथियन' में शेल-उद्योग में विकसित हुई थी और आगे चलकर वे पेट्रोलियम उद्योग में काम आयी। 'पाराफीन तेल' अर्थात् 'केरोसीन' स्काटलैण्ड का प्रथम प्राविधिक पदार्थ था। उसके बाद रिटार्ट गैसो में से अमोनियम सल्फेट के रूप में अमोनिया अलग किया गया, जो बहुत समय तक, या यो कहिए कि सश्लिष्ट अमोनिया के बन जाने तक, एक बहुत बडा उत्पादन था। तीस वर्ष से ऊपर हुए कि रिटार्ट गैसों से निकली मोटरस्पिरिट का प्रचलन हुआ। प्राय उसी समय डीज़ल तेल का पूर्वाभास मिला और ईंधनतेल का उत्पादन मूर्त किया जा सका। इन सभी विकासनो में स्काटिश शेल तेल ने, जो इन उत्पादनो का मुख्य स्रोत था, इसमें बहुत महत्त्वपूर्ण भाग पूरा किया।

संसार में मुख्यत. सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में तेलयुक्त शेलों की विशाल राशि उपलब्ध है, और उस समय ये तरल ईंधन के अन्तिम स्रोत बनेंगे जब अपरिष्कृत पेट्रोलियम की उपलब्धि समाप्त हो जायगी।

गत वर्षों में शेल तेल के उत्पादन एवं उपचार की प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलोजी) में उन्नति करके उसे आधुनिक रूप प्रदान किया गया है। यह परिवर्तन मुख्यत पेट्रोलियम के प्रादुर्भाव से हुआ है और अब उच्च प्रभागो का विदरण (क्रैकिंग) करके गैसोलीन बनाना सामान्य प्रथा हो गयी है, इसके उपरान्त आसुत[1] वस्तुएँ भी तेल-परिष्करणियो में उत्पन्न तेलों के समान होने लगी है।

शेल उद्योग में रिटार्ट विधा के बाद बीत-अवशिष्ट (स्पेण्ट रेसिड्यू) के उपयोग की सबसे बड़ी समस्या है। अभी हाल में स्काटलैण्ड में बालू-चून ईंट बनाना प्रारम्भ हुआ है, जिसमें चूर्णित अवशिष्ट को चूने के साथ मिलाकर लेप (पेस्ट) बनाया जाता है जिसे साँचो में ढालकर उच्च-दाब भाप से पकाया जाता है। इसमे बडी उत्तम ईंटें तैयार होती हैं।

[1] Distillates

ग्रंथसूची

DUNSTAN, A E. *Chemistry and the Petroleum Industry* The Royal Institute of Chemistry.

DUNSTAN A. E (MANAGING EDITOR) *The Science of Petroleum* 4 Vols Oxford University Press

EGLOFF AND OTHERS *Catalysis.* Reinhold Publishing Co

Reactions of Pure Hydrocarbons Reinhold Publishing Co.

ELLIS, C . *Chemistry of Petroleum* Reinhold Publishing Co

INSTITUTE OF PETROLEUM *Symposium on Cannel Oils and Shales*

NASH, A W. AND BOWEN A R. *Lubricants* Chapman & Hall, Ltd.

NASH, A W , AND HOWES, D A · *Motor Fuels* Chapman & Hall, Ltd

अध्याय १५

भारी रसद्रव्य

स्टैनले रॉब्सन, एम० एस-सी०, डी० आई० सी०,
एफ० आर० आई० सी०

विशाल परिमाण में उत्पन्न होनेवाले रसद्रव्यों को 'भारी रसद्रव्य' कहते हैं। ऐसे रसद्रव्य मुख्यत अन्य चीजों के उत्पादन में कच्चे माल का काम करते हैं और इनमें से कुछ ही ऐसे होते हैं जिनकी खपत, सो भी केवल अशत, सामान्य लोगों के सीधे प्रयोग के लिए होती है। सल्फ्यूरिक अम्ल इसका एक उदाहरण है जिससे प्राय सभी लोग परिचित होंगे, क्योंकि सचायकों (ऐक्युमुलेटर) में विद्युदग्र (एलेक्ट्रोलाइट) के रूप में इसका बडा प्रयोग होता है, किन्तु इसके समस्त उत्पादन की तुलना में यह खपत अत्यन्त लघु है। सोडियम कार्बोनेट अर्थात् धावन (वाशिंग) सोडा दूसरा उदाहरण है, घरेलू कामों के लिए जिसकी खपत होती है, लेकिन कुल उत्पादन का अत्यल्प अंश इस काम में आता है। सल्फ्यूरिक अम्ल और सोडा के प्रति वर्ष क्रमश लगभग ११,०००,००० टन और ५,०००,००० टन का उत्पादन होता है जो विविध एव विस्तृत रासायनिक वस्तुओं के निर्माण में लगता है। इन वस्तुओं की प्रकृति भी भिन्न होती है, एक ओर कृत्रिम उर्वरक तो दूसरी ओर कृत्रिम रेशम। मुख्य-मुख्य भारी रसद्रव्यों की सबसे बडी उपयोगिता यह होती है कि वे अन्य पदार्थों के सग प्रतिक्रियाशील होते हैं, इस प्रकार वे रासायनिक ऊर्जा के भण्डारस्वरूप होते हैं, जिसे विविध रासायनिक परिवर्तनों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी प्रतिक्रियाशील वस्तुएँ साधारणतया भूमितल पर नही पायी जाती, क्योंकि युग युगों तक हवा और पानी के ऋतुक्षरण[1] के कारण उनकी क्रियाशीलता समाप्त हो चुकी होती है, इसलिए भारी रसद्रव्यों का निर्माण परमावश्यक होता है। नाइटर तथा गंधक इस बात के अपवाद हैं, किन्तु ये द्रव्य विशिष्ट जलवायु एवं भौमिकीय परिस्थितियों

[1] Weathering action

के कारण उत्पन्न एव प्राप्य होते है। सर्वाधिक प्रतिक्रियाशील रसद्रव्यो के चार वर्ग होते हैं—अम्ल, क्षार, ऑक्सीकारक तथा अपचायक। अम्ल और क्षार के परस्पर सयोजन मे उदासीन लवण उत्पन्न होते हैं, सोडियम क्लोराइड अर्थात् सामान्य नमक इसका उत्तम उदाहरण है।

सल्फ्यूरिक अम्ल—सबसे अधिक सस्ता होने के कारण रासायनिक परिवर्तनो को सचारित करने के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। इस अम्ल का निर्माण प्रारम्भिक रासायनिक उद्योग में प्रथम कार्य था और आज भी उसकी बडी आधारभूत शाखा है। एक समय था जब किसी देश की समृद्धि उसके सल्फ्यूरिक अम्ल के उत्पादन से आँकी जाती थी। यद्यपि आज यह बात उतनी सही नहीं है क्योंकि अब रासायनिक उद्योग की कितनी ही अन्य वस्तुएँ है जिनसे देश की सम्पदा का आभास प्राप्त होता है, फिर भी आधुनिकतम उद्योगो मे सल्फ्यूरिक अम्ल का प्रयोग बडी विशाल मात्रा में होता है, गो कि वर्तमान समय मे अनेक अम्ल विधाओ मे इस अम्ल का प्रयोग नही होता। उदाहरणार्थ पहले लिब्लाक विधा मे क्षार बनाने के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल की भारी खपत होती थी लेकिन अब इसके लिए वह विधा ही नही प्रयुक्त होती। सल्फ्यूरिक अम्ल से सोडियम नाइट्रेट का विच्छेदन करके नाइट्रिक अम्ल बनाने की रीति का प्रतिस्थापन भी इसका दूसरा उदाहरण है। अब उत्प्रेरक की सहायता से अमोनिया का ऑक्सीकरण करके नाइट्रिक अम्ल बनाया जाता है। पहले अमोनिया और सल्फ्यूरिक अम्ल का सयोजन ही अमोनियम सल्फेट बनाने की एकमात्र विधा थी, लेकिन आजकल यह अमोनियम कार्बोनेट और ऐनहाइड्राइट के द्वि-विच्छेदन से बनने लगा है। पहले सान्द्रित फास्फैटिक उर्वरको का उत्पादन सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा शैल-फास्फेटो का विच्छेदन करके किया जाता था, किन्तु गत कुछ वर्षो के अन्दर यह पदार्थ शैल-फास्फेट एव बालू के बीच ऊष्मीय प्रतिक्रिया सचारित करके उत्पन्न किया जाने लगा है।

इस तरह सल्फ्यूरिक अम्ल की खपत में भारी अन्तर पड गया है लेकिन इसके उत्पादन मे बराबर वृद्धि होती जा रही है। १९२३ मे इसका उत्पादन ५,०००,००० टन था जो बढकर अब ११,०००,००० टन हो गया है।

इस उत्पादन-वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान समय में सल्फ्यूरिक अम्ल के अनेक नये-नये उपयोगो का विकास हो गया है, जैसे कृत्रिम रेशम के विशाल एव महत्त्वपूर्ण उद्योग मे तथा जर्मनी के कृत्रिम ऊन-निर्माण में इस अम्ल की विशेष माँग होने लगी। इनके अतिरिक्त सल्फ्यूरिक अम्ल के अन्य कितने ही विविध एव बहुमुखी उपयोगो का प्रादुर्भाव हुआ है। तेलशोधन, धातुसारो का तलशावन अथवा अम्ल

मार्जन[1], विस्फोटकों एवं रंजकों तथा अन्य कितनी ही ऐसी वस्तुओं का निर्माण इत्यादि इसके उत्तम उदाहरण हैं।

सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण रसायनज्ञों के लिए ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, जिसमें न केवल सल्फ्यूरिक अम्ल का ही वर्णन है बल्कि समस्त रासायनिक प्रक्रिया के उत्थान का कई शताब्दियों का पूरा इतिहास निहित है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अल-केमिस्टों ने सल्फ्यूरिक अम्ल का आविष्कार किया था और १७७० के पहले यह दो रीतियों से बनाया जाता था—(१) कैलासित लौह सल्फेट के आसवन से, और (२) परिच्छादक[2] (बेल-जार) के अन्दर जल की उपस्थिति में गंधक के दहन से।

पन्द्रहवीं शताब्दी में बासिल वैलेन्टाइन ने उपर्युक्त दोनों विधाओं का प्रयोग किया था। इनमें से प्रथम विधा तो अभी हाल तक प्रचलित थी और उस समय तो धूमायमान सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की एकमात्र रीति वही थी। दूसरी रीति वर्तमान सीसदेश्म (लेड चेम्बर) विधा की पूर्वगामिनी बन गयी।

दूसरी विधा का विकास मुख्यतः फ्रांसीसी एवं अंग्रेज रसायनज्ञों ने किया और अनेक वर्षों तक वह सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की मुख्य विधा रही। पहले इस विधा से सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण काँच के पात्रों तक ही सीमित था, किन्तु लगभग अठारहवीं शताब्दी के मध्य में लेफेवर और लेमरी ने सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने के लिए गंधक और नाइटर के मिश्रण का प्रयोग किया, जिससे पहले की तुलना में अत्यधिक प्राप्ति हुई। १७७० में बरमिंघम के रोबक ने उसी विधा का बड़े परिमाण में प्रयोग किया। इसके लिए उन्होंने सीसे के वक्ष्म इस्तेमाल किये, जिनकी तह में १–२ इंच गहरा पानी भरा रहता तथा तश्तरियों में भरकर गंधक और नाइटर उसी वक्ष्म के अन्दर रख दिये जाते थे। किन्तु तत्कालीन क्रिया सविराम होती थी और अब पद-प्रतिपद गंधक को अलग जलाकर तथा वेश्म में भाप छोड़कर विधा को अविराम बना दिया गया है। विधा के इस विकास में अनेक रसायनज्ञों ने योगदान किया, फिर भी यह विधा बड़ी असुविधाजनक रही होगी, क्योंकि प्रतिक्रियाओं के दौरान में उत्पन्न नाइट्रोजन के ऑक्साइडों को अधिकांशतः यों ही हवा में छोड़ दिया जाता था। लेकिन गे लूसक ने इसमें विशेष उन्नति की, उन्होंने वेश्म में से निकलनेवाली गैसों को कोक से भरे एक सीसे अथवा पत्थर के स्तम्भ में से पार कराया, जो स्तम्भ के नीचे टपक

[1] Pickling [2] Bell jar

रहे सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा अवशोषित हो जाती थी, और इस प्रकार हवा में उड़ जाने से बचा ली जाती।

ग्लोवर ने इस कार्य का और विकास किया। उन्होंने प्रतिक्रियाओं के चक्र को पूरा कर दिया और सल्फ्यूरिक दाहकों से निकली तप्त गैस का उपयोग करके गे लुसक-स्तम्भ के प्रबल सल्फ्यूरिक अम्ल में से नाइट्रोजन ऑक्साइडों को निकालकर पुन प्रयुक्त किया। इस प्रकार सारी क्रिया चक्रिक[1] हो गयी। यद्यपि सल्फ्यूरिक अम्ल वेश्म में होने वाली क्रियाएँ बड़ी जटिल है, फिर भी यहाँ उनकी सक्षिप्त एव सरल चर्चा की जा रही है। गधक को वायु की उपस्थिति में जलाकर सुपरिचित तीखी गधवाली सल्फर डाइ ऑक्साइड गैस तैयार की जाती है। इस सल्फर डाइ ऑक्साइड की जब प्रचुर ऑक्सीजन वाले नाइट्रस धूमो के साथ प्रतिक्रिया होती है तो उसका ऑक्सीकरण होने से सल्फर ट्राइ ऑक्साइड बन जाता है। और यही सल्फर ट्राइ ऑक्साइड जल से मिलकर सल्फ्यूरिक अम्ल बन जाता है। नाइट्रस धूमो से जब ऑक्सीजन निकलकर सल्फर डाइ ऑक्साइड से मिल जाता है तो उसका नाइट्रिक ऑक्साइड बन जाता है, यह एक रगहीन गैस होती है जिसमें वायुमण्डलिक ऑक्सीजन से मिलकर पुन नाइट्रस धूम बन जाने की प्रबल क्षमता होती है, और वह सल्फर डाइ ऑक्साइड के ऑक्सीकरण के लिए फिर तैयार हो जाती है। इन सारी प्रतिक्रियाओं का अन्तिम परिणाम यह होता है कि नाइट्रस धूमो के द्वारा वायुमण्डलिक ऑक्सीजन लेकर ही सल्फर डाइ ऑक्साइड के आक्सीकरण से सल्फर ट्राई ऑक्साइड उत्पन्न होता है, तथा नाइट्रस धूम अपरिवर्तित रूप मे जैसे के तैसे बने रह जाते है। लेकिन विचित्रता यह है कि उनकी अनुपस्थिति में सल्फर डाइ ऑक्साइड वायुमण्डलिक ऑक्सीजन वा साधारण परिस्थितियों में कदापि उपयोग नही कर सकता। ऐसी वस्तुओ को, जो स्वय स्थायी रूप से परिवर्तित न होकर किन्ही रासायनिक प्रतिक्रियाओं को सचारित करती है, रासायनिक शब्दावली मे 'उत्प्रेरक' अर्थात् 'कैटेलिस्ट' कहते है, और रासायनिक उद्योगो में ऐसी वस्तुओ का बडा व्यापक प्रयोग होता है।

उपर्युक्त रासायनिक विधा के विभिन्न पद बहुत ही अन्तरग्रस्त है और तत्सम्बन्धी पाश्चात्य साहित्य मे अनेक विचित्र एव सशयात्मक सिद्धान्त तथा स्पष्टीकरण भरे पडे है। इसकी प्रतिक्रियाओ एव अन्त स्थ यौगिको के ठीक-ठीक क्रम एव बनावट के बारे में आज तक भी सभी रसायनज्ञ एकमत नही हो सके है। आज की इतनी अधिक

[1] Cyclic

क्रियाकुशल रीतियाँ काफी समय बीतने पर प्रतिष्ठित हुई है, यद्यपि यह भी सत्य है कि गत कुछ ही वर्षों में बडी जल्दी-जल्दी जटिल विधाएँ भी पूरी तरह से विकसित हुई है। पहले की तुलना में आज रसायनविज्ञान के संसाधन असीम है और गत थोडे समय में ज्ञान का एक बडा विस्तृत भण्डार सचित हो गया है। गैसीय उत्प्रेरक की सहायता से सल्फर डाइ ऑक्साइड का रूपान्तरण और उससे सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने का अन्तरग्रस्त विषय पुरानी पीढी के रसायनज्ञो के लिए काफी जटिल एव कष्टसाध्य था क्योकि उस समय उनके साधन बडे सीमित थे। किन्तु आज हमारे वर्तमान ज्ञान एव साजसज्जा के बावजूद भी सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण कुछ कम जटिल नही है और सच तो यह है कि आज के रसायनज्ञो एव प्रौद्योगिकीविदो की शिक्षा में यह विधा एक कठिन परीक्षा तथा प्रशिक्षा और अनुभव प्राप्त करने के लिए उत्तम पृष्ठभूमि है।

प्रथम परिच्छादक (बेलजार) तथा सीसवाक्स की तुलना में आजकल के सल्फ्यूरिक अम्ल-वेश्मो की धारिता अत्यन्त विशाल होती है। प्रतिक्रिया में उत्पन्न उष्मा के निरसन का भी आजकल उत्तम प्रबन्ध रहता है। एक ओर कुछ रसायनज्ञ ५०–२०० फुट लम्बे, २०–४० फुट चौडे और ४०–७० फुट ऊँचे वेश्मो को पसन्द करते हैं तो दूसरी ओर प्रचण्ड प्रतिक्रियाओ से सीस की रक्षा के लिए जल से शीतित शकु रूप (कॉनिकल) स्तम्भो को माननेवाले लोग हैं, और दोनों वर्ग अपने-अपने ढग को उत्तम बताते है। इनके अतिरिक्त अब तो यात्रिक आर्द्रक (ह्यूमिडीफायर) एव द्रवविक्षेपक (डिस्पर्सर) के उपयोग से प्रतिक्रिया की गति में वृद्धि तथा सीसवेश्मो के क्षरण की बचत हो गयी है।

सस्पर्श विधा के मुकाबले में वेश्मविधा को त्याज्य मानना आज का एक रिवाज सा हो गया है, लेकिन इसमें अब भी सदेह है कि क्या यह पुरानी विधा सर्वथा अमान्य है? इस विधा के पक्ष में यह बडी उल्लेखनीय बात है कि गधक के दहन और नाइ-ट्रोजन ऑक्साइडो से निकले तीखे धूम एव उससे उत्पन्न सक्षारक वस्तुओं के बावजूद भी सीसवेश्म-विधा में प्रयुक्त सयत्र स्वच्छ एव सुस्वास्थ्य होता है, इसमें काम करने-वाले लोगो ने बडे लम्बे तथा सुखद कार्यकारी जीवन व्यतीत किये है।

किन्तु सीसवेश्म-विधा के अनेक वर्षों तक निर्बाध प्रचलन के साथ-साथ इग्लैण्ड में लगभग १०० वर्ष हुए सल्फ्यूरिक अम्ल निर्माण की एक सर्वथा भिन्न रीति का बीजा-रोपण हुआ। सर हम्फरी डेवी ने गैसीय प्रतिक्रियाओ के प्रवर्धन के लिए धातु तारो का प्रयोग किया, और उनके इस काम से उपर्युक्त नयी रीति के विकास में बडी प्रेरणा मिली जान पडती है। इस आविष्कार या उपयोग में ही सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की सस्पर्शविधा (कॉन्टैक्ट प्रॉसेस) एव वेश्म विधा का मूल अन्तर निहित है। सस्पर्शविधा

में वायु के ऑक्सीजन या गंधक-ज्वालको से प्राप्त सल्फर डाइ ऑक्साइड से संयोजन कराया जाता है जिसमें अलग से किसी गैसीय उत्प्रेरक की आवश्यकता नहीं पड़ती। वायु से सल्फर डाइ ऑक्साइड तक ऑक्सीजन का सीधा संक्रमण विशुद्ध रासायनिक विचार से अति सरल है और इसमें वेश्मविधा की एवं उसके अन्तःस्थों की जटिलता नहीं है और न उनके स्पष्टीकरण की ही विशेष आवश्यकता है। सान्द्र उत्प्रेरक की सहायता से यह प्रतिक्रिया कम से कम रासायनिकतया अनाश्रित रूप से संचारित होती है और जैसा ऊपर कहा गया है, प्रत्यक्ष रूप से बड़ी सरल है। गत शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ठोस उत्प्रेरकों से संचारित प्रतिक्रियाओं के संबन्ध में काफी उत्सुकता हो चली थी। यह देखा गया कि अति सूक्ष्म कणोंवाली प्लैटिनम-धूलि अथवा प्लैटिनम-स्पंज (स्पंज) की अल्प मात्रा की उपस्थिति में यदि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन रखे जायें तो साधारण ताप पर भी उन दोनों के संयोजन से पानी बन जाता है। डोबरीनर ने यह भी दिखाया था कि केवल प्लैटिनम-बादल का एक टुकड़ा डालने मात्र से कोल गैस प्रज्वलित की जा सकती थी। डेवी और फैरेडे के कार्य रसायनज्ञों का सर्वत्र प्रेरित कर रहे थे और १८३१ में पेरेग्रिन फिलिप्स नामक ब्रिस्टल के एक चूक (विनिगर) निर्माता ने इसी प्रविधि से ऑक्सीजन और सल्फर डाइ ऑक्साइड के संयोजन की भी बात सोची और इसके लिए उनको पेटेण्ट भी मिल गया। इस पेटेण्ट को पढ़ने से पता चलता है कि फिलिप्स ने इस दिशा के लिए कुछ अन्वेषणकार्य भी किये थे। किन्तु दुर्भाग्यवश उनके कार्यकलापो का कोई संलेख प्राप्य नहीं है। यह बहुत संभव है कि बेचारे धनाभाव के कारण अपने आविष्कार को व्यावहारिक रूप न दे सके हों। जो कुछ भी हो उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को यथार्थ रूप से मूर्त होने में अनेक वर्ष लग गये। इंग्लैण्ड में रुडाल्फ मेसेल एवं डब्लू० स्क्वायर ने भी इस संबन्ध में कुछ प्रारम्भिक काम किये थे, लेकिन गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों के पूर्व तक इसमें कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई। इस समय तक कृत्रिम रजकों का निर्माण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात हो गयी थी। इस दिशा का प्रारम्भिक कार्य यद्यपि इंग्लैण्ड में ही शुरू किया गया था लेकिन श्रेय जर्मनी के उन परिश्रमी रसायनज्ञों को मिला जिन्होंने अपने प्रचुर आर्थिक समाधनों की सहायता से कृत्रिम रजकों के निर्माण में यथार्थ विजय पायी थी। इन नवीन रजकों के निर्माण के लिए धूमायमान सल्फ्यूरिक अम्ल, जिसे 'ओलियम' भी कहते हैं, बड़ी आवश्यक वस्तु थी। इस शब्द की थोड़ी व्याख्या करनी चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि सल्फ्यूरिक अम्ल मूलतः सल्फर ट्राइ ऑक्साइड एवं जल के संयोजन से उत्पन्न होता है जिसमें सल्फर ट्राइ ऑक्साइड ही सार तत्त्व है, धूमायमान सल्फ्यूरिक अम्ल सचमुच अति सान्द्रित सल्फ्यूरिक अम्ल ही है जिसमें सल्फर

ट्राई ऑक्साइड की अतिरिक्त मात्रा अवशोषित होकर सल्फ्यूरिक अम्ल में विलीन रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धूमायमान अम्ल बनाने के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल में अजलीय SO_3 मिलाया जाना चाहिए। अनेक प्रत्यक्ष कारणों से यह संयोजन सीसवेश्म में नहीं सम्भव है अत दोनों विधाओं की इञ्जीनियरी प्ररचना (डिज़ाइन) में काफी भेद होता है।

पेरेग्रिन फिलिप्स द्वारा निर्धारित इस विधा के विभिन्न पद इस प्रकार हैं—गंधक के दहन से सल्फर डाइ ऑक्साइड की उत्पत्ति, सूक्ष्मत चूर्णित प्लैटिनमसहित इस्पात-वेश्म में सल्फर डाइ ऑक्साइड और ऑक्सीजन का संयोजन तथा इस प्रकार उत्पन्न SO_3 का जल से संयोजन। यही सरल विधा आज के आधुनिकतम सम्पर्कसयत्रों में प्रयुक्त होती है, हाँ इसके विस्तृत वर्णन में कुछ अन्तर अवश्य आ गया है तथा कुछ निश्चित पूर्वोपाय अपनाये गये हैं। फिलिप्स के सुझाव के अनुसार इस विधा का विकास बहुत पहले हुआ होता तथा ठोस उत्प्रेरकों की सक्रियता में लोगों की रुचि भी और अधिक बढ़ी होती, लेकिन १८३९ में सिलीसियाई गंधक का निर्यात बन्द हो गया फलत सल्फ्यूरिक अम्ल निर्माताओं को गंधक के अन्य स्रोत खोजने पड़े। लौह माक्षिक ही उनके लिए प्राप्य हुआ और जर्मन रसायनज्ञों ने इसे इस्तेमाल करना शुरू कर दिया, किन्तु माक्षिक की अशुद्धियों के कारण, जो उसमें उत्पन्न सल्फर डाई ऑक्साइड में भी चली जाती थी, बड़ी कठिनाई हुई और विधाएँ अत्यन्त जटिल हो गयी। इस प्रकार सम्पर्कविधा के प्रारम्भिक विकास में बड़ा गतिरोध हो गया। ज्वालकों से ऐसी गैस ही प्राप्त करना एक प्रबल समस्या हो गयी जिसमें लेश मात्र से अधिक अशुद्धियाँ न हों। क्नीश (Kniesch) के तत्त्वावधान में 'बैडिशे ऐनिलीन ऐण्ड सोडा फैब्रिक' द्वारा लुटविग् शाफेन में किये गये अनुसन्धानकार्य सब प्रकार से बड़े महत्त्वपूर्ण एवं सफल रहे और एतदर्थ क्नीश का नाम वैज्ञानिक इतिहास के सल्फ्यूरिक अम्ल अध्याय में चिरस्थायी हो गया। इन अनुसन्धानों की सफलता का प्रमुख कारण यह था कि एक परम प्रतिभावान् अन्वेषक के दिग्दर्शन में सर्वथा वैज्ञानिक ढंग से समस्या का अनुशीलन किया गया था और दूसरी बात यह थी कि इन प्रयत्नों के पीछे कार्यकर्ताओं का दृढ़ सङ्कल्प एवं असीम आर्थिक समाधान भी थे। इस विधा को सफल बनाने में उस समय दस लाख पौण्ड (स्टर्लिंग) लगाये गये थे, जो उस समय तक किसी वैज्ञानिक योजना में व्यय की गयी सबसे बड़ी धनराशि थी। क्नीश की समस्याओं और उनके समाधान का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं—

(१) गैस में यांत्रिकतया चली जानेवाली धूलि का निरसन।

(२) सस्पर्श उत्प्रेरक की सक्रियता घटने की विकट समस्या का समाधान। इसे सस्पर्श विषायण कहा जा सकता है। क्नीश की परम सफलताओं मे इस बात का पता लगाना भी था कि गैस मे यदि सूक्ष्मतम लेश से अधिक आर्सेनिक की मात्रा हुई तो वह उत्प्रेरक की सक्रियता नष्ट करने के लिए पर्याप्त थी।

(३) सल्फर डाइ ऑक्साइड और ऑक्सीजन के सयोजन की प्रतिक्रिया ऊष्मा-क्षेपक[1] होने के कारण ऊँचे तापो पर सल्फर ट्राइ ऑक्साइड की सभाव्य प्राप्ति मे विशेष कमी हो जाती थी। ऊष्मीय परिस्थितियों के अध्ययन से यह पता लगा कि SO_3 की अनुकूलतम प्राप्ति ताप की बडी अल्प सीमा के अन्दर ही सभव थी और परिवर्तक (कान्वर्टर) के अन्दर तापसीमा का ऐसा नियमन किया जा सकता था कि अतितापन न हो सके। लेकिन परिवर्तक से निकली तप्त गैसो का उपयोग अन्दर प्रवेश करनेवाली शीत गैसो को गरम करने मे किया जा सकता था और इस प्रकार किसी अन्य तापन माध्यम की आवश्यकता न हो।

(४) क्नीश ने यह भी देखा कि सल्फर ट्राइ ऑक्साइड का पूर्ण अवशोषण सल्फ्यूरिक अम्ल की उच्च सान्द्रता की बडी सकुचित सीमा के भीतर ही सभाव्य था।

१८९७ के एक पेटेण्ट मे यह सम्पूर्ण विधा वर्णित है, और आज वह पेटेण्ट रसायन-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अग माना जाता है। यह विधा उन वर्तमान भौति-रासायनिक विधाओ में से सर्वप्रथम है जो आगे चलकर आजकल की सुपरिचित अधिकाश विशुद्ध रासायनिक विधाओ को सभवत प्रतिस्थापित करे।

प्लैटिनम के स्थान पर वैनेडियम ऑक्साइड जैसे सरलता से निष्क्रिय न होने-वाले उत्प्रेरको का प्रतिस्थापन, गैसो को साफ करने के लिए विद्युत् स्थैतिक[2] (एलेक्ट्रोस्टैटिक) साधनो का प्रयोग तथा सम्पूर्ण विधा के लिए आवश्यक विद्युत्-ऊर्जा में कमी करना इत्यादि इसकी हाल की उन्नतियाँ है। जब कच्चे माल के लिए गधक का प्रयोग होता है तो वायु एव गधक के पूर्व-शोषण (प्री ड्राइग) से विधा प्राय उतनी ही सरल हो जाती है जितनी एक शताब्दी पूर्व प्रस्तावित फिलिप्स की मूल विधा थी।

गधक के व्यापार-निषेध (एम्बार्गो) ने अम्लनिर्माण मे रसायनज्ञो की अन्वेषण-

[1] Exothermic [2] Electrostatic

कारी प्रतिभा को प्रेरित करने के अलावा माक्षिक ज्वालक से प्राप्त लौह-ऑक्साइड अवशिष्टों में से नॉन-फेरस धातुओं को निकालने की कई विधाओं का प्रजनन भी किया। इस अवशिष्ट में औसतन ३% तांबा और स्वर्ण एवं रजत की भी लघु मात्रा होती है। १८६५ तक ये अवशेष बेकार समझकर फेंक दिये जाते थे, किन्तु उसी साल हेण्डर्सन ने एक ऐसी रीति निकाली जिससे अवशेष को सामान्य लवण के साथ भूंज कर और भुने हुए मिश्रण का जल से धाव-वेचन[1] (लिक्ज़िवियेशन) करके प्राप्त विलयन में से क्षेप्य लौह की सहायता से ताम्र का अवक्षेपण (प्रेसिपिटेशन) कर लिया जाता था। १८७० में क्लाडेट ने अवशेषों में से स्वर्ण और रजत निकालने की रीति मालूम की। हेण्डर्सन की विधा में धाववेचन के बाद प्राप्त विलयन में स्वर्ण और रजत क्लोराइड भी सामान्य लवण की अधिकता के कारण विलीन रहते थे। क्लाडेट की रीति में इस विलयन में यशद आयोडाइड डालकर स्वर्ण और रजत का अवक्षेपण कर लिया जाता है और बाद में अवक्षेपित आयोडाइडों को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की उपस्थिति में धातवीय यशद द्वारा अपचयित किया जाता है। इस प्रकार विज्ञान के अनुग्रह से सल्फ्यूरिक अम्ल बनानेवालों की आय बढ़ गयी फलतः अम्ल का दाम भी घट गया। सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुएँ, जो बेकार समझी जाती थीं, प्राप्त होने लगीं और उपयोगी सिद्ध हुईं।

क्षार उद्योग—क्षार उद्योग का इतिहास तो राजनीतिक इतिहास के साथ मिला हुआ है। अठारहवीं शताब्दी में फ्रान्स यूरोप का प्रमुख राष्ट्र था और वहाँ क्षार की काफी बड़ी खपत होती थी, जो दक्षिणी स्पेन से आता था, और वहाँ यह वनस्पतियों से बनाया जाता था। किन्तु सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रान्स को क्षार की अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए अन्य साधन ढूंढने पड़े। १७७५ में 'फ्रेन्च अकेडमी ऑफ साइन्स' ने सोडा बनाने की एक व्यावहारिक विधा का आविष्कार करने के लिए २,४०० लीवरों के पुरस्कार की घोषणा की, जो किसी को दिया न जा सका। कुछ वर्ष बाद ड्यूक ऑफ ऑर्लियन्स के अपोथिकरी, लिब्लाक ने एक विधा निकाली और सेण्ट डेनिस पर एक कारखाना भी खोला, यह विधा 'लिब्लाक विधा' के नाम से प्रचलित हुई। १७९१ में लिब्लाक को उनकी विधा के लिए एक पेटेण्ट दिया गया, जिसमें उस विधा की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस पेटेण्ट में लिखी बातें आज की तथाकथित विकसित विधा से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। उप-

[1] Lixiviation

युक्त कारखाना १७९३ तक सफलतापूर्वक काम एव उन्नति करता रहा, लेकिन उसी वर्ष फ्रान्सीसी क्रान्तिकारियों ने ड्यूक ऑफ ऑर्लियन्स को मार डाला तथा कारखाने को जब्त करके उसकी आम बिक्री कर दी। फ्रान्सीसियो के बहुत समय तक निरन्तर अलग हो जाने के कारण उन्हे अपने ही प्राकृतिक पदार्थों पर आश्रित रहना पडा। 'कॉमिटी ऑफ सेफ्टी' ने लिब्लाक के पेटेण्ट को निष्प्रभावी कर दिया और राज्य के हित मे अपनी विधा का रहस्योद्घाटन करने के लिए उसे बाध्य किया। बेचारे लिब्लाक का इस प्रकार दुखद विनाश हो गया, उसको अपने कारखाने एव विधा के बदले जो मुआवजा मिला वह केवल एक मजाक था। अकेडमी का पूर्व-घोषित पुरस्कार भी उसको न मिला। १८०६ में उसने दरिद्रता और निराशा में अपने ही हाथो अपना प्राण गवाँया। ८० वर्ष बाद पेरिस के 'कॉन्ज़र्वेटॉयर ऑफ आर्टस' में उसकी स्मृति मे उसकी एक प्रतिमा स्थापित की गयी। इन व्यवहारो का फल यह हुआ कि फ्रान्स में सोडा उद्योग कभी न पनपा और वहाँ लिब्लाक के महत्त्वपूर्ण आविष्कार से वर्षो तक कोई लाभ न उठाया जा सका। १८१४ मे लिब्लाक विधा इग्लैण्ड मे चालू की गयी और १८२३ में लिवरपूल के पास जेम्स मसप्राट नामक एक आयरिशमैन ने एक बडा कारखाना खोला। मसप्राट ने ही उसके पहले साल में एक सल्फ्यूरिक अम्ल का सयत्र भी चलाया था। उस समय से इग्लैण्ड मे सोडा उद्योग उत्तरोत्तर उन्नति करता गया जब कि फ्रान्स में वह प्राय उपेक्षित ही रहा।

लिब्लाक विधा में सामान्य लवण के विच्छेदन के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल का प्रयोग होता है और प्राप्त सल्फेट को चाक और थोडे कोयले के साथ एक प्रतिक्षेपी (रिवर्बरेटरी) भट्ठी में तप्त किया जाता है, और फिर शीत अथवा गुनगुने जल से उसका धावक्षेचन (लिक्विज़िवियेशन) किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त विलयन को उद्वाष्पित करके सुखाया जाता और ठोस अवशेष को बुरादे के साथ एक भट्ठी मे निस्तप्त (कैल्साइन) किया जाता है। इससे सोडा ऐश अर्थात् अपरिष्कृत सोडियम कार्बोनेट प्राप्त होता है, जिसे तप्त जल मे विलीन करके केलासन द्वारा शुद्ध सोडियम कार्बोनेट तैयार किया जाता है। यदि सोडा ऐश के विलयन को चूने से उपचारित किया जाय तो दह सोडा (कॉस्टिक सोडा) बन जायगा। लवण, कोयला, चाक तथा सल्फ्यूरिक अम्ल इस विधा की आवश्यक वस्तुएँ हैं। इनमें से प्रथम तीन की प्रचुर मात्रा तो प्रकृत्या प्राप्त होती है, रही बात सल्फ्यूरिक अम्ल की, सो सोडा उद्योग के समारम्भ मे पहले यह अम्ल काफी महँगा था और सरलता से सुलभ न था। इसका मुख्य कारण यह था कि इसकी खपत ही इतनी कम थी कि बडे परिमाण पर इसे बनाने की कोई आवश्यकता ही नही पडी। यह तो लिब्लाक विधा में सल्फ्यूरिक अम्ल की आवश्यकता

पूरी करने के लिए इस अम्ल की विपुल राशि उत्पन्न करनी पड़ी। यद्यपि कालान्तर में लिब्लाक विधा के स्थान पर मॉलवे की विधा प्रचलित हो गयी लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि सल्फ्यूरिक अम्ल का उत्पादन बढ़ाने और उसे एक सस्ती उत्पत्ति के रूप में प्रस्तुत कराने का प्रथम श्रेय लिब्लाक की विधा को ही है, और इसी सल्फ्यूरिक अम्ल से आजकल सहस्रों अन्य वस्तुएँ सुलभ हो गयी हैं।

किसी चीज को बेकार न जाने देना वर्तमान प्रौद्योगिकीविदों का एक बड़ा भारी ध्येय होता है। किसी उत्पादन का दाम अधिकांशतः उनके कच्चे माल एवं उनके उपजातों के उत्तम उपयोग पर निर्भर होता है। क्षार उद्योग में इसके अनेक उदाहरण हैं। लिब्लाक विधा में प्रतिक्षेपी (रिवर्बरेटरी) भट्ठी से प्राप्त उत्पत्ति के धावनेचन (लिक्ज़िवियेशन) के बाद बचे ठोस को क्षारक्षेप्य (ऐलकली वेस्ट) कहते हैं इसमें ३०% कैल्सियम सल्फाइड होता था, जिसमें मूल सल्फ्यूरिक अम्ल का गंधक विद्यमान होता था। पहले यह पदार्थ न केवल एकदम बेकार माना जाता था बल्कि महान् अनुत्तान का साधन था क्योंकि यों ही खुला छोड़ देने से इसमें से दुर्गन्धयुक्त सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन संचारित होता था। यह रसायनज्ञों के सामने एक समस्या थी और आखिरकार उन्होंने इस क्षेप्य पदार्थ में से गंधक निकाल लेने की युक्ति ढूँढ निकाली। बहुत सी रीतियाँ प्रयुक्त हुईं लेकिन उनमें से चान्स-क्लास की रीति सफल हुई। इस विधा में क्षारक्षेप्य का जल के साथ लेप बनाकर उस पर कार्बन डाइ ऑक्साइड की प्रतिक्रिया करायी जाती, यह (CO_2) पत्थरचूना जलाकर अथवा भट्ठी-गैस से प्राप्त किया जाता था। उन्मुक्त सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन को तप्त फेरिक ऑक्साइड की उपस्थिति में वायु की नियमित मात्रा के साथ सावधानी से जलाकर प्रायः शुद्ध गंधक प्राप्त कर लिया जाता है।

लिब्लाक विधा में केवल क्षारक्षेप्य (ऐलकली वेस्ट) ही एक अवांछित उपपदार्थ नहीं था। विधा के प्रथम चरण में ही सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा लवण के उपचार से हाइड्रोक्लोरिक अम्ल विमोचित होता था, प्रारम्भिक दिनों में इसका कोई उपयोग ज्ञात न होने के कारण उसे एक गैस के रूप में हवा में छोड़ दिया जाता था। इसका फल यह हुआ कि कारखाने के चारो ओर मीलों तक धातु के बने बरतनों का तीव्र संक्षारण तथा फसल और वनस्पतियों का विनाश होने लगा, जो वहाँ के निवासियों और कारखाने के मालिकों के बीच संघर्ष और मुकदमेबाजी का कारण बना। गैस का अवशोषण ही प्रत्यक्ष उपाय था। इसके लिए अनेक बड़े-बड़े कारखानों में गॉसेज द्वारा १८३६ में आविष्कृत कोकभरे धावक लगाये गये। १८६३ में प्रथम क्षार-अधिनियम (ऐलकली ऐक्ट) पारित हुआ, जिसके अनुसार कारखानों में निकलनेवाली

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस का कम से कम ९५% अवशोषित करना अनिवार्य हो गया। यह नियम अनुगामी विधान से और भी कठोर बन गया। उस समय इग्लैण्ड में प्रति सप्ताह ३,००० टन हाइड्रोक्लोरिक गैस उत्पन्न हो रही थी। इस आँकडे से समस्या की विकटता का अनुमान लगाया जा सकता है। निर्माताओ ने जब इस गैस के अवशोषण के लिए प्रबन्ध किया और तदर्थ धन व्यय करने लगे तो उन्हें अपनी इस लागत सम्पत्ति के बदले कुछ प्राप्त करने की चिन्ता हुई। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से स्वतंत्र क्लोरीन विमुक्त करना ही उन्हें एकमात्र उपाय सूझ पडा, क्लोरीन गैस एक शक्तिशाली विरजक जो था।

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से क्लोरीन प्राप्त करने की सर्वप्रथम रीति में मैंगनीज डाइऑक्साइड का प्रयोग किया गया। मैंगनीज डाइऑक्साइड खनिज पाइरोलुसाइट के रूप में पाया जाता है। इस प्रतिक्रिया में मैंगनीज क्लोराइड बनता था, जो प्रारम्भ में व्यर्थ समझ कर फेक दिया जाता था। विज्ञान ने निर्माताओ की पुन सहायता की और वेल्डन के आविष्कार से इस क्षेप्य मैंगनीज क्लोराइड विलयन पर चूने और वायु की क्रिया से मैंगनीज डाइऑक्साइड का पुनर्जनन किया जाने लगा जो क्लोरीन उत्पादन विधा में ही मूल खनिज मैंगनीज डाइआक्साइड की भांति इस्तेमाल किया जाने लगा। इस प्रकार इस विधा में मैंगनीज डाइऑक्साइड केवल एक वाहक की भाँति प्रयुक्त होता एव उसकी एक ही राशि बारबार इस्तेमाल की जा सकती थी। यथार्थ प्रतिकर्मक तो वायुमण्डलिक ऑक्सीजन ही होता था। आगे चलकर डीकन ने वायुमण्डलिक ऑक्सीजन के अनाश्रित प्रयुक्ति की एक नयी रीति निकाली। उन्होंने अनुभव किया कि यदि हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस और वायु के मिश्रण को ताम्र लवणों से व्याप्त तप्त ईंटो पर से पार कराया जाय तो क्लोरीन गैस और जल उत्पन्न हो जाता है, ताम्र लवण केवल उत्प्रेरक का काम करते है। इन रीतियो से बनी क्लोरीन गैस को बुझाये चूने से सयुक्त करके ब्लीचिंग पाउडर तैयार किया जाने लगा, जिसका प्रयोग मुख्यत कपास एव कागज बनाने की लुगदी के विरजनार्थ होता था।

सोडा बनाने के लिए लिब्लाक विधा का आविष्कार रासायनिक प्रतिभा का एक बडा उत्तम दृष्टान्त था, और पहले व्यर्थ एव कष्टप्रद समझे जानेवाले उप-जातो से अन्य उपयोगी वस्तुएँ बना लेना भावी रासायनिक उद्योग के विकास का आधार बन गया। रसायन की औद्योगिक प्रतिक्रियाओ के सचारण के लिए ठास उत्प्रेरको का व्यापक प्रयोग सर्वप्रथम क्षार उद्योग में लगे रसायनज्ञो की ही देन थी। सल्फ्युरिक अम्ल का महत्त्व एव उसकी अधिकाधिक मांग केवल क्षार उद्योग में उसकी प्रयुक्ति

के कारण बढ़ी। किन्तु उप-जातों की अनेकता के कारण इस विधा का ऊपरी व्यय इतना बढ़ गया कि सोडा एवं ब्लीचिंग पाउडर की सुसतुलित मांग पर ही उसकी समस्त आर्थिक व्यवस्था आधारित हो सकी। किन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि सोडा की मांग ब्लीचिंग पाउडर की अपेक्षा कही अधिक थी, अत सोडा उत्पन्न करने की कोई ऐसी विधा निकालने की आवश्यकता हुई जिसमें कोई उप-जात न हो। इसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप अमोनिया-सोडा विधा का जन्म हुआ।

सोडियम कार्बोनेट बनाने की इस विधा में सोडियम, नमक (सोडियम क्लोराइड) एव कार्बोनेट, कैल्सियम कार्बोनेट से प्राप्त होता है। सोडियम क्लोराइड एव कैल्सियम कार्बोनेट की परस्पर प्रतिक्रिया से सोडियम कार्बोनेट और कैल्सियम क्लोराइड बन जाना बडी सरल बात-सी लगती है, किन्तु इस प्रतिक्रिया के साथ-साथ मुक्त ऊर्जा की भी वृद्धि होने से यह स्वत अग्रसर नहीं होती। इसलिए कुछ ऐसी प्रतिक्रियाओं का सम्मिश्रण करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप उपर्युक्त प्रतिक्रिया सचरित हो सके एव जिसमें चून-पत्थर के विच्छेदनार्थ आवश्यक ताप के रूप में ऊर्जा का प्रयोग हो सके। *यही 'अमोनिया-सोडा' अर्थात् 'साल्वे विधा' के रूप में विकसित हुआ।* इस विधा में सामान्य लवण के अमोनियाई विलयन में कार्बन डाइ ऑक्साइड की क्रिया से सोडियम बाइ कार्बोनेट उत्पन्न किया जाता है। सोडियम बाइ कार्बोनेट का केलासन हो जाता है तथा अमोनियम क्लोराइड विलयन में रह जाता है। इस विलयन में चूना डालकर तप्त करने से पुन प्राप्त अमोनिया फिर से इस्तेमाल किया जा सकता है। कारखाने में हो चूने को जला करके कार्बन डाइ ऑक्साइड बनाया जाना और शेष आवश्यकता सोडियम बाइ कार्बोनेट को ऋजु कार्बोनेट बनाने में निकली गैस से पूरी होती है। लवण विलयन सीधे लवण-जल गर्तों में से पम्प किया जाता है।

१८३८ में डायर और हेमिंग द्वारा पेटेण्ट करायी गयी विधा की रासायनिक प्रतिक्रियाए यद्यपि सरल थीं, लेकिन उनके क्रियाकरण में सहनी यात्रिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई। १८५५ में श्लोएसिंग और रोलैण्ड ने इस विधा का बडे पैमाने पर प्रयोग करने का प्रथम प्रयास किया तथा पेरिस के निकट एक कारखाना स्थापित किया। किन्तु दो साल के बाद भी कठिनाइयाँ ज्यो की त्यों रही, अत यह योजना त्याग दी गयी। १८६३ में साल्वे ने ब्रुसेल्स के निकट एक निर्माणी स्थापित की, पेटेण्ट तो वे दो वर्ष पूर्व ही ले चुके थे। अपने धैर्य एव पुरुषार्थ से वे काफी सफल हुए और १८७२ में नैन्सी के पास उन्होंने एक और बडा कारखाना खोला। इसके दो वर्ष बाद लुडविग मॉण्ड ने साल्वे पेटेण्ट के ही अन्तर्गत इस विधा को इग्लैण्ड में चालू किया। उन्होंने

अपने सहभागी जॉन ब्रूनर को मिला कर 'ब्रूनर, मॉण्ड ऐण्ड कम्पनी' के नाम से एक संस्थान प्रारम्भ किया और एक संयत्र लगाया जिसमें नॉर्विच के प्राकृतिक लवण-जल का प्रयोग किया जाने लगा। १८९० तक सॉल्वे विधा से सोडियम कार्बोनेट का उत्पादन पुरानी लिब्लाक विधा की अपेक्षा अधिक होने लगा। इस नयी विधा के कई निर्विवाद लाभ भी है। प्राकृतिक लवण-जल के प्रयोग का लाभ पुरानी विधा में न था। सॉल्वे विधा बडी स्वच्छ है एव इससे प्राप्त पदार्थ भी अधिक शुद्ध होता है। फिर भी बहुत दिनो तक दोनो विधाए प्रयुक्त होती रही। अन्य उद्योगो की आवश्यकता भर क्लोरीन उत्पन्न करने तक लिब्लाक विधा से सोडा बनता और शेष सॉल्वे की अमोनिया-सोडा विधा से।

काच और साबुन के दो ऐसे उद्योग है जिनमें सोडा की सर्वाधिक खपत होती है। वस्त्रोद्योग एव रसद्रव्य निर्माण में भी इसकी विपुल मात्राएँ प्रयुक्त होती हैं। स्वच्छ-कारक के रूप में भी सोडा केलासो का अच्छा उपयोग होता है। लुगदी एव कागज उद्योग में, जल के मृदुकरण के लिए, पेट्रोलियम के परिष्करणार्थ तथा अनेक धातु-कर्म विधाओ में द्रावक[1] के रूप मे भी सोडा का प्रयोग होता है। अभी हाल में परि-ष्कृत पिग लोहे एव इस्पात के ढले हुए परिवर्तको (कॉन्वर्टर) के निर्माण मे सोडा का इस्तेमाल किया जाने लगा है, इससे उनमें गधक की मात्रा कम हो जाती है। सोडि-यम कार्बोनेट विलयन को चूने से उपचारित करने पर दह-सोडा तैयार हो जाता है। पहले समस्त और अब भी अधिकाश दह-सोडा इसी विधा से बनाया जाता है। सोडि-यम कार्बोनेट के शीत विलयन में कार्बन डाइ ऑक्साइड पार कराने से सोडियम बाइ कार्बोनेट बन जाता है, 'बेकिंग पाउडर' का महत्त्वपूर्ण सघटक होने के अलावा इसका औपधीय प्रयोग भी होता है। जलीय विलयन से केलासित करके सशोधित सोडियम कार्बोनेट भी भैपजिक कामो के लिए प्रयुक्त होता है।

लवण-जल (ब्राइन) अर्थात् सोडियम क्लोराइड के जलीय विलयन का जब विद्युदाशन (एलेक्ट्रोलिसिस) किया जाता है तो धनाग्र (ऐनोड) पर क्लोरीन का उद्विकास होने लगता है और दूसरी ओर ऋणाग्र पर हाइड्रोजन और जलीय विलयन मे दह सोडा बन जाता है। यद्यपि इस विद्युदाशन (एलेक्ट्रोलिसिस) की प्रकृति का अनुशीलन लगभग १०० वर्ष पूर्व किया गया था, किन्तु इसका वाणिज्यिक विदोहन तो तब तक सभव न हो सका जब तक सस्ती बिजली न प्राप्य हुई। इस प्रकार की

[1] Flux

विद्युदाशिक रीतियों से अन्य रासायनिक पदार्थ भी बड़ी सीधी रीति से बनाये जा सकते हैं। इस विधा के लिए सोडियम क्लोराइड सदृश अप्रतिक्रियाशील यौगिक आवश्यक कच्चे पदार्थ का काम करते हैं और ऊर्जा तो सीधे विद्युत ऊर्जा के रूप में ही प्राप्त होती है। यद्यपि लवण-जल के विद्युदाशन का सिद्धान्त तो बहुत सरल है, लेकिन इसे वाणिज्यिक रूप से सफल बनाने के लिए रसायनज्ञों एवं प्रौद्योगिकीविदों को संयत्र प्ररचना (प्लाण्ट डिज़ाइन) तथा वास्तविक क्रियाकरण की अनेक कठिनाइयों का निराकरण करना पड़ा। एक प्रकार के आधुनिक सेल[1] में धनाग्र[2] कार्बन के तथा ऋणाग्र[3] पारद के बने होते हैं। इस सेल में ऋणाग्र पर सोडियम विमुक्त होकर पारद के सग सरमीकृत (अमलामेट) हो जाता है। सोडियम का यह सरम[4] (अमलाम) बह कर दूसरे कक्ष में चला जाता है जहाँ वह जल की एक धार से विच्छेदित हो जाता है, इसी के फलस्वरूप दह-सोडा और हाइड्रोजन तैयार हो जाता है तथा पारद फिर से इस्तेमाल करने के लिए शेष बच रहता है।

लवण-जल के विद्युदाशन से दह-सोडा के उत्पादन के कारण सोडियम कार्बोनेट को चूने से उपचारित करके उसे उत्पन्न करने की पुरानी रीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और वह पूर्ववत चलती रही। इन दोनों विधाओं के सह-अस्तित्व के स्थूल आर्थिक कारण प्राय वही रहे जो सोडा बनाने की सॉल्वे तथा लिब्लाक विधाओं के साथ-साथ चलने के थे। हाँ, यह बात विद्युदाशिक विधाओं के परिपूर्ण होने के पहले की है। विद्युदाशन से दह-सोडा का उत्पादन तभी तक लाभप्रद हो सकता है जब तक उसकी उप-जात वस्तु क्लोरीन की खपत हो सके। जब क्लोरीन की औद्योगिक माँग की पूर्ति हो जाती है तब सोडियम कार्बोनेट से ही अतिरिक्त दह-सोडा तैयार किया जाता है।

दह-सोडा का सबसे अधिक उपयोग साबुन और कृत्रिम रेशम बनाने में होता है। साबुन बनाने के लिए पशु अथवा वनस्पति वसा का दह-सोडा के साथ पाचन किया जाता है। इस प्रतिक्रिया से साबुन और ग्लिसरीन दो चीजें तैयार होती हैं। ग्लिसरीन तो मुख्यत नाइट्रोग्लिसरीन बनाने में लगती है, जिससे डायनामाइट बनता है। और दह-सोडा विलयन में काष्ठ की लुगदी को विलीन करना कृत्रिम रेशम उत्पादन का प्रथम चरण है। सूती वस्त्रों के मर्सरीकरण में तथा कोलतार रजकों के निर्माण के विविध पदों पर दह-सोडा की आवश्यकता होती है। रसद्रव्यों के निर्माण, पेट्रो-

[1] Cell कोशिका [2] Anode [3] Cathode [4] Amalgam

लियम के परिष्करण, कागज के उत्पादन एवं रबर के उपादेयकरण (रिक्लेमिंग) जैसी अनेक क्रियाओं में इसका प्रयोग होता है।

क्लोरीन का मुख्य औद्योगिक उपयोग ब्लीचिंग पाउडर बनाने में होता है। विशेष प्रयोजनों के लिए अन्य विरंजनकारकों के निर्माण में भी इसकी खपत होती है। जैसे दह-सोडा के शीत विलयन में क्लोरीन पार कराने से सोडियम हाइपो क्लोराइड बन जाता है, जिसे कृत्रिम रेशम निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले कच्चे माल के विरंजनार्थ प्रयोग किया जाता है। यह सोडियम हाइपो क्लोराइड कृत्रिम इण्डिगो निर्माण के एक पद में प्रयुक्त होता है। लवण-जल के विद्युद्वाशन की दो उत्पत्तियों—हाइड्रोजन एवं क्लोरीन के पुनः संयोजन से उत्तम शुद्धतावाले हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का उत्पादन भी इसका अच्छा उदाहरण है। फॉस्जीन तथा मस्टर्ड गैस जैसी विषाक्त गैसों का निर्माण (जिसमें क्लोरीन लगती है) तथा उनका प्रयोग तो रसायन-विज्ञान के उन दुरुपयोगों में से है जिन्हें सब लोग भलीभाँति जानते हैं। क्लोरीनीकृत बेन्ज़ीनों सदृश जंतु उद्योग के अन्तस्थों के निर्माण में भी क्लोरीन बहुतायत में प्रयुक्त होती है। क्लोरीन गैस और गंधक के अनाश्रित संयोजन से सल्फर क्लोराइड बन जाता है, जो रबर उद्योग में उत्तम विलायक का काम देता है। इसके अतिरिक्त स्वयं रबर का भी क्लोरीनीकरण किया जाता है क्योंकि क्लोरीनीकृत रबर विशेष रूप से अम्ल और क्षारसह और अप्रज्वलनशील होता है।

सोडियम क्लोराइड तथा अन्य किसी पदार्थ के विद्युद्वाशन में उसके ताप, विलयन के सान्द्रण एवं विद्युत् धारा के सामर्थ्य-जैसी परिस्थितियों में यदि अन्तर किया जाय तो उत्पत्तियों की प्रकृति में भी परिवर्तन उत्पन्न किया जा सकता है। ताप के नियमन, विलयन के विचालन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की नियमित मात्रा सावधानी से डालने तथा थोड़ा डाइक्रोमेट डाल देने से क्लोरीन का उद्विकासन (इवोल्यूशन) कम हो जाता है और सोडियम क्लोरेट उत्पन्न होता है, जो एक शक्तिशाली ऑक्सीकर्ता है। ऐसी ही परिस्थिति में पोटासियम क्लोराइड के विद्युद्वाशन से पोटासियम क्लोरेट बनता है। ये दोनों लवण दियासलाई तथा विस्फोटकों के निर्माण में इस्तेमाल होते हैं। सोडियम क्लोरेट निरौनाशक (वीड किलर) के रूप में भी प्रयुक्त होता है। सोडियम क्लोरेट के प्रबल विलयन का न्यून ताप पर विद्युद्वाशन करने से सोडियम परक्लोरेट तैयार होता है, जो और भी उच्च ऑक्सीजन यौगिक है। यह भी विस्फोटक उद्योग में प्रयुक्त होता है।

नाइट्रोजन के यौगिक—महत्त्वपूर्ण भारी रसद्रव्यों के उत्पादन में कच्चे माल की तरह नाइट्रोजन का प्रयोग इसी शताब्दी की देन है। वायुमण्डल का चार-पाचवाँ

भाग नाइट्रोजन गैस है, जो रासायनिकत बड़ा ही निष्क्रिय पदार्थ है और इसमें साधारणतया अधिकांश पदार्थों से संयोजन अथवा प्रतिक्रिया करने की तनिक भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि नाइट्रोजन के यौगिक विरले अथवा महत्त्वहीन होते हैं, वस्तुस्थिति इसके प्राय बिलकुल विपरीत है, क्योंकि नाइट्रोजन के यौगिक तो जीवित प्राणियों के सबसे अधिक जरूरी संघटक होते हैं। लेगुमिनस जाति की वनस्पतियों में वायुमण्डलिक नाइट्रोजन से उसके यौगिक बनाने की विशेष क्षमता होती है और इस प्रकार ये वनस्पतियाँ पशु-जगत् के लिए आवश्यक संयुक्त नाइट्रोजन उपलब्ध करती रहती हैं।

भारी रसद्रव्य उद्योग में नाइट्रोजन के वे यौगिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं जो इसके और ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के संयोजन से बनते हैं। अमोनिया नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का यौगिक है। १९०८ तक इसका एकमात्र वाणिज्यिक स्रोत कोयला-आसवन था, जिसके एक उप-जात के रूप में यह प्राप्त होता था। उसी समय हाबर नामक एक जर्मन रसायनज्ञ के कार्यों के परिणामस्वरूप नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के सीधे संयोजन से अमोनिया तैयार करने के लिए उसका प्रयोगात्मक निर्माण शुरू किया गया।

हाबर ने वैज्ञानिक प्रयोगों तथा उनके निष्कर्षों से यह दिखा दिया था कि प्रति वर्ग इंच पर ३००० पौण्ड के दाब और ५०० सें० ताप पर एक उपयुक्त उत्प्रेरक की उपस्थिति में नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का सीधा संयोजन संभव है। अनुगामी प्रयोगों के फलस्वरूप उपयुक्त एव कार्यक्षम उत्प्रेरक का भी आविष्कार हो सका। चुम्बकीय लौह ऑक्साइड के अपचयन (रिडक्शन) से उत्पन्न लौह इसका एक उदाहरण है। उत्प्रेरकों की कार्यक्षमता केवल उनकी रासायनिक प्रकृति पर ही निर्भर नहीं होती बल्कि अधिक महत्त्व उनकी भौतिक अवस्था एव उनके बनाने की रीति का होता है। १९१३ में अमोनिया उत्पादन की यह रीति जर्मनी में पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी और उत्पादन भी पूरे परिमाण में हो रहा था। जर्मनी के लिए १९१४—१९१८ के युद्धकालीन वर्षों में यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इंग्लैण्ड में तो इस विधि का वाणिज्यिक क्रियाकरण केवल प्रथम युद्ध के बाद संभव हुआ।

सामान्य परिस्थिति में जब अमोनिया को जलाया जाता है तो हाइड्रोजन के आक्सीकरण से जल बन जाता है जब कि नाइट्रोजन अपनी स्वतंत्रावस्था में विमुक्त हो जाता है। लेकिन अगर तप्त प्लैटिनम उत्प्रेरक के ऊपर से अमोनिया और ऑक्सीजन के एक मिश्रण को पार कराया जाय तो हाइड्रोजन और नाइट्रोजन दोनों का आक्सीकरण हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न नाइट्रिक ऑक्साइड को साधारण ताप

एव हवा और जल की उपस्थिति में नाइट्रिक अम्ल के रूप में परिवर्तित किया जाता है। इस विशुद्ध वैज्ञानिक सश्लेषण के बिना जर्मनी प्रथम महायुद्ध में चार वर्षो तक कदापि नही टिक सकता था।

वनस्पति एव पशु जीवन के लिए नाइट्रोजन एक अनिवार्य तत्त्व है, और जीवित प्राणियो के लाभार्थ इसके मिट्टी में वितरण, विविध रूपान्तरण और पुन वायुमण्डल में लौटने का जो चक्र चलता रहता है, वह प्रकृति की सुन्दर व्यवस्था का एक आश्चर्य-जनक दृष्टान्त है। मनुष्यो के बहुजनन एव शहरो में एकत्र विशाल जनसख्या तथा अवशिष्ट पदार्थो के विसर्जन के तरीको के कारण इस प्राकृतिक सतुलन में बाधा पडी है। १८९८ में सर विलियम क्रुक्स ने 'ब्रिटिश असोसियेशन' में भाषण करते हुए वैज्ञानिक जगत् के सम्मुख यह तथ्य प्रगट किया था कि यदि वनस्पतियो के द्वारा परि-पाचन (असीमिलेशन) योग्य किसी रूप में वायुमण्डलिक नाइट्रोजन का स्थिरीकरण न किया जा सका या जनसख्या की वृद्धि न रोकी जा सकी तो मानव मात्र के सामने न केवल खाद्याभाव की समस्या उत्पन्न होगी वरन् वे सचमुच भुखमरी के शिकार हो जायेगे।

यद्यपि चीली की खानो में क्षार नाइट्रेट के रूप में परिपाच्य (असीमिलेब्ल) नाइट्रोजन का बडा भण्डार है तथा ससार के कुछ अन्य भागो में भी अपेक्षाकृत नाइ-ट्रोजन की कम मात्रावाले पक्षि-खाद (बर्ड मैन्योर) की बडी-बडी खानें हैं, फिर भी सारे ससार की आवश्यकता के सामने उनकी समस्त मात्रा नितान्त अपर्याप्त है। यो कोयले की आसवन विधाओं से प्राप्त होनेवाले नाइट्रोजन की मात्रा भी वैसे काफी बडी होती है, लेकिन प्राप्य पूरक नाइट्रोजन की कुल मात्रा सर्वथा अपूर्ण है।

उपर्युक्त तथ्यो से यह वर्षो पहले ही स्पष्ट हो गया था कि धरती माता से एक दाने के स्थान पर दो दाना प्राप्त कर सकना ही मनुष्य के सामने सबसे बडा रासा-यनिक काम था।

वायुमण्डल में तत्त्वीय रूप में विद्यमान नाइट्रोजन ही हमारे लिए उसका सबसे बडा स्रोत है। अनुमान है कि प्रति एकड भूमि के लिए वायुमण्डल में १४८,००० टन नाइट्रोजन है और यह कल्पनातीत है कि नाइट्रोजन का यह असीम भण्डार शीघ्र समाप्त हो जायगा, और फिर यह बहुमूल्य तत्त्व धरती तल के किसी भाग में वायु-मण्डल से प्राप्त किया जा सकता है। वायुमण्डल से नाइट्रोजन को परिपाच्य (एसि-मिलेब्ल) रूप में प्राप्त करके प्रकृति के इस महान् स्रोत का विदोहन रसायन-विज्ञान के सम्मुख एक चुनौती बन गया। रसायनज्ञो द्वारा की गयी मानव मात्र की समस्त सेवाओ में शायद ही कोई इसका मुकाबिला कर सके और फिर वायुमण्डलिक नाइ-

संशोधन किया गया फिर भी इसे कभी सफल न बनाया जा सका। इस असफल प्रयास का यद्यपि कोई कृषि-ध्येय न था, लेकिन नाइट्रोजन स्थिरीकरण की तीन बडी औद्योगिक रीतियों में से एक के आविष्कार की ओर इसने अवश्य इंगित किया।

इस विधा का अनुशीलन करते समय कारो और फ्रैंक ने यह ठीक अनुमान किया कि क्षारीय मृदा सायनाइडों के उत्पादन में सवादी कार्बाइड का बनना अन्तस्थ पद था। उन्होंने यह भी देखा कि कैल्सियम लवण बनाते समय प्रतिक्रिया सायनाइड बनने तक ही सीमित नही रहती बल्कि नाइट्रोजन की और मात्रा अवशोषित होने से कैल्सियम सायनामाइड ($CaCN_2$) बन जाता है। इन अवलोकनों एव अनुभवों पर आधारित नाइट्रोजन स्थिरीकरण की प्रथम महत्वपूर्ण योजना का विकास किया गया। इस विधा के विभिन्न पदो का पृथक्करण बडा प्रभावी सिद्ध हुआ, अत प्रथम चरण में केवल कार्बन द्वारा चूने के अपचयन से स्वतन्त्र रूप में कैल्सियम कार्बाइड तैयार होने लगा। इसी के साथ-साथ वायु में से नाइट्रोजन और ऑक्सीजन का पृथक्करण कर लिया जाता है, तथा अन्तिम पद में कैल्सियम कार्बाइड द्वारा शुद्ध नाइट्रोजन का अवशोषण कराके कैल्सियम सायनाइड तैयार किया जाता है। प्रथम प्रतिक्रिया विद्युत् भट्ठी में करायी जाती तथा उसमें बडी ऊर्जा लगती थी। इसलिए सस्ती ऊर्जा की आवश्यकता हुई और कारखाने को ऐसे स्थान पर बनाना पडा जहाँ हाइड्रो एलेक्ट्रिक शक्ति सुलभ थी। वायु से नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए तरलन एव आसवन विधाओं का आश्रय लेना पडा। प्रथमत यह बडी महँगी विधा जान पडी, विशेषत इसलिए कि कम से कम ९९८०० शुद्धता की गैस आवश्यक थी। किन्तु अन्त में वस्तुस्थिति सर्वथा ऐसी न रही क्योंकि इस क्रिया में प्रयुक्त उष्मा तथा ऊर्जा की पुनराप्ति (रीकुपरेटिंग) की रीतियाँ निकाली गयी और इञ्जीनियरी के समुन्नत साज-सामान की सहायता से कैल्सियम सायनाइड उत्पादन के सकलित मूल्य की तुलना में केवल नाइट्रोजन का मूल्य प्राय नगण्य-सा हो गया।

कैल्सियम कार्बाइड के नाइट्रीकरण के लिए उसके सूक्ष्म चूर्ण के साथ तनिक दाब पर नाइट्रोजन का सस्पर्श कराया जाता। शुद्ध कैल्सियम कार्बाइड की अपेक्षा वाणिज्यिक कार्बाइड अधिक प्रतिक्रियाशील होता है, लेकिन इसके साथ एव १,१००° से० के उच्च ताप पर भी उपर्युक्त प्रतिक्रिया बडी मन्द गति से अग्रसर होती थी। किन्तु उत्प्रेरक की सहायता से इसकी गति बडी त्वरित हो जाती है। इसके लिए कैल्सियम फ्लुओराइड उपयुक्त उत्प्रेरक है। इसकी सहायता से १,००० से० से भी कम ताप पर २१–२३% नाइट्रोजन मात्रावाली उत्पत्ति धूसर-काल ठोस पिण्ड के रूप में प्राप्त हो जाती है।

यह अपरिष्कृत सायनाइड एक उर्वरक के रूप में प्रयुक्त होता है और यही इसका मुख्य महत्त्व भी है। फ्रैंक ने १९०१ में ही इसके उपयोग का उल्लेख किया था। कैल्सियम सायनाइड में १-२% कैल्सियम कार्बाइड भी होता है, जो आर्द्र करने पर एसिटिलीन गैस के रूप में उन्मुक्त हो जाता है। इसलिए सायनाइड को पीसकर उस पर पानी छिड़कने से अवशिष्ट कार्बाइड तथा स्वतन्त्र-चूना नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद इसका रवा बना लेने से इसका इस्तेमाल करना सरल एवं सुरक्षिपूर्ण हो जाता है।

इन रासायनिक विधाओं की सहायता से वायुमण्डल के नाइट्रोजन को ऐसे रूप में आबद्ध किया जा सका है जिससे वह बड़े परिमाण में वनस्पतियों के लिये सुलभ हो जाय। चीली की नाइटर खानों की तुलना में कैल्सियम सायनाइड के उत्पादन से कृषि की कुछ कम सहायता नहीं हुई है। इसकी उत्पादन विधा में मुख्यतः विद्युत शक्ति, कोक और कोयले का खर्च है। लगभग ९०% शक्ति तो केवल कैल्सियम कार्बाइड बनाने में लग जाती है तथा सायनाइड के रूप में स्थिरीकृत एक टन नाइट्रोजन की उत्पत्ति में लगभग डेढ़ टन कोयला खर्च होता है।

एक निपीडतापक यानी आटोक्लेव में सायनामाइड के जल तथा भाप उपचार की अपेक्षाकृत सरल क्रिया से अमोनिया उत्पन्न करना सम्भव है, प्रयुक्त जल में तनिक दह-सोडा डाल दिया जाता है। १९०४ में फ्रैंक ने जलायन[1] की इस रीति का पेटेण्ट कराया था। १९१४ वाले महायुद्ध में जर्मनी ने इस प्रकार से अमोनिया प्राप्त करके नाइट्रिक अम्ल के संश्लेषण से बड़ा लाभ उठाया था। इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

वायुमण्डलिक नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की एक दूसरी विधा का विकास कुछ समय पहले हुआ था, यद्यपि वह उतना विस्तृत न था। यह रीति नाइट्रोजन को सीधे वायुमण्डलिक ऑक्सीजन से संयोजन की थी। प्रारम्भ में ही उन विद्युत विधाओं को भी प्रेरित करने का प्रयास किया गया था, जो आकाश में विद्युत सचार होने से प्रतिपन्न होती थी और जिनके फलस्वरूप नाइट्रोजन एक बार फिर मिट्टी में पहुँच कर वनस्पतियों का परिपोषण करता।

प्रिस्ले और कैवेण्डिश के प्रारम्भिक प्रयोगों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। ये विचार चलते रहे और १८५९ में लेफेबरे ने हवा और नाइट्रोजन के मिश्रण

[1] Method of hydrolysis

में विद्युत स्फुलिंग का विसर्जन (डिस्चार्ज) करके नाइट्रिक अम्ल बनाने का प्रस्ताव किया। इसके कुछ बाद ही सीमेन्स और हाल्स्के ने मूक विद्युत विसर्जन से ऑक्सीजन और नाइट्रोजन का संयोजन प्रदर्शित किया। १८९२ में क्रुक्स ने विद्युत चाप के उच्च ताप का उपयोग करनेवाली एक अधिक सन्तोषजनक रीति का प्रतिपादन किया।

लेकिन उपर्युक्त वैज्ञानिक अवलोकनों और औद्योगिक विधाओं के रूप में उनके मूर्त होने में काफी समय बीत गया, क्योंकि उनके अधिक विकास के लिए उच्च ताप और दाब पर *गैसों की साम्यावस्था (इक्विलिब्रियम)* का पूरा अध्ययन करना आवश्यक था। इन प्रकार के प्रारम्भिक भौतिक-रासायनिक कार्यों में नर्नस्ट के काम का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि विभिन्न ताप पर ऑक्सीजन-नाइट्रोजन मिश्रणों में उत्पन्न होनेवाले नाइट्रिक ऑक्साइड की मात्रा का ठीक-ठीक आगणन सम्भव है। उन्होंने ही दिखाया कि यदि १,५३८ सें० पर ०.३६% नाइट्रिक ऑक्साइड उत्पन्न होता है तो २,४०२ सें० पर उसकी उत्पत्ति बढ़कर २.२४% हो जाती है तथा अन्य तापों पर भी उसकी उत्पत्ति की गणना की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार नाइट्रिक ऑक्साइड तैयार करने में अत्यन्त ऊँचे ताप की आवश्यकता होगी। संयोगवश उसके संघटक तत्त्वों की उपस्थिति में नाइट्रिक ऑक्साइड की साम्यावस्था स्थापित होने में काफी समय लगता है, अतः उलटी प्रतिक्रिया अर्थात् नाइट्रिक आक्साइड का विच्छेदन प्रारम्भ होने के पहले ही उसे सहसा अभिशीतित करके पृथक् कर लिया जा सकता है। इस प्रकार सीधे हवा में से ही नाइट्रोजन को स्थिर करने की लाभप्रद रीतियाँ विकसित की जा सकीं। १९०२ में 'ऐटमास्फेरिक प्रॉडक्ट्स कम्पनी' के नाम से अमेरिका के संयुक्त राज्य में एक संस्था स्थापित हुई, जिसमें सी० एस० ब्रैडले और आर० लवज्वाय नामक दो अमेरिकियों द्वारा पेटेण्ट प्राप्त विधा प्रयुक्त होने लगी। विद्युत चाप में वायु प्रवेश करा कर नाइट्रिक आक्साइड उत्पन्न करना उनकी रीति का प्रथम पद था। *तत्पश्चात गैसों को अभिशीतित करके उनका और ऑक्सीकरण एवं जल में अवशोषण* कराया जाता। इससे लगभग ३५% सान्द्रणवाला नाइट्रिक अम्ल तैयार हो जाता था। किन्तु यह विधा भी आर्थिक दृष्टि से सफल न हो सकी। प्रायः उसी समय नार्वे में बर्कलैण्ड और आइड द्वारा उसी प्रकार की एक दूसरी विधा का विकास हुआ, *जो कारी सफल सिद्ध हुई। पहले १९०३ में उसका काम ३ अश्व-शक्तिवाली एक* छोटी-सी भट्ठी से प्रारम्भ हुआ, जो उसी वर्ष के अक्तूबर मास में इतना बढ़ गया कि १५० अश्व-शक्तिवाला एक छोटा औद्योगिक संयंत्र लगाना पड़ा और एक वर्ष

बाद उनके सयंत्र में १,००० अश्व-शक्ति लगने लगी। आखिरकार बर्कलैण्ड और आइड ने 'नार्वेजियन हाइड्रो-एलेक्ट्रिक नाइट्रोजन कम्पनी' के लिए एक अति विशाल सयंत्र लगाया, जिसके द्वारा वायुमण्डलिक नाइट्रोजन को व्यापक वाणिज्यिक परिमाण में स्थिर करने की समस्या हल हो गयी। काफी बड़ा एवं विशिष्ट आकारवाला विद्युत् चाप उत्पन्न करना ही बर्कलैण्ड और आइड विधा की सफलता का मूल आधार था। इसकी प्राप्ति के लिए एक ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र का प्रयोग किया गया जो प्रत्यावर्ती धारा चाप (ए० सी० आर्क) को व्याकृष्ट (डिस्टार्ट) करके उसे ज्वाला के बिम्ब का आकार प्रदान कर सके। इसी बिम्ब में से वायु को अति शीघ्रता से पार कराया जाता। चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा चाप का अर्धगोलाकार रूप से प्रसरण होता, पहले एक दिशा में और फिर प्रत्यावर्ती धारा (आल्टर्नेटिंग करेंट) से उसकी उल्टी दिशा में, और इस तरह बड़ा विद्युत् चाप बन जाता। विद्युत् इन्जीनियरी के आविष्कार से औद्योगिक सफलता का यह एक बड़ा उत्तम दृष्टान्त है। भट्ठी एक ऐसे गोल बेलनाकार इस्पात के आधान में बन्द रहती जिसकी भीतरी ओर अग्नि-ईंटों का अस्तर लगा रहता था। ६ फुट व्यासवाला एवं ६ इंच गहरा स्थान छूटा रहता है जिसमें विद्युत् चाप की क्रिया होती है। चाप के उच्च ताप पर गैसों का सयोजन होता है और तब लगभग १००० सें० ताप पर नाइट्रिक आक्साइड सहित गैसों को एक वाष्पित्र (बायलर) में प्रवेश कराया जाता है, जिसमें भाप बनती होती है, वहाँ से उसे अलूमिनियम की नालियों के बने एक शीतन-प्रणाली में भेजा जाता, जिसके ऊपर से शीत जल प्रवाहित होता रहता है। इस प्रकार स्थिरीकृत नाइट्रोजन का और ऑक्सीकरण करके उसे नाइट्रोजन डाइऑक्साइड के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह क्रिया अम्लसह पत्थरों के अस्तर लगे स्तम्भों में पूर्ण होती है जहाँ लगभग ३०% नाइट्रिक अम्ल तैयार हो जाता है।

नाइट्रिक अम्ल का चूनपत्थर से उदासीनीकरण करके कैल्सियम नाइट्रेट का विलयन बनाया जाता जिसे शून्यक में उद्वाष्पित करके ठंढा किया जाता और तब लवण विशेष का केलासन होता। एक किलोवाट घण्टा शक्ति लगाकर २२ घन फुट वायु से लगभग ७० ग्राम नाइट्रिक अम्ल उत्पन्न होता है तथा नाइट्रिक ऑक्साइड का सान्द्रण लगभग १.२% (आयतन) होता है। बर्कलैण्ड-आइड विधा का संशोधन करके वायुमण्डलिक ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के अनाश्रित स्थिरीकरण की अन्य रीतियाँ भी निकाली गयी, लेकिन मूल रीति ही अब भी सर्वोत्तम मानी जाती है। यह विधा एक समय बड़े आर्थिक महत्त्व की थी, लेकिन आगे चलकर अन्य दो रीतियों ने उसे यदि पूरी तरह नहीं तो अधिकांशतः विस्थापित कर दिया।

नाइट्रोजन स्थिरीकरण की सायनामाइड एव चाप रीतियो में सबसे बड़ा अवगुण अथवा कठिनाई यह है कि उनमें विपुल विद्युत् ऊर्जा लगती है। सायनामाइड एव चाप रीतियो में एक टन नाइट्रोजन को स्थिर करने में क्रमश १२,००० और ६०,००० किलोवाट घण्टा शक्ति खर्च होती है। इसी कारण से नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के अनाश्रित सयोजन से अमोनिया बनाने की ओर लोगो का अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ, क्योकि सभवत यह विधा बहुत कम खर्च में क्रियान्वित हो सकती थी। १८८४ मे रैमजे और यग ने जो निष्कर्ष निकाले थे उन्ही के आधार पर १९१३ में हाबर-बॉश के सयत्र सफलतापूर्वक कार्य करने लगे और उनमे केवल ३००० किलोवाट घण्टा शक्ति की न्यून खपत सभव हुई।

प्रथम महायुद्ध मे जर्मनी के लिए नाइट्रोजन स्थिरीकरण की बात परम महत्त्व की थी, क्योकि उस समय स्थिरीकृत नाइट्रोजन की उसकी उपलब्धि सारे ससार भर से बन्द हो गयी थी। यद्यपि सायनामाइड विधा उसके लिए सश्लिष्ट अमोनिया का तत्कालीन एक बडा स्रोत थी, किन्तु इसमें अत्यधिक शक्ति लगती थी, इसलिए कम शक्ति लगानेवाली हाबर-बॉश विधा को बडी प्रचण्ड गति से चलाने की कोशिश हो रही थी। सही बात तो यह है कि नाइट्रोजन स्थिरीकरण की इस विधा की सफलता के बिना तथा ओस्टवाल्ड द्वारा विकासित अमोनिया के ऑक्सीकरण से नाइट्रिक अम्ल बनाने की रीति के बिना जर्मनी इतने समय तक कदापि युद्ध जारी नही रख सकता था। हाबर-बॉश सश्लेषण विधा आधुनिक औद्योगिक प्रविधि का एक परम उत्कृष्ट उदाहरण है। विभिन्न ताप एव दाब पर नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और अमोनिया की साम्यावस्था सबन्धी आधारभूत अन्वेषणो के बिना यह प्रविधि सफल न हुई होती। इस प्रकार का सर्वप्रथम काम हाबर और ऊर्ड्ट ने १९०४ में किया। इनकी गणनाओ से नर्नस्ट का ध्यान भी आकृष्ट हुआ, जिन्होने अपने उष्मा प्रमेय (हीट थ्योरम) की ओर सुतथ्य गणनाएँ की। १९०४ और १९०८ के बीच में किये गये गैसीय साम्यावस्था तथा उत्प्रेरको के प्रभावों सबन्धी कार्यों के फलस्वरूप ही यह सैद्धान्तिक परिकल्पना एक औद्योगिक प्रविधि के रूप में मूर्त हो सकी। उसी समय से 'बैडिशे ऐनिलीन उण्ड सोडा फैब्रिक' नामक जर्मनी की विशाल सस्था ने इस विधा के विकासन के लिए अपनी सारी प्राविधिक प्रतिभा एव आर्थिक शक्ति लगा दी। १९१० में प्रथम प्रयोगात्मक सस्था स्थापित हो चुकी थी तथा उसके अनुगामी वर्ष में ओपाऊ में प्रतिवर्ष ७,००० टन नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की क्षमतावाले वाणिज्यिक सस्थान का निर्माण प्रारम्भ हो गया, जिसे १९१३ मे क्रियान्वित किया गया तथा कुछ ही महीनो के बाद उसका विस्तार भी करना पडा। युद्ध-काल में तो इसकी क्षमता

६०,००० टन नाइट्रोजन प्रति वर्ष हो गयी थी तथा बाद में बढ़ कर १२०,००० टन हो गयी। १९२८ में ल्युना में एक महा विशाल संयत्र लगाया गया, जिसका उत्पादन ४००,००० टन प्रति वर्ष था। युद्धकाल एवं उसके बाद थोड़े ही समय के अन्दर स्थिरीकृत नाइट्रोजन का सकलित उत्पादन चीली नाइट्रेट उद्योग के समस्त निर्यात से भी बढ़ गया। इस विधाविशेष से स्थिरीकृत वायुमण्डलिक नाइट्रोजन का वर्तमान कुल उत्पादन बताना तो संभव नहीं है, लेकिन १९२८ में ही अनुमानतः इसकी राशि १,०३६,००० टन प्रतिवर्ष हो गयी थी। अन्य सस्पर्धी विधाओं का भी संसार के दूसरे बड़े देशों में विकास हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध में इनमें विशेष वृद्धि एवं उन्नति हुई है।

किसी उत्प्रेरक के ऊपर दाब एवं चयन ताप पर नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का संयोजन ही अन्य सभी सस्पर्धी विधाओं का सामान्य आधार है। किन्तु इञ्जीनियरी संबन्धी ब्योरों में काफी अन्तर होता है। इनमें से मूल हाबर-बॉश विधा तथा संसार की बड़ी-बड़ी रासायनिक कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत उसके संशोधन, *'क्लाड', 'कासले', 'नाइट्रोजन इन्जीनियरिंग', 'फौजर तथा मॉण्टेसेनिस' विधाएं अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन विधाओं के परिवर्तकों (कॉन्वर्टर) की रचना एवं क्रियाकारी ताप तथा दाब संबन्धी ब्योरों में अन्तर होता है। 'हाबर-बॉश' विधा का क्रियाकरण २०० वायुमण्डल दाब तथा ५०० —६०० से० ताप पर होता है, जब कि 'क्लाड' विधा का ९०० वायुमण्डल दाब और ५००°—६००° से० ताप पर। किन्तु कहा जाता है कि 'मॉण्टेसेनिस' विधा केवल १०० वायुमण्डल दाब तथा ४०० से० ताप पर ही क्रियान्वित होती है।*

इतने अधिक ऊँचे दाब और ताप पर गैसों के क्रियाकरण तथा नियंत्रण का सफल नियोजन वर्तमान इञ्जीनियरों की सचमुच परम सफलता माननी चाहिए।

अमोनिया के संश्लेषण के लिए नाइट्रोजन और हाइड्रोजन की आवश्यकता होती है। वायु से नाइट्रोजन पृथक्करण के लिए वायु का आंशिक तरलन और फिर प्रभाजन आवश्यक होता है। सायनामाइड विधा में प्रयुक्त होनेवाला नाइट्रोजन इसी रीति से प्राप्त किया जाता है। जहाँ हाइड्रोजन बहुत सस्ता होता है वहाँ इसे हवा में जला करके हाइड्रोजन-नाइट्रोजन का उपयुक्त मिश्रण उत्पन्न कर लिया जाता है। 'क्लाड', 'फौजर' तथा 'कासले' संयत्रों में यह रीति प्रयुक्त होती है। अधिकांशतः नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए वायु को तप्त कोक के ऊपर पार करा कर उसमें से ऑक्सीजन निकाल दिया जाता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के कई तरीके हैं। जहाँ विद्युत् शक्ति बड़ी सस्ती होती है वहाँ तो जल के विद्युदांशिक विच्छे-

दन से हाइड्रोजन उत्पन्न किया जाता है। किन्तु अन्य अवस्थाओं में कोक अविन गैसो के आंशिक तरलन, अवशोषण तथा आसवन से यह गैस उत्पन्न की जाती है। हाइड्रोजन की सर्वाधिक मात्रा कोक से तथाकथित वाटर गैस विधा के द्वारा प्राप्त की जाती है। हावर-बॉश विधा में कोयले से बनी प्रोड्यूसर गैस को, जिसमें ६३% नाइट्रोजन होता है, वाटर गैस के साथ मिला कर ३ १ अनुपात में हाइड्रोजन-नाइट्रोजन मिश्रण तैयार किया जाता है। इसके लिए भाप की आवश्यक मात्रा के साथ इसे एक उत्प्रेरक के ऊपर से पार कराके इसमें कार्बन मॉनोआक्साइड को हाइड्रोजन से विस्थापित कराया जाता है। वाटर गैस के दो तीन आयतनो के लिए प्रोड्यूसर गैस के एक या दो आयतन आवश्यक होते है। मिश्रित गैस में ३५–४०% कार्बन मॉनोऑक्साइड, ३३–३६% हाइड्रोजन तथा २२–२३% नाइट्रोजन होना है। इनके अतिरिक्त थोडा-सा कार्बन डाइ ऑक्साइड और मीथेन इत्यादि भी होते है। इसके लिए वाटर गैस बनाने में ताप दीप्त कोक के ऊपर से भाप पार करायी जाती है, जिससे ५०% हाइड्रोजन, ४३% कार्बन मॉनो-ऑक्साइड, ५% कार्बन डाइ ऑक्साइड और २% नाइट्रोजन का एक मिश्रण उत्पन्न होता है। इस मिश्रित गैस में से कार्बन मॉनोऑक्साइड निकालने के लिए इसे भाप के साथ लौह ऑक्साइड उत्प्रेरक के ऊपर पार करा दिया जाता है। इस क्रिया मे कार्बन मॉनो ऑक्साइड का कार्बन डाइऑक्साइड बन जाता है, किन्तु साथ ही प्रयुक्त भाप की तुल्य राशि के बराबर हाइड्रोजन उत्पन्न हो जाता है। कार्बन डाइ ऑक्साइड के निरमनार्थ मिश्रित गैस का २५ वायुमण्डल दाब में जल से उद्धावन (स्क्रबिंग) किया जाता है। इतने दाव पर कार्बन डाइ ऑक्साइड जल मे विलीन हो जाता है। अवशिष्ट गैस मे मुख्यत हाइड्रोजन और नाइट्रोजन बच जाता है और उनका अनुपात अमोनिया मश्लेषण के उपयुक्त होता है। अपरिवर्तित कार्बन मॉनोऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड तथा आर्गन सदृश अशुद्धियों को भी दाब धावन एव अवशोषण रीतियो से निरमित कर दिया जाता है। शोधन की ये रीतियाँ आवश्यक किन्तु द्वितीयक[1] क्रियाएँ है, अत. यहाँ इनका कोई विस्तृत विवरण नही दिया जा रहा है। इनका उल्लेख केवल सम्पूर्ण विधा की परम जटिलता दर्शाने के लिए किया गया है।

जब ५०% हाइड्रोजन मात्रावाली कोक अविन गैस से हाइड्रोजन प्राप्त किया जाता है तब शोधन के लिए उसका तरलन, एव प्रभाजन-उद्वाष्पन[2] तथा विविध

[1] Secondary [2] Fractional evaporation

रसद्रव्यो द्वारा उसके बाह्य सघटको का अवशोषण किया जाता है। किन्तु जब विद्युदाशिक हाइड्रोजन का प्रयोग किया जाता है तो उसके शोधन की विशेष आवश्यकता नही होती, लेकिन यह तो तभी सभव होता है जब सस्ती विद्युत् शक्ति सरलता मे उपलब्ध हो। यही कारण है कि सश्लिष्ट अमोनिया के ससार के कुल उत्पादन का अत्यल्प अश विद्युदाशिक हाइड्रोजन से बनाया जाता है।

समुचित रूप से शोधित गैसो को उष्मीयत नियत्रित परिवर्तकों में उच्च दाब पर उत्प्रेरको के ऊपर से पार कराया जाता है। इन पात्रों की प्ररचना थोडी जटिल होती है क्योकि उनमें विशेष दाब और ताप प्रयुक्त होते है। इनके प्ररचन एव बनाने में साधारण इन्जीनियरी बुद्धि की आवश्यकता होती है और इसी बनावट की भिन्नता के कारण ही विविध विधाओ मे भेद होता है। परिवर्तक के उष्मा विनिमयक भाग मे निकलनेवाली गैस में प्रयुक्त दाब के अनुसार ५% से २५% अथवा ४०% तक अमोनिया होता है और प्रतिकारी गैसो के पुन. परिचालन से हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का कुल परिवर्तन सैद्धान्तिक गणना का लगभग ८०% होता है।

परिवर्तकों से निकलने वाली अमोनिया को निष्क्रिय गैसो से पृथक् करने के लिए या तो जल अवशोषण रीति अपनायी जाती है अथवा प्रशीतन रीति। जल अवशोषण रीति प्राय हावर-बॉश विधावाले ५–१०% अमोनिया के लिए प्रयुक्त होती है और १०% अमोनिया के लिए प्रशीतन रीति।

जब अमोनिया जलीय विलयन के रूप में एकत्र किया जाता है तो आवश्यकता होने पर तुरन्त आसवन करके उसे अजलीय अमोनिया के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है। किन्तु अधिकाश अमोनिया को अमोनियम सल्फेट, अमोनियम फास्फेट अथवा नाइट्रो चाक-जैसे नाइट्रोजनीय उर्वरको के रूप में परिवर्तित किया जाता है, इसके लिए या तो अमोनिया को सल्फ्यूरिक अम्ल या फास्फोरिक अम्ल में अवशोषित किया जाता है अथवा द्विगुन विच्छेदन क्रिया अपनायी जाती है। सश्लिष्ट अमोनिया का प्लैटिनम जाली उत्प्रेरक के ऊपर हवा की उपस्थिति में दहन और उसका ऑक्सीकरण करके उसे नाइट्रिक अम्ल में रूपान्तरित कर दिया जाता है। विस्फोटक सश्लिष्ट रजक एव अमोनियम नाइट्रेट उर्वरक बनाने में नाइट्रिक अम्ल का बडा व्यापक प्रयोग होता है। जब एक बार नाइट्रोजन अमोनिया अथवा नाइट्रिक अम्ल के रूप में स्थिरीकृत हो जाता है तो प्राथमिक प्रक्रिया प्राय सम्पूर्ण हो जाती है और उसके बाद उनके उपयोग के अनेक रूप एवं सभावनाएँ हो जाती हैं। सश्लिष्ट अमोनिया के उत्पादन में जो एक नयी प्रविधि विकसित हुई है वह अब अनेक उच्च दाब प्रतिक्रियाओं के लिए काम में लायी जाने लगी है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह एक

नये एव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रासायनिक उद्योग का ऐसा आधार बन गयी है जिससे उच्च आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा इञ्जीनियरी शास्त्र का भी अत्यन्त घनिष्ठ सबन्ध हो गया है।

ग्रंथ-सूची

ANASTASI, A. *Nicolas Leblanc Sa Vie et ses Travaux* Librarie Hachette et Cie

DE WOLF, R, AND LARISON, E L *American Sulphuric Acid Practice in U S A* McGraw Hill Book Co., Inc.

DONNAN, F G *Ludwig Mond, F R S*, 1839-1909 Royal Institute

DOSSIE, R *The Elaboratory Laid Open.* J. Nourse.

FAIRLIE, A M *Sulphuric Acid Manufacture.* Reinhold Publishing Co.

HOU, TE-PANG . *Manufacture of Soda.* Reinhold Publishing Co.

LEBLANC, NICHOLAS *Memoires sur la Fabrication du Sel Ammoniac et de la Soude*

LUNGE, G *Sulphuric Acid and Alkali* Gurney & Jackson.

RODWELL, G F *Birth of Chemistry,* Macmillan & Co

SECHL, E. R *New Improvement in the Art of Making the True Volatile Spirit of Sulphur*

WELLS, A E, AND FOGG, D. E *Manufacture of Sulfuric Acid in U. S A.* U S Bureau of Mines

अध्याय १६

खनिज द्रव्य

खनिज द्रव्य और धातुएँ; ऊष्मसह पदार्थ

खनिज द्रव्य और धातुएं

ब्रैनमोर जोन्स, डी० एस-सी० (वेल्स), एफ० आर० आई० सी०

पिछले पचीस वर्षों में व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में अपूर्व विकास एव परिस्थितियो में महान् परिवर्तन हुए है, हो रहे हैं। इन बदलती हुई परिस्थितियों के लिए नयी नयी वस्तुओ एव नये नये पदार्थों की निरन्तर माँग बढ़ती जा रही है। बडे बडे पुल बनाने के लिए, जहाज-निर्माण एव समुद्र इन्जीनियरी के लिए, रेलवे तथा मोटर गाडियो (आटोमोबाइल) के निर्माण और वायुयान उद्योग के लिए अब ऐसे पदार्थों की आवश्यकता पडने लगी है, जिनके गुणों को पहले के गुणों मे कही उत्कृष्ट होने की जरूरत है। इन्जीनियरी मशीनो के प्रस्थापिताओं (डिजाइनर) की कार्यकुशलता में निरन्तर वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप उन्होने मशीनो की प्रति इकाई भार स्थितिज शक्ति बहुत बढा दी है। और इन बढ़े हुए भारो को सँभालने के लिए अधिक सामर्थ्यवाली धातु एवं मिश्र धातु तैयार करने का उत्तरदायित्व धातुकर्मज्ञो के ऊपर आ पडा है। इजीनियरी की प्रगति ने उन अवस्थाओ की सीमा भी बढा दी जिनका सामना विविध द्रव्यो को करना पड़ता था। एक ओर तो प्रतिबल (स्ट्रेस) बढ गया और दूसरी ओर स्थान की बचत करने के लिए भार को घटाने की आवश्यकता पडने लगी। इसलिए नये एव अधिक विश्वसनीय लोहम और अलोहम (फेरस ऐण्ड नॉन-फेरस) दोनो धातुओ तथा मिश्रधातुओं के उत्पादन एव उपयोग की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए द्रव्यो के चुनाव में और अधिक कठोर परीक्षण और निरीक्षण की जरूरत हुई। *आधुनिक मिश्रधातुओं के आविष्कार में* अग्रेज वैज्ञानिको ने बड़े मार्गदर्शी अनुदान नयी किये हैं। मिश्रधातुओं के विकास में भी उनके मशीनीकरण की कठिनाइयों, तथा उनकी बढी हुई कठोरता, सामर्थ्य एव सुदृढता और वर्तमान उत्पादन की आशु गति के कारण अनेक समस्याएं उत्पन्न हुई

है। इन्ही के फलस्वरूप नवीन कर्तन पदार्यो (कटिंग मैटीरियल्स) की उत्पत्ति हुई। मोरचा, उष्मा तथा अम्लो के विनाशकारी दुष्प्रभावो के प्रति विशिष्ट अवरोधी गुणो वाली मिश्रधातुओ का आविष्कार करना पडा। धातुओ का सक्षारण सभी उद्योगो, विशेषकर धातु-कर्मज्ञो के लिए बडे कष्ट और खर्च का विषय रहा है। इस कष्ट को कम करने के लिए सक्षारण-रोधी मिश्रधातु बनाने मे महान् अनुसधान-कार्य करना पडा और उसी के परिणामस्वरूप सक्षारण प्रक्रिया का स्पष्टीकरण हो पाया है। अतिपाती (अर्जेण्ट) आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कुछ ऐसी नयी मिश्रधातुओ का आविष्कार हुआ जिनके कारण वैज्ञानिको एव प्रौद्योगिकीविदो के धातुगुण सबन्धी विचारो में बडा परिवर्तन हो गया।

ससार की वर्तमान प्रगति पर धातुओ का ऐसा प्रमुख प्रभाव पडा है कि आज-कल राष्ट्रो की समृद्धि उनके धातुनिर्माण एव प्रयोग से आँकी जाने लगी है। आज की सभ्यता मे उद्योगो के लिए धातुओ एव मिश्रधातुओ की अत्यधिक माँग है। और अन्य विशाल उद्योगो के साथ आबद्ध होने के कारण कुछ ही लोग धातुकर्म उद्योगो की यथार्थ महत्ता का अनुमान कर पाते हैं। खनिज समाधन (रिसोर्स) ही शक्ति के बड़े एव समृद्धिशाली ससाधन माने जाते हैं। इसीलिए प्रागैतिहासिक काल से खानो एव खनिज सग्रहो के लिए निरन्तर लडाइयाँ लडी जाती रही। कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज से वहाँ की अतुल खनिज सम्पत्ति स्पेनिश राष्ट्र के कब्जे में आ गयी और लगभग १०० वर्ष तक स्पेन की महत्ता और उसकी समृद्धि इन्ही धातुओ एव खनिजो पर आधारित रही। इग्लैण्ड के शीर्ष ससाधनो एव निर्माण-क्षमता की सर्वोच्चता का मुख्य कारण भी कोयले और लौह अयस्क की उसकी महती उपलब्धियाँ रही है। सयुक्त राज्य अमेरिका भी ताँबा, सीस, यशद, अलूमिनियम और इस्पात का सबसे बडा उत्पादक है, और उसकी आर्थिक सर्वोच्चता भी उसके खनिज समाधनो एव धातुकर्म उद्योगो के कारण है।

यदि यह कहा जाय कि इस्पात और अलूमिनियम ससार की सभ्यता के दो सबसे बडे कारक है और रहे है, तो कुछ लोग इस कथन से कदाचित् सहमत न हों। लेकिन अगर केवल इस्पात को, जो लोहा और कार्बन की एक मिश्रधातु है, हटा दिया जाय तो हमारे सामने रेल, जहाज, मशीन और पुल रहित एक ससार उपस्थित हो जायगा तथा हम अनेक ऐसी वस्तुओ से वचित हो जायँगे, जो हमारे दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। किन्तु यदि हम धातुकर्म-विज्ञान के दूसरे पक्ष का निरीक्षण करें तो मानवीय प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से पराजित हुई दिखाई पड़ेंगी। आखिर इसी वैज्ञानिक प्रविधि से अलूमिनियम और मैग्नीसियम के हलकी मिश्रधातु का प्रयोग

करके वे वायुयान भी बनाये जाते है, जो मनुष्य के सामूहिक विनाश के लिए विध्वंसकारी बम फेंकते हैं। युद्ध के टैंक जो मनुष्यों को धरती पर रौंदते चलते हैं; उड़यी विस्फोट, राकेट, समुद्री बन्दूकों से दागे जाने वाले प्रक्षेपी अस्त्र इत्यादि, सभी इसी विज्ञान की देन हैं जिनसे मानव-मात्र का ऐसा विनाश होता अथवा किया जाता है जो पहले कभी संभव न था। और इन सब भयकर शस्त्रास्त्रों का प्रमुख कारक इस्पात ही तो है।

अयस्क सान्द्रण (ओर कॉन्सेन्ट्रेशन) की विधाओं एव धातुओं के निर्माण में हुए चमत्कारी विकासो का यथार्थ चित्र तो तभी हमारे सामने आयेगा जब हम उसकी तुलना प्रारम्भिक परिस्थितियो से करें। धातुओ के सक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वर्तमान उद्योग के विकास में विज्ञान ने कितना और कैसा योगदान किया है।

इतिहास—पृथ्वी की भूपर्पटी[1] मे केवल तीन ऐसी धातुएँ (अलूमिनियम, लोहा और मैग्नीसियम) अधिक अनुपात में विद्यमान हैं, जिनका आजकल प्राविधिक महत्त्व है। सयोगवश इन धातुओं का भूपर्पटी में एकरूप वितरण नही है, अन्यथा अयस्क सान्द्रण की आधुनिकतम रीतियों के बावजूद भी सामान्यत प्रयुक्त होने वाली धातुएँ बहुत ही विरली होतीं। *भौमिकीय वितरण एव युग-युगों में शैलपर्पटी की ऊपरी सतह की पुनर्रचना के कारण ही धातुएँ कुछ क्षेत्र में भारी मात्राओ में सान्द्रित हो सकी, और इन्ही सान्द्रणों का विदोहन करके मनुष्य लाभान्वित हुआ है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पृथ्वी एक पिघले हुए गोले के समान थी, जिसमें सभी तत्व मिश्रित थे, किन्तु जैसे जैसे यह ठंडी होने लगी इसके सघटकों का विभिन्न स्तरों में पृथक्करण होने लगा,* फलत सिलिकेट और सल्फाइड ऊपरी सतह में रह गये और धातुएँ पृथ्वी के अन्दर केन्द्र की ओर सान्द्रित हो गयी। यही विभेदकरण धातुकर्म प्रद्रावण (स्मेल्टिंग) क्रिया का बड़ा महत्त्वपूर्ण रूप है। पृथ्वी के और ठंडी होने पर सिलिकेटों और सल्फाइडो का और भी अलगाव हुआ तथा अधिकांश धातुएँ सल्फाइड से पृथक्कृत हो गयी। आगे चल कर ऋतु-प्रभाव से तथा जल के आन्तर प्रवाह के कारण धातुओ का और सान्द्रण हुआ, तथा खनिज एव अयस्क कहे जाने वाले धातु-युक्त पदार्थों की खानें बन गयी। खनिजो के ऐसे मिश्रण को अयस्क कहते हैं जिनसे धातुओं को निकाल कर वाणिज्यिक लाभ उठाया जाता है।

[1] Crust

पृथ्वी की शैलपर्पटी की औसत घनता २.५ और २.७ के बीच में है, जब कि समस्त पृथ्वी की है लगभग ५.५। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी के अन्दर भारी धातु भरी होगी जो सम्प्रति अनभिगम्य (इनऐक्सेसेब्ल) है। अन्तर भाग की गणित घनता लगभग ७.८ होगी, प्राय यही धात्वीय उल्काश्मो (मिटियोराइट) की घनता होती है, जो ग्रहो के विघटित भाग होते है। ३१८ उल्काश्मो के रासायनिक विश्लेषण से पता लगा है कि उनमें औसतन लगभग ९०.८% लोहा, ८.५% निकेल, और ०.६% कोबल्ट होता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी के आन्तरक (कोर) का भी प्राय यही निबन्ध होगा। "बोगुस्लुव्ला" उल्काश्म ससार का सबसे बडा लौह उल्काश्म है जिसे गिरते हुए लोगो ने आँखो देखा। यह अक्तूबर १९१६ में रूस के पूर्वी क्षेत्र के किसी स्थान पर गिरा था। इसके दो भाग हैं—एक ४३९ पौण्ड का और दूसरा १२१ पौण्ड का।

बहुत कम धातुएँ प्राकृतिक दशा में पायी जाती है, जो थोडी है उनमें सोना, प्लैटिनम, और पारा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ क्षेत्रो में तॉबा और चॉदी भी इस दशा में मिलती है। इन धातुओ में से कुछ ऐसी हैं जिन्हें मनुष्य ने सबसे पहले प्रयोग करना प्रारम्भ किया था। स्वर्ण, रजत, ताम्र और लौह सदृश धातुओं का बाइबिल मे भी वर्णन है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसा युग के पहले भी प्रद्रावण की अशोधित विधाओं से अयस्को से उनकी धातुओ का निस्सारण होता था। ५,००० वर्ष पूर्व धातुओ के प्रयोग का प्रमाण मिलता है। उस समय लोग उनसे आभूषण, उपकरण एव हथियार बनाया करते थे। धातुज्ञान का मूल स्रोत सुदूर पूर्व ही जान पडता है। कहा जाता है कि १००० ईसा पूर्व के पहले फोनीसियन लोग वर्तमानकालीन जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के बीच समुद्री यात्रा किया करते थे और उन्होने स्पेन में एक नगर का उद्घाटन भी किया था जिसे वर्तमान समय में "कैडिज" कहते है। इन लोगो ने स्पेन में स्वर्ण, रजत, ताम्र, और सीस की बडी बडी खानें खोज निकाली थी। युग युगो से सभी देशो में सास्कृतिक केन्द्रो से अग्रणी लोग सम्पत्ति की खोज में सदा नये नये प्रदेशो में जाते रहे हैं। ऐसा अनुमान है कि प्राचीन धातुकर्मन वग अयस्क की खोज किया करते थे जिसे अपेक्षाकृत अधिक सुलभ ताम्र अयस्क में मिला कर कासा (ब्रॉन्ज) बनाते थे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कार्नवेल स्थित वग अयस्क की खानो की सूचना पाकर ही जूलियस सीजर ने ब्रिटेन का प्रथम अभियान किया था और तभी से उस अर्ध-बर्बर प्रदेश में तत्कालीन सभ्यता का अभ्युदय हुआ। अयस्को के प्रद्रावण की कला लोगो को लोहे के आविष्कार के बहुत पहले ही ज्ञात थी। तापन की प्राचीन रीतियों द्वारा अयस्को का अपचयन करके ताँबा और काँसा प्राप्त किया जाता था।

कास्य युग के बाद हथियार और अन्य उपकरण बनाने के लिए लोहे की मिश्रधातुओ का प्रयोग होने लगा। लौह, ताम्र, वंग, और सीस के ऑक्साइड अयस्कों को चारकोल के साथ तप्त तथा अपचयित करके सवादी धातुएँ बनायी जाती थी। प्राचीन काल में लौह अयस्को को अपचयित करके धातु का लेपी पुञ्ज (पेस्टी मास) बनाने से घन संधान (हैमर वेल्डिग) के बडे बडे पुञ्जो का उत्पादन संभव हुआ। इस *प्राचीनकालिक लौह पुञ्ज को चारकोल के साथ तप्त करने से यह देखा गया कि लौह* द्वारा कार्बन के अवशोषण से लोहे का इस्पात बन गया। इसी अशोधित विधा से प्रख्यात डैमेसीन तलवारें बनायी गयी थी। यह इस्पात खरीदा तो दमिश्क में गया था लेकिन *इसका निर्माण प्राचीन नगर के पूर्ववर्ती देशो में हुआ था। आगे चलकर* जब यह पता लगा कि इस्पात को लाल गरम करके ठढे जल में अभिशीतित करने से वह अत्यन्त कठोर हो जाता है, तो असख्य प्रयोजनों में उसका प्रयोग होने लगा। ४०० ईसा पूर्व सिकन्दर महान् के समय भी इस्पात की वस्तुएँ बडी कुशलता से बनायी जाती थी। उस समय सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र एव कवच इत्यादि तथा कृषि के उपकरण और उस्तरे इस्तेमाल होते थे। यद्यपि मनुष्य स्वर्ण, रजत, सीस, वग, लोहा इस्पात, ताम्र, कासा तथा पारद का प्रयोग प्रागैतिहासिक काल से करता आ रहा है, *किन्तु वर्तमान समय में प्रयुक्त होनेवाली चार धातुएँ—जस्द, अलूमिनियम,* मैग्नीसियम, तथा निकेल—उस समय ज्ञात न थी और न उन बहुसख्यक लघु धातुओ का ही पता था, जो आधुनिक जगत् की जटिल मांगो को पूरा कर रही है। ये धातुएँ पहले *ऐसे यौगिको के रूप में विद्यमान थी, जिन्हें प्राचीन लोग विच्छेदित नही कर पाये थे।*

जैसा पहले भी सकेत किया जा चुका है, वर्तमान सभ्यता लोहे के ऊपर ही आधारित है। एक चीनी कहावत है कि "जो ससार के लोहे का मालिक है वही ससार का *मालिक है अर्थात् ससार में उसी का साम्राज्य होगा।" अनेक ज्ञात धातुओं की* प्रयुक्त कुल राशि का ९९.५% अश सात धातुओं क है, और इनमें से केवल लोहे की राशि लगभग ९३% है। इससे स्पष्ट है कि समस्त धातुओं में लोहा और उसकी मिश्रधातुओं का सर्वाधिक प्रयोग होता है तथा स्वर्ण की सारी राशि से भी अधिक उनका व्यावहारिक महत्त्व है। सोने की अधिकाश राशि सचित होती है तथा आभूषण एव सिक्के बनाने के अतिरिक्त उसका प्रयोग अत्यल्प है। अब तो सिक्कों के रूप में भी सोना नही दिखाई पडता। दूसरी ओर लोहा और इस्पात का आजकल जीवन के सभी क्षेत्रो एव सभी अवस्थाओं में परम महत्त्व है। अलौहम धातुओं के आधुनिक महत्वपूर्ण विकास के बावजूद भी लोहे का महत्त्व सबसे अधिक है। इन सब बातो से यह उक्ति चरितार्थ होती है—

है रानी के ही योग्य स्वर्ण, चाँदी बाँदी के लिए बनी।
ताँबे से ही होता निहाल वह शिल्पकार चातुर्य-धनी॥
हैं तीनो ही सर्वथा योग्य, अपने अपने पद पर महान।
पर लोहा तो इन सबका है शिरमौर और सुख का निधान॥

सुदृढ़, तन्य (डक्टाइल) एव सबल होने के कारण १८५७ तक निर्माण-कार्यों के लिए मुख्यत पिटवाँ लोहा ही प्रयुक्त होता था। यह रेल, पुल, जहाज और उनके पट्ट, वाष्पित्र (ब्वायलर), स्तार इत्यादि बनाने के काम आता था। उस समय इस्पात, मुख्यत उच्च-कार्बन मात्रावाला इस्पात सीमेण्टीकरण विधा से तैयार किया जाता था। एतदर्थ पिटवाँ लोहे को बन्द आधानो में चारकोल के साथ उच्च ताप तक तप्त किया जाता था। इस इस्पात में धातुमल (स्लैग) की मात्रा अधिक होने के कारण यह एक मम श्रेणी का नही होता था जिसके कारण विशेष प्रयोजनो में प्रयुक्त नही हो सकता था। १७४२ में शेफील्ड के बेंजामिन हण्ट्समैन नामक एक घडीसाज ने, जिसका इस्पात-निर्माण से कोई सबन्ध न था, अपनी कमानियों की श्रेणी से असतुष्ट होकर द्रव्य को एक उष्मसह मूषा (क्रुसिब्ल) मे गलाया और उससे उसका कष्ट दूर हो गया। यह मूषा विधा लघु पैमाने पर सर्वोत्तम श्रेणी के इस्पात बनाने के लिए अब भी प्रयुक्त होती है। द्रावित धातु को ढालकर एक पिण्डक (इन्गॉट) बनाया जाता और उसका तापकुट्टन (फोर्जिंग) अथवा बेल्लन (रोलिंग) करके उसे वाछित आकार का बना लिया जाता। इस उन्नत पदार्थ को अनेक वर्षो तक 'ढलवाँ इस्पात' के नाम से जाना जाता रहा।

आज का प्राय समस्त इस्पात द्रव्यो को मूषा, विद्युत भट्ठी, खुली चुल्ली भट्ठी तथा बेसेमर परिवर्तक (कॉन्वर्टर) में गला करके तैयार किया जाता है। पुरानी रीतियो की इससे कोई तुलना ही नही की जा सकती, क्योंकि आजकल इस्पात के विशाल कारखानो मे प्रति वर्ष लाखों टन इस्पात उत्पन्न हो रहा है।

गत वर्षो में कुछ अन्य धातुओं का महत्त्व इस्पात से अधिक बढ गया है और उनका उत्पादन भी अधिक होने लगा है, क्योंकि सक्षारण-रोध, गलाई-ढलाई की सरलता, लघु घनत्व इत्यादि गुण उनमें इस्पात की अपेक्षा अधिक उत्तम होते हैं। इसी सदर्भ में ताम्र, निकेल, यशद, सीस, अलूमिनियम तथा मैग्नीसियम की मिश्रधातुओं का विकास धातुओ के आर्थिक इतिहास में सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

खनिजो और अयस्को जैसे कच्चे माल के उपचार की समुन्नत प्रविधि के बिना धातुओं का वर्तमान उत्पादन सभव ही नही हो सकता। यद्यपि ससार में कोई भी एक ऐसा राष्ट्र नही जो सभी प्रकार के वाणिज्यिक खनिजों की प्रचुर मात्रा मे सम्पन्न हो,

किन्तु ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में अनेक महत्त्वपूर्ण खनिजों की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध है और इस माने में यह ससार की किसी राजनीतिक इकाई से अधिक आत्मनिर्भर है। किसी अयस्क की धातुमात्रा निस्सारित धातु के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। साधारण समय में एक औसत लौह अयस्क में कम से कम ५०% लोहा होता है। ३० से ४० प्रतिशत लोहावाले अयस्को की भी बहुत बडी बडी खानें ससार के विविध भागो में विद्यमान हैं। उच्च श्रेणी की खानो के समाप्त हो जाने पर लोहे और इस्पात के मूल्य में वृद्धि अथवा अन्य आर्थिक परिवर्तन आवश्यक अथवा सभव होंगे। दूसरी धातुओं के अयस्को की धातुमात्रा काफी कम होती है, जैसे ३० प्रतिशत अल्यूमिनियम, १० प्र० श० यशद, २ प्र० श० ताम्र, ३ प्र० श० निकेल, १५ प्र० श० टिन, ०.०२ प्र० श० रजत तथा ०.०००२ प्र० श० स्वर्ण।

अयस्क सांद्रण—लौह अयस्क में लोहे की मात्रा अधिक होने के कारण उसे सीधे धम भट्ठी[1] में डालकर तथा प्रद्रावित करके पिग लोहा बनाया जाता है। यही पिग लोहा ढलवाँ लोहे और इस्पात के निर्माण में कच्चा माल होता है। अयस्क प्रसाधन (ड्रेसिंग) से लौह अयस्क का सांद्रण सर्वदा लाभदायक नही होता यद्यपि उसके कुछ लाभ अवश्य हैं। कुछ अयस्को का उपचार निस्तापन (कैल्साइनिंग), ऋतु-क्रिया (वेदरिंग) अथवा चुम्बकीय पृथक्करण (विशेष कर मैग्नेटाइट के लिए) के द्वारा किया जाता है। सूक्ष्म अयस्कों के उपचारार्थ सपुंजन (सिण्टरिंग), ग्रन्थामयकरण (नोड्यूलाइजिंग) अथवा ब्रिकेटीकरण विधाओं का उपयोग किया जाता है । इन क्रियाओं से अयस्क का अभिपिण्डन (ऐग्लोमरेशन) होकर ताप से उनके बडे बडे पिण्ड बन जाते हैं। इस उपचार से द्रव्यो का प्रभरण (चार्जिंग) एव प्रद्रावण (स्मेल्टिंग) सरल हो जाता है तथा भट्ठी के अन्दर की परिस्थितियाँ एकसम हो जाती हैं। आधुनिक समय के विपुल उत्पादनार्थ भट्ठियों की ये बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत सी धातुओ के अयस्को का धातुकर्म उपचार करने के पहले उनके प्रसाधनोपचार (ड्रेसिंग ट्रीटमेन्ट) द्वारा मूल्यवान् खनिज को व्यर्थ विधातुओं से अलग करना बहुत आवश्यक है। अयस्क सांद्रण के दो बडे भारी लाभ होते हैं, एक तो निरर्थक विधातु को अलग कर देने से उनके यातायात का खर्च कम हो जाता है, दूसरे विधातु रहित अयस्क को गलाने में ईंधन भी कम लगता है। खानों से प्राप्त अयस्क को उपयुक्त मशीन में कूटकर तोडा जाता है और विधातुओं को चलते हुए पट्टों पर से चुन लिया

[1] Blast furnace

जाना है। मूल्यवान् खनिज एवं विधातुओं के आपेक्षिक गुरुत्व की विभिन्नता पर आधारित गुरुत्व पृथक्करण (ग्रैविटी सेपरेशन) सान्द्रण की एक मुख्य विधा है। इसके लिए अयस्क को काफी बारीक कूट लिया जाता है और तब उसे पानी के साथ मिलाकर उपयुक्त उपकरणों में डाल दिया जाता है, जिसमें भारी कण, जिन्हें सान्द्रित (कॉन्सेन्ट्रेट) कहते हैं, समुच्छिष्ट (टेलिंग्स) कहे जानेवाले हलके कणों से अलग हो जाते हैं।

अयस्क प्लवन—अयस्क सान्द्रण की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रीति तल-तनाव के सिद्धान्त पर आधारित 'प्लवन विधा' (फ्लोटेशन प्रोसेस) है। विभिन्न खनिज पदार्थों के प्रति द्रवों में भिन्न-भिन्न आसञ्जन शक्ति (ऐडहेसन) होती है और *यह तथ्य ही अयस्क पृथक्करण की इस विधा का मूल आधार है।* विविध धात्त्वीय सल्फाइडों और तेल के बीच का तल-तनाव स्फटिक (क्वार्टज) और कैल्साइट जैसी विधातुओं और उसी माध्यम अर्थात् तेल के बीच के तल-तनाव से कहीं अधिक होता है। मूल 'ऐलमोर विधा' में सल्फाइड और विधातुओं की लेपी को तेल और जल में मिलाकर विक्षोभित किया जाता था। इसके बाद मिश्रण को कुछ समय तक छोड देने से सल्फाइड सहित तेल पानी के ऊपर प्लावित हो जाता था। प्लवन की परिस्थितियों में अदल-बदल करके विविध अयस्क-खनिजों का बड़ा स्वच्छ पृथक्करण किया *जा सकता है और इस प्रकार मिश्रित अयस्कों का क्रियाकरण आर्थिकतः सम्भव हो* सका। विधातु से पृथक होकर फेन के रूप में जल-तल के ऊपर खनिजों के प्लवन की यह नयी विधा पुरानी विधा से एकदम उलटी है, क्योंकि इसमें भारी कण ऊपर प्लावित होते हैं जब कि पहले वे नीचे बैठ जाते थे। अधिकांश प्लवन रीतियों में तेल-जल का मिश्रण इस्तेमाल किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य नियंत्रक प्रतिकर्मक भी डाले जाते हैं। कुछ ऐसे प्रतिकर्मक भी प्रयुक्त होते हैं जो किसी जटिल अयस्क में विधातु के पृथक्करण के अलावा दो अथवा अधिक खनिजों को भी एक दूसरे से अलग अलग कर देते हैं। *इस विधा को चुनावशील (सेलेक्टिव) अथवा 'अवकल प्लवन'* (डिफरेन्शल फ्लोटेशन) कहते हैं। इससे लोहा, सीस, यशद और ताँबा वाले जटिल अयस्कों के उपचार से सम्बन्धित समस्याओं के हल में बड़ी सहायता मिली है। सान्द्रण विधा की उत्पत्तियों के धातुकर्म-उपचार में प्लवन रीति के कारण आमूल परिवर्तन हो गये हैं। ऑक्साइड अयस्कों का उपचार बहुधा इस रीति से नहीं किया जाता। यशद अयस्कों के प्रसाधन (ड्रेसिंग) के लिए 'गुरुत्व' एवं 'प्लवन' दोनों रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं।

जल-धातुकर्मिकी (हाइड्रोमेटलर्जी) में अयस्कों के 'उद्विलयन' (लीचिंग) जैसी आर्द्र विधाओं का वर्णन है, इसमें अयस्कों को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल जैसे सस्ते

विलायकों द्वारा उपचारित करने से उनकी धातुएँ विलीन हो जाती है और फिर उनमें से पुन धात्वीय दशा में प्राप्त कर ली जाती है। इससे साद्रण का बहुत-सा खर्च बच जाता है। उद्विलयन अर्थात् लीचिंग विधा से अयस्को की वडी वडी मात्राओ का उपचार किया जाता है, विशेषकर निम्न श्रेणीवाले अयस्को के लिए यह विधा अधिक उपयुक्त मानी जाती है। साद्रण विधा की उत्पत्तियो को "साद्रित" (कॉन्सेन्ट्रेट) कहते है जिनमें अधिकाशत बहुमूल्य धातु और थोडी सी विधातु होती है, और क्षेप्य "समुच्छिष्ट" अर्थात् 'टेलिंग्स' में विधातु की अधिकाश राशि तथा अप्राप्त खनिज की कुछ मात्रा रह जाती है। कभी कभी एक तीसरी राशि भी प्राप्त होती है जिसे "मध्यक" अर्थात् 'मिड्लिंग्स' कहते है। इसमें मूल्यवान् खनिज की अधिक मात्रा रह जाती है अत इसे फेंका नही जा सकता बल्कि इसका पुन साद्रण किया जाता है। *विधातुओं का पूर्ण पृथक्करण नही हो पाता, किन्तु उन्नत रीतियों के द्वारा समुच्छिष्टों* (टेलिंग्स) में होनेवाली खनिजो की हानि अवश्य कम की जा सकी है। वर्षों पूर्व जो टेलिंग्स व्यर्थ समझ कर छोड दी गयी थी, उनके ढेर के ढेर का फिर से सांद्रण करके उनमें से बहुमूल्य धातु निकाली जा सक. है। यह वर्तमान अयस्क-प्रसाधक की बुद्धि और चतुराई का उत्तम दृष्टान्त है।

धातुओं और मिश्रधातुओ की रचना—शेफील्डके डाक्टर एच० सी० सॉर्बी ने १८६४ में धात्विकी (मेटैलोग्राफी) विज्ञान का प्रारम्भ किया था और आज धातुओ *का सूक्ष्मदर्शी परीक्षण ससार की समस्त धातुकर्मिकी प्रयोगशालाओं में दैनिक प्रयोग* हो गया है। गत कुछ वर्षों में अनुशीलन की नवीन भौतिक रीतियो के आविष्कार से धात्विकी अनुसन्धान में व्यापक रूपान्तरण हो गया है। एक्स-किरणो की सहायता से केलास रचना का निर्धारण इनमें से प्रमुख परिवर्तन है। इससे धातुओं एव मिश्रधातुओं की रचना सबन्धी विचारो में एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया है। सूक्ष्मदर्शी में देखने से पता लगता है कि धातुएँ भी केलास कणो (क्रिस्टल ग्रेन्स) के समुदाय की ही बनी है। किसी विशुद्ध धातु में सभी कण एक ही जैसे होते है क्योंकि वे एक ही प्रकार के परमाणुओ के एक ही ढग से निपूरित (पैक्ड) होने से बने होते है। किन्तु कुछ मिश्रधातुओ में विभिन्न प्रकार के केलास होते है। धातुओं और मिश्र*धातुओं में अधात्वीय चीजों की काफी मात्रा होती है, जिनमें से कुछ का उनके गुणो* पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है और कुछ का वडा अनुकूल। कुछ विशेष तरग-दैर्घ्य (वेव लेंग्थ) वाले प्रकाश की सहायता से सूक्ष्मदर्शी में धातु-रचना देखी जा सकती है। किन्तु इस रीति से सूक्ष्मदर्शी के द्वारा तरग-दैर्घ्य के आयाम (डाइमेन्शन) के बराबर अथवा उससे छोटे किसी भाग का स्पष्ट दर्शन नही होता। इसके लिए तो एक्स-

किरणों का प्रयोग करना पड़ता है। १८९५ में रंतजन ने इन किरणों का आविष्कार किया था लेकिन उस समय उसकी प्रकृति अज्ञात होने के कारण उसे एक्स-किरण के नाम से संबोधित किया गया। किन्तु उसके थोड़े समय बाद उसकी प्रकृति स्पष्ट हो गयी और साधारण प्रकाश से उसका विशेषीकरण भी किया जा सका। १९१२ में प्रोफेसर वान लौ द्वारा किये गये गणितीय विश्लेषण के फलस्वरूप एक्स-किरणों का रहस्योद्घाटन हुआ। वान लौ ने यह कहा था कि अगर एक्स-किरणों की प्रकृति साधारण प्रकाश जैसी है और केवल उनका तरंग-दैर्घ्य छोटा है तो उनका भी तटनमन (डिफ्रैक्शन) संभव है बशर्ते एक अति सूक्ष्म तटनमन झर्झरी (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग) तैयार की जा सके। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि चूंकि एक केलास की नियमित रचना होती है और साथ ही साथ उसके संघटक परमाणुओं के बीच में दूरी भी होती है, इसलिए उसके द्वारा यह क्रिया उत्तम ढंग से की जा सकती है। सर विलियम ब्रैग, उनके सुपुत्र सर लारेन्स ब्रैग और अन्य कार्यकर्ताओं ने इसी दिशा में बड़ा काम किया और एक विद्युत्-चुम्बकीय घटना के रूप में एक्स-किरणों का असंदिग्ध स्पष्टीकरण किया गया। धातुओं पर एक्स-किरणों के टकराने से उनके प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) का निरीक्षण करने से धातुओं के अन्तरस्थित परमाणुओं की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना संभव है। धातुओं के अन्दर परमाणुओं का एक दिक् प्रजाल (स्पेस लैटिस) होता है और विभिन्न धातुओं में इस दिक् प्रजाल का विन्यास भिन्न-भिन्न होता है। किन्तु इन प्रजालों के प्रकार भी बहुत ही सीमित हैं। धातु केलासों में रचना इकाइयों (स्ट्रक्चरल यूनिट) का बड़ा नियमित विन्यास (अरेंजमेण्ट) होता है। ये इकाइयाँ परमाणुओं अथवा उनके समूहों की होती हैं, जो परम सुनिश्चित शैली से विन्यस्त अर्थात् क्रमबद्ध होते हैं। इसी विन्यास की तीनों दिशाओं में बारबार पुनरावृत्ति होती है। अत यह कहना यथार्थ है कि रचना-इकाइयों का नियमित विन्यास ही एक केलास का रूप धारण कर लेता है। अधिकांश धातुओं का केलासन निम्नलिखित तीन सरल प्रजालों की शैली से होता है—(१) मुख-केन्द्रित घन (फेस सेन्टर्ड क्यूबिक), (२) काय-केन्द्रित (बॉडी सेन्टर्ड) घन, तथा (३) निकट निपूरित षड्भुजीय (क्लोज़ पैक्ड हेक्ज़ागोनल)। प्रथम वर्ग में ताम्र, अलूमिनियम, रजत, स्वर्ण, निकेल और *गामा-लौह सदृश अधिक तन्य धातुएँ होती हैं, तथा दूसरे वर्ग में अल्फा-लौह* कोमियम, टंग्स्टन, मॉलिब्डनम इत्यादि जैसी भंगुर धातुएँ होती हैं। यशद, कैडमियम, मैग्नीसियम और बेरीलियम के केलास तीसरे वर्ग के होते हैं। पदार्थों के एक्स-किरण विश्लेषण से केलास के परिमाण, केलास इकाइयों के अनुस्थापन (ओरियेण्टेशन) की रीति, केलास प्रजाल (क्रिस्टल लैटिस) पर विजातीय द्रव्यों के प्रभाव और शीत-

रूपण (कोल्ड वर्क) तथा तापशीतन (ऐनीलिंग) के प्रभाव का विविध ज्ञान प्राप्त होता है। वेल्लन (रोलिंग) जैसे शीतरूपण (कोल्ड वर्क) से केलास इकाइयों के अधिमान्य विन्यास (प्रिफरेन्शल अरेंजमेण्ट) के कारण केलासों का अनुस्थापन हो जाता है। तापशीतन में ताप के प्रभाव से केलास इकाइयों का पुनर्विन्यास हो जाता है, इससे उनका मृदुलन एव सायाम (इक्वी-एक्स्ड) रचना हो जाती है। केलासों के एक्स-किरण विश्लेषण से पुनर्केलासन, काल-कठोरभवन (एज हार्डेनिंग), निर्वाप-कठोरभवन (क्वेंच हार्डेनिंग) इत्यादि घटनाओ के अध्ययन में विशेष सहायता मिलती है। यह मिश्रधातु सहितो में कला साम्यावस्था (फेज इक्वीलिब्रियम) के निर्धारण की भी बडी आशु और यथार्थ रीति है। स्वर्ण-ताम्र मिश्रधातु जैसी कुछ *मिश्रधातुओं में होनेवाले परिवर्तनो ने धातुकर्मज्ञो को काफी परीशान कर रखा था,* किन्तु अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह परिवर्तन अक्रमवद्ध विन्यास से एक प्रजाल के अन्दर क्रमबद्ध विन्यास का है जिसमें अन्य लक्षण अपरिवर्तित रहते हैं। इन अनुसन्धानो का बडा व्यापक महत्त्व है और इनसे मिश्रधातु सबन्धी अनेक विधाओं पर प्रकाश पडा है जिससे उनके प्राविधिक गुणो की बडी उन्नति की जा सकी है।

रेडियोग्राफी की सहायता मे सधानो (वेल्ड्स) और ढली वस्तुओं में शून्य स्थानों एव धम छिद्रो (ब्लास्ट होल्स) के परीक्षण में एक्स-किरणो का प्रयोग उसका दूसरा लाभ है। इस रीति में धातु न्यादर्श में से होकर एक्स-किरणावली पार कराने से एक छायाचित्र बन जाता है। एक्स-किरणो की उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त वोल्टता जितनी ऊँची होगी उतनी ही उन किरणों में प्रवेशी शक्ति अधिक होगी। आदर्श परिस्थितियो में ये किरणें धातुओं के अन्दर ५ इच तक प्रवेश कर जाती हैं।

एलेक्ट्रान तटनमन (डिफ्रैक्शन) द्वारा धातु-तलो की रचना के परीक्षण से उनमें महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। इनसे गैल्वनीकरण तथा सक्षारित तलो इत्यादि जैसे विद्युत्-रोपित (एलेक्ट्रो डिपॉज़िटेड) एव तप्त निमज्जिन (हॉट डिप्ड) आवरणों की प्रकृति के बारे में भी काफी ज्ञान प्राप्त हुआ है। जब एलेक्ट्रानो का एक दण्ड *(बीम) किसी तल से टकराता है अथवा किसी पतले स्तर में से गुजरता है तो तटनमन* (डिफ्रैक्शन) होता है और द्रव्य विशेष के परमाणुओं के नाभिको द्वारा एलेक्ट्रानो का प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) हो जाता है। इस बात में एक्स-किरण तटनमन से एलेक्ट्रान तटनमन भिन्न होता है क्योकि एलेक्ट्रान दण्ड तो किसी तल के अन्दर मिलीमीटर के लब्वश से अधिक प्रवेश नही कर सकता जब कि अपने अधिक तरग-दैर्घ्य के कारण एक्स-किरणें अपेक्षाकृत अधिक अन्दर तक प्रवेश कर सकती हैं। जब रासायनिक सयोजन, उत्प्रेरण (कैटेलिसिस) तथा अन्य इसी प्रकार की घटनाओ को तल घटना

(सर्फेस फिनामिना) के रूप में देखा जाय तो तल-विश्लेषण का प्राथमिक महत्त्व तुरन्त समझ में आ जायगा। आज के एलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार से रचनाओं का १०,००० गुने से अधिक आवर्धन (मैग्नीफिकेशन) प्राप्त करना सभव हो गया है।

लोहा और इस्पात—इस्पात, विकार्वनीकृत लोहा (इनूगाट आयरन), पिटवाँ लोहा तथा ढलवाँ लोहा इत्यादि पिग लोहे से बनाये जाते हैं। पिग लोहा लौह अयस्कों को धम भट्ठी में प्रद्रावित करके तैयार किया जाता है। एक शताब्दी पूर्व इस प्रकार का प्रद्रावण बड़े लघु पैमाने पर प्रारम्भ किया गया था। किन्तु आज की धम भट्ठी एक अति विशालकाय यत्र है जिसकी साजसज्जा सचमुच भयकर परिमाणवाली होती है। लौह अयस्क से सीधे इस्पात उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया था किन्तु वह आर्थिक दृष्टि से सफल नहीं हुआ। फिर भी अभी उस दिशा में काम करने की बडी सभावनाएँ हैं। धम भट्ठी में प्रद्रावण (स्मेल्टिंग) के लिए ईंधन, अयस्क और द्रावक (फ्लक्स) का प्रभरण (चार्जिंग) भट्ठी के सिरे पर से किया जाता है और उसके पेंदे से तप्त वायु धौंकी जाती है। वायु से कोक ईंधन का दहन होता है जिससे रासायनिक प्रतिक्रियाओं तथा उत्पत्तियों के द्रवण के लिए पर्याप्त उष्मा प्राप्त होती है। इन्हीं प्रतिक्रियाओं में उत्पन्न गैसों से अयस्क का अपचयन[1] होकर धातु बन जाती है, जो गैस-धातु प्रतिक्रिया की सहायता से कार्बन की पर्याप्त मात्रा अवशोषित कर लेती है। इसी के साथ-साथ चून पत्थर वाला द्रावक अयस्क की अशुद्धियों को गला कर धातुमल (स्लैग) के रूप में परिणत कर देता है। प्रतिक्रियाओं में उत्पन्न गैसें तो भट्ठी के सिरे से बाहर निकल जाती हैं किन्तु तरल उत्पादन अर्थात् पिग लोहा और धातुमल नीचे चुल्ली में एकत्र हो जाते हैं और उसमें से वे टैप द्वारा चुआ लिये जाते हैं। इस विधा के दोनों उपजात, धम भट्ठी धातुमल और गैस, काफी मूल्यवान् होते हैं और अच्छे पैमाने पर उनका उपयोग होता है।

अयस्कों को यत्रों में कूट और चाल कर उनके श्रेणीकरण का प्रबन्ध होता है। आवश्यक परिमाण के कणों को अलग कर लिया जाता है तथा अति सूक्ष्म कणों को भट्ठी में डालने के पहले अभिपिण्डित (ऐग्लोमरेट) कर दिया जाता है। इस प्रकार के मज्जीकरण (साइजिंग), और सूक्ष्म पदार्थों के निरसन तथा विद्युत नियत्रण से यात्रिक प्रभरण[2] की उन्नत रीतियों से पिग लोहे का उत्पादन बढ़ाने और कोक की खपत कम करने की दिशा में विशेष प्रगति हुई है।

[1] Reduction [2] Mechanical charging

सूक्ष्म अयस्क, माद्रित, वाहिनी धूलि (फ्लू डस्ट), मिल की शल्कें (स्केल) तथा माक्षिक अवशिष्टो जैसे द्रव्यो के सपुजन (सिन्टरिंग) से काफी सतोषजनक पदार्थ प्राप्त हो जाता है। और आजकल लौह धम भट्ठियो के प्रभरण में कुछ प्रतिशत सपुज मिलाने की प्रथा चल पडी है। सपुजन सयत्र में अयस्क को आर्द्रता की एक नियमित मात्रा तथा ६—८% कोक समीर (ब्रीज) के साथ मिलाने से प्राप्त मिश्रण को प्रज्वलित (इग्नाइट) कर दिया जाता है, और सयत्र के नीचे लगे पखो से हवा खीच कर द्रव्य को सपुजित किया जाता है। ड्वाइट-लायड, ग्रीनवाल्ट तथा ए० आई० डी० प्रणालियों में सपुजन विधा का प्रचलन है। ब्रिकेटिंग तथा ग्रन्थामयकरण (नोड्यूलाईजिंग) अभिपिण्डन की अन्य रीतियाँ हैं।

पिग लोहा के उत्पादन मे इग्लैण्ड अग्रणी रहा। १७३५ में डार्बी ने कोलब्रुक डेल, ऑपशायर में प्रथम बार कोक इधन लगाकर अयस्को का सफल प्रद्रावण किया था। १८२८ में नील्सन ने तप्त वायु भ्राष्ट्र (हॉट एयर ब्लास्ट) का आविष्कार किया था, जिसका प्रयोग १८३० में क्लाइड के लोहे के कारखाने में किया गया। १८५० में पैरी ने 'एव बेल' में धम भट्ठियों के सिरे से द्रव्यो के प्रभरण के लिए घण्ट एव शकु (बेल एण्ड कोन) युक्ति निकाली थी। और १८५७ में मिडिल्सवरो के काउपर ने तप्त धम स्टोव का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। लौह-प्रद्रावण की प्रगति के ये युगान्तर चिह्न है, क्योकि कालान्तर में इन्ही आविष्कृतियो में परिवर्तन सशोधन करके सारे ससार की आधुनिक भट्ठिया बनायी गयी है।

जैसे जैसे भट्ठियों के आकार में वृद्धि होती गयी वैसे वैसे प्रभरण के लिए द्रव्यों की विशाल राशि को उसके सिरे पर पहुँचाना बडी गहन समस्या होती गयी, जिसे हल करने के लिए आधुनिक भट्ठियो के यात्रिक प्रभरण को 'डब्ल स्किप ह्वायस्ट' रीति निकाली गयी, जिसका नियत्रण विद्युत् द्वारा होता है। आज की इस रीति और कुछ वर्ष पुरानी भाप ह्वायस्ट रीति में कोई सादृश्य नही है। माल उठाने की ५५० फुट प्रति मिनट चाल तथा स्किप कारो की २०० घन फुट धारिता तो आधुनिक भट्ठियो के लिए अनिवार्य मानी जाती है। इसके लिए विशालकाय चालन (ड्राइविंग) मोटरो और बड़ी मजबूत बनावट की आवश्यकता होती है। स्किप को भट्ठी के सिरे तक बडी शीघ्रता से उठाया जाता है और वहाँ वह स्वत रुकती और खाली हो जाती है और नीचे आकर पुनर्भरण के लिए रुक जाती है। भट्ठियो का अयस्क की उपलब्धि के अनुसार यथासभव पूर्ण प्रभरण किया जाता है, क्योकि इससे उत्पादन स्तर ऊँचा रहता है और ऊपरी व्यय में काफी कमी हो जाती है। आजकल भट्ठो बुझाने के लिए 'डब्ल बेल' और 'हापर' या

प्रयोग किया जाता है क्योंकि इसमें अगली बार प्रभरण के समय गैसों की हानि नहीं होने पाती। आधुनिक भट्ठियों में स्वत-चालित घूर्णन वितरक शीर्ष (रोटेटिंग डिस्ट्रीब्यूटर टाप) लगा रहता है; मैक्की अथवा ब्राउन डिस्ट्रीब्यूटर इसके उदाहरण हैं। स्किप में से प्रभार इन्ही वितरकों में आता है जो पूर्व निश्चित कोण पर घूम कर उसका एकसम वितरण करता है। धातुओं को साँचों में ढालने की गति में भी वृद्धि और खर्च में कमी की गयी है। इसके लिए ब्रैसर्ट तथा उहलिंग मशीनो जैसी पिग लौह ढलाई की मशीनें इस्तेमाल की जाने लगी हैं। इन मशीनों की प्रयुक्ति से सुन्दर और स्वच्छ ढलाई होने लगी है क्योंकि इससे द्रव्यों में समायी हुई बालू निकल जाती है तथा उनकी बनावट एकरूप हो जाती है। भट्ठी गैस की सफाई भी सभी कारखानो में एक बहुत बडा काम होता है क्योंकि इसी की सफलता पर सम्पूर्ण सयत्र की आर्थिक व्यवस्था निर्भर होती है। गैस में से धूलि साफ करने के लिए आर्द्र रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं। इनके लिए धावन स्तम्भो अथवा वियोजको (डिसइण्टिग्रेटर) का प्रयोग किया जाता है। शुष्क रीति मे थैला छनाई (बैग फिल्ट्रेशन) अथवा विद्युत स्थैतिक अवक्षेपण (एलेक्ट्रोस्टैटिक प्रेसिपिटेशन) अथवा इन दोनो की मिली-जुली विधा का प्रयोग किया जाता है। विद्युत स्थैतिक अवक्षेपण के सबन्ध में सर ऑलिवर लाज ने इग्लैण्ड में तथा कॉट्रेल ने सयुक्त राज्य अमेरिका में बडा काम किया, जिसके फलस्वरूप गैस स्वच्छीकरण में विशेष उन्नति हुई और आजकल तो धम भट्ठी गैस के अतिरिक्त अनेक अन्य उद्योगो में गैसो में से धूलि और धुआं साफ करने के लिए 'लॉज-कॉट्रेल विधा' एक बडी सफल एव प्रतिष्ठित विधा के रूप में अपनायी जाती है। इस विधा का सिद्धान्त यह है कि धूलि भरी गैस को जब ऐसे नलो की एक श्रेणी से पार कराया जाता है, जिसमें अति उच्च वोल्टता (५०,००० वोल्ट) पर चार्ज किये धातु विद्युदग्र आलम्बित रहते है, तो विसर्जन (डिस्चार्ज) और सग्राही विद्युदग्र (रिसीविंग एलेक्ट्रोड) के बीच अत्यन्त उच्च विभव भेद (पोटेन्शियल डिफरेन्स) उत्पन्न हो जाता है और दोनो विद्युदग्रो के बीच का स्थान गैसीय आयनो से परिपूर्ण हो जाता है, धूलि कण विद्युत स्थैतिक-आविष्ट (चार्ज्ड) हो जाते हैं तथा बाह्य नली की ओर चालित होते हैं, उनकी चाल बल की प्रचण्डता (इन्टेन्सिटी ऑफ फोर्स) एव गैस की वेग पर निर्भर होती है। धूलि रैपर गियर द्वारा निरमित हो कर अवक्षेपको (प्रेसिपिटेटर्स) के निचले भाग में लगे अधोबापो (हॉपर्स) में एकत्र हो जाती है। ०·१ μ (माइक्रॉन) परिमाण से निम्न सूक्ष्मता वाले धूलि कणो को सूक्ष्मदर्शी में देखने पर उनमें स्पष्ट रूप से ब्राउनियन चाल दिखाई पडती है, इनका निरसन केवल बडे सयत्र में ही

सभव होता है। आधुनिक गैस सफाई यत्रो की सहायता से गैसो में धूलि की प्रति घन मीटर ५—१० *ग्राम मात्रा घटा कर ०·००२५ ग्राम तक कर दी जा सकती है।* इससे तप्त घम स्टोव इत्यादि का क्रियाकरण अधिक एकसम हो जाता है तथा Na_2O तथा K_2O सदृश क्षारो के द्वारा अग्नि-ईंटो के अस्तर का क्षरण नहीं हो पाता।

एकान्तर चिति (चेकर वर्क) की प्ररचना में सशोधन करके तप्त धम स्टोव की कार्यक्षमता उन्नत की गयी है, इसमें उसकी उष्मा सामर्थ्य भी बढ गयी। ब्रैमर्ट तथा अन्य उच्च सामर्थ्यवाले स्टोवो के द्वारा गैसो में बडा प्रक्षुब्ध प्रवाह (टर्बुलेण्ट फ्लो) आ जाता है, क्योकि मुख्य चिति (चेक वर्क) में विशिष्ट आकार की पूरक ईंटें लगाने से ईंट की झझरीदार दीवार की झझरियो का आयाम क्रमश स्टोव के नीचे की ओर *कम होता जाता है, इसी से स्टोव के ठढे भाग में गैसो का वेग प्रबल हो जाता है।* स्टोव ज्वालकों में दहनार्थ हवा के स्वत नियमन का प्रबन्ध होता है जिसमें उसकी कार्यक्षमता अधिकतम हो जाती है। जर्मनी में तप्त धम स्टोवो के स्थान पर धातु के बने पुनर्जनित्रो (रीजनरेटर) के उपयोग करने के प्रयत्न एव परीक्षण किये गये हैं। यदि परीक्षणो से उनका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ तो स्वत चालित इस्पात-नली तापको के लिए बहुत कम स्थान लगेगा तथा उनका क्रियाकरण (आपरेशन) भी सरल होगा।

धम भट्ठी गैस का उष्मीय मान (कैलारिफिक वैल्यू) प्रति घन फुट लगभग *१०० बी० टी० यू० (ब्रिटिश थर्मल यूनिट) होता है। अत यह कोक चूल्हो में अग्नि-*प्रज्वलन तथा भाप उत्पन्न करने के लिए उत्तम ईंधन का काम करती है। यह दर्वियो (लैडल) को तप्त करने तथा मिल भट्ठियो एव उष्मोपचार भट्ठियो के लिए भी काम में आती है; और विशेषकर जब प्रतिघन फुट लगभग ५७० बी० टी० यू० वाली कोक ऑविन गैस के साथ मिला दी जाती है तो यह इस्पात बनानेवाली बडी बडी खुली चुल्ली भट्ठियो को तप्त करने के लिए भी इस्तेमाल की जाती है। कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत इत्यादि की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन में प्रति भट्ठी पिग लोहे का उत्पादन कम है। इसका मुख्य कारण यह है इग्लैण्ड के इस काम में अगुआ *होने से वहाँ पर अब भी प्रारम्भिक छोटी छोटी भट्ठियाँ काम में आ रही हैं,* जब कि वहाँ के कार्यों एव अनुभवो से लाभ उठाकर अन्य स्थानो में बडी बडी एव उन्नत भट्ठियाँ बना ली गयी हैं, दूसरा कारण वहाँ का निम्न श्रेणी अयस्क भी है, जो कि प्राप्य होने पर उनके साथ आयातित उच्च श्रेणी अयस्क भी मिलाये जाते हैं। अन्य *देशो की विशाल भट्ठियाँ लगभग १०० फुट ऊँची होती हैं और प्रतिदिन १००० टन पिग लोहा गलाती है।*

एक समय था जब धम भट्ठियों के धातुमल व्यर्थ समझे जाते थे, किन्तु अब वे सड़क बनाने मे टार खण्डाश्म (मैकाडम) के लिए प्रयुक्त होने लगे है, रेलो के बीच के रोड़े भी आजकल इसी के होते है तथा धातुमल ऊन (स्लैग ऊन) के निर्माण मे इनका प्रयोग होता है। धातुमल ऊन उष्मा एव ध्वनि पृथक्कारक की तरह इस्तेमाल किया जाता है। अन्य देशो मे जहां कच्चे माल मँहगे पड़ते है वहां पोर्टलैण्ड सीमेण्ट के स्थान पर यह हाइड्रालिक सीमेण्ट के लिए काम आता है, तथा धातुमल ईंटे, और चूर्णक खाद भी इसका बनता है। कंकरीट के एक सघटक के रूप मे भी इसका इस्ते-माल होता है।

"हेमैटाइट" पिग लोहे की एक श्रेणी है जिसकी गधक और फास्फोरस मात्राएँ कम होती है। यह इस्पात-निर्माण की अम्ल विधा के उपयुक्त होता है। दूसरी श्रेणी को "फौण्ड्री" कहते है, जो ढलवा लोहे के लिए विशेष रूप मे काम आती है, और तीसरी श्रेणी "बेसिक" होती है जो इस्पात बनाने की पैठिक विधा मे काम आती है। कोक ईधन से तापित कुपोला भट्ठी में अथवा चूर्णित ईधन या तेल से तापित घूर्णन भट्ठी में पिग लोहे की विशेष श्रेणी को गला करके ढलवाँ लोहा बनाया जाता है। भट्ठी में पैठिक उष्मसह पदार्थो का अस्तर लगा कर पैठिक कुपोला मे उन्नति की गयी है, जिसमें द्रावित लोहे मे फास्फोरस और गधक की मात्राएँ कम की जा सकी है। कठोर श्वेत ढलवा लोहे को मृदु एव घत्रण योग्य बनाने के लिए उसका तापशीतन (ऐनीलिंग) आवश्यक होता है, इसकी दो विधाएँ है—'व्हाइटहार्ट' तथा 'ब्लैकहार्ट'। मृदुकृत ढलवाँ लोहे को 'घातवर्घ्य ढलवा लोहा' (मैलियेब्ल कास्ट आयरन) कहते है। बहुत जगह यह मृदु इस्पात के स्थान पर भी प्रयुक्त होता है, विशेषकर जटिल यन्त्रो के छोटे छोटे भाग बनाने मे। इसका सन्तापन और ढलाई की सरलता इसके विशेष गुण है।

इस्पात लोहा-कार्बन की मिश्रधातु है जिसमे कुछ अन्य तत्त्व भी लगे मिले रहते , इसमे १.५% से भी कम कार्बन होता है। मिश्रधातु इस्पात मे कार्बन के लावा एक या अधिक अन्य तत्त्व भी होते है, जिनका अनुपात केवल इतना रखा जाता है जिसमे उसके लाभकारी गुण उन्नत हो जायँ। कुछ दशाओ में कार्बन की आवश्यकता नही पड़ती, और मृदु इस्पात तथा मिश्रधातु इस्पात मे तो केवल ०.०३% ही कार्बन होता है, किन्तु अधिकाश इस्पातो मे वाछित गुण एव प्रकृति उत्पन्न करने के लिए कार्बन का ही आश्रय लेना पड़ता है। आजकल इस्पातो की असाधारण संख्या प्राप्य है और बहुत से नये नये इस्पात बनते जाते है, जिनका अधिकाश श्रेय ब्रिटिश धातु-कर्मज्ञो को है।

इस्पात-निर्माण की दो महती रीतियाँ हैं—खुली चुल्ली (ओपेन हार्थ) विधा और बेसेमर विधा। मगार का अधिकांश इस्पात इन्हीं रीतियों से तैयार किया जाता है। इन दोनों विधाओं में सिलिकान, कार्बन इत्यादि संघटक तत्वों का ऑक्सीकरण करके पिग लोहे का परिष्करण किया जाता है। दोनों विधाओं में से प्रत्येक में दो सुस्पष्ट रीतियाँ होती हैं—अम्ल रीति और पैठिक रीति। अम्ल रीति से उच्च सिलिकॉन तथा निम्न गंधक और फास्फोरस मात्रावाले पिग लोहे का परिष्करण होता है; भट्ठियों के अस्तर सिलिका के बने होते हैं और जो धातुमल निकलता है उसमें गंधक और फास्फोरस नहीं निरसित होता। पैठिक भट्ठियों के अस्तर डोलोमाइट के बने होते हैं तथा धातुमल में चूने की अधिकता होती है। इस धातुमल द्वारा क्रमशः कैल्सियम सल्फाइड और कैल्सियम फास्फेट के रूप में गंधक और फास्फोरस अवशोषित होते हैं। पैठिक भट्ठियों में अधिक अशुद्ध और सस्ते पिग लोहे तथा क्षेप्य इस्पात का परिष्करण होता है। अधिकांश इस्पात पैठिक विधा से ही उत्पन्न होता है। मूषा (क्रुसिब्ल) और विद्युत् विधाओं जैसी अन्य विधाओं में क्षेप्य इस्पात को गलाकर इस्पात बनाया जाता है। पैठिक विद्युत भट्ठियों में उच्च श्रेणी का परिष्करण होता अवश्य है किन्तु प्रारम्भिक द्रव्य अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध होते हैं।

सीमिन्स नामक जर्मन इंजीनियर के प्रयास से खुली चुल्ली (ओपेन हार्थ) विधा में बड़ी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। उन्होंने इस्पात की भट्ठियों में उष्मा मरक्षण की पुनर्जनन प्रणाली निकाली। इससे दहन की उत्पत्तियों से ही पुनर्जनित्रों को तप्त कराने के बाद ही उन्हें चिमनी के द्वारा बाहर छोड़ा जाता है। गैसीय ईंधन और समय समय पर प्रवेश करनेवाली वायु को उल्टी दिशा में प्रवाहित करने से वे दहनार्थ चुल्ली में मिश्रित होने से पहले ही उच्च ताप तक पूर्वतापित हो जाती हैं। इस तरह से धातु द्रव्य भी परिष्करण एवं द्रव इस्पात की ढलाई के लिए आवश्यक ऊँचा ताप प्राप्त कर लेते हैं। जब द्रव्य में के अवांछित तत्त्व ऑक्सीकृत हो जाते हैं अथवा धातुमल में रह जाते हैं तब द्रावित इस्पात को दर्वियों में चुआ लिया जाता है और धातु के विऑक्सीकरण के लिए उसमें फेरो-सिलिकान अथवा फेरो-मैंगनीज अथवा अन्य मिश्रधातु डाली जाती है। इससे या तो पूर्णतया शान्त (किल्ड) इस्पात प्राप्त किया जा सकता है, अथवा लघु-कार्बन "अर्ध शान्त", "सन्तुलित" अथवा प्रबुद्बुद (रिमिंग) इस्पात उत्पन्न करने के लिए केवल आंशिक विऑक्सीकरण किया जाता है। ये विविध प्रकार के इस्पात व्यापार के विशेष प्रयोजनों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार किये जाते हैं।

समस्त अम्ल तथा कुछ पैठिक खुली-चुल्ली भट्ठियाँ स्थिर होती हैं, किन्तु आज-

कल ३०० टन की धारितावाली अभिनमन (टिल्टिंग) अर्थात् झुकाई जानेवाली भट्ठियाँ लगी रहती है। इन विपुल धारितावाली भट्ठियो के प्रयोग से इस्पात का उत्पादन बहुत अधिक बढ गया है। इनमे से भट्ठी झुका करके द्रावित धातु को अनेक दर्वियो में चुआया जाता है। भट्ठियों को झुकाने के लिए उनके दोलकों (रॉकर) में लगे रैम को बिजली से जलाया जाता है। अभिनमन यानी झुकाई जाने वाली भट्ठियो में उत्पादन-गति की वृद्धि एव मितव्ययिता सदृश अनेक लाभ है। धम भट्ठियो में द्रावित लोहे के सग्रहण के लिए एक बडी मिश्रक (मिक्सर) भट्ठी की आवश्यकता होती है, इससे लोहे मे उष्मा सरक्षित रहती है। चार्ज मे सामान्यत क्षेप्य इस्पात तथा मिश्रक की तप्त धातु होती है, किन्तु यदि क्षेप्य इस्पात का अभाव हो तो आवश्यकता पडने पर १००% द्रावित लोहे से ही विधा चलायी जा सकती है। *प्राप्त पैठिक धातुमल, जिसकी साइट्रिक अम्ल विलेयता काफी अधिक होती है,* अपनी उच्च कैल्सियम फास्फेट मात्रा के कारण कृषि में अच्छे उर्वरक के रूप में बिकता है। खुली-चुल्ली भट्ठियो को तप्त करने के लिए प्रोड्यूसर गैस या कोक आवेन गैस *अथवा कोक ऑवेन गैस और धम भट्ठी गैस का मिश्रण काम मे लाया जाता है।* धम भट्ठियों एव कोक ओवेनो से प्राप्त स्वच्छ गैसो को बडे बडे गैस-धारको मे सगृहीत करके आवश्यकता पडने पर इस्तेमाल किया जाता है। पिछले कुछ वर्षो से ही ईंधन के प्रयोग मे मितव्ययिता बर्ती जाने लगी है और इससे लोहे और इस्पात के सस्ते उत्पादन में बहुत बड़ी सहायता मिली है। आधुनिक खुली-चुल्ली भट्ठियों मे वैज्ञानिक नियंत्रण के लिए गैस-आदान देशक (गैस-इनपुट इण्डिकेटर) तथा सलेखित्र (रेकार्डर्स) लगाये गये हैं, प्रत्येक पुनर्जनित्र (रीजेनरेटर) पर चतुर्बिन्दु सलेखित्र सहित उत्तापमापी (पाइरोमीटर) लगे रहते है तथा वाष्पित्रो इत्यादि के क्षेप्य गैसों का ताप बतानेवाले उत्तापमापी का भी उपबन्ध रहता है। धम भट्ठी संयत्रो में भी भट्ठी के विविध भागो की गैसो और ताप के सलेखन का प्रबन्ध रहता है। लेकिन *इन सबका एक दूरस्थ कमरे मे केन्द्रीय नियत्रण होता है, और गैस धारको पर प्राप्य* गैस की कुल मात्रा के देशक लगे रहते है तथा आपाती परिस्थितियो के सूचनार्थ अन्य सूचक भी लगे रहते ह।

इस्पात-निर्माण की बेसमर विधा मे द्रावित पिग लोहे मे से होकर वायु की एक धारा बहायी जाती है जिसमे सिलिकॉन, मैंगनीज, कार्बन तथा फास्फोरस का इसी क्रम से ऑक्सीकरण हो जाता है और उनके अपने अपने ऑक्साइड बन जाते है। *इन बाह्य प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न उष्मा धातु को द्रावित रखने के लिए पर्याप्त होती है।* इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि उपयुक्त तत्वो के निकल जाने से लोहे का

द्रवणाक लगभग १२०० से० से चढ़कर १५००° से० हो जाता है। हेनरी वेसमर ने १८५५ में इन तथ्यो का आविष्कार किया था; उन्ही के नाम पर इस विधा एवं सयत्र के नाम रखे गये। वेसमर सयत्र में १००० टन धारितावाला एक मिश्रक होता है जिसमें धम भट्ठी में तापित धातु रखी जाती है, इसके अतिरिक्त लोहे के परिष्करणार्थ एक परिवर्तक, एक ढलाई कुक्षि (कास्टिंग बे) और ढलाई के बाद पिण्डक (इन्गॉट) को वेलने के लिए एक वेल्लन मिल होनी है। आधुनिक खुली-चुल्ली भट्ठियो की अपेक्षा इन परिवर्तको की धारिता कम होती है, किन्तु लोहे से इस्पात बनाने के लिए केवल २३ मिनट का समय लगता है, इसलिए एक २५ टन वाले परिवर्तक से भी काफ़ी अधिक उत्पादन सभव होता है। भट्ठी की रम्भाकार काया के चारो ओर मजबूत इस्पात का एक पट्टा लगा रहता है, जिसे विवर्तनी वल्य (ट्रनियन रिंग) कहते है। इसी वलय में विवर्तनियाँ लगी होती हैं जिनके सहारे पर भट्ठी घमती है। एक विवर्तनी खोखली होती है और उसका सबन्ध धम इजन से होता है, साथ ही ऐसा प्रबन्ध होता है कि ९०° कोण पर घूमते हुए परिवर्तक में भी वायु फूंकी जा सकती है। अम्ल वेसमर विधा में परिवर्तक (कान्वर्टर) के अन्दर गैनिस्टर का अस्तर लगा होता है, जिसमें गधक और फास्फोरस की लघु मात्रा वाले पिग लोहे का क्रियाकरण होता है, क्योंकि इस विधा में उपर्युक्त दोनों अशुद्धियों का निरसन नही होता। प्रथम कुछ मिनटो मे परिवर्तक के मुंह की ज्वाला बहुत छोटी तथा बहुत तनिक दीप्त होनी है किन्तु जब सिलिकान और मैगनीज का पूर्ण आक्सीकरण हो जाता है तब ज्वाला बढकर २५ फुट लम्बी एव अत्यन्त चमकदार हो जाती है, इसका कारण कार्बन का ऑक्सीकरण होता है जिससे CO तथा CO_2 गैसें उत्पन्न होती है। हवा फूंकना प्रारम्भ होने के लगभग २३ मिनट बाद ज्वाला सहसा बुझ जाती है, इससे फुंकाई पूर्ण हो जाने का सकेत मिलता है और वर्तन को नीचे की ओर घुमा दिया जाता है, और हवा फूंकना बन्द करके इस्पात को दर्वी मे चुआ लिया जाता है। धातु के विऑक्सीकरण के लिए फेरो-मिश्रधातु की आवश्यक मात्रा डाली जाती है। अम्ल वेसमर इस्पात का यत्रण (मशीनिंग) बड़ी सुचारुता से किया जा सकता है और पेच बनाने वाले भी खुली-चुल्ली इस्पात की अपेक्षा इसको उत्तम मानते हैं, गोकि दोनो प्रकार के इस्पातो का विश्लेषण-फल सामान्यत एक ही होता है। हाल में एक नये प्रकार के इस्पात का विकास हुआ है, इसे "लेडल्वॉय" कहते हैं। खुली-चुल्ली विधा में पिण्डक ढलाई के समय इस्पात में थोडा सा सीस (लेड) डालकर यह मिश्रधातु बनायी जाती है। सीस की मात्रा से इस्पात में आशु-कर्तन (फ्री कटिंग) गुण आ जाता है।

पैठिक बेसमर विधा को *'टामस-गिल्क्राइस्ट पैठिक विधा'* तथा यूरोपीय महाद्वीप में 'टामस विधा' भी कहते हैं। इसमें परिवर्तक के अन्दर टारयुक्त डोलोमाइट का अस्तर लगा रहता है जिसमें फास्फोरिकीय पिग लोहे का परिष्करण होता है। यह विधा भी सामान्यत वैसी ही है किन्तु इसमें कार्बन के निरसन के बाद भी वायु फूंकना जारी रखा जाता है जिसमें फास्फोरस भी निकल जाय। चूंकि इस विधा में बाद वाली फुंकाई की कार्यपूर्ति का कोई बाहरी संकेत नहीं मिलता, इसलिए समय समय पर द्रावित धातु का नमूना निकाल कर यह देखना पड़ता है कि शीतन एवं छेदन (*निक्शनिंग*) के बाद उसमें रेशम जैसा भंग (*फ्रैक्चर*) कब उत्पन्न होता है। फास्फोरस, चूनेदार धातुमल में कैल्सियम फास्फेट के रूप म स्थिरीकृत हो जाता है। यह पैठिक धातुमल उर्वरक के रूप में बहुत बिकता है। पैठिक बेसमर विधाका आविष्कार सिडनी गिलक्राइस्ट टामस ने किया था। इन्होंने अपने भाई पर्सी कारलायल गिलक्राइस्ट के साथ बेसमर विधा में फास्फोरस निकालने का प्रयोग १८७६ में किया था। प्रारम्भिक प्रयोग तो ब्लैनवॉन के इस्पात कारखाने में किये गये थे और बाद में बाल्कौ वाघन के मिडिल्सबरो स्थित कारखाने में बड़े पैमाने पर प्रयोग किये गये। *सर्वप्रथम आधिकारिक फुंकाई १८७९ में की गयी और ज्यों ही इन प्रयत्नों की सफलता* लोगों को मालूम हुई, त्यों ही यूरोप के विविध धातुकर्मज्ञों और इस्पात कारखानों के प्रबन्धकों ने सर्वश्री 'बाल्कौ वाघन वर्क्स' में उसकी विधा का क्रियाकरण देखने की अनुमति मांगी। होर्डे वर्क्स के प्रतिनिधि इससे इतने सन्तुष्ट हुए कि उन्होंने तुरन्त लन्दन जाकर जर्मनी और लुक्जमबर्ग में इस विधा की प्रयुक्ति के अधिकार के बारे में टामस से बातचीत शुरू कर दी। होर्डे वर्क्स तथा राइनिशे स्टालवर्क के साथ यह समझौता हुआ कि वे *जर्मनी और लुक्जमबर्ग में टामस पेटेन्ट के अधिकारों का उपयोग कर सकें।* इसके कुछ ही सप्ताह बाद हेर मैसेनेज ने आस्ट्रिया और हंगरी में भी टामस पेटन्ट के उपयोग करने का अधिकार प्राप्त किया। १८७९ में होर्डे वर्क्स और राइनिशे स्टालवर्क दोनों कारखानों में सर्वप्रथम पैठिक बेसमर विधा का प्रयोग हुआ। १८८१ में यह विधा जर्मनी के १२ कारखानों में क्रियान्वित होने लगी, तथा १८९० में इस विधा से जर्मनी में लगभग १,५००,००० टन इस्पात का उत्पादन होने लगा और १९३५ *में बढ़कर यह राशि ७,०००,००० टन हो गयी। १९३५ में ही फ्रान्स में टामस इस्पात* का उत्पादन ४,०००,००० टन से अधिक था। इस विधा के प्रचलन से जर्मनी तथा यूरोपीय देशों के फास्फोरिकीय अयस्कों के परिष्करण से इस्पात का निर्माण सम्भव हो सका।

जब से खुली चुल्ली वाली पैठिक विधा का, विशेषकर विशाल अभिनमन भट्ठियों

सहित विधा का समारम्भ हुआ, तब से प्राय सभी देशो में बेसमर विधा[1] की जगह इसी को इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति रही है। वर्तमान काल में ससार के इस्पात के समस्त उत्पादन का ९०% इन्ही दोनो पैठिक विधाओ से उत्पन्न होता है।

हाल के वर्षो मे 'रोलिंग मिल' प्रथा में बडे बडे विकास हुए है, आधुनिक पट्टी (स्ट्रिप) मिलो में मृदु इस्पात के वेल्लन (रोलिंग) में तो विशेष उन्नति हुई है। इसमे विभिन्न चौडाइयो वाली इस्पात की पट्टियो का उत्पादन बहुत बढ गया है। आज की प्रति मिनट १,५०० फुट की वेल्लन गति से स्तार वेल्लन (शीट रोलिंग) प्रथा की कोई तुलना ही नही की जा सकती।

ढलाई एव मिश्रधातु इस्पात पिण्डकों (इन्गॉट) के लिए क्षेप्य इस्पात की थोडी थोडी मात्राओ के द्रावण और परिष्करण के हेतु विद्युत भटठियो का विकास किया गया है। 'हैरौल्ट भट्ठी' सदृश चाप भट्ठियों मे पैठिक अस्तर लगा होता है, तथा वे द्रव्य के ऊपर ऊर्ध्वाकार दिशा में आलम्बित कार्बन विद्युदग्रो द्वारा गरम की जाती है। जनित्रो से प्राप्त धारा का परिणामित्रो (ट्रान्सफार्मर) द्वारा अवक्रमण (स्टेप डाउन) करके भटठी के लिए यथावश्यकता ८०—११० वोल्टता एव ४००० ऐम्पियर वाली प्रत्यावर्ती धारा (आल्टरनेटिंग करेण्ट) उत्पन्न कर ली जाती है। इन भट्ठियो में ऑक्सीकारक तथा अपचायक धातुमलो के साथ उच्च श्रेणी का परिष्करण तथा अधात्वीय अशुद्धियो से प्राय सर्वथा रहित स्वच्छ इस्पात प्राप्त होता है। अभी हाल में विशिष्ट द्रव्यो के गलाने के लिए उच्च आवृत्ति प्रेरण (हाई फ्रिक्वेन्सी इण्डक्शन) भट्ठी काम मे आने लगी है। ऐजेक्स-नार्थप उच्च आवृत्ति प्रकार की भट्ठी का विकास मूलत अनुसन्धान कार्य एव बहुमूल्य धातुओ को गलाने के लिए किया गया था। धातु उप्मक (बाथ) मे स्वय बिना विद्युदग्रों के ही उप्मा उत्पन्न हो जाती है। २० पौण्ड द्रावण क्षमता वाली एक छोटी स्फुलिंग-अवकाश (स्पार्क-गैप) भट्ठी प्राय सभी अनुसन्धानशालाओ में लगी रहती है। पहले पहल इस भट्ठी का क्रियाकरण २०,००० चक्रों से भी अधिक ऊँचे आवर्तत्व (पीरियाडिसिटी) की धारा मे होता था, परिपथ (सर्किट) मे एक परिणामित्र (ट्रान्सफार्मर) होता है एव उत्पाद वोल्टता ६,६०० की श्रेणी की होती है। इससे सघनको के एक समूह का आवेशन[2] हो जाता है, जिनका मर्करी स्फुलिंग-अवकाश के द्वारा निरावेशन[3] होता, जब कि प्रेरक कुडल (इण्डक्शन क्वायल) मे धारा सचारित करने से उच्च आवृत्तिशाली धारा उत्पन्न

[1] Bessemer Process [2] Charging [3] Discharging

हो जाती है। आजकल विशेष इस्पातों को गलाने के लिए कारखानों में ५ टन की उच्च आवृत्ति भट्ठी साधारणतया प्रयुक्त होने लगी है। बडी बडी भट्ठियो के लिए २०,००० चक्रों की श्रेणी की आवृत्तियाँ न तो आवश्यक थी न वाछनीय बल्कि १००० से २,२५० तक चक्रों पर काम करनेवाले जनित्र काफी सुविधाजनक एव कम खर्चीले सिद्ध ए। इन साधनों से क्रियान्वित होने वाली इस्पात गलाने की भट्ठियाँ वर्षों से बिना किसी यान्त्रिक अथवा विद्युत् कठिनाई के बराबर काम कर रही है। भट्ठी की बनावट आश्चर्यजनक रूप से सरल है। इसमें एक उष्मसह पात्र होता है जिसके चारों ओर सर्पिल कुण्डल (स्पाइरल क्वायल) लपेटा रहता है, और बीच के सकरे स्थान में जिर्कोनाइट सदृश कोई उष्मा-पृथक्कारी (हीट इन्सुलेटर) भरा रहता है। लगभग ६०° से० पर कुडल और प्राय १,६५०° से० पर द्रावित धातु के बीच की दूरी केवल २—३ इच होती है। जटिल मिश्रधातु इस्पात, उच्च गति इस्पात तथा सक्षारण-रोधी इस्पात की ढलाई की श्रेणी मे निश्चित उन्नति हुई है। टग्स्टन कार्बाइड जैसे पदार्थों की ढलाई असाधारण उच्च आवृत्तिवाली छोटी भट्ठियो मे २,०००° से० ताप के ऊपर की जाती है। विद्युत् के प्रयोग से द्रव्यों का बडा शीघ्र एव नियमित तापन होता है, भट्ठी के वायुमण्डल मे किसी प्रकार का दूषण नही होता तथा यथावश्यकता ऑक्सीकरण, उदासीन एव अपचयन की परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है। इस भट्ठी का एक और विशेष लाभ यह है कि इसमें बडी मात्रा में मूषा श्रेणी (क्रुसिब्ल क्वालिटी) का इस्पात उत्पन्न करने के लिए अधि-उष्मा (सूपर हीट) प्राप्य की जाती है।

मिश्रधातु इस्पात—मिश्रधातु इस्पातो के तैयार हो जाने से विद्युत, निर्माण, कठोरकरण (हार्डेनिंग) एव कटाई प्रयोजनो के लिए औद्योगिक क्षेत्रो में एक क्रान्ति सी पैदा हो गयी है। मुशेट का स्व-कठोरकरण उपकरण इस्पात ऐसा प्रथम उपयोगी मिश्रधातु इस्पात था जिसका १८६८ मे पेटेन्ट कराया गया था, इसके कठोरकरण के लिए इसको पानी में नही बुझाना पडता था। १८८३ मे क्रोमियम इस्पात तथा हैडफील्ड का मैंगनीज इस्पात—दो और मिश्रधातु इस्पातो का आविष्कार हुआ। उसी शताब्दी के अन्त मे निकेल इस्पातो का भी आविष्कार हुआ। आधुनिक उच्च गति इस्पातों के गुण कार्बन उपकरण इस्पात (कार्बन टूल स्टील) के गुणों से सर्वथा भिन्न होते हैं, उनमे १४ से १८% तक टग्स्टन, ३ से ५% तक क्रोमियम, २ से ६% तक कोबल्ट, ०.५ से २% वैनेडियम, और सब मिलाकर ३०% तक मिश्रधातुकारक तत्त्व होते हैं। उनके उष्मोपचार में १,३००° से० से ठढा करने के लिए तेल अथवा वायु के झोंके का प्रयोग किया जाता है, तथा सस्करण (टेम्परिंग) ५५०°—६००°

से० पर किया जाता है। इनके बने उपकरण न केवल लाल ताप पर काम कर सकते हैं वरन इन उच्च तापों पर उत्तम कटाई करते हैं। अब तो इनकी सहायता से कटाई की गति में १,००० फुट प्रति मिनट तक वृद्धि की जा सकी है, किन्तु इसके उपकरणो का शिरोपण (टिपिंग) करना पडता है, उदाहरण के लिए कार्बन इस्पात का टम्स्टन कार्बाइड से शिरोपण किया जाता है। टेन्टैलम, मॉलिब्डनम इत्यादि जैसी दूसरी धातुओं के कार्बाइड भी इस काम के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। शिरोपण के लिए उपकरण के सिरो का पित्तलन (ब्रेजिंग) अथवा सधान (वेल्डिंग) किया जाना है। सादे टम्स्टन इस्पातो का अधिकतर प्रयोग स्थायी चुम्बको के लिए किया जाता है। अभी हाल मे और भी ऊँचे चुम्बकीय गुणोवाले इस्पातो का आविष्कार किया गया है। कोबल्ट-क्रोमियम और निकेल-क्रोमियम इस्पात इनके उत्तम उदाहरण हैं।

स्वर्ण एव रजत अयस्को की ढलाई के साँचो, गुटिकाधार (बाल बेयरिंग), रेती तथा 'स्टेनलेस' और मोर्चा रहित (रस्टलेस) इस्पातो के बनाने में क्रोमियम इस्पातो का प्रयोग होता है। स्टेनलेस या रस्टलेस इस्पात मे १२ से १८% तक क्रोमियम होता है। सक्षारण-रोधी अर्थात् स्टेनलेस इस्पात का आविष्कार शेफील्ड के एच० ब्रियरले ने १९१३ में किया था। इस आविष्कार को यदि इस शताब्दी के महान् आविष्कारो में गिना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस इस्पात में सक्षारण के प्रति महत्तम अवरोध उस दशा में होता है जब वायु अथवा तेल कठोरकरण मे कार्बाइडो को विलीन रखा जाय। निकेल डाल करके १८/८ तथा १३/१३ क्रोमियम-निकेल इस्पातो जैसे आस्टेनाइटिक इस्पात बनाने से सक्षारण-रोध की सीमा और बढ जाती है। इन मिश्रधातुओं को प्राय कोई भी रूप प्रदान किया जा सकता है किन्तु उन्हें बुझा कर कठोर नही बनाया जा सकता।

निकेल डालने से इस्पात का तनाव-सामर्थ्य तथा कठोरता बढ जाती है, और निकेल इस्पातो का निबन्ध क्षेत्र भी अन्य किसी मिश्रधातु इस्पात की अपेक्षा अधिक व्यापक है। निर्माण-इस्पातो मे निकेल-क्रोमियम इस्पात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उष्मोपचार के बाद उनमें प्रत्यावर्ती प्रतिबल (आल्टरनेटिंग स्ट्रेस) के विरुद्ध विशेष अवरोधी बल उत्पन्न हो जाता है, इसलिए मशीनों के चलते भागो के लिए ये बडे उपयोगी होते हैं। उष्मा-रोधी इस्पातो में क्रोमियम और निकेल का अनुपात अधिक होता है, किन्तु उच्च ताप पर महत्तम तनाव बल उत्पन्न करने के लिए टंग्स्टन भी मिलाना पडता है।

मिश्रधातु इस्पातो के तल कठोरकरण के लिए नाइट्राइड-कठोरकरण की विधा प्रयुक्त होती है। इसके लिए निम्न ताप पर अमोनिया गैस मे इसका उपचार करना

पड़ता है। इस विधा का आविष्कार इसेन के डा० फ्राई ने किया था और इससे लव्ध की जो कठोरता उत्पन्न होती है वह ज्ञात धातुतलों की महत्तम कठोरता से भी अधिक होती है। मैंगनीज इस्पात के आविष्कार का श्रेय सर रॉवर्ट हैडफीरड को है, इसमें १२ से १४% तक मैंगनीज और १.२ से १.३% तक कार्बन होता है। नये प्रकार के इस्पातों में यह सबसे अग्रणी है, तथा इसके आविष्कार से विविध क्षेत्रों में बड़ी मितव्ययिता बर्ती जा सकी है। अपघर्षण के प्रति इसमें विशिष्ट अवरोध होता है; इसका मुख्य कारण यह है कि शीतरूपण (कोल्ड वर्क) से इस्पात की रचना बदल कर इसको मार्टेन्साइट का रूप प्रदान कर दिया जाता है। रेतीले पदार्थों के दलनेवाले दलित्रों (क्रशर) के जम्भ (जा), तिजोरियाँ, रेलगाड़ी के पहिये, टैंकों की कड़ियाँ और कोक के पट इत्यादि बनाने के लिए इसका प्रयोग होता है।

मिश्रधातु इस्पातों के तनाव-सामर्थ्य को प्रतिवर्ग इंच १०० टन से भी अधिक बढ़ाया जा सकता है तथा उसकी तन्यता में भी पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। इन्हें अचुम्बकीय भी बनाया जा सकता है तथा इनमें प्रति-शल्कन (ऐण्टी-स्केलिंग) तथा अम्लता-रोधी विशेष गुण भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसकी प्रसार गति प्रायः एकदम कम कर दी जा सकती है तथा अलूमिनियम की भांति बढ़ायी भी जा सकती है। चुम्बकीय गुणों का भी संचार किया जा सकता है। इस प्रकार की सफलताओं से इस दिशा में हो रहे आधुनिक विकासों का पूरा आभास मिलता है।

निकेल—पिछले कुछ समय से निकेल और इसकी मिश्रधातुओं के प्रयोग में निरन्तर वृद्धि हो रही है, और यह आधुनिक धातुकर्मिकी का बड़ा प्रमुख एवं व्यावहारिक अंग हो गया है। ताम्र, लौह, क्रोमियम और अलूमिनियम जैसी वाणिज्यिक धातुओं के साथ निकेल बड़ी सहजता से मिश्रित हो जाता है तथा उनमें बल एवं सक्षारण-रोध उपयोगी गुणों की वृद्धि करता है, अतएव उसकी व्यावहारिकता बहुत व्यापक रूप में बढ़ गयी है। इसकी प्रमुख उपयोगिता ऐसे इस्पात बनाने में है जिन्हें उच्च ताप उपचारों में इस्तेमाल किया जाता है, जैसे उच्च-गति अन्तर-दहन इंजनों के भाग इत्यादि। इसके अलावा बिजली के यन्त्र, रासायनिक संयत्र, खाद्य-निर्माण की साज-सज्जा, मुद्रा निर्माण, बेतार वाले वाल्व बनाने तथा निकेल पट्टण (निकेल प्लेटिंग) में भी निकेल का बड़ा महत्त्व है।

संसार के अधिकांश निकेल की उपलब्धि कनाडा के अयस्कों से होती है, ओण्टारियो के सडवरी जिले में इसकी बड़ी बड़ी खानें हैं। निकेल उत्पादन की तीन मुख्य क्रियाएँ हैं—(१) अयस्क का खनन, (२) उसका सान्द्रण एवं प्रद्रावण और (३) सान्द्रित से शुद्ध धातु का निष्कासन तथा परिष्करण। कनाडा के अयस्कों में सल्फाइड

के रूप में निकेल के साथ ताम्र और लौह भी होते हैं, निकेल की मात्रा लगभग ३% तथा ताम्र की १.५ „ होती है। सर्वप्रथम अयस्क को धम भट्ठी में प्रद्रावित किया जाता है जिससे ताम्र-निकेल मैंटे बन जाय। परिवर्तकों में इस मैंटे का बेसमरीकरण करके इसमें से लोहा निकाल दिया जाता है और इस प्रकार शेष मैंटे में लगभग ८०% निकेल और ताम्र बच रहता है। इन धातुओं के द्रावित सल्फाइड एवं स्वयं द्रावित धातुएँ भी एक दूसरे के साथ सभी अनुपातों में विलेय होती हैं और इनका प्रद्रावण और परिवर्तन ताम्र धातुकर्मिकी के ही समान होते हैं।

५० वर्ष पूर्व डा० लुड्विग मॉण्ड की प्रयोगशाला में एक विचित्र घटना घटी, जिसके फलस्वरूप अयस्क से निकेल प्राप्ति की कार्बोनिल विधा का सयोगवश आविष्कार हुआ था। इसी प्रकार ब्रियरले द्वारा स्टेनलेस स्टील का भी आविष्कार हुआ। घटना इस प्रकार थी, आसवन से अमोनियम क्लोराइड के विच्छेदन की मॉण्ड विधा में प्रयुक्त होने वाले निकेल के वाल्व एक बार चुअने हो गये, डा० कार्ल लैंजर ने जाँच की तो देखा कि उनमें एक काली पर्पटी जम गयी है, जिसमें थोड़ी कार्बन की मात्रा विद्यमान थी। यह कार्बन सयत्र से प्राप्त अमोनिया को साफ करने के लिए प्रयुक्त कार्बन डाय आक्साइड में विद्यमान कार्बन मानोऑक्साइड से निकला था। इस घटना के अनुशीलन से यह ज्ञात हुआ कि निकेल और कार्बन मॉनोऑक्साइड की प्रतिक्रिया से एक गैसीय यौगिक, $Ni(CO)_4$ उत्पन्न होता है, और यह प्रतिक्रिया साधारण ताप पर ही घटित होती है। इस यौगिक को निकेल कार्बोनिल कहते हैं, जो लगभग १८०° से० ताप पर तप्त किये जाने पर पुन विच्छेदित होकर अपने सघटक-निकेल एव कार्बन मॉनोऑक्साइड का रूप धारण कर लेता है। इन प्रतिक्रियाओं के उपयोग से निकेल के परिष्करण की बात स्वय डा० मॉण्ड को सूझी और उन्हीं ने इसका वाणिज्यिक व्यवहार किया। स्वान्सिया के समीप क्लाइडैक के कारखाने में निकेल परिष्करण की यह विधा ३० वर्ष से भी अधिक समय से प्रयुक्त हो रही है। कनाडा में परिवर्तन विधा से प्राप्त बेसमर मैंटे को एक दूसरी प्रद्रावण विधा से उपचारित किया जाता है। इस विधा को 'ऑर्फोर्ड विधा' कहते हैं, इससे अधिकाश ताम्र निकल जाता है और तब उसके बाद उसे क्लाइडैक के कारखाने में भेजा जाता है। ऑर्फोर्ड विधा में मैंटे को नाइटर और कोक के साथ क्युपोला भट्ठी में तप्त किया जाता है और प्राप्त द्रव्य को, जिसमें ताम्र निकेल और सोडियम के सल्फाइड होते हैं, ढलवाँ लोहे के पात्र में डालकर जमने के लिए छोड़ दिया जाता है। ताम्र सल्फाइड और सोडियम सल्फाइड एक दूसरे में विलेय होते हैं तथा यह विलयन निकेल सल्फाइड से हल्का होने के कारण ऊपर हो जाता है और इस प्रकार दो तहें जम जाती हैं, ऊपरी

तह को 'टॉप्स' तथा निचली तह को 'बॉटम्स' कहते हैं। प्रथम 'बॉटम्स' को पुनः प्रद्रावित करके एक बार फिर द्वितीय 'टॉप्स' और 'बॉटम्स' तहों में अलग अलग किया जाता है। इस द्वितीय 'बॉटम्स' में १५—२०% ताम्र तथा ७०–७२% निकेल होता है। इस उत्पादन को निस्तापित (कैल्साइण्ड) करके उसमें से गंधक का थोड़ा और भाग निकालकर तथा उसे पीपों में भरकर परिष्करण के लिए भेज दिया जाता है। परिष्करणी (रिफाइनरी) में पहुँचने पर मैटे को दलकर भूँजा जाता है और उसके बाद सल्फ्यूरिक अम्ल से उद्‌विलीन (लीच) किया जाता है, जिससे उसमें से ताम्र का कुछ अंश और निकल जाता है। तदुपरान्त अवशेष को ऐसे स्तम्भों में से नीचे की ओर गिराया जाता है, जिनमें वाटर गैस अर्थात् हाइड्रोजन और कार्बन मानोऑक्साइड गैसें ऊपर की ओर प्रवाहित की जाती हैं। इस क्रिया से निकेल और ताम्र का अपचयन होता है और वे अपना धात्वीय रूप धारण कर लेते हैं। अपचयित पदार्थ को दूसरे स्तम्भों में ले जाया जाता है जहाँ उस पर ८० सें० के नीचे प्रोड्यूसर गैस की प्रतिक्रिया होती है और निकेल कार्बोनिल $Ni(CO)_4$ बन जाता है, जो गैसीय होने के कारण उड़ जाता है। इस वाष्प को एक ऐसे स्तम्भ में भेजा जाता है जिसमें लगभग २००° से० तक तप्त निकेल की गोलियाँ भरी होती हैं, इस स्थान पर निकेल कार्बोनिल विच्छेदित (डीकपोज) हो जाता है और गोली के ऊपर धात्वीय निकेल की तह जम जाती है। पुनर्जनित कार्बन मॉनोऑक्साइड को पहले स्तम्भों में भेज दिया जाता है। निकेल की गोलिकाओं को बार बार निकेल कार्बोनिल गैस में विगोपित करने से उन पर अनेक एक-केन्द्रीय (कॉन्सेन्ट्रिक) तहें जम जाती हैं और इसी प्रकार निकेल का सहज एकलन अथवा परिष्करण किया जाता है।

मैटे को भूँजने और उद्‌विलीन करने के बाद हाइबिनेट विधा से भी विद्युदाश्रिक निकेल तैयार किया जाता है। अवशेष को गला कर धनाग्र (ऐनोड) ढाल लिये जाते हैं, जिनका निकेल सल्फेट उष्मक में विद्युदाशन किया जाता है। विद्युदग्रों के बीच में एक सरन्ध्र तनुपट (पोरस डायाफ्राम) डाल दिया जाता है जिससे ऋणाग्रों पर ताम्र पट्टन नहीं हो पाता। धनाग्राग्य (अनोलाइट) को टैंक में से निरन्तर निकाल कर निकेल गोलिका के ऊपर छोड़ने से ताम्र का अवक्षेपण हो जाता है और ताम्र रहित विलयन को टैंक के ऋणाग्राग्य विभाग में पुन प्रवेश कराने से उच्च शुद्धता वाला निकेल ऋणाग्र पर पट्टित हो जाता है।

ताम्र-निकेल और निकेल-ताम्र दोनों मिश्रधातुओं ने इंजीनियरी की प्रगति में विशेष योगदान किया है। समुद्री सघनक नलियों के लिए ७०/३० ताम्र-निकेल मिश्रधातु

तथा सिलिकेट के रूप मे विद्यमान रहता है, इन अयस्को का महत्त्व भी उपरिलिखित क्रम से है। ताम्र प्राकृतिक दशा मे भी मिलता है, जैसे कि सयुक्त राज्य के लेक जिलो की खानो से वहाँ से प्राप्त ताम्र को 'लेक कॉपर' कहते हैं। अधिकाश ताम्र अयस्को मे १–२% ताम्र होता है तथा उसके निस्सारण तथा परिष्करण में क्रमश निम्नलिखित विधाएँ प्रयुक्त होती है—सान्द्रण, भूँजना (रोस्टिंग), प्रद्रावण, परिवर्तन (कॉन्वर्टिंग), अग्नि अथवा विद्युदानिक परिष्करण तथा अन्तिम गलाई और ढलाई।

सान्द्रण विधा मे प्लवन (फ्लोटेशन) एव गुरुत्वाकर्षण दोनो रीतियो से निरर्थक विधातु को अलग किया जाता है। सान्द्रित को मैक्डूगल भट्ठी मे भूँजा जाता है जिनसे गधक जल जाय। तत्पश्चात् प्रतिक्षेपी (रिवर्बरेटरी) भट्ठी मे उपयुक्त द्रावको के साथ अयस्क का प्रद्रावण किया जाता है। प्रद्रावण की यह रीति लौह अयस्क के प्रद्रावण मे भिन्न है क्योकि इसमे सीधे धातु तैयार होने के बजाय केवल मैट बनता है। ताम्र के इस मैट मे Cu_2S तथा FeS का अनिश्चित अनुपातवाला मिश्रण होता है और उसमे कुछ अन्य अशुद्धियाँ मुख्यत सल्फाइड होते है। अयस्क मे विद्यमान स्वर्ण एव रजत मैट मे विलीन हो जाते है और इस प्रकार ये बहुमूल्य धातुएँ भी सान्द्रित हो जाती हैं। मैट मे धातु बनाने के लिए उसे तुरन्त परिवर्तक मे डाल देते हैं तथा परिवर्तन-क्रिया उसी प्रकार चलती है जैसी इस्पात बनाने की बेसमर विधा मे। द्रावित मैट मे से हवा फूंकी जाती है, जिससे लौह का ऑक्सीकरण होकर FeO बन जाता है, लौह सिलिकेट धातुमल का रूप धारण करता है। इसी के साथ चूना और अलूमिना भी निकल जाते हैं तथा गधक SO गैस बन कर उड जाता है। इस क्रिया के लिए किसी इधन की आवश्यकता नही होती क्योकि आक्सीकरण से निकली उष्मा विधा-सचारण के लिये स्वय काफी होती है। इस्पात की बेसमर विधा की तुलना मे यह क्रिया काफी मन्द गति से होती है क्योकि इसमे ऑक्सीकरण के लिए अपेक्षाकृत बहुत अधिक द्रव्य होता है। १२ टन मैट के प्रभरण के ऑक्सीकरण मे ४ घण्टे लग जाते हैं। इस्पात परिवर्तक से ये परिवर्तक थोडे भिन्न होते है क्योकि इनमे टायर (tuyeres) बगल में लगे रहते है, तह मे नही। इसका विशेष प्रयोजन यह है कि वायु मैट मे ही फूंकी जाय और धात्वीय ताम्र तह मे बैठ जाय, जिससे वायु द्वारा उसका आक्सीकरण न होने पावे। इस प्रकार तैयार हुई धातु को "ब्लिस्टर कापर" कहते हैं, जिसमे ९६–९९% ताम्र होता है। इसका परिष्करण बहुधा अग्नि और विद्युदानिक साधनो से किया जाता है और कभी कभी केवल अग्नि परिष्करण ही किया जाता है। प्रतिक्षेपी भट्ठी मे परिष्करण करने से द्राव (मेल्ट) का आक्सी-

करण होता है, जिससे गंधक, यशद, सीस, आर्सेनिक एवं ऐण्टीमनी की अशुद्धियाँ उड जाती हैं तथा अन्य तत्त्व धातुमल (स्लैग) में अलग हो जाते है। भट्ठी की धारिता २०० से ४०० टन ताम्र की होती है। द्रावित उष्मक (मोल्टेन बाथ) के तल के नीचे से इस्पात के नलो द्वारा वायु प्रवेश करायी जाती है, इस क्रिया को पल्लवन अर्थात् "फ्लैपिंग" कहते हैं। ताम्र अब Cu_2O (लगभग ६%) से संतृप्त हो जाता है, इसके अपचयन के लिए इसका वंशविचालन (पोलिंग) यानी लकडी के ताजे हरे डण्डों से विचालन करना पड़ता है। यह बडी महत्त्वपूर्ण क्रिया है। वंशविचालन से ऑक्सीजन और हाइड्रोजन की मात्राओं को ऐसा ठीक रखा जाता है कि धातु जमने के समय उसमें केवल इतनी ही गैस पारित रहे जिससे उसके तल पर गड्ढे अथवा निचाव न बनने पावें। इस धातु को ढलाई यन्त्रो में ढाल कर धनाग्र बनाये जाते हैं, जिनमें लगभग ९९ ३ प्रतिशत ताम्र होता है और तब परिष्करण विद्युद्रासायनिक रीति से पूरा किया जाता है। टंकी में शुद्ध ताम्र स्टारों के बने ऋणाग्र लटका दिये जाते हैं और इनके बीच-बीच में धनाग्र। इसी प्रकार प्रत्येक टंकी में बहुसंख्यक विद्युदग्र लगाये जाते हैं और विद्युदग्र के स्थान पर अम्लीयित ताम्र सल्फेट। जब विद्युत्धारा प्रवाहित की जाती है तब धनाग्र विलीन होते जाते हैं तथा ऋणाग्रों पर ताम्र जमता जाता है। स्वर्ण, रजत, प्लैटिनम, सेलेनियम तथा टेल्यूरियम विलीन नहीं होते वरन् पंक (स्लाइम) के रूप में नीचे बैठ जाते हैं। इस रीति में प्राप्त स्वर्ण एवं रजत का ही इतना मूल्य होता है कि परिष्करण का सारा खर्च निकल आता है। ऋणाग्र पट्टों में इतना हाइड्रोजन रहता है कि धातु बडी भगुर (ब्रिट्ल) हो जाती है; इसलिए उन्हें पुन. गला कर तथा ऑक्सीकृत करके उनमें ऑक्सीजन की मात्रा ठीक करने के लिए उन्हें वंशविचालित किया जाता है। वंशविचालन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ढलाई के पूर्व प्रत्येक भट्ठी से प्राप्त बानगी दंडो (सैम्पुल बार) के खण्ड (सेक्शन) काट कर उनकी स्थूलदर्शी (मैक्रोस्कोपिक) तथा सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोपिक) परीक्षा की जाती है। द्रावित धातु का वंशविचालन करते समय विधा के नियंत्रण के लिए यह अभी हाल की उन्नत रीति है। विऑक्सीकारक (डिऑक्सिडैण्ट) डालकर ऑक्सीजन रहित ताम्र तैयार किया जाता है। हाल में कैल्सियम, लीथियम तथा बेरीलियम विऑक्सीकरण का विकास किया गया है। इनसे धातु की विद्युत् चालकता पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आजकल ऑक्सीजन-रहित उच्च-चालकता ताम्र अर्थात् "ऑक्सीजन-फ्री हाई - कण्डक्टिविटी कापर" (OFHC) के नाम से वाणिज्यिक ताम्र मिलता है। यह विशेष विधा से उत्पन्न एवं बड़ी सावधानी से विऑक्सीकृत किया जाता है तथा इसमें ९९.९८% ताम्र होता है। इसकी

सुघट्यता बडी उन्नत होती है, इसलिए शीत-कर्षण एवं रूपण (ड्राइग ऐण्ड फार्मिग) के लिए विशेष उपयुक्त होता है।

ताम्र उत्पादन मे सयुक्त राज्य अमेरिका सबसे आगे है। उत्पादित ताम्र का ७० प्रतिशत या तो शुद्ध दशा मे प्रयुक्त होता है अथवा उसमें किसी तत्व की बहुत थोडी मात्रा मिली होती है, जिससे उसका विऑक्सीकरण होता है, उसकी सामर्थ्य तथा ऑक्सीकरण-रोध बढता है और साथ ही साथ कुछ प्रकार के सक्षारण के प्रति उसकी रोधिता बनी रहती है। आर्सेनिकयुक्त ताम्र के स्तार छत बनाने, बरसाती जल की नालियाँ तथा नाडक और यवासवन, आसवन, खाद्य पदार्थ, कागज तथा रगलेप उद्योगो के मयत्र बनाने के काम मे आते है।

लोहा-कार्बन मिश्रधातु के बाद सभवत ताम्र और यशद सर्वाधिक महत्त्व की वाणिज्यिक धातुएँ हैं। सुवर्णरोपण (गिल्डिग) धातु (५–१०% यशद) मुख्यतः आभूषण बनाने में प्रयुक्त होती है। कारतूस पीतल (३०% यशद), साधारण पीतल (ताम्र यशद २ १) तथा ६२% ताम्र वाला सामान्य शीत वेल्लित पीतल बहुतायत मे प्रयुक्त होते हैं। ६०–६२% ताम्र वाली मुण्ट्ज धातु ताप-वेल्लित तथा अधिक सामर्थ्यवाली होती है किन्तु अन्य प्रकार के पीतलो से कम तन्य होती है। पित्तलन टाँका (ब्रेजिंग सोल्डर), जिसमे ५०% ताम्र होता है, पीतल की चीजो के पित्तलन के लिए प्रयुक्त होता है। श्वेत पीतल का प्रयोग छोटी छोटी प्रतिमाओ की ढलाई एव आलकारिक कामो के लिए होता है, इसमे ४५ प्रतिशत से कम ताम्र होता है। मैगनीज काँसा एक प्रकार का मैगनीज पीतल है, जिसमें मैगनीज तथा अन्य तत्त्वों के विभिन्न अनुपात होते हैं। मिलाये गये तत्त्व के कारण इसकी कठोरता तथा सामर्थ्य बडी ऊँची होती है।

अलूमिनियम पीतल, ताम्र-वग काँसे तथा गनमेटल भी बडे व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं। पीतल की यत्रण-योग्यता बढाने के लिए उसमें सीस मिलाया जाता है। सीस-काँसे बेयरिंग बनाने के काम आते है। वैमानिक एव डीज़ल इजनो के भागो पर जो कठिन भार पडता है उसे सहन करने के लिए सीस काँसा सर्वोत्तम माना जाता है।

सीस—सीस का केवल एक ही महत्त्वपूर्ण अयस्क है। इसमे सीस सल्फाइड अथवा गैलीना, PbS, होता है और ४–११ प्रतिशत सीस। धातुकर्मिक उपचार के पहले सान्द्रण द्वारा इसकी धातु मात्रा ५०–८० प्रतिशत तक बढा दी जाती है। इस अयस्क की समस्त उपलब्धि का चौथाई भाग केवल सयुक्त राज्य से प्राप्त होता है, जो कदाचित् इतने बडे अश की पूर्ति करनेवाला अकेला एक देश है। गैलीना

काफी भारी होता है तथा कूट दिये जाने पर शिला भाग से बड़ी सरलता से अलग हो जाता है, अतः आर्द्र गुरुत्वाकर्षण रीतियों से इसका सान्द्रण बड़ा सहज है। सान्द्रितों का उपचार भट्ठी विधा से किया जाता है। पुरानी फ्लिण्टशायर विधा में प्रद्रावण की क्रिया एक प्रतिक्षेपी भट्ठी में की जाती है, किन्तु आजकल अधिकतर धम भट्ठी वाली प्रद्रावण विधा प्रयुक्त होती है, कुछ तो इसलिए कि रजत युक्त अयस्कों के उपचारार्थ यह सर्वोपयुक्त है और कुछ इसलिए कि लघु सीस तथा उच्च विशुद्धियों वाले अयस्कों का उपचार भी इस रीति से किया जा सकता है। अयस्कों को भूंज करके उनमें से गंधक निकाला जाता है। आजकल धम भुंजाई (ब्लास्ट रोस्टिंग) के लिए सर्वथा ड्वाइट-लॉयड मशीनें प्रयुक्त होती हैं।

सीस का धम प्रद्रावण बहुत से मानों में लौह और ताम्र प्रद्रावण के बीच का माना जा सकता है। रासायनिक सामर्थ्य में सीस ऑक्साइड लौह और ताम्र ऑक्साइडों के बीच का है, इसलिए आवश्यक अपचायक क्रिया ताम्र से अधिक किन्तु लोहे से कम तीव्र होनी चाहिए। जबकि लौह प्रद्रावण में लोहा धातु के रूप में प्राप्त होता है और ताम्र प्रद्रावण में ताम्र केवल मैटे के रूप में, सीस प्रद्रावण में सामान्यतः धातु एवं मैटे दोनों प्राप्त होते हैं। उत्पन्न मैटे का परिमाण अयस्क में गंधक की मात्रा पर निर्भर होता है और कभी कभी तो कुछ भी मैटे नहीं बनता। प्रद्रावण का मुख्य उत्पादन अपरिष्कृत सीस अथवा सीस कल्धौत (लेड बुलियन) होता है। सीस कल्धौत *में स्वर्ण और रजत भी होते हैं। रजत (०.१५-१.०%), ताम्र, ऐण्टीमनी,* आर्सेनिक, वंग, विसमथ, गंधक तथा यशद इसकी मुख्य अशुद्धियाँ होती हैं।

विद्युदाशिक परिष्करण तथा वि-रजतन (डिसिल्वरिंग) में महत्तम शुद्धता (९९.९९%) वाला सीस प्राप्त होता है, किन्तु यह लाभप्रद तभी होता है जब सस्ती जल-विद्युत शक्ति प्रचुरता से प्राप्य हो। इस विधा को "बेट्स विधा" कहते हैं और यह विद्युदाशिक ताम्र परिष्करण के एकदम समान है। इसका विद्युदाश्य (एलेक्ट्रोलाइट) कुछ असाधारण सा होता है; यह सीस फ्लुओसिलिकेट ($PbSiF_6$) का जलीय विलयन होता है जिसमें ६ प्रतिशत सीस तथा ५-१० प्रतिशत स्वतंत्र हाइड्रोफ्लुओसिलिसिक अम्ल के अलावा प्रति टन ०.५ पौण्ड सरेस मिलाया रहता है; इससे निक्षेप (डिपाज़िट) के कण चिकने एवं सूक्ष्म हो जाते हैं। स्वर्ण, रजत तथा विसमथ धनाग्र पर अविलेय रहकर एक पंक का रूप धारण कर लेते हैं। इसे एकत्र करके इन धातुओं को निकालने का उपचार किया जाता है।

सीस का विरजतन बहुधा पार्कस विधा' में किया जाता है, किन्तु सीस कल्धौत *में से कुछ अशुद्धियों को निकालकर पहले उसका मृदुकरण कर लिया जाता है। मृदु-*

करण के लिए ५०–२५० टन धारितावाली प्रतिक्षेपी भट्ठी में उसे गलाया जाता है और तब उसका ऑक्सीकरण किया जाता है। ताम्र का ऑक्सीकरण उसे भट्ठी में डालने के पहले एक विरजतन केतली में किया जाता है। इसके लिए द्रावित कलधौत को कुछ समय के लिए उसके गलनाक से ऊपर ताप पर रखा जाता है जिससे ताम्र-मल फेन के रूप में उतर जाता है। इस क्रिया को ताम्र प्रसाधन अर्थात् 'कॉपर ड्रेसिंग' कहते है। ताम्र निकालने के लिए थोडी सी गधक भी डाल दी जाती है, जिसमे वह ताम्र सल्फाइड के रूप में ऊपर आ जाता है। मृदुकरण के लिए 'हैरिस विधा' भी काम मे लायी जाती है, इसमे द्रावित कलधौत का द्रावित दहसोडा और तनिक नाइटर के साथ उपचार किया जाता है। इस उपचार से आर्सेनिक, ऐण्टीमनी तथा वग का ऑक्सीकरण हो जाता है, ये तत्त्व सोडा में विलीन हो जाते हैं और फिर बाद में उससे निकाल लिये जाते हैं। 'हैरिस विधा' का सबसे बडा लाभ यह है कि इसमे समय बहुत कम लगता है अर्थात् २४ घण्टो की जगह केवल ३ घण्टे मे ही काम हो जाता है, किन्तु इस विधा में कुछ विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

पार्कस की विरजतन विधा रजत, यशद और सीस की एक त्र्यंगी (टर्नरी) मिश्रधातु बनने पर आधारित है। कलधौत को ६० से १२० टन तक धारितावाली केतली में लगभग १२५° सें० यानी उसके गलनाक के ऊपर रखा जाता है और उष्मक में यशद छोडा जाता है। यशद के रजत और स्वर्ण तथा कुछ सीस के साथ मिलने से एक मिश्रधातु बनती है जो मलफेन की तरह ऊपर आ जाती है, इसे यशद पर्पटी (जिंक क्रस्ट) कहते हैं और यह जैसे जैसे बनती जाती है वैसे वैसे अर्थात् उसी गति से हटायी भी जाती रहती है। लगभग १८ घण्टे में उष्मक रजत-विहीन हो जाता है। अवशेष सीस को, जिसमें लगभग ०.६% यशद विलीन रहता है, एक प्रतिक्षेपी वियशदन भट्टी में डाल दिया जाता है जहाँ ऑक्सीकरण एव मथन से यशद को भी अलग कर दिया जाता है। अभी हाल की एक रीति मे यशद को क्लोरीन की सहायता से पृथक् किया जाता है, और यशद क्लोराइड एक उपजात के रूप में प्राप्त होता है। यह रीति आजकल बहुत प्रचलित है। परिष्कृत सीस को ढाल कर दंड अथवा पिग् बनाया जाता है और इसी रूप में बिकने के लिए भेजा जाता है।

रजत युक्त यशद पर्पटी को यशद के गलनाक के ऊपर एक रिटॉर्ट मे तप्त किया जाता है, जिससे यशद का आसवन होता है और एक समृद्ध रजत-सीस मिश्रधातु शेष बच रहती है। इस मिश्रधातु का उपचार खर्परण (क्युपेलेशन) विधा से किया जाता है, यह खर्परण परीक्षण विधाओ में प्रयुक्त होनेवाले खर्परण के ही समान होता

की भुंजाई डवाइट-लॉयड मशीनों में काफी देर तक की जाती है। १९३१ से फ्लुर-भुंजाई (फ्लैश रोस्टिंग) बड़ी महत्वपूर्ण हो गयी है। इस विधा में अयस्क के कण ऊँचे वेश्म के ऊपर से नीचे की ओर गिराये जाते हैं और गिरते समय वे या तो जल उठते हैं अथवा ऑक्सीकृत हो जाते हैं। इसके लिए अवगुण्ठ भट्ठियों का भी प्रयोग होता है। अयस्क की भुंजाई से निकली सल्फर डाइऑक्साइड गैस को सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। भुंजाई यथासंभव पूर्ण होनी चाहिए, नहीं तो गंधक की शेष मात्रा के कारण यशद भी ZnS के रूप में रह जायगा और धातु की हानि होगी।

दलित अयस्क को बारीक कोयले के साथ मिलाकर अग्नि मिट्टी रिटॉर्टों में तप्त किया जाता है और ताप को धीरे धीरे बढ़ाकर १,२५० सें० तक कर दिया जाता है, विधा के अन्त में तो ताप १,४५०° तक पहुँच जाता है। यशद के क्वथनांक के ऊपर उसका अपचयन होता है और धातु एक वाष्प के रूप में कार्बन मॉनोऑक्साइड के साथ रिटॉर्ट में से निकलती यानी आसुत होती है। ये गैसें सीधे रिटॉर्ट से लगे अग्नि मिट्टी संघनक में चली जाती हैं, जहाँ यशद द्रावित धातु के रूप में सघनित हो जाता है और समय समय पर उसमें से निकाल लिया जाता है। कार्बन मॉनोऑक्साइड निकल कर हवा में जल जाता है। संघनक में एक दीर्घक (प्रोलांग) भी लगा रहता है जिसमें असंघनित यशद धूम एकत्र होता है, इसे 'ब्लू पाउडर' कहते हैं। इसको फिर रिटॉर्ट में भेज दिया जाता है। यशद रिटॉर्ट लगभग ५ फुट लम्बे होते हैं तथा उनका भीतरी व्यास ८–१० इंच होता है और ये विशेष मिट्टी के बने होते हैं, कभी कभी इस मिट्टी में सिलिकॉन कार्बाइड मिला दिया जाता है जिससे उसका सामर्थ्य बढ़ जाता है और वह अधिक टिकाऊ हो जाता है। प्रत्येक रिटॉर्ट में से प्रतिदिन ४५–३५ पौण्ड यशद प्राप्त होता है। यशद का परिष्करण द्रावक्षेचन (लिक्वेशन) रीति से किया जाता है, इसमें द्रावित धातु में सीस और लौह पृथक होकर स्राव (मेल्ट) की तह में बैठ जाते हैं।

छोटे छोटे रिटॉर्टों से थोड़ा थोड़ा यशद प्राप्त करने में काफी असुविधा होती थी तथा धातु की विशाल मात्रा उत्पन्न करना अधिक सम्भव न था, इसलिए अब ऊर्ध्वाधर रिटॉर्टों से अविराम आसवन रीति का विकास किया गया है, जिनसे ४ टन यशद प्रतिदिन प्राप्त किया जा सकता है। समय समय पर रिटॉर्ट के ऊपरी भाग से अयस्क और कोयले का मिश्रण डाला जाता है तथा अवशिष्ट पेंदे में से निरन्तर एक जल-मुद्रा (वाटर सील) में निकलता रहता है। एक झुके हुए मनाल (कॉन्डुइट) के द्वारा क्षैतिज संघनक से जुड़ा रहता है। इससे संघनक में पहुँचने के पहले गैसें काफी

ठंडी हो जाती हैं। संघनक में पहुँच कर वाष्प के धीरे धीरे ठंडा होने से प्रायः पूर्ण सघनन होता है और "ब्लू पाउडर" नहीं बनने पाता। आजकल उच्च शुद्धता वाले यशद की भारी माँग हो गयी है अतः अब इसके उच्च परिष्करण के लिए पुनरासवन किया जाता है।

जल धातुकर्मिक विधा में अयस्क के उद्विलयन के बाद उसके विलयन से शुद्ध यशद का विद्युदांशिक रोपण किया जाता है। यह विधा (प्रोसेस) इतनी प्रचलित हो गयी है कि संसार के समस्त उत्पादन का ३५% यशद केवल इसी एक विधा से उत्पन्न किया जाता है। तनु सल्फ्यूरिक अम्ल से उद्विलयन (लीचिंग) करने के बाद तथा विद्युदांशन के पहले यशद सल्फेट का सावधानी से शोधन करना पड़ता है। अशुद्धियों को निकालने के लिए या तो चूना छोड़ा जाता है अथवा अन्य किसी तरह विलयन का उदासीनीकरण किया जाता है, फिर अवक्षेप को छान कर अलग कर दिया जाता है तथा छानित विलयन का यशद-धूलि द्वारा उपचार किया जाता है। धात्वीय यशद तो विलीन होने लगता है और विद्युतविभव श्रेणी (ऐलेक्ट्रो पोटेंशियल सिरीज) में उससे नीचे वाली धातुओं का अवक्षेपण हो जाता है। इस अवक्षेप को छानकर अलग कर देने के बाद स्वतंत्र अम्ल सहित यशद सल्फेट का शुद्ध विलयन शेष बच जाता है। इसी विलयन को सीस विद्युदग्रों वाले विद्युदांशिक सेलों में डाल कर ९९.९०–९९.९९% शुद्धतावाले यशद का रोपण किया जाता है।

गल जाने पर यशद बड़ा तरल होता है तथा जमने पर बहुत कम आकुंचित होता है। इसलिए ऐसी साँचा ढलाई के लिए यह अति उत्तम धातु है, जिसमें अत्यधिक बारीकियाँ होती हैं। जल-प्रदाय के स्यूम रहित (सीमलेस) नलों को बनाने के लिए भी यह धातु इस्तेमाल की जाती है। यह सीसे की नलियों से सस्ती और हल्की होती है। यशद का सर्वाधिक प्रयोग धातुओं के गैल्वनीकरण में होता है अर्थात् लोहे और इस्पात के ऊपर यशद का आवरण चढ़ा देने से वह क्षारण से बच जाता है। इसके लिए तप्त निमज्जन (हॉट डिपिंग), विद्युत्-रोपण (एलेक्ट्रो-डिपॉजिशन) अर्थात् यशद शीकरण (स्प्रेइंग) रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं। क्षारण-रोधी होने के कारण यशद स्तार छत बनाने तथा प्रनालों की नालियाँ बनाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। स्वर्ण और रजत निकालने की मुख्य रीति में सायनाइड विलयन में से उन्हें अवक्षेपित करने के लिए भी यशद का प्रयोग किया जाता है।

वंग—वंग (टिन) का उत्पादन मानव इतिहास में अति प्राचीन काल से होता आया है। प्रस्तर युग के अन्त के बाद ही आज से प्रायः ६००० वर्ष पहले इस धातु का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। लगभग ४००० वर्ष पूर्व से कॉर्नवाल की खानों

से यह धातु मिलने लगी थी। फोनीसियनों द्वारा कॉर्नवाल से वग प्राप्त करने का उल्लेख १५०० ई० पू० से ही मिलता है। वे इससे काँसा बनाते थे जो भूमध्य सागर के किनारे वाले देशो में, जहाँ के लोग समुद्री व्यापार के अगुआ थे, बहुतायत से इस्तेमाल किया जाता था। आजकल तो कॉर्नवाल तथा अन्य यूरोपीय केन्द्रो में इसका उत्पादन ससार के अन्य भागो की अपेक्षा बडा कम है। संसार का वार्षिक वगोत्पादन लगभग १७५,००० टन है। वग का खनन एव प्रद्रावण मलय देश का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग है। वहाँ ससार के समस्त उत्पादन का प्राय एक-तिहाई भाग उत्पन्न किया जाता है।

प्रारम्भिक काल से अब तक वंग की धातु-कर्म-विधा में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही हुआ है। कैंसीटराइट (SnO_2) वग का वाणिज्यिक महत्त्ववाला एक मात्र खनिज पदार्थ है। यह बडा भारी होता है अर्थात् इसका आपेक्षिक गुरुत्व ७ ० होता है। खान से निकले अयस्क में लगभग १५% वग होता है। सदरो (वेन्स) में होने वाले अयस्क को 'भार वग' (लोड टिन) कहते हैं और जलोढ निक्षेपो (ऐलूवियल डिपॉज़िट्स) से निकले कैंसीटराइट को 'नदी वग' (स्ट्रीम टिन) कहते हैं। यह प्राय गोल गोल पिण्डो में पाया जाता है। नदी वग अयस्क को कूटने की आवश्यकता नही होती, इसे तो केवल जलधारो में धोकर ही इसका उपचार किया जाता है। भारी कैंसीटराइट इन जलधारो में ही रह जाते हैं। 'भार वग' अयस्क को कूटकर गुरुत्वाकर्षण रीति से सान्द्रित किया जाता है। एक चुम्बकीय पृथक्कारी की सहायता से लोहा और टग्स्टन के चुम्बकीय ऑक्साइडो को कैंसीटराइट से अलग किया जा सकता है, क्योंकि कैंसीटराइट अचुम्बकीय होता है। वग सान्द्रित का प्रद्रावण प्रतिक्षेपी भट्ठियों में किया जाता है और कभी कभी धम भट्ठियों में भी। अयस्क का अपचयन कोयला द्वारा चूना और फ्लुओर्स्पार जैसे द्रावक डालकर कराया जाता है। वग का अपचयन सरलता से हो जाता है और धातु तथा धातुमल को अलग अलग चुआ लिया जाता है अथवा कभी कभी एक ही साथ लेकर फिर पृथक किया जाता है। धातु-मल में वग की पर्याप्त मात्रा रह जाती है अत उसे पृथक् भट्ठियों में पुन. प्रद्रावित किया जाता है। अपरिष्कृत वग का परिष्करण द्रावबेचन (लिक्वेशन) रीति से किया जाता है, इसके लिए डडो को ढालुए चूल्हे पर रख कर धीरे धीरे गलाया जाता है। इस परिष्कृत वग का और शोधन द्रावित उपस्क की अशुद्धियों का ऑक्सीकरण करके किया जाता है। विद्युदाशिक परिष्करण प्राय बहुत महँगा पडता है, यद्यपि इस विधा में प्राप्त क्षेप्य में से भी वग निकाल लिया जाता है।

बाजारो में वग सिल अथवा छोटे छोटे डडो के रूप में बिकता है। इसके क्रय-

विक्रय का मुख्य केन्द्र लन्दन में है तथा "लन्दन मेटल एक्सचेंज" मानक वंग के दाम प्रकाशित किया करता है। 'मानक' वग में कम से कम ९९·७५% वग होना चाहिए। यद्यपि महत्त्वपूर्ण औद्योगिक मिश्रधातुओ के आवश्यक संघटक के रूप में वंग का काफी व्यापक प्रयोग होता है, फिर भी इस धातु की ५० प्रतिशत से अधिक खपत शुद्ध दशा अथवा कुछ तत्त्वों की लेश मात्रा की मिलावट के साथ होती है। इसकी कुछ औद्योगिक मिश्रधातुएँ ये है---सांचा ढलाई मिश्रधातु, टांका, तथा श्वेत वेयरिंग मिश्रधातु जिसे "वैबिट धातु" भी कहते है, इत्यादि। मृदु इस्पात के आवरणार्थ वग का मुख्य प्रयोग होता है। मृदु इस्पात अपने भौतिक गुणों के कारण अनेक प्रकार की वस्तुओं के बनाने के लिए बडा उत्तम पदार्थ है, और जब तप्त निमज्जन अथवा *विद्युत्रोपण विधा से इसके ऊपर वग का एक पतला स्तर चढा दिया जाता है तो* विविध औद्योगिक एव घरेलू कामों के लिए यह और भी उपयुक्त पदार्थ हो जाता है। आजकल टिन कनस्टरो को कौन नही जानता और इनका कितना प्रचलन है, इसे बताने की भी आवश्यकता नही, टिन के डब्बे खाद्य पदार्थ भरने के लिए बहुत काम आते हैं। इसका विशेष कारण यह है कि इन पदार्थों में होनेवाले अम्लो का वग पर कोई प्रभाव नही पडता। खाद्य पदार्थो एव तम्बाकू इत्यादि के लपेटने के लिए भी वग पर्ण (टिन फ्वॉयल) का खूब प्रयोग होता है, यद्यपि हाल में इसके स्थान पर अलूमिनियम पर्ण काफी इस्तेमाल होने लगे है।

लघुक मिश्रधातु---लघक मिश्रधातुओ के लिए अलूमिनियम और मैग्नीसियम बडी उपयुक्त धातुएँ हैं, क्योंकि इनका आपेक्षिक गुरुत्व कम होता है और मूल्य भी बहुत अधिक नहीं होता। इसके अलावा इनके यान्त्रिक गुण भी बड़े उत्तम होते हैं। *वायुयान उद्योग में ऐसी मिश्रधातु की प्रबल माँग के कारण इनका बडा आशु विकास* हुआ है। वेरीलियम विशिष्ट गुणोवाली एक अन्य धातु है जिसका आपेक्षिक गुरुत्व लगभग मैग्नीसियम के समान होने के साथ साथ प्रत्यास्थता गुणाक (मॉडुलस ऑफ इलैस्टीसिटी) बहुत ऊँचा होता है। परन्तु इसका धातुकर्मिक उपचार बहुत महँगा है, जिसके कारण इसका व्यापक प्रयोग अब तक सभव नही हो सका है।

वाक्साइट अशुद्ध जलीयित अलूमिना का खनिज पदार्थ है और इसी से अलूमिनियम प्राप्त होता है। वाक्साइट सबसे अधिक फ्रान्स में उत्पन्न होता है, किन्तु अब समस्त वाक्साइट का लगभग छठवां भाग सयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त होने लगा है। अलूमिनियम के उत्पादन में सबसे पहले वायर विधा से अपरिष्कृत वाक्साइट का शोधन करना पड़ता है। एतदर्थ खनिज को सुखा तथा पीस कर प्रबल दह्‌सोडा के साथ १६०° से० तथा ४ या ५ वायुमण्डल दाब पर उसका कई घण्टे तक

पाचन किया जाता है, इसमे सोडियम अलुमिनेट का विलयन तैयार हो जाता है तथा लोहा और टिटेनियम इत्यादि के ऑक्साइड एक लाल पक के रूप में अविलेय रह जाते हैं। विलयन को छान लेने के बाद उसके विक्षोभण से हाइड्राक्साइ का अवक्षेपण होने लगता है। इस अवक्षेप को घूर्णन भट्ठो मे निस्तापित (कैल्साइण्ड) किया जाता है, जिससे शुद्ध Al_2O_3 प्राप्त होता है। इस ऑक्साइड से धातु तैयार करने के लिए क्रियोलाइट (Na_3AlF_6) के द्रावित उष्मक का, जिसमें अलुमिना विलीन होता है, विद्युदाशन किया जाता है। इस काम के लिए विद्युदाशिक सेल लोहे के बने होते हैं, जिनके पेंदे में कार्बन का एक अस्तर होता है, यही स्तर विधा प्रारम्भ करने के लिए ऋणाग्र का काम करता है, किन्तु ज्यो ही थोडा अलुमीनियम उत्पन्न हो जाता है वह स्वयं ही ऋणाग्र का काम करने लगता है। धनाग्र के लिए कार्बन की छड़ें प्रयुक्त होती हैं जो ऊपर से विद्युदश्य मे डूबी हुई धातु के तल तक पहुँच जाती हैं। इस विधा का क्रियाकरण प्राय १,००० ° से० ताप पर होता है और अलूमिनियम टकी के पेंदे में एक कुण्ड मे एकत्र होता रहता है तथा समय समय पर एक टोंटी से निकाल लिया जाता है।

मैग्नीसियम की उत्पादन विधा भी अलूमिनियम की विद्युदाशिक विधा के ही समान होती है। मैग्नेसाइट खनिज कच्चा माल तथा मैग्नीसियम क्लोराइड इस विधा का उपजात होती है। जर्मनी में कार्नालाइट खनिज ($MgCl_2 KCl\ 6\ H_2O$) प्रयुक्त होता है तथा उसमे निकला हुआ मैग्नीसियम क्लोराइट वहाँ के विशाल पोटाश उद्योग मे काम आता है। निम्मारण के लिए दो प्रकार की विधाएँ इस्तेमाल की जाती हैं, एक में क्लोराइड और दूसरो मे ऑक्साइड का उपचार किया जाता है। ऑक्साइड विधा तो बिलकुल अलूमिनियम निस्सारण विधा के समान होती है। इन दोनो विधाओं में द्रावित उष्मक में विद्युदाशन किया जाता है। मैग्नीसियम धातु विद्युदाश्य से हल्की होती है इसलिए सेल के ऊपर उतरा जाती है, किन्तु इसे वायु तथा धनाग्र पर उत्पन्न किसी गैस से बचाना बहुत आवश्यक है। मैग्नीसियम क्लोराइड के आर्द्रताग्राही (हाइग्रास्कोपिक) होने के कारण इसे आर्द्रता से भी बचाना चाहिए, इसके लिए क्लोराइड विधा में अजल उष्मक अनिवार्य होता है, यह काफी महँगा भी पडता है और इसमें कठिनाई भी होती है। मैग्नीसियम क्लोराइड के द्रावित उष्मक में NaCl या KCl होता है तथा कार्बन अथवा ग्रैफाइट के धनाग्र एवं लोहे या इस्पात के ऋणाग्र लगे रहते हैं। विद्युदाशन ७०० ° से० ताप पर होता है। ऋणाग्र पर मैग्नीसियम उन्मुक्त होता है तथा धनाग्र पर क्लोरीन गैस। ऑक्साइड विधा का क्रियाकरण प्राय ९५० ° से० पर होता है, इसमें मिश्रित फ्लुओराइडों का उष्मक ही

है, और उनसे तार खींचे जा सकते हैं। यह धातु दाब से प्रवाही भी हो जाती है। विमान, मोटरकार तथा घरेलू बर्तन बनाने में इसका अत्यधिक प्रयोग होता है। इसकी कुछ मिश्रधातुओं में हलकेपन के साथ साथ मजबूती का ऐसा गुण होता है जैसा शुद्ध धातु में सभव नही होता। उत्नोदन (एक्स्ट्रूज़न), ताप कुट्टन (फोर्जिंग) एव अन्य प्रकार की सविरचना (फ़ैब्रिकेशन) के लिए इसकी मैग्नीसियम मिश्रधातु के प्रयोग मे काफी प्रगति की गयी है। मैग्नीसियम का केलासन षड्भुजीय पद्धति से होता है अत इसमें सान्द्र विलयन बनाने की क्षमता अलूमिनियम की अपेक्षा कम होती है। युद्ध-काल मे दाही बमो (इन्सेण्डियरी बाम्ब) का पिंड (ढाँचा) बनाने में मैग्नीसियम मिश्रधातु का बहुत व्यापक प्रयोग हुआ था। इस धातु की ज्वलन-शीलता (इनफ्लैमेबिलिटी) के बावजूद भी इसकी मिश्रधातुओं की ढलाई बिना किसी कठिनाई के की जा सकती है, इसके लिए एक उपयुक्त द्रावक तथा सल्फर डाइ ऑक्साइड के वायुमण्डल की आवश्यकता होती है। विमानों के नोदक (प्रोपेलर्स) तथा वायु पेंच (एयर स्क्रू) बनाने के लिए यद्यपि सामान्यत अलुमिनियम मिश्रधातुओं का प्रयोग होता है, किन्तु अब मैग्नीसियम मिश्रधातुओं का भी विकास किया गया है। इनके प्रयोग से अपकेन्द्र बल के कारण उत्पन्न प्रतिबल (स्ट्रेन) को कम किया जा सकता है, जिससे विमान शीघ्रता से ऊपर उठ सकता है और उडान में बडी सरलता और शीघ्रता होती है। मैग्नीसियम मिश्रधातुओं का यत्रण भी बडी सरलता से किया जा सकता है जब कि कुछ अलुमिनियम मिश्रधातुओं का यत्रण काफी कठिन होता है और उनकी कटाई के लिए विशेष उपकरणो की आवश्यकता पडती है। किन्तु अब ऐसी अलुमिनियम मिश्रधातुएँ भी बनने लगी हैं जिनका यंत्रण सरलता से किया जा सकता है। भविष्य में हलकी मिश्रधातुओं का महान् विकास होगा, यह निश्चित है।

ग्रथ-सूची

CARPENTER, SIR H , AND ROBERTSON, J M *Metals* Oxford University Press

CLARK, G L *Applied X-Rays* McGraw Hill Book Co , Inc

CLEMENTS, F *Blast Furnace Practice*, Vols I-III Ernest Benn, Ltd

DESCH, C H *Metallography*. Longmans, Green & Co

GOWLAND, W. · *Metallurgy of the Non-ferrous Metals* Charles Griffin & Co , Ltd.

GREAVES, R. H., AND WRIGHTON, H. L : *Practical Microscopical Metallography*. Chapman & Hall, Ltd.
LIDDELL, D. M · *Handbook of Non-Ferrous Metallurgy*. McGraw Hill Book Co , Inc
METALS HANDBOOK, 1939 Ed American Society for Metals.
ROLLASON, E C : *Metallurgy for Engineers* Edward Arnold & Co.
STOUGHTON, B , AND BUTTS, A. · *Engineering Metallurgy*. McGraw Hill Book Co Inc.

उष्मसह पदार्थ

वाल्टर जे० रीज, ओ० बी० ई०, डी० एस-सी० टेक० (शेफील्ड), एफ० आर० आई० सी०

आधुनिक प्रौद्योगिकी में 'उष्म सह पदार्थों' से ऐसे पदार्थों का तात्पर्य है जिनमें उच्च द्रवणांक अर्थात् उष्म सहता के अतिरिक्त गलते हुए अथवा गले हुए कांच तथा धातुमलो की सक्षारण क्रिया जैसी अन्य क्रियाओ का भी सामना करने की क्षमता हो।

उष्मसह पदार्थों का उपयोग उन सभी उद्योगों में होता है जिनमें उष्मा का प्रयोग होता है। चूल्हे तथा गैस एव विद्युत विकिरको के तत्त्व बनाने में उनका घरेलू उपयोग भी बडा व्यापक है। यदि यह कहा जाय कि उष्मसह पदार्थों के बिना हमारी आज की सभ्यता ही सभव न होती तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि आधुनिक जीवन की अनेक आवश्यक एवं सुविधा की वस्तुएँ तैयार करने में किसी न किसी अवस्था पर इन पदार्थों की आवश्यकता होती है।

उष्मसह पदार्थों को, उनके रासायनिक गुणो के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अम्ल, पैठिक तथा उदासीन। किन्तु ये पदार्थ प्राय बहुत शुद्ध नही होते अत उनका सुस्पष्ट वर्गीकरण सभव नही है। सिलिका तथा अग्नि मिट्टी अम्ल वर्ग के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उष्मसह हैं। सिलिका की ईंटें बनाने के लिए क्वार्टजाइट शिला प्रयुक्त होती है, जिसमें ९७% सिलिका होना है परन्तु कुछ विशेष प्रयोजनो के लिए उच्च सिलिका बालू भी इस्तेमाल होती है। केवल रासायनिक विश्लेषण से ही किसी सिलिका शिला की उत्तमता का यथेष्ट ज्ञान नही होता, इसके अलावा उसके कणो के परिमाण एव उसकी दृढ़ता भी बडी महत्त्व-

पूर्ण बातें हैं। अग्निमिट्टी के रासायनिक निबन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिनके कारण उनसे औद्योगिक भट्ठियों की विविध अवस्थाओ एवं आवश्यकताओं के उपयुक्त विभिन्न प्रकार की अग्निईंटें बनायी जा सकती हैं। प्राय सभी प्रकार की अग्निमिट्टी में १–४ प्रतिशत लोहा ऑक्साइड होता है, (यह कच्ची मिट्टी मे माक्षिक, मार्कसाइट, लोह पत्थर इत्यादि सदृश खनिजो के रूप मे विद्यमान होता है।) इसलिए इनसे बनी अग्निईंटें बहुत सी भट्ठियों के क्रियाकरण में उत्पन्न अपचायक अथवा धूममय वायुमण्डल के प्रति बडी सुग्राही होती हैं। धम भट्ठियो के जैसे कार्बन मॉनो-ऑक्साइड युक्त वायुमण्डल में अग्निईंटो का टिकाऊपन अग्निमिट्टी में विद्यमान लोहे के विशिष्ट रूप पर निर्भर होता है. यदि स्वतत्र लोहा ऑक्साइड मौजूद हुआ तो इससे कार्बन मॉनोऑक्साइड के पृथक हो जाने से ईंटो के अन्दर कार्बन जमा होने लगेगा, जिससे ईंटे विखण्डित हो जायँगी। ऐसी परिस्थितियों मे टिकाऊ होने के लिए यह आवश्यक है कि अग्निईंटें इस प्रकार जलायी जायें कि उनका लोहा जटिल सिलिकेट के रूप में सयुक्त रहे।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पैठिक उष्मसह पदार्थ मैग्नेसाइट तथा डोलोमाइट से तैयार किये जाते हैं। किन्तु ब्रिटिश द्वीप समूह में मैंग्नेसाइट की प्राकृतिक खाने न होने से अभी हाल मे समुद्री जल से मैग्नेसिया निस्सारण की रीति निकाली गयी है। समुद्री जल के साथ चूने अथवा निस्तप्त डोलोमाइट की प्रतिक्रिया के भौति-रासायनिक अनुशीलन के फलस्वरूप यह आविष्कार हुआ है। स्थायी डोलोमाइट ईंटो के उत्पादन में अभी हाल में बडी प्रगति हुई है और अब पैठिक इस्पात भट्ठियो मे मैग्नेसाइट ईंटो की जगह पर बहुत हद तक यही ईंटें प्रयुक्त होने लगी हैं।

उदासीन उष्मसह पदार्थों में कार्बन अर्थात् ब्लम्बँगो अथवा ग्रैफाइट तथा क्रोम बडे महत्त्व के हैं। क्रोम तथा क्रोम-मैग्नेसाइट ईंट बनाने के लिए विविध क्रोमाइटो की उपयुक्तता का विशेष अनुशीलन किया गया है और इसके फलस्वरूप इन ईंटो की उत्तमता अब बहुत बढ़ गयी है।

कुछ ऐसे भी उष्मसह पदार्थ हैं जो उपर्युक्त वर्गो मे नही आते किन्तु अपने विशिष्ट भौतिक एव रासायनिक गुणों के कारण भट्ठियों के बनाने अथवा अन्य कामो में बहुतायत से प्रयुक्त होने लगे हैं। इनमे सिलिमैनाइट, अलूमिना (बाक्साइट सहित), जिरकॉन तथा जिरकोनिया, और सिलिकॉन कार्बाइड उल्लेखनीय हैं।

गत कुछ वर्षो में किये गये सैद्धान्तिक अर्थात् आधारभूत अनुसन्धानों के फलस्वरूप अनेक ऐसे अधि-उष्मसहों" (सूपर-रिफ्रैक्टरीज) का विकास हुआ है, जो बहुत ऊँचे द्रवण ताप, उत्सादन की वृहत्तर गति एव अति सक्षारी धातुमलो इत्यादि

से उत्पन्न अत्यन्त कठोर परिस्थितियो में भी सफलतापूर्वक टिकते है। इन विशिष्ट *उष्मसहो में क्रोम-मैग्नेसाइट, फॉर्स्टेराइट तथा स्पाइनेल ईंटें उल्लेखनीय हैं।*

उष्मसहों में उत्पादन का प्रति इकाई मूल्य किसी विशिष्ट उष्मसह के प्रारम्भिक दाम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, इस अनुभव के कारण उपर्युक्त विशेष *उष्मसहों के उत्पादन एव उपयोग में बडी आशु वृद्धि हुई है। विद्युत्-द्रावित अलूमिना* तथा मैग्नेसिया जैसे पदार्थो का प्रयोग बडी तीव्र गति से बढ रहा है। आजकल द्राव-ढलाई उष्मसहो (फ्यूज़न-कास्ट रिफैक्टरीज़) का उत्पादन भी खूब बढता जा रहा है, *ये विद्युत्-द्रावित पदार्थको उपयुक्त साँचो में डाल कर ढाले जाते है।* इस प्रकार का एक उष्मसह, जो अविराम काम करनेवाली काच-द्रावण भट्ठियो में विशेष रूप से काम आता है, मुलाइट निबन्ध ($3AL_2O_3 \cdot SiO_2$) वाले मिट्टी-बाक्साइट मिश्रणो को एक चाप भट्ठी में द्रावित करके तथा द्राव को बालू के साँचो मे ढाल कर बनाया जाता है। इन ईंटो अथवा सिलों के तापशीतन (ऐनीलिंग) से उनकी केलास-रचना में बड़ा सूक्ष्म अन्त पाचन (इण्टरलाकिंग) उत्पन्न होता है।

वाशिंगटन के 'जियोफिज़िकल लैबोरेटरी' में जो अनुसन्धान हुए है और जो कला-नियम (फेज़ रूल) के चित्र बनाये गये है उनके अध्ययन से दो या तीन उष्मसह आक्साइडो से बननेवाले यौगिको तथा मिश्रणो के बारे में बडा विस्तृत एव यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों मे इन आधारभूत रासायनिक अनुसन्धानो का क्षेत्र विशेष रूप से बढ गया है और विविध महितो (सिस्टम) के ज्ञान में जो हमारा अभाव था उसकी भी पूर्ति हुई है तथा इनके परिणामो का उत्तम व्यावहारिक प्रयोग किया गया है। इन्ही के फलस्वरूप एक्स-किरण वर्णक्रमलेखी (स्पेक्ट्रोग्राफ) जैसे नवीन उपकरणो का प्रयोग अब बडा व्यापक एव सरल हो गया है। एक्स-किरण द्वारा मिट्टी के अणुओ की रचना का अध्ययन करने से ही मिट्टी की सुघट्यता जैसे बहुमूल्य गुणो के रहस्य खुले है। इसी प्रकार के नूतन ज्ञान से मिट्टियो के औद्योगिक उपयोगो में सुनिश्चित उन्नति एव विकास किया जा सका है।

यान्त्रिक सामर्थ्य उष्मसह ईंटो का, विशेषकर अग्नि-मिट्टी की ईंटो का, एक बडा महत्त्वपूर्ण गुण है। अग्नि-ईंटो का 'शीत-त्रुटन सामर्थ्य' (कोल्ड क्रशिंग स्ट्रेंग्थ) ७००० या ८००० पौण्ड प्रति वर्ग इंच तक होता है और १००० पौण्ड प्रति वर्ग इंच *से कम तो कभी नहीं होता। किन्तु भट्ठी में तो 'तप्त त्रुटन सामर्थ्य' (हाट क्रशिंग* स्ट्रेंग्थ) यानी 'सभार उष्मसहता' (रिफैक्टरीनेस अण्डर लोड) ही अधिक महत्त्व-पूर्ण गुण है। अग्नि-मिट्टी कोई एक शुद्ध यौगिक तो होती नही, इसलिए उसका द्रवण किसी एक निश्चित ताप पर नही होता अर्थात् उसका कोई सुस्पष्ट द्रवणांक नही

बल्कि गलन-परास (मेल्टिग रेंज) होता है। और ज्यो ही ईंटो का मृदुलन प्रारम्भ होता है भार अथवा दाब सभालने का उनका सामर्थ्य बडी शीघ्रता से समाप्त होने लगता है। अधिकाश ईंटो के लिए यह ताप १,१००° सें० से अधिक नही होता। रासायनिक प्रतिक्रियाओ के अनुशीलन से तप्त करने पर ईंटो के यात्रिक सामर्थ्य के इस ह्रास के कारण ज्ञात हुए है, जिससे न केवल ईंटो की बनावट में उन्नति की जा सकी है वरन भट्ठियो की प्ररचना (डिज़ाइन) मे भी महत्वपूर्ण सुधार किये गये हैं। इनमे अन्य अग्नि-मिट्टियो के सूक्ष्म रासायनिक परीक्षण तथा वाणिज्यिक रूप से व्यवहार्य रीतियो के अनुशीलन को भी बडी प्रेरणा मिली है और इनमें से अवाछनीय खनिज अशुद्धियो का निरसन सभव हुआ है।

सुघट्य (प्लास्टिक) मिट्टी बनाने में अब विवातन अर्थात् डी-एयरिंग" विधा का प्रयोग किया जाने लगा है। सुघट्य मिट्टी मे अवशोषित अथवा अन्तराविष्ट वायु का घर्षण (फ्रिक्शनल) प्रभाव होता है, जिसके कारण उसकी सुघट्यता का पूर्ण विकास नही हो पाता। अत सुघट्य मिट्टी को एक ऐसे वेश्म मे होकर पार कराया जाता है जो शून्यक पम्प से जुडा होता है, इस प्रकार उसकी अधिकाश अन्तराविष्ट वायु निकल जाती है। ऐसा करने से न केवल सुघट्य मिट्टी की कार्यकारिता बढ जाती है वरन् निष्पन्न अग्नि-ईंटो की घनता भी बढ जाती है तथा उसकी रन्ध्रिता एव पारगम्यता कम हो जाती है। घनता बढने तथा रन्ध्रिता और पारगम्यता कम हो जाने से ईंटो का टिकाऊपन बहुत बढ जाता है, क्योकि उनमे उन वाष्पो तथा धातुमलो का प्रवेश अवरुद्ध हो जाता है जो उनके क्षय के विशेष कारण होते हैं।

पुराने समय मे उष्मसह ईंटें हाथ से साचे मे ढाली जाती थी, किन्तु अब यह काम मशीनो द्वारा किया जाता है। मशीनो द्वारा साँचो मे प्राय ५–६ पौण्ड वर्ग इच दाब पडता है। इसका एक प्रमुख लाभ तो यह है कि ईंटें आकार, परिमाण तथा परिरूप में एकसम होती हैं। जब भट्ठियो की दीवालो का विघर्षण (वियर) होने लगता है तो यह देखा गया है कि विघर्षण मुख्यत ईंटो के जोडो में प्रारम्भ होता है। एकसम आकार, परिमाण और परिरूप की ईंटो के प्रयोग से ये जोड बहुत ही सन्निकट हो जाते हैं और इसलिए भट्ठियो की आयु बढ जाती है।

यद्यपि उष्मसह ईंटो की उष्मा चालकता उतनी अधिक नही होती जितनी धातुओ की, फिर भी पर्याप्त होती है जिसके फलस्वरूप भट्ठी की दीवालो और उसकी छतो के द्वारा उसकी उष्मा का काफी ह्रास हो जाता है और उसकी उष्मा कुशलता बहुत कम हो जाती है। इस कठिनाई के निवारण के लिए लघु भारवाली रन्ध्रि अग्नि-ईंटें बनायी जाने लगी है, इनकी उष्मा-चालकता साधारण ठोस ईंटों की चाल-

क्ता का केवल पांचवां भाग होती है। इन पृथक्कारी अग्नि-ईंटों के प्रयोग से भट्ठी के बाहर विकिरण द्वारा उष्मा के ह्रास में बड़ी कमी हो गयी और उसके साथ साथ भट्ठी को किसी निश्चित ताप पर बनाये रखने के लिए ईंधन की खपत में भी। इन ईंटों की लघु उष्मा-धारिता से भट्ठी की कार्य-क्षमता में भी बड़ी महत्त्वपूर्ण उन्नति हो गयी है।

कभी कभी भट्ठी के कुछ भागों को ऐसी ईंटों से बनाना पड़ता है जो उष्मा प्रेषण (ट्रान्समिट) का काम साधारण अग्नि-ईंटों की अपेक्षा अधिक अच्छा कर सकें, और इसके लिए सिलिकॉन कार्बाइड की ईंटें इस्तेमाल की जाती हैं; इनका द्रवणांक २००० सें० से भी ऊँचा होता है तथा इनकी उष्मा चालकता साधारण अग्नि-ईंटों की चालकता की प्रायः दसगुनी होती है।

भट्ठियों के अस्तरों के कुछ भाग की आजकल एकाश्म (मोनोलिथिक) बनावट होती है। यह रोचक विकास भी ऊपर वर्णित अनुसन्धानों का ही फल है। भट्ठी के अस्तर की ऐसी बनावट का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें बिलकुल कोई जोड़ नहीं होता।

गत कुछ वर्षों में इस्पात, लोहा तथा अलोहम ढलाईघरों के लिए संश्लिष्ट सांचा-ढलाई बालू के उत्पादन एवं प्रयोग में बड़ी काफी प्रगति हुई है। यह भी रासायनिक अनुसन्धानों का प्रत्यक्ष फल है। संश्लिष्ट बालू तैयार करने से उष्मसहता, बन्ध सामर्थ्य (बॉण्ड स्ट्रेंथ) तथा पारगम्यता जैसे उसके गुणों का प्राकृतिक बालू की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर नियंत्रण किया जा सकता है, तथा फिर से इस्तेमाल करने के लिए बालू को पुन प्राप्त करनेवाले उपादेयकरण (रिक्लैमेशन) संयंत्रों का क्रियाकरण और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

जिन आधारभूत एवं प्रयोगात्मक अनुसन्धानों के कारण उष्मसह पदार्थों की प्रौद्योगिकी में महती प्रगति हुई है, उनका प्रायः सम्पूर्ण श्रेय रसायनज्ञों को ही है। इन अनुसन्धानों के ऊपर लिखित प्रयोगों के अलावा बहुत से अन्य अप्रत्यक्ष एवं बहुमूल्य प्रयोग किये गये हैं। विशेष प्रकार के स्फुल्लिंग-लिंग कायों (स्पार्किंग-प्लग बॉडी) का उत्पादन इन व्यावहारिक प्रयोगों में से सबसे रोचक बात है। आधुनिक बहु-सिलिन्डर वायुयान इंजनों जैसे अन्तर दाही इंजनों के अन्दर की कठिन परिस्थितियों का यह बड़ी सफलता से सहन कर लेता है।

ग्रंथ-सूची

CHESTERS, J. H. · *Steel Plant Refractories* United Steel Cos Ltd.
COMBER, A W · *Magnesite* Royal Institute of Chemistry.
KNIBBS, N V S *Lime and Magnesia* Ernest Benn, Ltd
NORTON, F H *Refractories.* McGraw Hill Book Co. Inc
PARTRIDGE, J H. · *Refractory Materials.* Royal Society of Arts.
RIES, H *Clays. Their Occurrence, Properties and Uses* John Wiley & Sons
SEARLE, A. B . *Refractories for Furnaces, Kilns, Retorts, etc* *Refractory Materials, Their Manufacture and Use.* Charles Griffin & Co , Ltd.
SEXTON, A. H *Fuel and Refractory Materials* Blackie & Son, Ltd.
SOSMAN, R B. · *Properties of Silica.* Reinhold Publishing Co.
WILSON, H *Clay Technology.* McGraw Hill Book Co. Inc.

अध्याय १७

भवननिर्माण सामग्री

भवननिर्माण सामग्री, गारा; सिमेण्ट; ऐस्फाल्ट तथा बिटुमेन। सिरामिक : मिट्टी के बर्तन, पोर्सिलेन तथा पत्थर के बर्तन; कांच; एनामल

गारा और सिमेण्ट

डी० इर्विन वाटसन, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० आई० सी०

मिट्टी का गारा सबसे साधारण एव प्राचीनतम सिमेन्टीय सामग्री है जो अब तक इस्तेमाल होती है। मिट्टी को लकडी की छडियो तथा घास से संबलित (रीइन्फोर्स्ड) करके अफ्रीका निवासी उससे अपने झोपडे बनाते है। चूना, बालू और पानी को अच्छी तरह मिला कर मामूली गारा बनाया जाता है, यद्यपि विज्ञान से यह सिद्ध हो चुका है कि चूना और बालू के बीच कोई रासायनिक प्रतिक्रिया नही होती, बालू केवल एक तनुकर्ता का काम करती है। केवल चूने का प्रयोग करने से जो अनावश्यक सिकुडन होती है वह बालू मिलाने से नही होती। गारे में से पानी सूखने से ही वह जम जाता है तथा कैल्सियम कार्बोनेट के केलासो के पारस्परिक गुंथन से कठोर हो जाता है, इसमे समस्त सामग्री एक सलागी (कोहेयरेण्ट) पुञ्ज के रूप में बँध उठती है।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होने के पूर्व ही अनुभव द्वारा यह सिद्ध हो चुका था कि अशुद्ध चूने के बजाय शुद्ध चूने से अच्छा गारा बनता है। जलप्रेरित गारे (हाइड्रालिक मॉर्टर) तथा सिमेण्ट की संरचना एवं प्रतिक्रिया सबन्धी ज्ञान १८८७ में ली चैटेलियर के अनुसन्धानो के प्रकाशन तक प्राय अनिश्चित ही रहा, यद्यपि स्मीटन ने १७५६ में हाइड्रालिक मॉर्टर अथवा चूनपत्थर (लाइम स्टोन) की प्रकृति के बारे में कुछ अनुशीलन अवश्य किया था। यह प्रयत्न एडिस्टोन लाइट हाउस की नींव के लिए उपयुक्त सामग्री की खोज के संबन्ध में किया गया था। स्मीटन ने अपने एक रसायनज्ञ मित्र कुकवर्दी से परामर्श किया और उन्होने उनको चूनपत्थर के विश्लेषण की सलाह

दी। इससे पता लगा कि मिट्टी हाइड्रालिक चूनपत्थर का एक आवश्यक अंग है। उन्होंने यह भी पता लगाया कि चूनपत्थर को भस्म करने से जो चूना तैयार होता है वह जलसह गारा बनाने के लिए मोटे अर्थात् शुद्ध चूने से अधिक अच्छा होता है।

सीमेण्ट बनाने के लिए चूनपत्थर या खडिया और मिट्टी के मिश्रण को भट्ठी में उस ताप तक तप्त किया जाता है जब झांवा बन जाता है। इस प्रकार प्राप्त पदार्थ को बारीक पीसकर चूर्ण बना लिया जाता है। यही बाजारों में सीमेण्ट के रूप में बिकता है। १७९६ में जेम्स पार्कर ने मृन्मय चूनपत्थर (आर्जीलियस लाइम स्टोन) को ही तप्त करके रोमन सीमेण्ट तैयार किया था। इस चूनपत्थर में दोनों आवश्यक तत्व मौजूद थे। मृन्मय चूनपत्थर के स्थान पर मिट्टी और चूने के मिश्रण को तप्त करके रोमन सीमेण्ट की नक्ल करने के प्रयत्न से पोर्टलैण्ड सीमेण्ट के निर्माण का प्रारम्भ हुआ। इस रीति के कारणों एवं क्रियाओं के बारे में कुछ भी ज्ञात न था और कभी कभी अशम्य (अनस्लेकेब्ल) भाग के रूप में सर्वोत्तम भाग फेंक दिया जाता था। भट्ठी के अन्दर होनेवाली रासायनिक प्रतिक्रियाओं के बारे में कुछ सोचा ही नहीं जाता था, यहाँ तक कि जब वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान करके कुछ तथ्य प्रकाशित भी किये तब भी निर्माताओं को उनसे लाभ उठाने में बडा समय लगा। अब तो यह सर्व-विदित है कि भट्ठी में चूना और मिट्टी की रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कैल्सियम सिलिकेट तथा अलुमिनेट बन जाता है। जब सीमेण्ट जल द्वारा उपचारित किया जाता है तब उसका विच्छेदन हो जाता है जिससे शमित अर्थात् बुझाया हुआ चूना तथा सिलिका और अलुमिना से व्युत्पन्न अम्ल तैयार हो जाते हैं। इन पदार्थों की पुनः प्रतिक्रिया होती है और जलीयित सिलिकेटों तथा अलुमिनेटों के गुथे हुए केलास बन जाते हैं, जिससे उसमें बडी दृढता आ जाती है और पहले वह जमता और फिर कठोर हो जाता है। ये सभी क्रियाएँ एक ही विधा के विविध क्रम हैं। इस प्रकार रसायनज्ञों के प्रयत्नों से ऐसे तथ्यों का उद्घाटन हुआ जिनसे सीमेण्ट-निर्माताओं को अपने उत्पादन की उत्तमता बढाने में प्रचुर सहायता मिली।

किन्तु सीमेण्ट सम्बन्धी रसायन के अध्ययन से उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त हमें और भी लाभ हुए। रसायनज्ञों ने यह भी बताया कि सीमेण्ट में मैग्नीसिया की अधिकता तथा सल्फेटों की अशुद्धता से उसकी जलरोधी शक्ति में भारी कमी हो जाती है; अतः ऐसे पदार्थों का निरसन तथा उन्हें सुनिश्चित सीमाओं के अन्दर ही सीमेण्ट में रहने देना परमावश्यक है। समुद्री जल के सम्पर्क में आनेवाली कंकरीट-नींवों के बनाने के लिए इस्तेमाल होनेवाले सीमेण्ट से या तो एकदम ठोस और अवेध्य पुञ्ज बनना चाहिए या उस पर अवेध्य पत्थर का आवरण लगाना होता है, क्योंकि

समुद्री जल में सल्फेटो और मैग्नीसिया के लवणो की बडी अधिकता होती है, इसलिए अगर इस जल का प्रवेश हो जाय तो सीमेण्ट का विच्छेदन होने से इमारत कमजोर हो जाती है तथा उसकी आयु कम हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि ऐसी अशुद्धियों के लिए निश्चित मानक एव विशिष्टियो के निर्धारण की बडी आवश्यकता हुई, क्योकि इन्ही के ऊपर बडे बडे एवं बहुमूल्य भवनो का स्थायित्व निर्भर करता है। एतदर्थ १९०४ में 'इन्जीनियरिंग स्टैण्डर्ड्स कमेटी' द्वारा नियुक्त एक उपसमिति ने 'ब्रिटिश स्टैण्डर्ड्स स्पेसिफिकेशन' का सूत्रपात किया। इस उपसमिति में इन्जीनियर, ठीकेदार, रसायनज्ञ, शिल्पी, निर्माता तथा जन-कार्यों के लिए बडी मात्रा मे पोर्टलैण्ड सीमेण्ट का प्रयोग करनेवाले प्रशासनिक निकायो के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन विशिष्टियों (स्पेसिफिकेशन) में रासायनिक एव यान्त्रिक दोनो प्रकार की परीक्षाओ का समावेश है। आगे चलकर इसमें कुछ सशोधन अवश्य हुए किन्तु उत्पादको एव उपयोक्ताओ द्वारा स्वीकृत ये वैज्ञानिक स्पेसिफिकेशन मोटे तौर पर आज भी वैसे ही हैं।

१८८७ में ली चैटेलियर के अनुसन्धानो के प्रकाशन के बाद से भवननिर्माण-सबन्धी सामग्रियो तथा समस्याओ के बारे में अन्वेषण के लिए रसायनज्ञ बडी तत्-परता एव सफलतापूर्वक अग्रसर हुए। कभी कभी पोर्टलैण्ड सीमेण्ट से बनी कंकरीट-नीवो को बनाने में बडी अप्रत्याशित असफलता हुई। ऐसी असफलताओ के कारणो की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि उस स्थानविशेष की भूमि के नीचे जल में सल्फेट अधिकता से विद्यमान थे, जिनकी प्रतिक्रिया की वजह से ही सीमेण्ट का विच्छेदन हुआ और नीव को क्षति पहुँची। यह प्रतिक्रिया किन दशाओ में उग्रतर हो जाती है, इसका अध्ययन किया जाने लगा। १९२६ में बीड ने अपने अनुसन्धानो के परिणामो को प्रकाशित किया जिसके फलस्वरूप अलुमिनीय सीमेण्ट का वाणिज्यिक विकास हुआ। खड़िया और बाक्साइट के मिश्रण के द्रावण से यह सीमेण्ट तैयार किया जाता है और इसमें मुख्यत कैल्सियम अलुमिनेट होता है। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इस पर सल्फेटो के आक्रमण का कोई प्रभाव नही होता तथा यह जल के प्रति इतना क्रियाशील है कि इससे बनी ककरीट में २४ घण्टे के अन्दर ही प्रचुर दृढता आ जाती है। जमने की प्रतिक्रिया में इतनी ऊष्मा निकलती है कि उसका नियत्रण बडा आवश्यक होता है। पोर्टलैण्ड सीमेण्ट और अलुमिनीय सीमेण्ट को मिलाया नहीं जाता, क्योकि कुछ अनुपात में इसमें जल डालने से प्राय यह तुरन्त जम जाता है।

पोर्टलैण्ड सीमेण्ट की सरचना के सबन्ध में और अनुसन्धान किये गये हैं जिनके फलस्वरूप बड़ी शीघ्रता से जमनेवाले पोर्टलैण्ड सीमेण्ट का विकास किया जा सका

है। इनसे भी २४ घण्टे के अन्दर ही बडी सुदृढ ककरीट बन जाती है। किन्तु ये सीमेण्ट सल्फेटो द्वारा होनेवाली क्षति को नही रोक पाते। लेकिन आशा है कि शीघ्र ही ऐसा पोर्टलैण्ड सीमेण्ट भी तैयार हो जायगा जो इस प्रकार की क्षति का रोधक होगा।

इस दिशा मे अनेक और प्रकार के अनुसन्धान हो रहे है, जिनके फलस्वरूप न केवल उत्तम और रासायनिक दृष्टि से रोधी सीमेण्ट तैयार किया जा सकेगा, वरन् ऐसे साधनो का अन्वेषण किया जायगा जिनसे धम-भट्ठियो से निकले उन क्षेप्य धातुमलो का लाभकारी उपयोग किया जा सकेगा जो इस्पात-निर्माणियो के आसपास के क्षेत्रो में फेंके जाते और उनको विरूप कर देते है।

१९२० मे इग्लैण्ड की सरकार ने 'बिल्डिग रिसर्च बोर्ड' नियुक्त करके भवन निर्माण सबन्धी समस्याओ के वैज्ञानिक हल के महत्त्व को स्वीकार किया। ईस्ट ऐक्टन मे १९२१ में अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ और उसका ऐसी गति से विकास हुआ कि चार वर्षो के अन्दर ही उसके लिए वाटफोर्ड मे एक बहुत बडे रिसर्च स्टेशन की स्थापना करनी पडी। इस सस्था द्वारा किये गये अनुसन्धानो ने भवन-निर्माण-समस्याओ के प्रति शिल्पियो और इञ्जीनियरो के विचारो मे ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया कि अब भवन-निर्माण सबन्धी शायद ही कोई ऐसी योजना हो जो रसायनज्ञो के वैज्ञानिक परामर्श के बिना सम्पन्न की जाती हो। 'बिल्डिग रिसर्च बोर्ड' ने ऐसी स्वतत्र प्रयोग-शालाओ के सहयोग और सहायता के लिए प्रयत्न किया जहाँ भवननिर्माण-समस्याओ का विशेष अनुशीलन किया जाता है।

जब ऐसी समस्याओ का वैज्ञानिक रीति से अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ तो भवन-निर्माणकार्यो मे नयी-नयी सामग्रियो के प्रयुक्त किये जाने की सभावना विदित होने लगी तथा इस दिशा में बडा काम भी होने लगा। इनके फलस्वरूप कैल्सियम-सिलिकेट की ईंटे, मैग्नेसाइट सीमेण्ट, फेनायित धातुमल (फोम्ड स्लैग) तथा विभाजन ईंट (पार्टीशन ब्रिक्स) एव प्लास्टर बोर्डो जैसी निर्माणवस्तुओ का प्रचलन हुआ है। रसायनज्ञो की प्रतिभा के परिणामस्वरूप ही सिलिको-फ्लूराइड, केज़ीन विलयनो तथा धातवीय साबुनो सदृश जलसह पदार्थो का आविष्कार हुआ। इस कार्य के लिए कैल्सियम क्लोराइड तथा पोटासियम सिलिकेट के साधारण विलयन भी प्रयुक्त होने लगे है।

एक सामान्य रासायनिक प्रतिक्रिया के प्रत्यक्ष प्रयोग का 'जूस्टन सीमेण्टीकरण विधा' बड़ा उत्तम उदाहरण है।

पहले सुरग बनाने मे एक कठिनाई का अनुभव होता था, क्योकि खुले ककड इतने

अमंलागी होते कि कभी कभी सुरंग भयकर रूप से ढह जाती। किन्तु अब सुले ककड़ो में कैल्सियम क्लोराइड तथा सोडियम सिलिकेट के विलयनो को दबाव से अन्तःक्षेपित करके यह कठिनाई दूर की जा सकती है। उपर्युक्त रासायनिक यौगिको की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ऐसा स्थैपक (बधक) चिपकाऊ पदार्थ बन जाता है जो ककडो को बहुत मंलागी बना देता है और सुरंग के ढहने का कोई डर नही रह जाता।

भवन-निर्माण की कला बडी पुरानी है किन्तु बहुत दिनो तक यह केवल अनुभवो पर ही आधारित रही, लेकिन अब इसमें वैज्ञानिक अनुशीलन के इतनी तीव्र गति से प्रवेश करने से सर्वथा लाभ ही नहीं हुआ, वरन् अन्य उद्योगो की भांति संक्रमण-काल में इसमें भी अनेक ऐसी कठिनाइयाँ उठ खडी हुईं, जिनका उस समय कोई प्रश्न ही न था जब भवन-निर्माण के काम में क्षेत्रविशेष में उपलब्ध सामग्रियो का ही प्रयोग होता था तथा वहीं के कारीगर अपने अपने अनुभव से काम लेते थे। रसायनज्ञो को इन कठिनाइयों का भी समाधान करना पडा है। इनमें से अधिकाश कठिनाइयो का बडा कारण तो आज के भवन निर्माण की द्रुत गति है जो स्वयं वैज्ञानिक अनुसन्धानो की देन है। इनका दूसरा कारण आजकल के परिवहन साधन भी हं जिनकी सहायता से एक जगह से सामग्रियाँ दूसरे स्थान पर बड़ी सरलता से पहुँचायी जा सकती है, जहाँ की परिस्थितियों एव प्रविधि के अनुकूल वे नही होती। इन दशाओ में भी वैज्ञानिक अनुशीलन की आवश्यकता हुई, जिसमे सामग्रियों के गुण ठीक ठीक जाने जा सकें और उनके सफल प्रयोग को निश्चित परिस्थितियाँ निर्धारित की जायँ। कभी कभी इसमें ऐसी ऐसी जटिल समस्याएँ उठ खड़ी होती हं जिनके हल में भी अनेक विरोधी सम्मतियाँ उपस्थित की जाती हं। आज के विस्तृत एवं व्यापक ज्ञान के समय में इस प्रकार की परिस्थितियाँ अस्वाभाविक नहीं वरन् अनिवार्य हैं। भवन-निर्माण की समस्याओ के हल में लगे रसायनज्ञो को अनुभवी लोगो से भी परामर्श करना चाहिए, क्योंकि प्रयोगशाला में सम्पन्न की जानेवाली प्रतिक्रियाओं एव वास्तविक भवननिर्माण कार्यो के बीच के अन्तर को मिटाने की यही सबसे उत्तम रीति है।

पिछले २० वर्षों में ईंट बनाने की कला ने प्राय पूर्णरूप से वैज्ञानिक स्वरूप धारण कर लिया है। आधुनिक ईंटों के भट्ठो की कार्यगति और उनकी कार्यक्षमता की तुलना पुराने समय के भट्ठो से करने पर इस क्षेत्र में विज्ञान के चमत्कार का वास्तविक भान होता है। इसमें भी नयी-नयी कठिनाइयो का सामना किये बिना सफलता नही मिली है, प्रस्फुटन (एफ्लोरेसेन्स) के कारण ईंटो की विरूपता इसका अच्छा उदाहरण है। इस प्रस्फुटन का कारण खोजने पर ज्ञात हुआ कि यह मँगनी-

सियम सल्फेट की उपस्थिति से होता है और मिट्टी के मेंगनीसियम सिलिकेट एवं ईधन के सल्फर की पारस्परिक प्रतिक्रिया से बन जाता है। यह कठिनाई भी कोई नयी नही है क्योकि पहले भी कुछ क्षेत्रो से प्राप्त ईंटो के ऊपर श्वेत जमाव मे उनकी क्षति का अनुभव किया गया है। इसे 'भित्ति कैमर' की सज्ञा दी गयी थी। अब इसके वास्तविक कारण जान लेने से इसके निवारण की रीतियाँ भी निकाल ली गयी हैं। इनमें से एक रीति तो यह है कि भट्ठे के ताप को इतना ऊँचा उठा दिया जाय कि मैगनीसियम सल्फेट का विच्छेदन हो जाय। इस प्रकार विज्ञान की सहायता से ऐसे अनेक क्षेत्रो की मिट्टी की ईंटे बनायी जा सकी जो पहले इस कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानी जाती थी। प्रगति तो इतनी हुई है कि अब किसी भी क्षेत्र एव किसी भी प्रकार की मिट्टी से ईंटे बनायी जा सकती है, यद्यपि हर परिस्थिति मे यह आर्थिक दृष्टि से सदैव लाभकारी हो ऐसा जरूरी नहीं।

चूना बुझाने की वैज्ञानिक रीतियो का भी ऐसा विकास हुआ है कि अब हर प्रकार के चूने को तैयार जलीयित दशा मे प्राप्त करना सभव हो गया है। इससे वेबुझाये चूने के कणो के प्रसरण (एक्सपैन्सन) के कारण उत्पन्न होनेवाली कठिनाई का सरल निवारण हो सका है।

विविध प्रकार के चूने के भौतिक गुणों की जांच के लिए भी अनेक अनुसन्धान हुए हैं। इनके फलस्वरूप 'ब्रिटिश स्टैण्डर्डस इन्स्टिट्यूशन' ने ऐसी विशिष्टियाँ (स्पेसिफिकेशन) जारी की हैं जिनके अनुसार विविध प्रकार के चूने की न्यूनतम आवश्यकताएँ एव प्रयोगशालाओ मे की जानेवाली जाँच की मानक रीतियाँ निर्धारित की जाती है।

आधुनिक अनुसन्धान एव विकास की दिशा फर्श बनाने अथवा जोड भरने के लिए सीमेण्ट को बिटुमिनी पायस अथवा रबर आक्षीर (लैटेक्स) के साथ प्रयोग करने इत्यादि की ओर मुड गयी है। आजकल तो इस काम के लिए प्लास्टिको की मिलावटो का प्रयोग करने पर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

ग्रंथ-सूची

BIED, J. *Recherches Industrielles sur les Chaux, Cements et Mortiers.* Dunod.

BLOUNT, BERTRAM *Cement* Longmans, Green & Co , Ltd.

COMBER, A W : *Composition Flooring and Floorlaying* Charles Griffin & Co., Ltd

DAVIS, A. C. *Portland Cement* Concrete Publications, Ltd.
ECKEL, E. L : *Cements, Limes and Plasters.* John Wiley & Sons, Inc. and Chapmua & Hall, Ltd
INSTITUTION OF CIVIL ENGINEERS, COMMITTEE OF : *Reports on Deterioration of Structures.* Department of Scientific and Industrial Research. H M. Stationery Office.
KLEINLOGEL, A *Einflusse auf Beton* Ernst und Sohn
KUHL, H *Cement Chemistry in Theory and Practice.* Concrete Publications, Ltd
LEA, F M *Cement and Concrete.* Royal Institute of Chemistry.
LEA, F M., AND, DESCH, C H *The Chemistry of Cement and Concrete.* Edward Arnold & Co
Post-War Building Studies, No 1. H. M. Stationery Office
SEARLE, A B. . *Kloes Manual for Masons.* J & A Churchill, Ltd.

ऐस्फाल्ट और बिटुमेन

डी० एम० विन्सन, एम० सी०, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० आई० सी०

ऐस्फाल्टिक बिटुमेन एक प्राकृतिक पदार्थ है जिसमें उच्च अणु-भार वाले जटिल हाइड्रोकार्बन मिले होते हैं। इसमें अभिपिण्डन अर्थात् जमकर एक पिण्ड बन जाने का विशेष गुण होता है, किन्तु साथ ही यह कार्बन डाइसल्फाइड में काफी मात्रा में विलेय होता है। यह कुछ कच्चे पेट्रोलियम तेलों में होता है और उनमें से आसवन द्वारा हल्के प्रभागों (लाइटर फ्रैक्शन्स) को निकालने के बाद प्राप्त किया जाता है।

ऐस्फाल्टिक बिटुमेन एवं किसी प्रकार के खनिज पदार्थ के मिश्रण को 'ऐस्फाल्ट' कहते हैं, और इस रूप में यह संसार के बहुत से भागों में प्रकृत्या पाया जाता है। यूरोप की ऐस्फाल्ट की चट्टानों का व्यापक रूप से अनुशीलन किया गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भूमिगत कच्चे पेट्रोलियम तेलाशयों में से तेल पृथ्वी के डोलने से आसपास के स्तरों की सरन्ध्र चट्टानों में प्रवेश कर गया और तेल के हल्के प्रभाग कालगत उद्वाष्पन से उड़ गये तथा चट्टानों के रन्ध्रों में ऐस्फाल्टिक बिटुमेन बच गया।

फ्रान्स के एक क्षेत्र में शुद्ध चूनापत्थर में व्याप्त बिटुमेन पाया जाता है। ऐस्फाल्टिक चट्टानों की ऊपरी सतहों का बिटुमेन १००० फुट नीचे की सतहोंवाले बिटु-

मेन की अपेक्षा अत्यधिक कठोर होता है। सभवत इसका कारण यह है कि नीचे की सतहो से अभी हलके प्रभागो का पूरा उद्वाष्पन नही हो पाया है। और जैसे जैसे उनका उदवाष्पन होता जाता है बिटुमेन कठोर होता जाता है।

त्रिनिडाड द्वीप के एक क्षेत्र मे ऐस्फाल्टिक बिटुमेन में बडी बारीक मिट्टी मिली होती है। सभवत इसका विशाल पैमाने पर उद्भव कर्दम-ज्वालामुखी (मड-वालकेनो) के साथ साथ विशाल पैमाने पर तेल आस्त्र्याव (आयल सीपेज) के कारण हुआ।

कच्चे पेट्रोलियम के उद्भव के संबन्ध मे भी काफी विवाद रहा है, किन्तु अधिकतर मान्य सिद्धान्तो के अनुसार यह समुद्री जीवो एव समुद्री वनस्पतियो के विच्छेदन से ही बना है। इस सिद्धान्त की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि बिटुमेन के भस्मीकरण से प्राप्त भस्म मे वैनेडियम, निकेल तथा अन्य ऐसे तत्त्व पाये जाते है जो समुद्री घासो के भस्म में होते है।

मनुष्य द्वारा ऐस्फाल्ट के प्रयोग की कहानी भी बडी पुरानी है। ईसा पूर्व ६०० मे ईटो के जडने के लिए जोडो के पूरक रूप मे तथा भवननिर्माण प्रयोजनो के लिए इसके प्रयोग का उल्लेख मिलता है। पेरू के इका लोग भी बिटुमिनी ककरियो से अपने राजपथ बनाया करते थे।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे सडक बनाने के लिए ऐस्फाल्टिक शिला का प्रथम उपयोग किया गया था। इस ऐस्फाल्ट को खदानो से प्राप्त बिटुमेन मे मिलाने से एक लेपी ऐस्फाल्ट (मैस्टिक ऐस्फाल्ट) प्राप्त होता है जिसका प्रयोग छत वगैरह बनाने मे किया जाता है।

१९१३ में मेक्सिको मे कच्चे पेट्रोलियम तेल से बिटुमेन का उत्पादन वाणिज्यिक पैमाने पर शुरू किया गया और चूँकि यह प्राकृतिक बिटुमेन से सस्ता था इसलिए मुख्य सडको के बनाने मे इसका प्रयोग सुलभ हो गया। मोटरगाडियो के प्रचलन से इसको और भी प्रेरणा मिली। केवल जल डालकर पीटी हुई कंकड की जो सडके घोडा-गाडियो के यातायात के लिए उपयुक्त थी उन पर मोटरगाडियो के चलने से जल्द ही गड्ढे पड जाने लगे, क्योकि मोटरो के टायर ककडो के बीच के बन्धन पदार्थों को अवशोषित कर लेते थे, इसीलिए अधिक धूल उडती और सडके जल्द खराब हो जाती। इस कठिनाई के निवारण के लिए धूल मारनेवाले तेल एव अपरिष्कृत अलकतरा इस्तेमाल किया जाने लगा। आगे चलकर सडक बनाने की और उत्तम रीतियाँ प्रयुक्त होने लगी और बालू तथा ग्रैनाइट की ककडियों को तप्त बिटुमेन मे मिलाकर सडको पर फैलाने मे उनकी भली-भाँति रक्षा की जा सकी। नगरो के मार्गो में यह कठिनाई नही उठी क्योकि उनके बनाने में संपीडित ऐस्फाल्ट का प्रयोग पहले ही

से होता था और उनमें टिकाऊपन का विशिष्ट गुण होने से घोड़ागाड़ियों के स्थान पर मोटरगाड़ियों के चलने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

ऐस्फाल्टिक बिटुमेन बनाने का उद्योग बड़ा महत्त्वपूर्ण उद्योग बन गया। उसी कच्चे तेल में से न केवल पेट्रोल और मोटरगाड़ियों के लिए स्नेहक (लुब्रिकेटिंग) तेल निकाला जाता, वरन् सड़कों की सतह बनाने के लिए बिटुमेन भी प्राप्त किया जाने लगा।

प्रारम्भिक दिनों में बिटुमेन उद्योग वैज्ञानिकों के नहीं 'व्यावहारिक लोगों' के हाथ में था, फिर भी उसमें अच्छी प्रगति की जा सकी। अधिकांशतः इन 'व्यावहारिक लोगों' की सूझ-बूझ ठीक होती और कार्य में विशेष अड़चन नहीं पड़ती थी, किन्तु कभी कभी पृष्ठ-निर्माण (रोड सर्फेसिंग) में बड़ी असफलता होती, जिससे ठीकेदारों को भारी हानि उठानी पड़ती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए विज्ञान की सहायता की आवश्यकता हुई जिससे ऐसी असफलता के ठीक ठीक कारणों का अनुशीलन करके उसके निवारण के मार्ग निकाले जा सकें। इस पर भी पहले तो अनुभव का ही आश्रय लेना पड़ा और जब एक तरीका ठीक न जान पड़ता तो दूसरा इस्तेमाल किया जाता। इस प्रकार की परीक्षाओं के लिए विशिष्ट क्षेत्र बनाये गये और सावधानी से उनका निरीक्षण किया गया। रसायनज्ञों ने कुछ ऐसे भौतिक परीक्षण निकाले जिनकी सहायता से उपयुक्त और अनुपयुक्त सामग्रियों की जाँच की जाने लगी। इन गुणों के समन्वित अनुशीलन से यह ज्ञान हुआ कि उपयुक्त असफलताएँ अति कठोर बिटुमेन का अनुपात कम होने अथवा बारीक पूरक की कमी के कारण होती थीं। प्रयोगशालाओं में किये गये नियन्त्रण एवं परीक्षण से ऐसे सन्तोष-जनक मिश्रणों का निर्माण सम्भव हुआ जिनके टिकाऊपन की समुचित प्रत्याभूति दी जा सकती थी। १९३९ के पूर्व किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप ही ऐसे ऐसे राजमार्ग बनाये जा सके जिन पर अत्यधिक औद्योगिक यातायात सफलतापूर्वक जारी रहा, फिर भी बहुत समय तक उनकी मरम्मत की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी।

अति तीव्र गति से चलनेवाली मोटर-गाड़ियों के प्रचलन से ऐसी सड़कों की आवश्यकता हुई जिनकी सतहें अधिक फिसलने वाली न हों। इसके लिए रोलिंग ग्रैनाइट की बिटुमेन-लगी कंकड़ियों को सड़क बनाते समय उनकी सतह पर बिछा दिया जाने लगा।

आजकल ऐस्फाल्टिक बिटुमेन इस्तेमाल करनेवाला सबसे बड़ा उद्योग छत बनानेवाले नम्दे (फेल्ट) का है। एतदर्थ पैठिक तन्तु बनाने के लिए ऐसे चीथड़ों का प्रयोग किया जाता है जिनमें जट और मैनिला तन्तुओं के साथ ऊन, कपास तथा

लिनेन का अनुपात अधिक हो। इन्ही से कागज बनानेवाली मशीनों पर तन्तु आधार (फाइबर बेस) बनाये जाते है। इन्हें पहले मृदु बिटुमेन से संतृप्त करके उन पर कठोर बिटुमेन का आवरण चढा दिया जाता है। परिष्कृत बिटुमेन में हवा फूंककर ही कठोर बिटुमेन बनाया जाता है। इस क्रिया से इसके गुणो मे काफी परिवर्तन हो जाता है। इससे बिटुमेन का आंशिक आक्सीकरण हो जाता है और उसका द्रवणांक बढ जाता है। कही कही प्रयोग किये जानेवाले नम्दे के बिटुमेन की श्रेणी उस देश के जलवायु पर निर्भर करती है। इसके निर्माण में कुछ हेरफेर करके प्राय किसी भी जलवायु के उपयुक्त नम्दा बनाना अब संभव हो गया है।

युद्धकाल मे कारखानो के बनाने के लिए छतवाले नम्दे की अत्यधिक माग हुई। साथ ही छत से आनेवाले प्रकाश को रोकने तथा बम गिरने से होनेवाली क्षति की मरम्मत के लिए इन नम्दों को टाट अथवा बोरे से और मजबूत बनाना पडा।

आगे चलकर बिटुमिनीकृत टाट भी बनने लगा। हवाई अड्डों पर विमानो के उतरने के लिए पट्टियों के बनाने के लिए इस तरह का लाखों गज टाट प्रयुक्त किया गया। बिजली के उत्तम इन्सुलेटर के रूप में भी बिटुमेन का व्यापक प्रयोग होता है।

धातु वस्तुओं के आरक्षण एवं जलरोधन प्रयोजनो के लिए प्रयुक्त होनेवाले रगलेप तथा प्लास्टिक यौगिको के बनाने के लिए यही बिटुमेन पैंठिक-पदार्थ का काम करता है। इसके अलावा अनेक अन्य औद्योगिक विधाओं मे इसका व्यापक प्रयोग होता है।

गत २५ वर्षो में बिटुमेन के उत्पादन मे तथा सडक एवं भवन-निर्माण तथा अन्य प्रयोजनों के लिए ऐस्फाल्टिक सामग्रियों के विकास मे विज्ञान ने अद्भुत योगदान किया है। एतदर्थ अनेक उद्योगों में विज्ञानकर्मी तत्परता से लगे हुए हैं।

ग्रंथ-सूची

ABRAHAM, H. *Asphalts and Allied Substances* D Van Nostrand Co, Inc

BROOME, D C *Testing of Bituminous Mixtures* Edward Arnold & Co

SPIELMANN, P E *Bituminous Substances*. Ernest Benn, Ltd

मृत्तिका उद्योग

मिट्टी के वर्तन, पोर्सिलेन तथा पत्थर पात्र

हैरी डब्लू० वेब, डी० एस-सी० (बर्म०), एम० आई० केम० ई०, एफ० आर० आई० सी०

अग्रेजी का 'सिरामिक' शब्द वडा व्यापक है क्योंकि इसके द्वारा मिट्टी से बनी समस्त प्रकार की वस्तुओ के अलावा अनेक दूसरी तरह के पदार्थों का भी बोध होता है। अत इस विषय के प्रतिपादन के लिए इसके निम्नलिखित विभाग किये जाते हैं—(१) *काच*, (२) *भवन-निर्माण सामग्री*, (३) *ऊष्मसह पदार्थ, तथा* (४) *मिट्टी* के वर्तन। इस विभाग में मिट्टी के वर्तन, पोर्सिलेन तथा पत्थर के वर्तनो की चर्चा की जायगी।

साधारण मनुष्य के लिए ऊपर लिखे वर्तनो के सूक्ष्म भेदो को समझना वडा कठिन है, क्योकि कभी कभी तो सिरामिस्ट लोग स्वय ही उनकी परिभाषाओं पर एकमत नही होते। आम तौर पर सिरामिस्ट लोग ऐसे पात्रो का वर्गीकरण रग, काचीयता (विट्रियसनेस), पारभासकता (ट्रान्सलुसेन्सी) एव निवन्ध (बनावट, कॉम्पोज़ीशन) इत्यादि जैसे गुणो के आधार पर करते है। उदाहरणार्थ साधारण मनुष्य के लिए 'पोर्सिलेन' शब्द से चाय एव भोजो में इस्तेमाल होनेवाले श्वेत, पारभासक तथा काचीय पात्रो अथवा फूलदानो का भान होता है। किन्तु प्रयोगशालाओ *के लिए वना पोर्सिलेन यद्यपि घरेलू पोर्सिलेन की ही तरह होता है लेकिन उसके बनाने* में तापसहन, मजबूती एव अम्ल और क्षाररोधी काचिका (ग्लेज़) के गुण उत्पन्न करने का विशेष ध्यान रखा जाता है। विजली के काम में इस्तेमाल किये जानेवाले पोर्सिलेन में ताप-सहन और मजबूती के अलावा उत्तम इन्सुलेटर के गुणो को अपेक्षा की जाती है। इन गुणो के लिए उसकी बनावट में थोडा अन्तर किया जाता है और साथ ही तनिक रन्ध्रिता भी रखी जाती है। विजली उद्योग में प्रयुक्त होनेवाले पोर्सिलेन के विविध प्रकार के निवन्ध होते हैं और उनके लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थ इस्तेमाल किये जाते हैं। चाय तथा भोज के लिए इस्तेमाल होनेवाले सर्वोत्तम श्रेणी के पात्रो को 'बोन चाइना' कहते हैं, क्योकि इनके निर्माण में पिसी हुई तथा निस्तप्त (कैल्साइण्ड) अस्थि (बोन) का प्रयोग होता है। यद्यपि पारभासकता, काचीयता *और सफेदी में यह पोर्सिलेन की तरह होता है किन्तु उसका निवन्ध बहुत भिन्न होता है।*

पत्थर-पात्रों में काचीयता तो अवश्य होती है किन्तु पारभासकता नही होती।

पहले केवल प्राकृतिक मिट्टी से बने पात्रों को ही पत्थर-पात्र (स्टोन वेयर) कहा जाता था तथा उनसे चटनी-अचार रखने के पात्रों तथा गरम पानी की बोतलों का ही भान होता था। कालान्तर में पिण्डोल मिट्टी तथा चीनी मिट्टी को फ्लिण्ट एवं कॉर्निश-पत्थर के साथ मिलाकर ऐसे पात्र बनाये जाने लगे, जिनसे केवल एक प्रकार की मिट्टी से बने पात्रों की तुलना में उनकी बनावट और रंग इत्यादि कहीं अधिक सुन्दर होने लगा। इसी लिए कुछ समय तक इनको 'ललित पत्थर-पात्र' कहा जाने लगा, जिनमें वेजउड, डाउल्टन तथा स्पोड जैसे निर्माताओं द्वारा निर्मित सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ उल्लेखनीय हैं। रासायनिक पत्थर-पात्रों के विकास से उनके निबन्ध में ऐसे संशोधन किये जा सके कि उनमें मजबूती, तापसहना तथा क्षार-अम्ल-सहना के वांछित गुणों का समावेश करना सहज हो गया।

मृत्तिका-पात्र (पॉटरी) से साधारणतया रंध्रों तथा अपारभासक (नॉन-ट्रान्सलुसेण्ट) मिट्टी के बर्तनों का बोध होता है किन्तु कुम्भकार (पॉटर) स्वयं इस प्रकार की सीमाओं को नहीं मानता। मिट्टी के बर्तन बहुधा पिण्डोल मिट्टी (बाल-क्ले), चीनी मिट्टी, फ्लिण्ट तथा पत्थर से ही बनते हैं। इनके विभिन्न अनुपातों के प्रयोग से चाय और भोज के पात्र, सजावट के पात्र, स्वच्छता (सैनिटरी) पात्र, दीवालों में तथा चूल्हों में लगनेवाले टाइल इत्यादि बनाये जाते हैं। इनके निबन्ध तथा तापन में तनिक अदल-बदल करने से 'ललित पत्थर-पात्र' एवं लघु-तनाव (लो टेन्सन) वाले इन्सुलेटर भी बनाये जा सकते हैं। लाल-पात्र (रेड वेयर) प्रायः सरन्ध्र (पोरस) होते हैं और प्राकृतिक मिट्टी से बनाये जाते हैं, संभवतः उसमें थोड़ी फ्लिण्ट मिला दी जाती है।

इस संक्षिप्त विवरण से सिरामिक (मृत्तिका-उद्योग) के प्रस्तुत विभाग की वस्तुओं के निबन्ध एवं उपचार की जटिलता का थोड़ा आभास तो अवश्य मिला होगा किन्तु इस अल्प स्थान में इसका सविस्तर विवरण और इस उद्योग के वैज्ञानिक विकास की पूरी कथा लिखना नितान्त असंभव है।

बहुत समय तक चाय, भोज और सजावट के पात्रों की निर्माण-विधा बड़ी गोपनीय मानी जाती थी। यद्यपि कुछ हद तक यह प्रवृत्ति अब भी विद्यमान है किन्तु जब से यह रासायनिक उद्योग की एक शाखा बन गयी है तब से यह बात उतनी प्रत्यक्ष नहीं रह गयी। पेटेण्टो द्वारा यथेष्ट सुरक्षा प्राप्त करने की कठिनाइयाँ ही उपर्युक्त प्रवृत्ति का मुख्य कारण रही है।

इस उद्योग की कुछ दिशाओं में असाधारण विकास हुआ है और यह विकास धैर्य एवं बुद्धिमानी से किये गये सहस्रों प्रयोगों के अवलोकनों का ही फल है। जोसिया वेजउड इंग्लैण्ड के प्रथम वैज्ञानिक कुम्भकार कहे जाते हैं। परम सावधानी से प्रयोग

करना, बड़े धैर्य से उनका अवलोकन करना तथा बुद्धिमानी से उसका निष्कर्ष निकालना वैज्ञानिक के अत्यावश्यक गुण है और इस अर्थ में वेजउड अवश्य ही एक वैज्ञानिक थे। किन्तु शुद्ध विज्ञान की सकुचित परिभाषा में तो उनके वैज्ञानिक कार्यों में केवल ऊष्मा-कार्यों के मापन की रीतियाँ ही गिनी जा सकेंगी। इस दृष्टि से तो हेरमैन सेजर सर्वप्रथम प्रशिक्षित वैज्ञानिक थे जिन्होंने सिरामिक के वैज्ञानिक विकास में योगदान किया था। उनके कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि उनमे व्यावहारिक दृष्टि की बड़ी प्रधानता थी, तथा उनके प्रकाशन बड़े सरल थे; इससे औद्योगिक क्षेत्र में उन्हे समझने तथा व्यवहार में लाने में बड़ी सुविधा हुई। कुछ बातो मे सेजर की रीतियाँ एव उनके दृष्टिकोण लुगे के समान थे। उन्होंने सिरामिक सबन्धी अपना काम १८६९ तक नही प्रारम्भ किया था, किन्तु १८७६ मे जब उन्होंने अपने सहयोगी एरॉन के साथ 'थॉन-इण्डुस्ट्री जाइटूग' का सूत्रपात किया तब उन्हें इतनी ख्याति मिली कि बर्लिन की 'रायल पोसिलेन फैक्टरी' में 'केमिकल टेक्निकल एक्सपेरिमेण्ट स्टेशन' की स्थापना करके सेजर को १८७८ मे उसका प्रथम सचालक नियुक्त किया गया। उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम का निश्चय करना तो बडा कठिन है, किन्तु शायद मिट्टी के विश्लेषण का विकास करना तथा उसी के आधार पर सिरामिक वस्तुओ का निबन्ध (बनावट) निर्धारित करना उनका मुख्य योगदान है। इसी *युक्तियुक्त प्रविधि के कारण पुराने जापानी प्रकार के पोर्सिलेन को बड़ी सरलता* से बना लेना सभव हुआ। विशेष रूप से इस रीति के प्रयोग से सिरामिक पात्रो का उत्पादन बडा सुनिश्चित हो गया तथा उसके लिए प्रयुक्त होनेवाले कच्चे पदार्थों की सख्या में भी वृद्धि हुई। काचिकाओं का भी उसी प्रकार उपचार किया गया। १८८६ में उन्होंने उत्तापमापी (पाइरोमेट्रिक) कोनों का विकास किया, जो उनके नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार सिरामिक अनुसन्धान को बड़ी स्फूर्ति मिली और १९०० के लगभग 'इग्लिश सिरामिक सोसायटी' तथा 'अमेरिकन सिरामिक सोसायटी' की स्थापना हुई, विलियम जैक्सन तथा एडवर्ड ऑर्टन क्रमश इन सस्थाओं के सेक्रेटरी थे। ठीक इसी समय इग्लैण्ड के इस उद्योग से जे० डब्लू० मेलर, एफ० आर० एस० भी सबद्ध हो गये तथा प्राय सभी शाखाओं में रुचि लेने लगे। यही नही, वरन् इसी समय लगभग सभी देशो मे ऐसे सुयोग्य वैज्ञानिको का आविर्भाव आ, जिनके काम सिरामिक की किसी न किसी शाखा से सबन्धित थे। कच्चे माल का वैज्ञानिक नियन्त्रण इस उद्योग का कदाचित् सबसे बडा वैज्ञानिक विकास था। *किसी प्रकार की सिरामिक वस्तु के बनाने में उसके सघटकों का द्रावण (फ्यूज़न)* एक अपूर्ण प्रतिक्रिया होती है, और ज्यों ही पात्रविशेष में वांछित गुण आ जायें त्यों

ही उस प्रतिक्रिया को रोक देना चाहिए। इसलिए पदार्थ के कणो के आकार एव उसकी तल-सक्रियता जैसे उसके भौतिक गुणो का सर्वाधिक महत्त्व होता है। गत बीस वर्षो मे इन बातो पर नियत्रण करने में बडी तीव्र प्रगति की गयी है। मिट्टी पर ऊष्मोपचार की क्रिया को पूरी तरह समझने का विशेष प्रयत्न किया गया है तथा सुघटयता, सिकुडन, तनाव-सामर्थ्य इत्यादि जैसे मिट्टी के महत्त्वपूर्ण भौतिक गुणो का बडी सावधानी से अनुशीलन किया गया है। सुनिश्चित नियत्रण मे विविध प्रकार की सिरामिक वस्तुओ के उत्पादन मे भी बडी उन्नति की जा सकी है। पुरानी कुम्भकला की सुन्दरता के प्रशसक कभी कभी यह भूल जाते हैं कि सैकडो वर्ष पूर्व जब वैज्ञानिक ज्ञान का कोई नामोनिशान न था तब रद्दी और बेकार माल को छॉटने मे कितनी हानि होती थी। कुल उत्पादन का प्राय आधा भाग इसी प्रकार नष्ट हो जाता था क्योकि वस्तु के उत्पादन मे कोई वैज्ञानिक निश्चितता तो थी नही। और अब तो ऐसे उत्पादन में एक आध प्रतिशत मे अधिक हानि नहीं होती जब कि पहले की तुलना मे उत्पादन कही अधिक बडे पैमाने पर होने लगा है।

यद्यपि इस युग मे विशाल पैमाने पर उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाता है और उसका उत्तम विकास भी किया गया, फिर भी आधुनिक सिरामिस्ट लोग प्राचीन चीनी और जापानी कुम्भकारो की ललित कला को उसी रूप अथवा उससे भी सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने मे लगे रहे तथा नये नये रग, अलकार एव शोभनीय वस्तुओं के उत्पादन मे सफल हुए है। सिरामिक वस्तुओ के अग्नि-तापन में भी क्रान्तिकारी विकास किया गया है। कोयला और लकडी जलाकर पुरानी सविराम (इण्टरमिटेण्ट) भट्ठियो के स्थान पर आजकल इस उद्योग मे अविराम चलनेवाली सुरग-भट्ठियाँ प्रचलित हे, जिनमें प्रोडयूसर गैस ईधन का काम देती है अथवा बिजली से काम लिया जाता है। इस रीति में गति, सुनम्यता एव नियंत्रण बढ गये हैं और अब ऐसे पात्र बड़ी सरलता से बनाये जा सकते है, जो अग्नि-तापन की पुरानी रीति से उत्पन्न नही किये जा सकते थे, कम से कम वाणिज्यिक पैमाने पर तो नही ही बनाये जा सकते थे। आज की इस रीति में धुआँ मे छुटकारा मिल जाना कुछ कम उन्नति नही है। रासायनिक पत्थर-पात्रों में भी बडी उन्नति हुई है, उनकी मजबूती कई गुनी बढ गयी है, साथ ही साथ उष्मसहता तथा चालकता (कॉण्डक्टिविटी) रोध भी बढाये जा सके हैं। बिजली के काम मे प्रयुक्त होनेवाले तथा अन्य प्रकार के पोर्सिलेन मे तो इतनी उन्नति हुई है कि इस लेख मे उस सबका उल्लेख करना नितान्त असभव है। विशेष आवश्यकताओ के लिए विशिष्ट प्रकार के पोर्सिलेन बनाये जा सके हैं। उदाहरणार्थ स्फुल्लिग (स्पार्किंग) प्लगो से लेकर बेतारवाले घटको के

लिए लघु हानिवाली वस्तुओं का निर्माण संभव हो गया है। यदि स्थानाभाव न होता तो विभिन्न देशों के कम से कम उन वैज्ञानिकों की चर्चा की जाती जिन्होंने इस उद्योग के विकास में योगदान किया है। उस द्रुत गति का अनुमान भी प्राय. कठिन हो जाता है, जिससे इस उद्योग की कुछ विशिष्ट शाखाओं का विकास हुआ है। उदाहरण के लिए लौह-एनामल उद्योग उल्लेखनीय है। यह परिवर्तन पहले तो कुछ बडी धीमी गति से चला किन्तु पिछले १०—१५ वर्षों में यह ऐसी त्वरित गति से घटित हुआ है कि उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी कठिन जान पडता है। वर्तमान समय में प्राय सभी देशों में सिरामिक सबन्धी अनुसन्धान कार्य तेज़ी से हो रहा है। आजकल १०० से भी ऊपर सिरामिक-संबन्धी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। सभी देशों में इस विषय के शिक्षण-प्रशिक्षण देनेवाले ऊँचे विद्यालय तथा महाविद्यालय विद्यमान हैं। इन सस्थाओं से नवीन ज्ञान की सतत धारा प्रवाहित होती रहती है।

इस उद्योग में लगे कर्मियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करनेवाली विविध परिस्थितियों में भी काफी उन्नति हुई है। पहले सीस विषायन (लेड प्वॉयज़निंग) बडी साधारण घटना थी किन्तु अब कारखानों की परिस्थितियों के सुधार एव काचिकाओं (ग्लेज़ेज) में सशोधन करके इस भयकर दशा का प्रायः पूर्ण निवारण किया जा सका है। सिलिकोसिस पर भी बडा अन्वेषण हुआ है और अब प्रबल आशा है कि इसका भी पूर्ण निवारण किया जा सकेगा। यह कुछ कम सतोष की बात नहीं है कि इस उद्योग में वैज्ञानिक योगदान के प्रति कृतज्ञता की भावना उत्पन्न हुई है और उससे पूरा लाभ उठाने का भी पर्याप्त प्रयत्न हुआ है। हाल में ही सिलिकेटों की सरचना का विशेष अनुशीलन किया गया है, इसमें ब्रैग के एक्स-रे कार्यों का विशिष्ट योगदान है। और अब अभ्रक (माइका) सदृश वस्तुओं का सश्लेषण प्रयोगशाला-पैमाने पर सभव हो गया है। विज्ञान ने अपेक्षाकृत बडे कम समय में ही सिरामिक उद्योग को अतिश्रम (लेबोरिअस) एव सीमित कच्चे मालोंवाले क्रमहीन तथा अनिश्चित काम से बदलकर एक द्रुतगामी, सुनिश्चित एव क्रमिक उत्पादन का स्वरूप प्रदान किया है, जिससे अब प्राय किसी भी प्रकार की वस्तु सरलता एव निश्चितता से उत्पन्न की जा सकती है तथा उसके बनाने के लिए अनेक नये प्रकार के कच्चे पदार्थों का उपयोग किया जा सकता है।

कुछ वर्षों से इस उद्योग सबन्धी अनुसन्धान योजनाएँ 'डिपार्टमेंण्ट ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के तत्त्वावधान में सहकारी रूप से सम्पन्न हो रही हैं। इस योजना के अनुसार प्रति वर्ष लगभग ३०,००० पौण्ड खर्च हो रहा है और

अभी तो यह केवल प्रारम्भिक क्रम है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के मनन प्रयोग से इस उद्योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विकास होगा, इसकी प्रबल आशा है।

ग्रथ-सूची

BOURRY, E *Treatise on the Ceramic Industries* Scott, Greenwood and Son

BURTON, W. *English Earthenware and Stoneware.* Cassell & Co, Ltd *Porcelain* Cassell & Co, Ltd

CARTER, C *Wall and Floor Tiling* Caxton Publishing Co, Ltd.

HECHT, H *Lehrbuck der Keramik* Urban & Schwarzenburg

RIES, H *Clays* John Wiley & Sons, Inc

SEGER, H. A *Collected Writings* Chemical Publishing Co

SINGER, F *Steinzeug* Vieweg u Sohn

SOLON, M L *History of Old English Porcelain* Bemrose & Sons, Ltd

काच

एस० इग्लिश, डी० एस-सी० (शेफील्ड), एफ० आर०
आई० सी०, एफ० इन्स्ट० पी०

एक कथानक के अनुसार किसी फोनीसियन नाविक को, जिसका जहाज तूफान में टूट फूट गया था, काच (ग्लास) का अचानक पता लगा था। चाहे यह बात सच हो या न हो, इतना तो निश्चित है कि पहले असीरियनों ने और उसके बाद मिस्रियों ने विविध प्रकार के रगीन काच बनाये थे। किन्तु रोमनो के पूर्व बोतलो तथा फूल-दानो के रूप में फूंककर बनायी गयी काच की वस्तुओं का पता न था। आगे चल कर ७० ई० में पाम्पियाई में इनकी ऐसी प्रचुरता हुई मानो इनका विकास दो तीन शताब्दी पूर्व हो चुका हो। काचनिर्माण कला का ज्ञान रोम से यूरोप के शेष भाग में फैला किन्तु इस कला का सर्वाधिक विकास वेनिस में हुआ जहाँ मध्यकालीन युग में यह उत्तमता के ऊँचे शिखर पर पहुँच गयी थी। किन्तु इस काल तक काच बनाना केवल एक कला के रूप में प्रचलित रहा। १५वीं शताब्दी के बाद यूरोप के लोगो की खगोल

विद्यासवन्धी जिज्ञासा वढी और इसके अनुशीलन के लिए अधिक उन्नत लेन्सों की आवश्यकता हुई, जिससे लेन्स निर्माण को काफी प्रेरणा मिली और अच्छे लेन्स वनने लगे। सर्वप्रथम १६१० (गैलीलियो) और १६११ (केप्लर) में दूरवीन वना और *उनमें साधारण लेन्सो का प्रयोग किया गया, किन्तु उनमें गोलीय विपथन (स्फेरिकल* ऐवरेशन) नामक दोष था। न्यूटन का विचार था कि वर्तनाय (रिफ्रैक्टिग) तत्त्वो से दूरवीनो में देखे जानेवाले प्रतिविंवो के चारो ओर रंगीन धारियों का वनना प्राय: अनिवार्य था। किन्तु डोलॉण्ड (१७५८) द्वारा वनाये गये संयुक्त लेन्सों के प्रयोग *से रगीन धारियो में वडी कमी हो गयी* और इससे *आधुनिक संयुक्त एव अवर्णक* (ऐक्रोमैटिक) लेन्सो के वनाने की दिशा मिली।

१९वी शताब्दी में फौनहोफर, फैरेडे, हराकोर्ट, स्टोक्स, ऐवे, स्काट इत्यादि जैसे अनेक वैज्ञानिको ने काचसंवन्धी अनुसन्धान एवं उसके निर्माण के विकास में *महान् योगदान किया, फिर भी रोज़ेनहैन ने १९१५ में प्रकाशित 'ग्लास मैनुफैक्चर'* नामक अपनी पुस्तक के आमुख में लिखा था कि "वैज्ञानिक दृष्टि से काच निर्माण-क्षेत्र का अधिकाश भाग 'टेरा इन्कॉग्निटा' अर्थात् 'अज्ञात-मृदा' है।"

उस समय से काचनिर्माण विज्ञान में वडी असाधारण प्रगति हुई है, फिर भी *उसमें अभी बहुत वडे क्षेत्र अनाविष्कृत पडे हुए है। डब्लू० ए० शेनस्टोन का शुद्ध* सिलिकाद्रावण-सवन्धी काम सुविख्यात है क्योंकि उसी पर स्वच्छ एव अपारदर्शी सिलिका वनाने का उद्योग आधारित है। इसी प्रकार सर हरवर्ट जैक्सन का काम भी वडा महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने प्रथम महायुद्ध काल (१९१४—१८) में रासायनिक *काचपात्र उद्योग का सूत्रपात करने में महान् योगदान किया था। वर्तमान समय में* शेफील्ड विश्वविद्यालय के ग्लास टेक्नॉलोजी विभाग के प्रोफेसर डब्लू० ई० एस० टर्नर तथा उनके सहयोगियो के नाम उल्लेखनीय है। ग्लास टेक्नॉलोजी का यह स्कूल १९१५ में प्रारम्भ हुआ था और विश्वविद्यालय स्तर की यह प्रथम सस्था थी जिसमें सपूर्ण रूप से काच प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलोजी) एव उसके आनुषगिक विषयो सवन्धी शिक्षण एव अनुसन्धान शुरू किया गया था। इसके वाद चेको-स्लोवाकिया, जर्मनी तथा सयुक्त राज्य अमेरिका में भी ऐसी सस्थाएँ खोली गयी। अन्य देशो में काचसंवन्धी शिक्षण तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रस्तुत की गयीं किन्तु वे छोटे पैमाने पर थी। काचनिर्माण विज्ञान में लोगों की इस वढ़ती हुई रुचि के परिणामस्वरूप अनेक टेक्निकल सोसायटियाँ वनी। सर्वप्रथम १९१६ में इग्लैण्ड में 'सोसायटी ऑफ ग्लास टेक्नॉलोजी' की स्थापना की गयी। तत्पश्चात् १९१८ में 'अमेरिकन सिरामिक सोसायटी' का काचविभाग (ग्लास डिविज़न) खुला और १९२२

में 'इवायशे-ग्लास टेक्निशे जेसेल्शाफ्ट' स्थापित किया गया। इन शिक्षण एव अनुसन्धान संस्थाओ और टेक्निकल सोसायटियो में रसायनज्ञों, भौतिकीविदो, इन्जीनियरो तथा टेक्नॉलोजिस्टो ने इस विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सर्वमुखी विकास मे ऐसे योगदान किये है जो एक दूसरे में अन्तर्ग्रथित होकर जटिल सिलिकेट प्रौद्योगिकी के स्पष्टीकरण और उसकी प्रगति में इस प्रकार सहायक हुए है मानो किसी एक व्यक्ति ने उनका प्रतिपादन किया हो।

काचनिर्माण-विज्ञान की उन्नति और विकास मे रसायनज्ञो द्वारा किये गये योगदान इतने अधिक एव विशाल है कि इस छोटे से लेख मे उन सबका विवरण प्रस्तुत करना कठिन ही नही असभव है। अत यहाँ केवल कुछ रोचक एव विशिष्ट विकासो की ही चर्चा की जा रही है।

काच की सरचना (कॉन्स्टिट्यूशन) सबन्धी अति कठिन किन्तु आकर्षक समस्या को हल करने के लिए पिछले कुछ वर्षो मे विशाल काम किये गये है और काच में कुछ सुनिश्चित यौगिको के होने का प्रमाण अवश्य मिला है, लेकिन प्रश्न का अन्तिम उत्तर अभी प्राप्त नही हुआ। अत उस विषय की यहाँ कोई विस्तृत समीक्षा न करके केवल निम्नलिखित तीन विषयो पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है—(क) रासायनिक टिकाऊपन, (ख) ऊष्मीय सहनशक्ति और (ग) पारदर्शकता।

रासायनिक टिकाऊपन—प्राचीन रोम और मिस्र मे बने काच आज भी उत्तम अवस्था में सुरक्षित है और १२वी शताब्दी के बने काच आज भी बडे-बडे गिर्जाघरो की खिडकियो को सुशोभित कर रहे है। यही इस बात के प्रमाण है कि ऐसे काच का निर्माण सभव है जो यदि पूर्णतया नही तो अधिकाशत वायुमण्डलिक सक्षारण (कोरोज़न) से अप्रभावित रह सकते हैं। इसके विपरीत ऐसे निबन्ध के काच भी बनाये जा सकते हैं जिन पर वायुमण्डलिक आर्द्रता का सरलता से ही आक्रमण हो सके। प्राय यह सुविदित है कि सामान्य काच मे तीन मुख्य सघटक होते है जिन्हे तीन ऑक्साइड (सिलिका, सोडियम ऑक्साइड और कैल्सियम ऑक्साइड) कहा जाता है। सभवत ये सघटक सोडा और चून के सिलिकेटो के रूप मे ही काच मे विद्यमान होते हैं, कदाचित् सयुक्त सिलिकेट के रूप में, जिसमे अतिरिक्त सिलिका विलीन होता है।

यदि काच में सोडियम सिलिकेट का अनावश्यक रूप से अधिक अनुपात हो तो वह जल में आशिक रूप मे विलेय हो जाता है। सोडे के अधिक अनुपात से काच अपेक्षाकृत निम्न ताप पर गलने लगता है, ऐसा काच चिकना होता है तथा उसके क्रियाकरण में बडी सुविधा होती है। इसी लिए काचनिर्माताओ मे तनिक अधिक सोडा डालने की विशेष प्रेरणा होती थी, जिससे उसके बनाने की क्रिया मे आनेवाली कठि-

नाइयों का समाधान हो जाता था। १९१० से लेकर १९२० तक यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट रही क्योंकि इसी कालावधि में शीशी, बोतल तथा स्तार काच (शीट ग्लास) बनाने के लिए अर्ध स्वचालित तथा पूर्ण स्वचालित यन्त्रों का आविर्भाव होने लगा था। इन मशीनों में हाथ से बनाये जानेवाले काच की अपेक्षा अधिक धीरे-धीरे जमनेवाले काच की आवश्यकता पड़ने लगी। अत. स्वाभाविकतया कैल्सियम ऑक्साइड की मात्रा कम करके सोडियम ऑक्साइड की मात्रा बढाने की प्रवृत्ति हुई। इस परिवर्तन से मशीनों के उपयुक्त काच तो अवश्य बना लेकिन इससे बनी बोतलें तथा अन्य पदार्थ इतने कम टिकाऊ होने लगे कि इस्तेमाल करने के बाद अथवा यों ही रखे रहने पर उनमें सक्षारण के धब्बे पड जाते। रसायनज्ञों ने, विशेषकर शेफील्ड के कार्यकर्ताओं ने, इस समस्या का अनुशीलन किया और काच का टिकाऊपन जाँचने की युक्ति निकाली तथा विभिन्न प्रयोजनों के लिए उपयुक्त काच के मानक निर्धारित किये, और अन्त में इञ्जीनियरों के सहयोग से ऐसे काच का निर्माण किया जो गलकर मशीनों पर सरलता से काम आने के साथ-साथ वायुमण्डलिक संक्षारण से भी बच सके। आगे चलकर ५५०° से लेकर १४००° से० तक काचों की श्यानता (विस्कॉसिटी) मापने एव उनके निबन्ध में क्रमिक परिवर्तनों के उनकी श्यानता पर प्रभावों के अनुशीलन से प्रयोगशाला में ऐसे निबन्ध निर्धारित किये जा सके जो विविध प्रकार की काच-मशीनों के लिए सन्तोषप्रद एव उपयुक्त सिद्ध हुए।

बेलजियम के फौरकाल्ट ने जगला-काच-मशीनों के लिए बड़ी सुन्दर और सरल पद्धति निकाली। इसमें एक सुस्थिर ऊष्मसह ईंट के नीचे बनी लम्बी नाली में से द्रवित काच को बहाकर बाहर लाये हुए काच को ऊर्ध्वाधर दिशा में (वर्टिकली) अखण्ड फीते अथवा स्तार के रूप में खींचा जाता है। इस पद्धति के क्रियाकरण के लिए धीरे-धीरे जमनेवाले ऐसे काच की आवश्यकता हुई, जो ऊष्मसह ईंट के चारों ओर अपेक्षाकृत निम्न ताप पर काफी समय तक बना रहे। सोडे की मात्रा बढ़ाने से तो प्रथम आवश्यकता पूरी हुई किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, ऐसे काच में वायुमण्डलिक सक्षारण होता और वह काचन (ग्लेज़िंग) के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता। इस दोष के निवारणार्थ जब सोडे की मात्रा घटायी गयी तो विकाचरण (डिविट्रीफिकेशन) की कठिनाई उत्पन्न हो गयी, ऊष्मसह ईंट की निचली नाली में पुनर्क्रिस्टलन होने लगा और जब काच का स्तार खींचा जाता तो उसमें खिंचाव की दिशा में धारियाँ पड जाती। रसायनज्ञों ने बताया कि काच के पैठिक सघटक के रूप में चून के साथ-साथ मैग्नीसिया इस्तेमाल करने से वायुमण्डलिक सक्षारण की कठिनाई का निवारण हो सकता है और साथ ही साथ काच शीघ्र जमनेवाला भी न होगा।

इसके अतिरिक्त इस सुझाव ने विकाचरण का दोष भी काफी हद तक दूर हो गया किन्तु इसका अन्तिम रूप से निवारण तो काच में तनिक अलुमिना मिलाने से हुआ। इस प्रकार लगभग ७२.५% SiO_2, १०.५% CaO, २.०% MgO, १.०% Al_2O_3 तथा १३.५% Na_2O के मिश्रणवाले काच से बने स्लाटों मे उपर्युक्त कोई भी दोष न रहे, बशर्ते उनके खींचे जाने के ताप एवं अन्य परिस्थितियों में अधिक व्यतिक्रम न हो।

रासायनिक काचपात्रों संबन्धी स्काट और उनके सहयोगियों के काम उल्लेखनीय हैं क्योंकि उन्हीं से सुविख्यात 'जीना' काच का विकास हुआ। सामान्य रासायनिक पात्रों के अलावा जीना काच से दहन (कम्बश्चन) नालों के लिए विशेष कठोर काच भी बनाये जाने लगे। किन्तु इस प्रकार के काच की विशिष्टियाँ पूरी करना भी उतना कठिन न था जितना बिजली के निरावेश दीपों (डिस्चार्ज लैम्प) के भीतरी वेष्टन (एनवेलप) के लिए कुछ वर्ष पूर्व बने काच के गुणों की पूर्ति करना था। उच्च दाब पारद निरावेश दीप का भीतरी वेष्टन तो इतना कठोर होना चाहिए कि ७०० सें० ताप के नीचे किसी प्रकार मृदुल न हो सके, और फिर भी उसे ऐसा होना चाहिए कि बिना टूटे तथा बिना किसी प्रकार की बदरंगी के उसमें विद्युदग्रों को ज्वाला की सहायता से सरलता से सम्मुद्रित किया जा सके। सोडियम निरावेश दीपों के अन्तरवेष्टन में क्रियाकरण की परिस्थितियाँ यद्यपि प्रायः वही रहती हैं किन्तु तापसंबन्धी आवश्यकताएँ उतनी कड़ी नहीं होतीं। लेकिन सक्षारण की कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती है क्योंकि साधारण सिलिकेट काचों के लिए सोडियम वाष्प बड़ा सक्षारक होता है। इसलिए सिलिका की लघु मात्रा वाले काच बनाने की आवश्यकता हुई जिनसे इन असाधारण कठिनाइयों का निवारण हो सके। ऐसे काच का वाणिज्यिक विकास किये बिना आज के इतनी उच्च कार्यक्षमता वाले विद्युत निरावेश दीपों का बनाना संभव न हुआ होता।

ऊष्मीय सहनशक्ति—काच सामान्यतः एक ऐसा भंगुर पदार्थ माना जाता है जिसमें ऊष्मा के प्रति विशेष दुर्बलता अन्तर्निहित होती है, किन्तु पिछले कुछ वर्षों में हुए विकासों से अब यह भावना पुरानी मानी जाने लगी है। स्काट और उनके सहयोगियों ने अपने कार्यों से यह प्रदर्शित किया था कि काच में बिना टूटे ताप-प्रवणता (ग्रेडियेण्ट) के सहन की क्षमता उसकी तनावसामर्थ्य (टेनसाइल स्ट्रेंथ), ऊष्मीय चालकता, ऊष्मीय प्रसरण (एक्सपैन्शन), यंग-गुणांक (यंग माडुलस), घनता तथा विशिष्ट ऊष्मा (स्पेसिफिक हीट) पर निर्भर करती है। इन सभी कारकों में ऊष्मीय प्रसरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, कुछ तो इसलिए कि औरों की अपेक्षा यह काफी विस्तृत परास (रेञ्ज) में परिवर्तन योग्य है। ऐसा होने से ऊष्मीय सहनशक्ति

बढाने के लिए काच का ऊष्मीय प्रसरण गुणाक (कोएफिशेण्ट आफ थर्मल एक्सपैन्दान) कम करने के लिए ही प्रयत्न किया गया है। यह बात मानकर कि काच के प्रत्येक सघटक ऑक्साइड का प्रति १% उसके उष्मीय प्रसरण में निश्चित राशि की वृद्धि करता है, स्काट ने बताया कि यदि किसी काच का निबन्ध और प्रत्येक सघटक के योगदायी कारक ज्ञात हो, तो उसके ऊष्मीय प्रसरण का मान जान लेना सभव है। हाल में ही काच के सामान्य सघटकों के कारको का अधिक युक्तिसगत आधार पर पुनर्निर्धारण किया गया है, और साधारण काच के ०° से १००° से० तक के प्रसरण *गुणाक की गणना पर्याप्त सुतथ्यता से की जा सकती है। इन हाल के कामो से यह* ज्ञात हुआ है कि जब काच बनाने में बोरिक ऑक्साइड इस्तेमाल किया जाता है तो यह उसका ऋणात्मक प्रसरण खण्ड (एक्सपैन्शन फैक्टर) होता है, किन्तु यह क्रम उसकी मात्रा के १२% तक रहता है, उसके बाद वह धनात्मक खण्ड हो जाता है। बोरिक ऑक्साइड ही एकमात्र ऐसा सघटक है जो इस प्रकार असगत व्यवहार करता है। *इसी लिए यह ऊष्मावरोधी सभी आधुनिक काचो के बनाने में प्रयुक्त होता है।*

उपर्युक्त कार्यों के फलस्वरूप एक और विशेष बात ज्ञात हुई है कि क्षार, विशेष कर सोडियम ऑक्साइड, का प्रसरण खण्ड बडा ऊँचा होता है। इसलिए उन सभी काचो में, जिनमें ऊँची ऊष्मीय सहनशक्ति की आवश्यकता होती है, क्षार-सघटको का अनुपात यथासभव कम रखा जाता है। सिलिका का, जो अधिकाश काचो का मुख्य सघटक होता है, प्रसरण खण्ड (एक्सपैन्दान फैक्टर) बहुत कम, प्राय नगण्य होता है, अत. यह तापसह काचों का बड़ा मूल्यवान् सघटक माना जाता है। इन तीनो तथ्यों को समन्वित करके अमेरिका की 'कार्निग ग्लास,कम्पनी' ने १९१५ में एक तापसह (हीट रेजिस्टिंग) काच का निबन्ध निर्धारित किया,'जो 'पाइरेक्स' काच के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें लगभग ८०% सिलिका, १२% बोरिक ऑक्साइड और केवल ३—४% सोडियम ऑक्साइड होता है, तथा इसका रेखीय प्रसरण-गुणाक (लीनियर कोएफिशेण्ट ऑफ एक्सपैन्शन) प्रति डिग्री सेण्टीग्रेड केवल ० ००००००३५ है। इस काच ने एक ऐसा नया मानक उपस्थित किया है जिससे अन्य सभी तापसह काचो की तुलना करनी पडेगी। हाल में ही पासाडेना की वेधशाला में बन रही २०० इंच वाली दूरबीन का परावर्तक (रिफलेक्टर) बनाने में इसका प्रयोग किया गया है। इस परावर्तक की सुतथ्यता (प्रिसीजन) इतनी ऊँची श्रेणी की है कि ताप परिवर्तन से होनेवाले विकार से ही यह नष्ट हो जाता है, इसलिए बड़ी जांच-पडताल के बाद इसकी रचना के लिए सामग्री तैयार की गयी। 'पाइरेक्स' के प्रकार का काच इसके लिए चुना गया।

पिछले कुछ वर्षो मे एक सर्वथा नवीन प्रकार का तापसह काच तैयार किया गया है, इसे दृढीकृत काच (टफेन्ड ग्लास) कहते है। यह 'प्रिन्स रूपर्ट के ड्राप' तथा 'अटूट पात्र' (अनब्रेकेब्ल टम्ब्लर्स) का ही व्यावहारिक प्रयोग है। 'रूपर्ट्स ड्राप' में लाल काच पानी मे तथा 'अनब्रेकेब्ल टम्ब्लर्स' तेल मे बुझाया जाता है, किन्तु कठोरकृत काच वायु के झोंके से अभिशीतित (चिल्ड) किया जाता है। वायु की मात्रा एव उसका ताप नियंत्रित रखा जाता है। इस प्रकार स्तार एव ढलवा काच उनके तापशीतन (ऐनीलिंग) बिन्दु मे ऊँचे ताप पर शीघ्रता से ठडे किये जाते है, किन्तु इसकी गति इस प्रकार पूर्वनिर्धारित होती है कि ऊपरी सतह पर एकरूप सपीडन प्रतिबल (काम्प्रेशन स्ट्रेस) उत्पन्न हो, जब कि काचपिण्ड के अन्दर तनाव रहे। काच सपीडन-प्रतिबल का अवरोधी होना है अत उस प्रकार अभिशीतित काच, जिसकी ऊपरी सतह के स्तर सपीडित हो, उस समय तक नही टूटते जब तक उनके तल-सपीड का क्लीबन (निराकरण, न्यूट्रलाइजेशन) नही होता अथवा वह तनाव प्रतिबल (टेन्साल स्ट्रेस) द्वारा प्रतिस्थापित नही होता। काच को मोडने अथवा उसे एक तरफ से ठंडा रखकर दूसरी ओर गरम करने से उपर्युक्त निराकरण किया जा सकता है, किन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के काच को तोडने के लिए साधारण काच की अपेक्षा अधिक मोडना पडेगा अथवा उसके दोनों ओर के ताप मे अत्यधिक विभेद करना पडेगा। इस कारण से यह दृढ काच, जो पहले केवल अपनी मजबूती के लिए बनाया गया था अब अपनी तापसहता के लिए सुविख्यात है, और चूँकि इसकी निर्माण-प्रविधि में बराबर विकास हो रहा है, इसका मान और उपयोगिता निरन्तर बढती रहेगी।

१९३९ ई० मे अमेरिका की 'कार्निग ग्लास कपनी' की 'रिसर्च लैबोरेटरीज' मे तापसह काच उत्पादन मे एक आश्चर्यजनक विकास किया गया। यह एक प्रकार के स्फटिक काच (क्वार्ट्ज ग्लास) से सबन्धित था, जो आज के सुज्ञात द्रावित स्फटिक (फ्यूज्ड क्वार्ट्ज) से मिलता-जुलता है। यद्यपि इसके बनाने की रीति भिन्न है किन्तु उसी की तरह इसका प्रसरण गुणाक अत्यन्त लघु है (लगभग ०·००००००५ प्रति डिग्री से०)। द्रवित स्फटिक सीधी रीति से बनाया जाता है, अर्थात् उपयुक्त कणो वाली उत्तम श्रेणी की बालू को ऐसे उच्च ताप तक गरम किया जाता है कि वह मृदुल हो जाय या गल जाय। तापन की सीमा वाछित काच के प्रकार पर निर्भर करती है। उच्च ताप उत्पन्न किये जाने के कारण यह रीति बडी खर्चीली होती है तथा यह इसलिए भी कठिन होती है कि स्फटिक सचमुच कभी द्रव नही होता अत वाछित आकार प्रदान करने में विशेष कठिनाई होती है।

किन्तु नयी रीति में उपर्युक्त कठिनाइयाँ नही होती। इसके विकास मे शेफील्ड के 'डिपार्टमेण्ट ऑफ ग्लास टेक्नॉलोजी' में प्राय १५ वर्ष पूर्व किये गये काम का भी बडा योग है। काच के रासायनिक टिकाऊपन तथा अन्य गुणो पर बोरिक ऑक्साइड के प्रभावो का अन्वेषण करते समय यह ज्ञात हुआ कि बोरिक ऑक्साइड की अधिक मात्रा वाले काच पर उबलते हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का सहज आक्रमण होता है और यदि यह उपचार ठीक ढग से किया जाय तो काच का सब सोडा तथा बोरिक ऑक्साइड अम्ल में विलीन हो जाता है और केवल दृढ सिलिका-स्पञ्ज शेष रह जाता है। कार्निंग के कार्यकर्ताओ ने तनु अम्ल का प्रयोग करके सोडा और बोरिक ऑक्साइड *का निस्सारण किया और तब अवशिष्ट सिलिका-स्पञ्ज को लाल ऊष्मा* (रेड हीट) तक तप्त करने पर उन्होने अनुभव किया कि वह सिकुडकर अपने मूल आकार का केवल दो-तिहाई रह गया तथा एक बडा ठोस सिलिका पदार्थ बन गया, जिसके गुण द्रवित स्फटिक से बहुत मिलते-जुलते थे। विचित्रता यह थी कि सिकुडने पर भी उस ठोस सिलिका का मूल रूप बना रहा। चूंकि बोरिक ऑक्साइड वाले काच सरलता से गल जाते हैं और चूंकि इसी कारण उन्हें किसी भी जटिल आकार में ढालना आसान होता है, इसलिए इस रीति में अनाश्रित रीति से द्रवित स्फटिक बनाने में उत्पन्न होने वाली दो मुख्य कठिनाइयो का निवारण हो जाता है। अत जब यह प्रविधि पूरी तरह से सफल हो जायगी तो इससे ऐसा रोचक एव लाभदायी विकास होगा जिसका मूल कार्य की योजना के समय कोई अनुमान भी न किया गया होगा।

प्रकाश का परागमन[1] तथा अवशोषण[2]—काच का सर्वप्रमुख गुण उसकी पारदर्शकता (ट्रान्सपैरेन्सी) है, जो कदाचित् इसका सबसे बडा आकर्षण भी रहा है। साथ ही साथ इसका रग और चुनावशील अवशोषण (सेलेक्टिव ऐब्ज़ार्प्शन) भी इसके विशेष गुण हैं। रगरहित काचो की पारदर्शकता के बारे में शायद यह सोचा जाता है कि पिछले कुछ वर्षो मे इसमें कोई विशेष अन्तर नही पडा है, किन्तु यह विचार सर्वथा ठीक नही है। अनुसन्धानो द्वारा यह ज्ञात हो जाने से कि रजक ऑक्साइड *काच के अन्दर किस प्रकार प्रवेश करते हैं, प्रकाश-काचो (ऑप्टिकल ग्लास)* के बनाने मे प्रयुक्त होनेवाले सघटको की शुद्धता प्राय विश्वासातीत सीमा तक पहुँचा दी गयी है। काच गलानेवाले पात्र भी शुद्धतर एव अधिक सक्षारण-रोधी पदार्थों के बनने लगे है, भट्ठियो की गैसो से काच में उत्पन्न होनेवाली अशुद्धता को रोकने

[1] Transmission [2] Absorption

में लिए भी परम सावधानी बरती गयी है, और अन्ततः काच-घानों में भी ऐसी युक्ति लगायी गयी है जिससे ऐसे काच उत्पन्न किये जा सके जिनका प्रकाश-अवशोपण प्राय अमाप्य हो। उदाहरणार्थ अब कुछ ऐसे प्रकाश-काच बनने लगे है जिनका अवशोपण प्रकाशपथ की लम्बाई के प्रति इंच केवल ०·७ प्रतिशत होता है। शुद्धता की इस उच्च सीमा के कारण वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के परानीललोहित (अल्ट्रा-वायलेट) तथा अव-रक्त (इन्फ्रारेड) दानो क्षेत्रो में काच की पारदर्शकता स्वत बढ गयी है। रसायनज्ञों एवं भौतिकीविदो के अनुसन्धानो के फलस्वरूप इन दोनो अदृश्य विकिरणो (इन्विज़िब्ल रैडियेशन) के प्रति काच की पारदर्शकता निर्धारित करनेवाले कारक ज्ञात हो गये हैं और अब ऐसे काच विशेष रूप से बनाये जा सकते है जो किसी प्रकार की किरणो का अवशोषण अथवा परागमन (ट्रान्समिट) कर सके। सर विलियम क्रुक्स ने धूप के चश्मो के लिए ऐसा काच बनाया जिससे भट्ठी के आगे काम करनेवालो की आँखो की रक्षा हो सके, क्योंकि ऐसे कर्मियो की आँखें अरक्षित रहने से उनमें मोतियाबिन्द हो जाया करता था। क्रुक्स ने ऐसे काच मे अव-रक्त विकिरणो के अवशोपण गुण का समावेश करना चाहा था, क्योंकि द्रावण-भट्ठियो से ऐसे विकिरण यथेष्ट मात्रा में उत्पन्न होते हैं। परानीललोहित विकिरण का अवशोषण तो अवर महत्त्व की बात थी क्योंकि साधारण द्रावण-भट्ठियो से ऐसे विकिरण प्राय. नही निकलते। इसके बावजूद क्रुक्स के काचो का वाणिज्यिक महत्त्व उनके परानीललोहित विकिरणो के अवशोपण गुण के कारण ही हुआ।

हाल में ही परानीललोहित परागमन काचो का वाणिज्यिक उत्पादन होने लगा है, यह वैज्ञानिक सफलता का एक नया एव विशिष्ट चरण है। इन्हें 'विटा' प्रकार के काच कहते हैं। सूर्य के परानीललोहित विकिरण के, जो भूमितल पर केवल २९५ मिलीम्यू तक ही रह जाता है, समुचित परागमन (ट्रान्समिशन) के लिए काचो में ०·०३% से अधिक लौह ऑक्साइड नही होना चाहिए, और यह भी यथासंभव फेरस अवस्था में ही हो।

दूसरे प्रकार का एक रुचिकारक काच 'उड' काच के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसका आविष्कार प्रोफेसर आर० डब्लू० उड ने किया था। यह सारत निकेल ऑक्साइड काच है और इसमें उप-परानीललोहित के परागमन की शक्ति होती है किन्तु दृश्य विकिरणो के लिए यह सर्वथा अपारदर्शी (ओपेक) होता है। अत. इसमें अदृश्य संकेतन (सिग्नलिंग) किया जा सकता है और यह प्रतिदीप्ति क्रिया (फ्लुओरेसेन्स फिनॉमिना) के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। उच्च दाब पारद वाष्प दीपों के बनाने मे जो विकास हुआ है उससे 'उड' काच में भी उन्नति हुई, जिसके

फलस्वरूप ऐसे काले दीप बन गये हैं जिनसे परानीललोहित विकिरण इतनी प्रचुर मात्रा में उत्सर्जित होते हैं कि प्रतिदीप्त प्रकाश न केवल सभव ही हुआ वल्कि अत्यन्त आकर्षक हो गया।

वर्णक्रम के दूसरे सिरे की भी वडी रोचक कहानी है। साधारण काच के अवरक्त विकिरण के अवशोषण गुण का भी अन्वेषण किया जाने लगा और इस दिशा में विकास का यही से प्रारम्भ हुआ। इसी के फलस्वरूप ऐसे काच तैयार किये गये जिनमें अवरक्त विकिरण का विशेष अवशोषण होता है, किन्तु वर्णक्रम के दृश्य क्षेत्र का अधिक नही। ऐसे काचो का यह गुण भी उनमें लौह ऑक्साइड की थोडी मात्रा होने के कारण होता है, यह भी यथासभव फेरस अवस्था में होना चाहिए। फेरस ऑक्साइड के अधिक अनुपात वाले काच, जिनमें अवरक्त, दृश्य वर्णक्रम तथा परानीललोहित का अधिक अवशोषण होता है, आजकल भट्ठी-कर्मियो तथा एसेटिलीन और चाप (आर्क) सधाताओ (वेल्डर्स) के लिए धूप चश्मा बनाने के काम आते हैं। ये काच आजकल इतनी ऊँची सुतथ्यता के बनने लगे हैं कि उन्हें उनके अवशोषण को नियन्त्रित करनेवाली राष्ट्रीय विशिष्टियो के अनुसार तैयार करना कुछ कठिन नही है।

परानीललोहित क्षेत्रवाले 'उड' काच की ही तरह अवरक्त क्षेत्र के लिए भी एक काच है जो दृश्य प्रकाश के लिए अपारदर्शी होते हुए भी काफी मात्रा में अवरक्त विकिरण का परागमन करता है। यदि ऐसे काच को बिजली-बत्ती के सामने रखा जाय तो यह 'विद्युद्नेत्र' अथवा 'चोरघण्टी' का काम कर सकता है। इस युक्ति में छानित अत अदृश्य अवरक्त विकिरण एक गुप्त एव अवरक्त सुग्राही फोटो-विद्युत सेल पर पडता है, जिससे धारा के टूटने से एक योजित्र (रिले) प्रेरित हो उठना है जो घण्टी अथवा किसी अन्य प्रकार के सकेत को क्रियान्वित कर देता है।

अमेरिका के 'कोडक' तथा अमेरिकन ऑप्टिकल कम्पनियो की अनुसन्धानशालाओ में ऐसे नवीन काचो का आविष्कार हुआ है, जिनमे सिलिका अति न्यून या बिलकुल नही होना तथा जिनमें असाधारण प्रकाशीय गुण होते हैं। सिलिका काचों की अपेक्षा इन काचों के वर्तनाक (रिफ्रैक्टिव इण्डेक्स) ऊँचे तथा विक्षेपण (डिस्पर्शन) नीचे होते हैं। यदि इस तथ्य की पुष्टि हो जाय तथा इस काच के अन्य गुण एव विशेषताएँ सतोषजनक हो तो सयुक्त लेन्सो तथा वर्तनाय (रिफ्रैक्टिग) उपकरणो की बनावट में बडी उन्नति हो जायगी।

इस लेख के सीमित दायरे में यह दरमाने का प्रयत्न किया गया है कि काच उद्योग में वैज्ञानिको ने कितना अपार सहयोग किया है जिसके कारण गत कुछ वर्षों में ही उसमें असाधारण उन्नति हुई है। रसायनज्ञो ने न केवल काच-निर्माण की परिस्थितियो

के नियंत्रण का ही काम किया है, बल्कि इस उद्योग के विकास तथा तत्संबन्धी आविष्कारों में यथेष्ट हाथ बँटाया है।

ग्रंथ-सूची

DRALLER-KEPPELER, G *Die Glasfabrikation* R. Oldenbourg
HODKIN, H. W., AND COUSEN, A *Text-Book of Glass Technology*. Constable & Co., Ltd.
HOVESTADT trans, Everett, *Jena Glass and its Scientific and Industrial Applications* Macmillan & Co , Ltd.
MOREY, G. W. : *Properties of Glass* Chapman & Hall Ltd
PHILLIPS, C J. . *Glass—The Miracle Maker* Pitman Publishing Co , N. Y.

काचीय एनामल

विलियम टाम्सन, एफ० आर० आई० सी०

एनामल बनाने की कला अत्यन्त प्राचीन है। कुम्भकला में चीनियों द्वारा इसके प्रयोग का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। मिस्रियों तथा ट्रस्कनों द्वारा भी इसका व्यवहार होता रहा और समय पाकर यह यूनानियों तथा रोमनों की भी कला बन गयी। यहाँ पर हम विशेषकर धातु एनामलीकरण की चर्चा करना चाहते हैं जो पहले-पहल पश्चिमी एशिया में आविष्कृत हुआ और ईसाब्द की प्रारम्भिक शताब्दियों में यूरोप में पहुँचा। इसका इतिहास उन लोगों के लिए बड़ा रोचक है जो इसे एक कला के रूप में देखते हैं। 'बोर्ड आफ एडुकेशन' द्वारा प्रकाशित, बुशेल-रचित "चाइनीज़ आर्ट" नामक ग्रन्थ में इस विषय का सुन्दर वर्णन है। चीनी लोगों के अनुसार इसके आविष्कार का श्रेय कान्स्टैन्टिनोपुल के लोगों को है। चीनियों और बाइज़ेन्टाइन के एनामलकर्ताओं की रीतियों का प्रायः एक-सा होना इस बात की पुष्टि करता है। इस लेख में हम एनामल के कलात्मक पक्ष पर नहीं वरन् उसकी उपयोगिता पर अपने विचार केन्द्रित करना चाहते हैं। इस प्रकार के एनामल का उपयोग निम्नलिखित रूप में होता है—बैज अर्थात् बिल्ले और घड़ियों के अंकित मुख बनाना, रेचक (एग्ज़ास्ट) पंखों के फलक (ब्लेडस), स्नानागारों के एवं

विरूपित होनेवाली ढलवाँ वस्तुएँ इस वर्ग में आती है, क्योकि यह विधा केवल उन्ही कमजोर ढलवाँ चीजो के लिए प्रयुक्त की जाती है, धूलन विधा से उपचारित होने पर जिनका रूप ठीक नही बना रह पाता। इसके अलावा इस विधा से कार्य में शीघ्रता भी होती है।

ढलवाँ चीजो पर आर्द्र विधा लागू हो जाने से, उन पर विविध रंगो का प्रयोग करके उनको सजाना भी संभव हो गया है, यह धूलन विधा से संभव न था। स्तार धातु का पुन. अग्नि-तापन तो ठीक है किन्तु ढलवाँ चीजो को पुन तप्त करना उचित नही, जब तक उनको ठंडा होने के तुरन्त बाद ही तप्त न किया जाय। यदि इसमें विलम्ब हो जाय तो उनमें गैसें समा जाती है और तब पुन: अग्नि-तप्त करने से उनमें सूक्ष्म छिद्र हो जाते है।

इन विधाओ में अवगुण्ठ (मफ्ल) प्रकार की भट्ठियाँ इस्तेमाल की जाती हैं और अगर वे कोयले की खानो के निकट स्थित हो तो उनमें प्रोड्यूसर गैस जलायी जाती है। उन क्षेत्रो में जहाँ ठोस ईंधन महँगा पड़ता है वहाँ भी तेल, गैस अथवा बिजली का प्रयोग किया जाता है।

रगदार एनामल बनाने के लिए विशेष रूप से तैयार किये गये धातवीय ऑक्साइडो का प्रयोग किया जाता है। इन्हें मिट्टी के साथ चक्की में पीस लिया जाता है अथवा वाणिज्यिक ऑक्साइडो को एनामल की धान में गला लिया जाता है।

ग्रंथ-सूची

ANDREWS, A I *Enamels.* Twin Publishing Co.

GRUNWALD, J *Raw Materials of the Enamel Industry* Charles Griffin & Co , Ltd.

—*Technology of Iron Enamelling and Tinning.* Charles Griffin & Co., Ltd.

—*Theory and Practice of Enamelling on Iron and Steel* Charles Griffin & Co , Ltd.

HANSEN, J E . *Manual of Porcelain Enamelling* Enamelist Publishing Co.

MERNAGH, L. R *Enamels, Their Manufacture and Application to Iron and Steel Ware.* Charles Griffin & Co , Ltd.

अध्याय १८

परिवहन

जलयान-निर्माण तथा नौ-आँगन, रेलवे, सडक-परिवहन,

परिवहन, जलयान-निर्माण तथा नौ-आँगन

आर्थर मार्क्स, ए० एम० आई० मेक० ई०, ए० आर० सी० एस०, ए० आर० एस० एम०, एफ० आर० आई० सी०

जलयान-निर्माण भी अति प्राचीन कला है, इसका उल्लेख सहस्रो वर्ष पुराने *बाइबिलसम्बन्धी अभिलेखो* में मिलता है। अमेरिका के आविष्कार के लिए प्रयुक्त जलयानो के अवशेष अब भी मेसाचुसेट्स के संग्रहालय मे विद्यमान है। इनका निर्माण कोलम्बस (१४९२) अथवा अमेरिगो वेस्पुक्काई (१४९८) द्वारा पश्चिम की यात्रा को जाने के पाँच या छ सौ वर्ष पूर्व हुआ था।

इण्डीज पहुँचने के लिए कोलम्बस ने जिस पोत का प्रयोग किया था वह २३० टन भारी तथा १२८ फुट लम्बा और २६ फुट चौडा था। इसकी तुलना मिस्रियों द्वारा ३००० ई० पू० बनायी गयी नौका से कीजिए, जो केवल ७० फुट लम्बी और २० फुट चौडी थी। ऐसे बेडे पेरू के समुद्री किनारो पर अब भी देखे जा सकते है।

नौ-वहन की समस्याओ को हल करने के लिए रसायनविज्ञान की सहायता अभी हाल में ही ली जाने लगी है, इससे अब नौ-मार्ग में सीमेण्ट और ककरीट चुनने से लेकर नोदक (प्रोपेलर) और जहाज के पेटे के सक्षारण तक की विभिन्न समस्याओ को हल और तत्सबन्धी अनुसन्धान करना पड़ता है।

अन्य अनेक शिल्पो की भाँति जलयान-निर्माण में अपूर्व परिवर्तन हुए है, लकडी के स्थान पर लोहे का पेटा बनाना तथा पालो की सहायता के बजाय उसे भाप से चलाना इन परिवर्तनो के कुछ उदाहरण है। जलयान सचालन के लिए भाप के स्थान पर डीज़ेल इंजन का प्रयोग भी होने लगा, किन्तु किसी विशिष्ट सेवा के लिए आवश्यक क्षमता तथा आर्थिक दृष्टि के आधार पर ही इस परिवर्तन का मूल्याकन किया जा सकता है। जैसे उच्च श्रेणी के तेल ईंधन मे चलनेवाले डीज़ेल इंजनो का प्रयोग

छोटे एवं मध्य आकार के सामान और यात्रियों को ले जानेवाले जहाजों में ही किया जाता है, जब कि लम्बी-लम्बी यात्राओं के लिए भाप-टर्बाइनवाले जलयान ही काम आते हैं।

इसमें रसायनविज्ञान के प्रयोग की कहानी का प्रारम्भ संसार के तेलस्रोतों के संक्षिप्त उल्लेख एवं तेल के निबन्ध तथा भौतिक लक्षणों की चर्चा से किया जा सकता है। एतदर्थ नौ-आँगन (शिपयार्ड) की प्रयोगशाला में ऊष्मीय मान (कैलारिफिक वैल्यू) मापने के लिए ऊष्मामापी (कैलरी मीटर) से लेकर स्नेहक तेलों की श्यानता (विस्कॉसिटी) नापने के यन्त्र लगे रहते हैं।

जहाज में इंधन तथा स्नेहक (लुब्रिकेशन) की आवश्यकता के पहले ही रसायन विज्ञान का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि जहाज का पेंदा और इंजन तो ढलवाँ लोहे से ही बनता है और इनके बनाने के लिए आवश्यक ढलवाँ लोहे तथा पिग लोहे के निबन्ध (बनावट) इत्यादि का निर्धारण रसायनज्ञ को ही करना पड़ता है। डीज़ेल इंजन में लगनेवाले सिलिण्डर और पिस्टन को काफी ऊँचा ताप सहन करना पड़ता है अतः उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले पिग-लोहे में थोड़ी मात्रा फास्फोरस की होनी चाहिए। इंजन, सिलिण्डर के अस्तर तथा पिस्टन के वलयों (रिंग्स) जैसे अन्य भागों को काफी घर्षण-रोधी होना चाहिए। इनके लिए निकेल और क्रोमियम की मिश्र-धातु का प्रयोग हो सकता है तथा आवश्यकता होने पर इसमें सल्फर डालकर इसे कठोर भी किया जा सकता है।

वाष्पित्र (ब्वायलर) तथा पेंदे में लगनेवाले इस्पात के पट्टों की बनावट में भी रसायनविज्ञान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जब धातु में अवानवीय तत्त्वों का वितरण भिन्न होता है तब समुद्री जल में जहाज के पेंदों का बड़ी तीव्र गति से संक्षारण होता है, ऐसा विशेषकर कार्बन के अनियमित वितरण के कारण होता है। रंगलेप लगे *रहने पर भी पट्ट का वह भाग, जिसमें कार्बन की मात्रा कम होती है, दूसरे भागों की* अपेक्षा अधिक शीघ्रता से विलीन होने लगता है। रंगलेप बहुधा सरंध्र झिल्ली की तरह होते हैं इसलिए उनसे जल का सर्वथा अपवर्जन नहीं होता। इसी लिए पुराने समय में उस लोहे के बने जहाज, जिसमें अशुद्धियाँ कम होती थीं तथा धातुमलों का वितरण प्रायः एकरूप होता था, आधुनिक जहाजों की तुलना में अधिक टिकाऊ होते थे। कारण यह है कि वर्तमान इस्पात के पट्टों में अति शीघ्र उत्पादन होने से पृथक्करण (सेग्रिगेशन) की कठिनाई प्रायः होती है। अतः इस्पात की रासायनिक जाँच *इसी समय से प्रारम्भ हो जाती है जब वह खुली चुल्ली-भट्ठी में द्रवित अवस्था में* रहता है।

क्षार की क्रिया के कारण वाष्पित्रो के पट्टे प्रयोग-काल मे ही फट जाते है; इस कठिनाई का निवारण करने के लिए बडा रासायनिक अनुसन्धान किया गया है। कुछ समय पूर्व ऐसा आविष्कार हुआ कि वाष्पित्र-जल मे क्षार की थोडी मात्रा रहने से सक्षारण का निवारण होता है किन्तु यदि उसमे क्षार की सान्द्रता अधिक हो तो वही पट्टो के भजन का कारण हो जाता है। इस सबन्ध में भी अनेक अनुसन्धान हुए है। सामान्य विचार है कि आक्रमण उसी स्थान पर होता है जहाँ धातु पर अत्यधिक प्रतिबल दिया गया हो, किन्तु कुछ ऐसे निबन्धवाले इस्पातों को भी क्षार की क्रिया से कुछ ही घण्टो में विफल होते देखा गया है, जिन पर तनिक भी प्रतिबल नही था। इससे सिद्ध होता है कि मुख्य बात इस्पात के निबन्ध (कपोजिशन) की है, न कि प्रतिबल[1] की।

वाष्पित्रो तथा पेटो की सुरक्षा के लिए विद्युत-रसायनविज्ञान का भी पूरा प्रयोग *किया गया है। पहले वाष्पित्रो और मघनको के अन्दर तथा कास्य नोदको के पीछे पेटे पर* यशद के पट्टे लगाये जाते थे, किन्तु ये वाष्पित्र तथा पेटे के इस्पातपट्टो की अपेक्षा *जल्दी सक्षरित हो जाते थे। इसका कारण यह था कि इस्पात की अपेक्षा यशद अधिक* विद्युत्-धनात्मक होता है। किन्तु अगर यशदपट्ट प्राय शुद्ध हो और उनमे पृथक्कृत *सीस न हो तो यह रीति अधिक लाभदायी सिद्ध हो सकती है। यशद पट्टो मे पृथक्कृत* सीस होने से यशद और सीस मे एक विद्युदशिक (एलेक्ट्रोलिटिक) क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिसके फलस्वरूप यशदपट्ट कुछ ही दिनो में सक्षरित हो जाते हैं। इसी लिए यशदपट्टो की इस प्रकार के पृथक्करण के लिए बडी सावधानी से परीक्षा की जाती है।

वाष्पित्र और पेटे का सक्षारण रोकने के लिए विद्युतधारा-रक्षण (प्रोटेक्शन) का भी उपयोग किया गया है। इसके लिए ऋणात्मक वाष्पित्रपट्टिका (शेल) अथवा ऋणात्मक पेटे (हल) के साथ परिपथ (सर्किट) मे एक लोहे के धनाग्र (ऐनोड) का प्रयोग किया जाता है। यह विधि प्रभावी तो अवश्य है किन्तु इसका यह दोष है कि वाष्पित्र मे फेरिक हाइड्राक्साइड का ऊर्ण्य अवक्षेप (फ्लॉकुलेण्ट प्रेसिपिटेट) बन जाता है, जिसकी वजह से टर्बाइन इजनवाले जहाजो मे टर्बाइन फलक अवरुद्ध हो जाते हैं।

जलयानो मे वाष्पित्र जल को बार-बार इस्तेमाल करना जरूरी होता है जिससे मुख्य टकी अथवा उद्वाष्पक (इवैपोरेटर) में से अत्यधिक पूर्ति न करनी पडे। इजनो

[1] Stress

की क्षमता बढाने के लिए उनमें संघनक (कॉण्डेन्सर) लगे रहते हैं, जिनमें भाप के सघनन के लिए समुद्री जल पम्प किया जाता है। सघनक की नलियों के संक्षारण के प्रश्न पर भी काफी अनुसन्धान किया गया है तथा उसके संबन्ध में अनेक सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं। पहले ये नलियाँ पीतल की बनी होती थी, जिसमें से यशद सक्षारित हो जाता था और ताम्र की एक जाली सी बच रहती थी। इससे अल्फा-कला (फेज) के साथ एक विद्युत-युग्म (कप्ल) तैयार हो जाता जो अल्फा-कला में यशद की हानि का कारण बनता था। सघनक की नलियों की अवस्थिति (पोजीशन) तथा समुद्री जल मे वायु की उपस्थिति सदृश अन्य कारक भी संक्षारण में योग देते हैं। इसके तुलनात्मक महत्त्व को देखते हुए संघनक नलियों के संक्षारण की समस्या पर अत्यधिक वैज्ञानिक अनुसन्धान किया गया है। इस समस्या को हल करने के लिए एक-कला ताम्र-निकेल मिश्रधातु का प्रयोग उत्तम माना गया है। यद्यपि ताम्र-निकेल मिश्रधातु इस्तेमाल करने में प्रारम्भिक पूंजी-लागत थोडी अधिक अवश्य पड़ती है किन्तु अधिक टिकाऊ होने के कारण अन्ततोगत्वा महँगी नहीं होती।

नोदकों (प्रॉपेलर्स) के तथाकथित अपक्षरण (इरोज़न) के निवारण के लिए भी रसायनविज्ञान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया गया है। लोगो ने यह अनुभव किया *था कि ढलवाँ लोहे के बने नोदक बहुत जल्द नष्ट हो जाते थे जब कि काँसेवाले समुद्री* जल की क्रिया से अधिक प्रभावित न होने के कारण अधिक दिन चलते थे। चूंकि ताम्र और वग की कास्य मिश्रधातु महँगी होती थी इसी लिए ताम्र और यशद की *पीतल मिश्रधातु इस्तेमाल की जाती थी। आगे चलकर इसमें लोहा डालकर उसे* और सुदृढ किया जाने लगा। इसके लिए पीतल में लौह-मैंगनीज़ मिश्रधातु मिलायी जाती थी। इस प्रकार मैंगनीज कांसे के नोदक बनने लगे, जो वस्तुत. पीतल के होते *थे, जिनमें लोहा (१%) तथा लेश मात्र मैंगनीज़ केवल कठोरकरण के लिए होता* था। टर्बाइन इजनों द्वारा सचालित उच्च गतिवाले नोदकों के प्रचलन के साथ साथ उनकी सतह पर से गुजरने वाले समुद्री जल और वायु की मात्रा भी बहुत बढ गयी, फलत नोदकों का सक्षारण पुनः प्रत्यक्ष होने लगा। चूंकि उच्च गतिवाले नोदकों से उनके आसपास वाले जल में खोखले कोटर बन जाते हैं, इसलिए यह समझा गया कि इनके एकाएक पिचककर समाप्त होने से अपक्षरण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो नोदक-फलकों में छिद्र करके उनका अपक्षारण कर देती है। इस समस्या के अनुशीलन का काम गणितज्ञों को सौंपा गया तथा यह गणना द्वारा सिद्ध किया गया *कि जब कोई निर्वात कोटर (वैकुअम कैविटी) एकाएक पिचकता है तो अत्यधिक* शक्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु उपर्युक्त समस्या पर विचार करते समय यह नहीं

सोचा गया कि नोदक के आसपास निर्वात कोटर जैसी कोई चीज नही होती। इन कोटरो में तो पर्याप्त हवा एव आर्द्रता भरी रहती है, और यह परिस्थिति अपक्षरण (इरोज़न) के नही, मक्षारण (कोरोज़न) के लिए अति उपयुक्त है।

अपक्षरण सिद्धान्त के अनुसार मैंगनीज़ काँसे को और कठोर बनाया गया, इसके लिए मृदुल अल्फा-कला का निरसन, और यशद की मिलावट तथा कठोरकरण के लिए लोहे के स्थान पर निकेल का प्रयोग किया गया। इस प्रकार एक ऐसी प्रबल मिश्रधातु उत्पन्न की गयी जिसमे केवल एक कला थी और उच्च संक्षरण-रोधी गुण थे।

समुद्री बल अथवा लवण जल-वातावरण मे रक्षानौकाओं में भी पीतल का मक्षारण बडा महत्त्वपूर्ण है, क्योकि उनमे उत्प्लावकता (ब्यायन्सी) के लिए हलकी पीतल की टकियाँ लगी रहती है। निरीक्षणार्थ खोले जाने पर ये टकियाँ फटी मिली। पीतल की चद्दरो का मक्षार विदरण (सीजन-क्रैकिंग) हो गया था। इस विषय पर भी बहुत कुछ लिखा गया है और इसके अनेक कारण उपस्थित किये गये है। मक्षार विदरण की जाँच करने पर यह अनुमान किया गया कि उनमे दुर्बल तथा अति मक्षारक गामा-कला विद्यमान थी। यद्यपि मक्षार-विदरण का यह मुख्य कारण नही माना गया है किन्तु जलयान-निर्माण में इसके महत्त्व की पूरी जाँच की गयी और गामा-कला[1] की उपस्थिति निश्चित रूप मे मान ली गयी। किन्तु इसके स्वीकृत न होने का कारण यह है कि प्रयोगशाला की तापशीतन परिस्थिति मे प्रतिष्ठित कला-चित्र (फेज़ डायाग्राम) औद्योगिक परिस्थिति में बड़े पैमाने पर किये गये तापशीतन (ऐनीलिंग) के कला-चित्र से सर्वथा भिन्न होना है।

जलयान-निर्माण में रसायनविज्ञान के प्रयोग की विविधता बडी विशाल है, इसके लिए अफ्रीकी नदियो तथा आस्ट्रेलियाई बन्दरगाहो के जलो के विश्लेषण से लेकर सदोष स्वर्ण-पट्टन (प्लेटिंग) की समस्या के अनुशीलन तथा भट्ठियों की गैसो की परीक्षा तक सब कुछ करना पड़ता है। ईंधन का विश्लेषण करके उष्मा संतुलन की पूर्ति के लिए अश्व-शक्ति का निर्धारण भी इसकी परिधि के बाहर नही है।

[1] γ-Phase

ग्रंथ-सूची

HOLMES, SIR G C. V. : *Ancient and Modern Ships.*
LINSEY, W. S. : *History of Merchant Shipping, Ancient and Modern.*
RONCIERE, C. DE. LA . *Historie de la Mprine Francaise.*

रेलवे

पर्सी लुइस-डेल, बी० एस-सी०, पी-एच० डी० (लन्दन),
एफ० आर० आई० सी०

रेल द्वारा यात्रियो और सामानो के सुरक्षित, सवेग एव मितव्ययिता से परिवहन मे रसायनविज्ञान के योगदानो पर प्रकाश डालना ही इस लेख का उद्देश्य है। रेलवे का उपक्रम (अण्डरटेकिंग) इतना विशाल है कि उसके लिए स्वय अपना इञ्जीनियरी कारखाना, ढलाईघर तथा अन्य धातुकार्मिक (मेटलर्जिकल) निर्माणियाँ, रगलेप एव अन्य छोटे छोटे कारखाने स्थापित करना ही आर्थिक दृष्टि से उचित है। मितव्ययिता के लिए तथा भौगोलिक विचार से भाप बनाने और घरेलू कामकाज के लिए उसके अपने जल-कल भी होते हैं। रेलवे के अपने गैस कारखाने भी है जिनसे वे अन्य लोगो को गैस देते हैं। उनके अपने समुद्री विभाग होते हैं और बिजली तैयार करने के बडे-बडे बिजलीघर होते हैं जिनमे शक्ति सचारित करके बिजली से चलने वाली गाडियों को चलाते तथा होटलो और अन्य कार्यों के लिए बिजली देते हैं। इन सभी उपक्रमो में रसायनविज्ञान की आवश्यकता होती है तथा उसका समुचित उपयोग किया जाता है, और इसमें सदेह नही कि रसायनज्ञो की सेवाओ ने प्रत्येक विभाग की कुशलता एव मितव्ययिता मे महान् योगदान किया है। उपर्युक्त प्राय सभी कार्यकलापो के प्रतिरूप (काउण्टरपार्ट) तो अन्य औद्योगिक उपक्रमो में प्रदर्शित है, किन्तु जिसे वस्तुत रेलवे रसायन कहा जा सकता है, वह तो सचमुच वहन-विभागो में रसायनज्ञो द्वारा किये गये काम है।

रेलवे मे रासायनिक कार्यकलाप का प्रारम्भ १८६४ में हुआ। उसी वर्ष में 'लन्दन ऐण्ड नार्थ वेस्टर्न रेलवे' ने एक रेलवे रसायनज्ञ नियुक्त किया। इससे स्पष्ट है कि रासायनिक निर्माणियों (फैक्टरीज) को छोडकर रसायन का महत्त्व स्वीकार करनेवाले अन्य वाणिज्यिक उपक्रमो में रेलवे का स्थान बडा ऊँचा है। अपना रसायनज्ञ नियुक्त करने के पहले भी रेलवेवाले रासायनिक विश्लेषण की सहायता लेते

रहे है। किन्तु आगे चलकर तो उन्होंने बेसेमर परिवर्तक (कन्वर्टर) से निकलने वाले प्रकाश के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में होनेवाले परिवर्तनों का वर्णक्रमदर्शी (स्पेक्ट्रास्कोप) द्वारा अध्ययन करने के लिए सर हेनरी रामको से भी सहायता ली। पहले पहल नियुक्त रेलवे रसायनज्ञ का मुख्य कर्तव्य इस्पात-निर्माण करना तथा जलप्रदायो को ठीक रखना था, किन्तु धीरे धीरे उसका कार्यक्षेत्र बढने लगा और उसके सहकर्मियो की सख्या भी बढी, यहाँ तक कि आजकल रासायनिक एव आनुषगिक कार्यो के लिए लगभग २०० व्यक्ति नियुक्त हैं, इनमे कुछ तो बडी उच्च शिक्षा वाले एव अनुभवी रसायनज्ञ हैं।

इंजीनियरी विभागो मे कुछ तो ऐसी समस्याएँ उठती है जो रेलवे क्रियाकरण मे सर्वथा अभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ चलित्रो (लोकोमोटिव) की भट्ठी मे होनेवाले दहन (कम्बस्चन) का अध्ययन एव नियत्रण अन्य भट्ठियो के दहन से कही अधिक जटिल है। चलित्रो के लिए प्रयुक्त जल का उपचार भी अति कठिन है, क्योकि उन्हें बीसो स्थानो से विभिन्न प्रकार के जल लने पडते है। ऐसी तथा धातुकर्म, स्नेहन (लुब्रिकेशन), काष्ठ-परिरक्षण, सुरगो के लिए सीमेण्ट और ककरीट, ग्लेप तथा तलो के रक्षण और सजावट के लिए अन्य लेप, गाडियो मे रोशनी देने के लिए बैटरी बनाना, स्थायी रास्तो से घासपात नष्ट करना, बहुत देर तक जलनेवाले सकेत-दीपो के लिये तेल, तेल-गैस और कोल-गैस के निर्माण से प्राप्त उपजातो का उपयोग, पानी में उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियो का निरसन एव नियत्रण, विशेषकर उन जलाशयो में जहाँ से रेलमार्ग पर चलते हुए चलित्र जल लेते है, लकडियो एव वस्त्रो को अग्निरोधी बनाना इत्यादि जैसी अनेक अन्य समस्याओ के हल के लिए निरन्तर अनुसन्धान आवश्यक है।

विस्फोटक पदार्थ, ज्वलनशील द्रव, सपीडित एव तरलित गैस, विपाक्त एव सक्षारक रासायनिक यौगिक तथा जोखिमी सामानो के रेल द्वारा सुरक्षित परिवहन के लिए नियम बनाना तथा उनकी देखरेख करना रेलवे की विशेष रासायनिक समस्याएँ हैं जिनके लिए रसायनविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है। १८९२ मे विविध रेलवे कपनियो ने रसायनज्ञो की एक समिति नियुक्त की थी, किन्तु वर्तमान रेलवे नियम प्राय पिछले २५ वर्षो में ही विकसित हुए हैं। उपर्युक्त समिति ने विविध वाणिज्यिक विभागो के सहयोग से काम किया और यह उसकी सफलता का बडा भारी प्रमाण है कि सडक मार्ग से जोखिमी सामानो के परिवहनसबन्धी सरकार द्वारा जो नियम जारी किये गये हैं वे अधिकाशत रेलवे के नियमो पर ही आधारित हैं। इस प्रकार के काम के लिए व्यापक रासायनिक ज्ञान एव अनुभव की आवश्यकता होती है,

साथ ही साथ अनेक प्रयोग तथा परीक्षण भी करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इस बात का भी विशेष ध्यान रखना पडता है कि नियम इतने कठोर और खर्चीले न हो जायें कि भेजनेवालो के लिए रेल द्वारा ऐसे सामानो का भेजना ही असंभव हो जाय। उदाहरणार्थ किसी १० गैलन सक्षारक अम्ल के लिए सबसे सुविधायुक्त तथा कम खर्चीला धारक (कन्टेनर) काच का कार्ब्वाय[1] होता है। इसमें संदेह नही कि इनकी अपेक्षा अन्य कोई धारक अधिक सुरक्षित होगा, किन्तु इससे धारक का ही दाम इतना बढ जायगा कि वह उद्योगविशेष के लिए बहुत बाधक हो जायगा। इसलिए रेलवे के नियमो में यह निर्देश किया गया है कि कार्ब्वाय यथासंभव मजबूत हो, तथा उनकी अन्तर्वस्तु के अनुकूल उन पर उपयुक्त डाटें बडी मजबूती से लगी हो और वे इस प्रकार पैक हुए हो कि उनके टूटने की न्यूनतम संभावना रह जाय। इसी तरह संपीडित एव तरलित गैसो के परिवहन में अनेक समस्याएँ उठती है। सरकारी गृहविभाग (इग्लैण्ड) ने १८९५ में एक समिति नियुक्त की, जिसने स्थायी गैसो के लिए सिलिण्डरो की सिफ़ारिश की और रेलवे कंपनियो ने यह सिफारिश मान ली। किन्तु जब क्लोरीन, अमोनिया तथा इथिल क्लोराइड जैसी दबाव में तरल बननेवाली गैसो का वाणिज्यिक प्रचलन प्रारम्भ हुआ तो रेलवे कंपनियो को उनके धारको के बारे में पुन विचार करना पडा। समस्या-समाधान में लगे रसायनज्ञो को उनके रासायनिक गुणो के साथ साथ प्रसरणगुणाक, वाष्पदबाव तथा क्रान्तिक (क्रिटिकल) ताप जैसे भौतिक गुणो पर भी विचार करना पडा। उनको धारको की मजबूती का भी ध्यान रखना था, यद्यपि स्थायी गैसो के लिए प्रयुक्त सिलिण्डरो में यह आवश्यकता पूरी हो जाती है, क्योकि वे गैसें १८०० पौण्ड प्रति वर्ग इंच के दबाव तक संपीडित होती थी। फिर भी व्यापारी के हित में एव अन्तर्वस्तु के भार की तुलना में धारक का भार यथासभव इतना कम होना चाहिए जिससे उसे उठाने-धरनेवाले कर्मियो तथा सामान्य जनता की सुरक्षा सर्वथा प्रतिभूत हो। रसायनज्ञो के विचारविमर्श एव परीक्षणो तथा व्यापारियो से परामर्श के बाद सिलिण्डरो, ड्रमो तथा तेल-गाड़ियो की ऐसी विशिष्टियाँ निर्धारित की गयी, जिनकी सहायता से ऐसे सामान सुरक्षापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये जा सकते है। लेकिन जब सड़क-परिवहन का विकास हुआ तब रेलवे कंपनियो द्वारा निर्धारित नियम लागू नही किये जा सके और सरकारी नियमों द्वारा निर्दिष्ट सिलिण्डरो का उपयोग ही व्यावहारिक माना

[1] Carboy

गया। 'डिपार्टमेण्ट ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' की समितियों ने जो सिफारिशें जारी की उनके अनुसार तरलित गैसों के लिए इस्तेमाल किये जानेवाले सिलिण्डर रेलवे कंपनियों द्वारा निर्धारित सिलिण्डरों की अपेक्षा अधिक भारी थे। एक अनुसन्धान के सिलसिले में यह पता लगा कि सिन्नामिल ग्रन्थन (लिंकेज) वाले यौगिक यदि कपड़ों पर गिर जायँ तो हवा लगने से इतने शीघ्र आक्सीकृत हो जाते हैं कि वे जल उठते हैं। ऐसे ही किसी यौगिक से भरा कनस्टर एक बक्स में काष्ठ-ऊन से पैक किया हुआ था, किन्तु कनस्टर से उसके चू जाने के कारण काष्ठ-ऊन में और फिर गाड़ी में आग लग गयी। रुचिकर बात यह थी कि भेजनेवाले तथा पानेवाले को यौगिक विशेष के इन गुण का बिलकुल पता न था यद्यपि वे वर्षों से उसका व्यापार करते आ रहे थे। इसी प्रकार का एक और रोचक आविष्कार है—सोडियम क्लोरेट विलयन से व्याप्त जूट के बोरे को जब १०५° से० पर सुखाया गया तो वह स्वतः जल उठा। यद्यपि ये बातें वैसे विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु परिवहन के संबन्ध में काफी जोखिम की हैं।

सरकारी नियमानुसार विविध प्रकार की वस्तुओं के २१ वर्ग बनाये गये हैं और रेलवे कम्पनियों को परिवहनार्थ प्रस्तुत वस्तुओं का वर्गीकरण करने के लिए कानूनन रसायनज्ञ की सेवाएं लेनी पड़ती हैं। इसी वर्गीकरण के अनुसार उनका किराया निश्चित किया जाता है। ऐसी निरापद वस्तुओं के परिवहन में भी रसायनज्ञ के परामर्श की आवश्यकता पड़ती है, जो स्वतः खराब हो जानेवाली होती हैं। यातायात में खराब हो जानेवाली वस्तुओं की क्षतिपूर्ति के लिए जो दावे होते हैं उनके संबन्ध में भी काफी रासायनिक काम करना पड़ता है। मोटे तौर पर दूषित वस्तुओं के दूषणकर्ता को पहचानना पड़ता है तथा उसके संभाव्य स्रोत का पता लगाना होता है। दूषण अथवा क्षति की सीमा निश्चित करनी पड़ती है, तथा उसके नाश-रक्षण (साल-वेजिंग), पुनरनुकूलन (री-कण्डिशनिंग) अथवा ऐसे माल के बेचने या अन्य प्रकार से निकालने के बारे में सिफारिशें करनी पड़ती हैं। इसके लिए बड़े कड़े विश्लेषण, विभिन्न दूषणकर्ताओं द्वारा होनेवाली वस्तुओं की संभाव्य क्षति के बारे में प्रचुर अनुभव तथा विविध सामानों के प्रयोग के व्यापक ज्ञान की आवश्यकता होती है। दूषित एवं क्षत वस्तुओं के इस्तेमाल के तरीके निकालने का भी काम रसायनज्ञों का ही होता है।

वहन-विभागों में काम करने के लिए न केवल रासायनिक योग्यता की जरूरत होती है वरन् विविध वस्तुओं के बारे में वाणिज्य-ज्ञान, विशेष कर उनके निर्माण की रीतियाँ, गुण तथा इस्तेमाल जानने की आवश्यकता होती है। एतदर्थ अनुसन्धान

OVERIN, R. L *Chemistry in the Railway Industry. Industrial Chemist,* Aug , 1936.
WILLIAMSON, J W *A British Railway Behind the Scene,* pp. 191-210. Ernest Benn, Ltd , 1933
WYATT G H. *Micro-Analysis and the Railway Chemist. Microchemistry,* Mar , 1944

सड़क परिवहन

ए० टी० विन्फोर्ड, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर०
सी० एस०, ए० आर० आई० सी०

मोटर परिवहन तो इंजीनियरों का ऐसा अधिकारक्षेत्र है कि रसायनविज्ञान द्वारा इसमें किये गये योगदान की उपेक्षा करना बहुत स्वाभाविक है। किन्तु तनिक निकट से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उद्योग में भी अनेक ऐसी दिशाएँ हैं, जिनमें रसायनज्ञों के काम का ठोस महत्व है। पेट्रोल उत्पादन की आधुनिक रीतियाँ तो सर्वथा रासायनिक अनुसन्धानों पर ही आधारित हैं। इन अनुसन्धानों का मुख्य उद्देश्य प्राप्य ईंधन की उत्पत्ति बढ़ाने के साथ साथ उसकी कोटि में ऐसी उन्नति करना रहा है जिससे वह इंजनों में सुविधा से प्रयुक्त हो सके। पेट्रोल इंजनों के सम्पीडन अनुपात (काम्प्रेशन रेशियो) की निरन्तर वृद्धि और उसके साथ साथ शक्ति उत्पादन की वृद्धि और ईंधन खपत की कमी, ये सभी बातें रासायनिक कार्य के बिना सम्भव न हुई होतीं। इसी के विकास से ऐसी रीतियाँ निकलीं जिनसे कच्चे तेलों में विद्यमान हाइड्रोकार्बनों को आवश्यक प्रतिस्फोट (एण्टी-नॉक) गुणोंवाले प्रकार में परिवर्तित किया जा सका। संयुक्त राज्य अमेरिका में पेट्रोल की श्रेणी एक शुद्ध हाइड्रोकार्बन, आक्टेन के ऊपर निर्भर होती है तथा उसकी आक्टेन-संख्या के ऊपर ही उसका विक्रय होता है। पेट्रोल के प्रतिस्फोट गुण को बढ़ाने के लिए उसमें थोड़ी मात्रा में कुछ रासायनिक पदार्थ डाले जाते हैं, इनमें सीस टेट्रा-इथिल सुनाम है और अधिक व्यवहार भी इसी का होता है। पेट्रोल की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए इस यौगिक का आविष्कार केवल आकस्मिक नहीं था बल्कि एक ऐसे लम्बे अनुसन्धान का फल था जिसमें बहुसंख्यक कार्बनिक यौगिकों का अध्ययन किया गया था। यात्री तथा सामान ढोनेवाली गाड़ियों के लिए उच्च गतिवाले तेल-इंजनों के प्रचलन के बाद उपयुक्त दहन गुणोंवाले गैस तेल सुलभ किये गये हैं। इनके विकास में भी रसा-

यनज्ञों का बडा हाथ है और इनका मूल्याकन भी एक दूसरे शुद्ध हाइड्रोकार्बन, सीटेन के पदो में किया जाता है।

पेट्रोल इजनो का संपीडन अनुपात बढ जाने तथा उच्च गतिवाले तेल-इंजनो के द्रुत विकास से, जिनका संपीडन और भी अधिक होता है, और भी मजबूत सामान की आवश्यकता हुई जो उच्च संपीड को सफलतापूर्वक सह सके। इस माँग की पूर्ति इस्पात की उपयुक्त मिश्रधातु तैयार करके की गयी है तथा भार-शक्ति अनुपात को कम करने के लिए अलूमीनियम मैग्नेसियम मिश्रधातुओ का भी प्रयोग किया जाने लगा है। इसके अलावा उन्नत टिकाऊपन वाली भार धातुओ (बेयरिंग मेटल्स) की भी आवश्यकता हुई और इनके लिए प्रयुक्त होनेवाली मिश्रधातुओ के बनाने में कैडमियम, रजत एव सोडियम जैसे अप्रत्याशित तत्त्वों का प्रयोग होता है। भार कम करने की समस्या इंजन तथा गाडी का ढाँचा दोनों के बनाने में महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर उन मुसाफिर तथा सामान ढोनेवाली गाडियों में जिनका महत्तम भार कानूनन निश्चित होता है। इसलिए योक्त्र धान[1] तथा इजन कूर्पर धान[2] के लिए मैग्नीसियम मिश्रधातु उत्तम सिद्ध हुई है, पट्टों (पैनेल) के लिए एक अलूमीनियम-मैग्नीसियम मिश्रधातु का प्रयोग किया जाता है तथा हस्तवलम्ब[3] के लिए मैग्नीसियम सहित एक दूसरी अलूमीनियम मिश्रधातु इस्तेमाल की जाती है। गाडी का भार और भी कम करने के लिए क्रोम-मॉलिब्डनम इस्पात की नलियों की बनी कुर्सियाँ इस्तेमाल होने लगी हैं।

मोटर परिवहन के विकास मे अफलिकनीय (नॉन-स्प्लिण्टरिंग) काच का प्रयोग भी रसायनविज्ञान का उल्लेखनीय योगदान है। जब इसका पहले पहल उत्पादन हुआ था तब इसमें काच के दो स्तरो के बीच में सेलुलायड का एक अन्त स्तर देकर उनका बन्धन किया गया था। इस युक्ति से काच का फलिकन (स्प्लिण्टरिंग) तो सफलतापूर्वक रोका जा सका किन्तु सूर्यप्रकाश के कारण कुछ समय में ही यह बदरंग हो जाने लगा। यह कठिनाई भी अब सेलुलोज नाइट्रेट के स्थान पर सेलुलोज एसिटेट का प्रयोग करके दूर की जा सकी है, इससे काच-स्तारो के सफल बन्धन की समस्या भी हल हो गयी है। इसका विकास यही समाप्त नही हुआ वरन् अन्त स्तर के लिए अर्ध-प्लास्टिक विनाइल ऐस्टर रेज़ीनों का इस्तेमाल प्रारम्भ हो गया है। सुरक्षा-काच का एक और प्रकार भी व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रहा है, इसमें अन्त स्तर के लिए किसी प्लास्टिक पदार्थ का समावेश नही किया जाता, प्रत्युत काच को ही नियन्त्रित

[1] Gear-box [2] Crank-cases [3] Handrails

ताप एवं समय से तप्त करने के तुरन्त बाद दोनों ओर अति शीघ्रता से ठंडा करके कठोर बनाया जाता है।

प्राकृतिक एवं संश्लिष्ट रबर के रासायनिक विकास से भी मोटर परिवहन को बड़ी सहायता मिली है। कोशाय (सेलुलर) रबर की गद्दियाँ बनने से भार भी कम हुआ, साथ ही यात्रियों को अधिक आराम मिलने लगा। भारी गाडियों में वायवीय (न्युमैटिक) टायरों का प्रयोग भी अब संभव हो गया है। इससे भी आराम बढ़ने के साथ साथ गाडियाँ अधिक भार अधिक वेग से ढो सकती हैं। इस उद्योग में विविध प्रकार के संश्लिष्ट रबर के उत्तम गुणों का भी पूरा लाभ उठाया गया है। इस प्रकार के रबर से इंजन बैठाने के गत्ते बनते हैं, क्योंकि इनके लिए प्रत्यास्कन्दन (रीसीलिऐन्सी) बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। विकिरक (रेडियेटर) नम्यनाल जोड़ों, तेल धारण करनेवाले वलयों तथा इंधन और तेलनलों के लिए भी संश्लिष्ट रबर इस्तेमाल किया जाने लगा है। इसके प्रयोग से तापसहता और तेल अवशोषण की समस्याएँ भी बड़ी सफलता से हल हो गयी हैं।

रंगलेपों तथा तत्संबन्धी सामग्रियों का विकास भी मोटर परिवहन में रसायन विज्ञान के योगदान की एक दूसरी दिशा है। रंगलेपों के लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि वे देखने में ही सुन्दर लगें वरन् यह भी जरूरी है कि वे वस्तुओं की वायु एवं जल से रक्षा करें और साथ ही सड़क की धूल, गर्द और कीचड़ से अप्रभावित रहें तथा समय समय पर अच्छी तरह धोयें भी जा सकें। इन सबके ऊपर उनमें उच्च नम्यता (*फ्लेक्सिबिलिटी*) *की भी आवश्यकता होती है। नाइट्रो सेलुलोज के विकास से* उपर्युक्त प्रायः सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है और मोटर गाडियों के उत्पादन को बड़ी सहायता मिली, क्योंकि इनके प्रयोग में शीकरण रीति से रंगलेप के सूखने में कोई देर नहीं लगती। यद्यपि आजकल संश्लिष्ट रेज़ीन पीठोंवाले एनामल तथा वार्निश इस्तेमाल करने की अधिक प्रवृत्ति हो चली है, किन्तु इनके प्रयोग में भी मोटर गाड़ियों के निर्माण के लिए विशेष संशोधन करने पड़े हैं। रंगलेपों को धातु तलों पर स्थिर करने के लिए उपयुक्त अधःस्तर (अण्डरकोट) तैयार करने में भी रासायनिक रीतियों का ही आश्रय लेना पड़ा है। इसके लिए कभी कभी फास्फोरिक अथवा अन्य किसी खनिज अम्ल से धातुतल का तनिक निक्षारण (एचिंग) भी किया जाता है, अथवा दूसरी रीति में इस्पात का बन्धन (बॉण्डराइजिंग) उपचार किया जाता है। इससे धातुतल पर मैंगनीज फास्फेट का एक दृढ़ *अभिलागी* (ऐडहियरेण्ट) आवरण जम जाता है, जो संक्षरण से धातु की रक्षा भी करता है। यह विशिष्ट विधा मुख्यतः मोटर गाड़ियों के बनाने के लिए ही विकसित की गयी थी।

विकिरकों (रेडियेटर्स) में हिमीभवन रोकने के लिए ग्लिसरॉल, इथिलीन ग्लाइ-कोल अथवा मिथेनॉल डालने की प्रथा भी रसायनविज्ञान की ही देन है। विकिरकों को ठंडा करने के लिए प्रयुक्त जल में इन पदार्थों के छोड़ने से न केवल उसका हिमांक नीचे गिर जाता है बल्कि यदि हिम जमे भी तो उनके मिलाने से बर्फ का एक खण्ड बनने के बजाय उसके ऐसे केलास बनते हैं जिनसे नलियों के फटने का प्राय बिल्कुल डर नहीं रह जाता। वायुदाब ब्रेक लगी गाड़ियों में अन्दर जानेवाली हवा इथिल ऐल्कोहाल पर से होकर जाती है, जिससे उसके साथ थोड़ा ऐल्कोहाल भी जाकर आर्द्रता के साथ बहिर्गामी वाल्व पर सघनित हो जाता है और ठंडी ऋतु में हिमीभवन के कारण उसके चिपकने को रोकता है।

मोटर गाड़ियों के चलाने, मरम्मत करने तथा उन्हें ठीक रखने में भी अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थ लगते हैं। उदाहरण के लिए सीसपट्ट-संचायक (ऐकु-मुलेटर) लगी गाड़ियों में सल्फ्यूरिक अम्ल की बराबर आवश्यकता रहती है, और बहुत सी सारी गाड़ियों तथा निजी कारों में आग बुझाने के लिए कार्बन टेट्राक्लोराइड सदा साथ रखा जाता है।

अन्त में रासायनिक सिद्धान्तों के कुछ सामान्य किन्तु बड़े व्यावहारिक प्रयोगों का उल्लेख किया जा सकता है। अन्तर्दाही इंजनों के क्रियाकरण में प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला होती है जिनकी अन्तिम उत्पत्तियाँ रेचन गैसों के रूप में प्रकट होती हैं। जहाँ बहुसंख्यक मोटर गाड़ियाँ चलती हैं वहाँ इन्हीं के आधार पर दहननियंत्रण की ऐसी प्रणाली निकाली गयी है, जिससे ईंधनव्यय में भारी बचत की जा सकी है; और *साथ ही साथ सामान्य वातावरण में उत्सर्जित कार्बन मानोआक्साइड की मात्रा कम* करके जन-स्वास्थ्य के हित में कल्याणकारी योगदान किया गया है। इस प्रक्रिया में अच्छी दशावाले किसी सामान्य मोटर के कार्बरेटर का वह अनुकूलतम संस्थापन (सेटिंग) निश्चित किया जाता है जिससे ईंधन की न्यूनतम खपत से आवश्यक शक्ति प्राप्त हो सके, साथ ही उसकी सवादी रेचन गैसों का निबन्ध भी जान लिया जाता है। *जब किसी मोटर के क्रियाकरण में इन मानकों का उल्लंघन होता है तो वह उसके* दोष का द्योतक माना जाता है। अनुभव से विश्लेषण करके दोष के कारण भी जाने जा सकते हैं। यह प्रणाली पहले पेट्रोल इंजनों के लिए नियोजित की गयी थी, जिनमें कार्बन मानोआक्साइड ही अपूर्ण दहन की कसौटी माना जाता है। किन्तु आजकल यात्रियों तथा सामानों के यातायात के लिए पेट्रोल इंजनों के स्थान पर उच्च गतिवाले तेल इंजन काम में आने लगे हैं। इनमें अपूर्ण दहन का माप कार्बन मानोआक्साइड से नहीं बल्कि उनसे निकलनेवाले काले धुएँ से किया जाता है। ईंधन भरनेवाले पम्प

को ठीक से लगाकर इस कठिनाई का निवारण किया जा सकता है। चूंकि निकली गैस का मुख्य संघटक कार्बन डाइआक्साइड होता है अत उसी का अनुपात जान लेने से ईंधन-पम्प को बिना इजन से बाहर निकाले उसकी सेटिंग की जाँच की जा सकती है। युद्ध-काल में प्रोड्यूसर गैस से चलनेवाली मोटर गाड़ियों की कार्य-क्षमता बढाने के लिए गैसविश्लेषण की रीतियों का भी बडा उपयोग किया गया था। इसके लिए न केवल उत्सर्जित गैसो का विश्लेषण करना पडा वरन् प्रोड्यूसर गैस का भी परीक्षण किया जाता था। इनके अलावा कार्बन मानोआक्साइड मात्रा के लिए अनेक प्रकार की हवाओं का भी परीक्षण करना पडता था।

ग्रथ-सूची

DICKSEE, C B · *The High Speed Compression Ignition Engine*. Blackie & Son

DICKSEE, C B *Standard Methods for Testing Petroleum and its Products* The Institute of Petroleum

JUDGE, A W. *Engineering Materials* Vol. I, *Ferrous Materials;* Vol II, *Non-Ferrous Materials* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

पारिभाषिक शब्दावली

अंकन—marking
अंडाशय—ovary
अंतःक्षेप—injection
अंतराल—gap
अंतर्दाही—internal combustion
अंतर्पेशी—intra-muscular
अंतर्वर्ती—*intermediate*
अंतर्शिरा—intravenous
अंतःसीमा—interface
अंतस्थ—intermediate
अकार्बनिक—inorganic
अक्षि—mesh
अग्निक्वाथन—fire boiling
अग्नितापन—fire heating
अग्निमिट्टी—fire clay
अजल—anhydrons
अजलीय—anhydrous
अणु—molecule, micro
अणजीव—micro-organism
अणुजैविकी—micro-biology
अणुरासायनिक—micro-chemical
अतितप्त—super-heated
अति संतृप्त—super-saturated
अदीप्त—nonluminons
अधस्थल—subsurface
अधिनियम—act
अधिमान्य—preferential
अधि-स्वानिकी—supersonics
अधोलेप—undercoat
अधोवाप—hopper
अध्याभूति—warranty
अनाकार—amorphous
अनावसीय—non-greasy
अनाश्रित—direct
अनुकूलतम—optimum
अनुकूलन—conditioning
अनुचित्र—positive (photography)
अनुत्रास—nuisance
अनुपूरक—supplement
अनुपूर्ति—supplement
अनुप्रभाव—side-effect; after-effect
अनुमापन—titration
अनुमाप्य—titre
अनुलम्ब—offset
अनुशीलन—study
अनुसन्धान—research
अनुस्थापन—orientation
अनुहृय—susceptible
अन्नागार—grainery
अन्वायुक्ति—fitting
अन्वेषण—investigation
अपकर्षण—repulsion

अस्थिवक्रता—rackets
आंतरक—core
आतरपेशी—दे० अतर्पेशी
आतरशिरा—दे० अतर्शिरा
आकार—shape
आकुचन—contraction
आक्षीर—latex
आक्वाथ—infusion
आक्सीकरण—oxidation
आक्सीकर्त्ता—oxidising agent
आक्सीकारक—oxidant
आगणन—estimation
आग्राहिता—susceptibility
आघात—shock
आणविक—molecular
आतनन—tensile
आतिथेय—host
आत्मवाहन, आत्मवाही—automobile
आदान—input
आधान—case, container
आधारभूत—fundamental
आधारीय—basal
आनम्य—pliable
आनुभविक—empirical
आपरिवर्तन—alteration
आपात—emergency
आपाती—emergent
आपेक्षिक—relative, specific
आभा—shade (of colour)
आयतन—volume
आयताकार—rectangular
आयन—ion
आयात—import
आयाम—dimension
आयुध—munition
आरम्भक—starter
आरोग्य प्रबन्ध—sanitation
आर्द्रक—wetter, humidifier
आर्द्रता—moisture, humidity
आर्द्रताग्राही—Hygroscopic
आलम्बन—suspension
आवरण—cover, coat
आवर्तन—period
आवर्तत्व—periodicity
आवर्धन—magnification
आवसा—grease
आविष्कार—discovery, invention
आवृत्ति—frequency
आशय—reservoir
आस्त्र्याव—seepage
आश्लेषी—glutinous
आसजक—adhesive
आसवक—distiller
आसवन—distillation
आसवनी—distillery
आसुत—distilled, distillate
आसोत्र—still (distilling)
आहार—diet, food
आहारिकी—dietetics

उ

उत्किरण—engraving

एककेन्द्रीय—concentric
एकप्रभाव—single effect
एकमुद्र—monotype
एकरूप—uniform
एकलन—isolation
एकसम—consistent, uniform
एकान्तरचिति—checkerwork

ओ

ओजोनीकरण—ozonization
औद्योगिक—industrial

क

कंद—tuber
कंपन—vibration
कक्ष—chamber
कट—mat
कटु—bitter
कठोरकरण—hardening
कठोरता—hardness
कण—particle, grain, granule
कबन्ध—fuselage
कर—duty
कर्तनाग—spinneret
कर्मशाला—machine-shop, workshop
कलधौत—bullion
कला—art, phase
कलिल—colloid
कलिलीय—colloidal
कलीचूना—quick lime
कवोष्ण—warm
कषाय—astringent
कसैला—astringent
कांतिद्रव्य—cosmetics
कांसा—bronze
काच—conch
काच—glass
काचन—glazing
काचरण—vitrification
काचिका—glaze
काचीय—vitreous
कारक—factor
कार्बनिक—organic (chemistry)
कार्बनीभवन—carbonization
कार्यभाग—role, part
कार्यविधा—procedure
काष्ठफल—nut
कासीस—coppera
किण्वन—fermentation
किण्वक—fermenting agent
किण्व्यक—wort
किण्विता—alcoholic liquor
कीटमार—insecticide
कीटविज्ञान—entomology
कुंड-रजक—vat dye
कुंडल—coil
कुंतल—spiral
कुक्कुटादि—poultry
कुट्टन—forging
कुलक—set
कुवैद्यता—quackery
कूर्पर—crank
कृत्रिम—artificial

कृमि—insect
कृषि—agriculture
कृषिकर्म—crop husbandry
केलासन—crystallization
केशिका—capillary
कोटर—cavity
कोमल—delicate
कोशा—cell
कौतुकालय—museum
कौशेय—staple (fibre)
क्रान्तिक—critical
क्रियाकरण स्थान—disposal works
क्लीवन—neutralization
क्वथन—boiling
क्वथनांक—boiling point
क्षार—alkali
क्षारीय—alkaline
क्षारीय मृदा—alkaline earth
क्षेत्रावलोकन—field observation
क्षेप्य—waste
क्षैतिज—horizontal
क्षोभण—agitation
क्षौर-साबुन—shaving-soap

ख

खड—block, factor
खड़िया—chalk
खनन—mining
खनिज—mineral
खनिजाम्ल—mineral acid
खनिजायन—mineralization
खपत—consumption
खर्पण—cuppelation
खाद—manure
खाद्य—food, edible
खाद्यान्न—food grain
खुली चुल्ली—open hearth

ग

गंधक—sulphur
गंधकाम्ल—sulphuric acid
गंधतेल—essential oil
गंधराल—rosin
गणना—calculation
गर्तस्तंभ—pitprop
गलग्रन्थि—thyroid gland
गलन—melting
गलनांक—melting point
गलशोथ—tonsillitis
गवेषणा—investigation
गाढ़ता—consistency
गारा—mortar
गुटिकाधार—ball bearing
गुण—quality, property
गुणांक—coefficient, modulus
गुप्त उष्मा—latent heat
गुरुत्व—gravity
गूथन—interlacing
गृहादि—premises
गोचर—pasture
गोलिकाएँ—globules
ग्रन्थ—link, linkage
ग्रन्थामय—nodular, glandular
ग्रन्थि—gland

घ

घटक—component
घटना—phenomena, event
घन—cube
घनता, घनत्व—density
घर्षण—grinding
घान—batch
घातवर्ध्य—malleable
घुन—weevil

च

चक्रिक—cyclic
चमक—gloss
चयापचय—metabolism
चर्बी—lard
चर्मपत्र—parchment paper
चलिष्णु—mobile
चलित्र—locomotive
चादी—silver
चाप—arc
चालकता—conductivity
चालन—conduction
चिति—check work
चिपकाऊपन—tackiness
चुल्ली—hearth
चुनावशील—selective
चूनपत्थर—limestone
चूना—lime
चूर्ण—powder, meal
चेता—nerve (दे० स्नायु)
चेतामयता—nervousness
चोलित—jacketed

छ

छद्मावरण—camouflage
छन्ना—filter
छवि—gloss
छविकार—decorator, artist
छाछ—whey, butter milk
छानित—filtrate

ज

जटिल—complex
जनन—generation
जन-स्वास्थ्य—public health
जनपदमरी—pestilence
जनविश्लेषक—public analyst
जनित्र—generator
जलकल—waterworks
जलप्रदाय—water-supply
जलप्रेरित—hydraulic
जलयोजन—hydration
जलरोध—water-resistence
जलवाहन—water-carriage
जलसंक्रम—aqueduct
जलसह—water-proof
जलापघटन—hydrolysis
जलाशय—water-reservoir
जलीयन—hydration
जलोढ—alluvial
जहाज का पेटा—hull
जाति—species, strain
जीव-रसायन—biochemistry
जीवाणविक, जीवाणवीय—bacteriological

जीवाणविकी—bacteriology
जीवाणु—bacteria
जीवाणुमार—bactericide
जीवाणुहनन—sterilization
जैविक—biological
जैविकी—biology
जैविकीय—biological
जैविकीविद—biologist
ज्वलनशील—inflammable
ज्वरघ्न—antipyretic
ज्वालक—burner

झ

झझरी—grating, झंझरी
झिल्ली—*membrane*

ट, ठ

टाँका—solder
ठोसता—solidity

ड, ढ

डब्बाबन्दी—canning
डिम्भ—larva
ढलवाँ लोहा—cast iron
ढलाई घर—foundry

त

ततु—fibre
ततुक—fibril
तटनमन—diffraction
तड़ाग—tank
तत्त्व—element; principle
तनाव—tension
तनाव सामर्थ्य—tensile strength
तनु—dilute
तनुपट—diaphragm
तनूकरण—dilution
तनूकृत—diluted
तन्य—ductile
तप्त—heated, hot
तरगदैर्घ्य—wave-length
तरल—liquid, fluid
तरलक—thinner
तरलन—liquefying
तरलित—liquefied
तलछटीकरण (–भवन)—sedimentation
तल—bed
तान—tone
ताप—temperature
तापक—heater
तापन—heating
तापदीप्त—incandescent
तापदीप्ति—incandescence
तापशीतन—annealing
तापसह—heat-resisting
तापी प्लास्टिक—thermoplastic
तावा, ताम्र—copper
तारपीन—turpentine
ताल—palm
तालबीज—palm kornel
तिक्त, pungent
तीखा–दे० 'तिक्त'
तुला—balance
तुल्य—equivalent
तुषारित—frosted

त्रिनुज—trivalent
त्वरक—accelerator
त्वरण—acceleration
त्वरित—accelerated

द

दंड—beam
दण्डाणु—bacillus
दन्तिचक्र—gear wheel
दबाव—pressure
दमक दीप—flash lamp
दर्वी— laddle
दलित्र—crusher
दह्—caustic
दह्क्षार—*caustic alkali*
दहन—combustion
दाब—pressure
दाबक छन्ना—filter press
दाही बम—incendiary bomb
दाह्य—combustible
दाह्यता—combustibility
दीप्तावार—mantle
दीप्त—luminous
दीप्ति—luminosity
दुग्धजन्य पदार्थ—dairy product
दूषण—contamination
दृढ़—tough, firm, rigid
दृढ़ीकरण—toughening
दृश्य—visible
दृष्टव्य—visible
देशक—pointer, indicator
दैहिक—physiological
दैहिकी—physiology
दोलक—*rocker*
दोलन लेखी—oscillograph
द्रव—liquid, fluid
द्रवचालित—hydraulic
द्रवण—fusion, melting
द्रवणांक—melting point
द्रवता—fluidity
द्रव्य—matter, material
द्राव—melt
द्रावक—flux
द्रावविवेचन—liquation
द्वितीयक—secondary; duplicate
द्विविच्छेदन—*double* decomposition

ध

धनाग्र—anode
धमनाड़—blowpipe
धमभट्टी—blast furnace
धातु—metal
धातुकर्म—metallurgy
धातुकर्मज्ञ—metallurgist
धातुकर्मी—metallurgist
धातुकर्मिकी—metallurgy
धातुमल—slag
धात्विकी—metalography
धान—case
धानी—stand
धान्य—corn, cereal
धारक—container, holder
धारिता—capacity

धावन—running
धावविवेचन—lixiviation
धुलाईघर—laundry
धूमक—fumigant
धूमन—fumigation
धूमपान—smoking
धूलन—dusting
धूलि—dust
ध्रुवीय—polar

न

नमदन—felting
नमदा—felt
नवनीत—butter
नाड़—pipe
नाभिक—nucleus
नाम्यता—flexibility
नाशरक्षण—salvaging
नाशिकीट—pest
निक्षारण—etching
निक्षेप—deposit
निक्षेपण—depositing
निगम—corporation
निपीड—pressure
निपीड दाबक—autoclave
निपीडन—pressing
निबन्ध—composition
निमज्जन—dipping
नियंत्रण—control
नियतांक—constant
नियमन—regulation
निरसन—removal
निरापद—safe
निर्धारण—determination
निर्माण—manufacture
निर्माणी—factory
निर्यात—export
निर्यास—gum
निर्वात—vacuum
निर्वाप—quench
निश्चयन—determination
निश्चेतक—anaesthetic
निश्चेतन—anaesthesia
निष्कर्ष—conclusion
निष्पन्न—made, readymade
निष्पादन—performance
निस्तापन—calcination
निस्सार—extract
निस्सारण—extraction
नोदक—propeller
नौ-आंगन—dockyard, shipyard
नौमार्ग—shipway
नौवहन—shipping
न्यास—data

प

पंक—slime
पंक्तिमुद्र—linotype
पक्त्र—cooker
पट्ट—plate
पट्टन—plating
पतंगा—moth
पत्रदार्वी—laminated
पथ—path

पदार्थ—substance, product
पद्धति—system
पनीर—cheese
परमताप—absolute temperature
परमाणु—atom
परागमन—transmission
परा-नीललोहित—ultra-violet
परावर्तन—reflection
पराश्रयी—parasite
पराम—range
परिकल्पना—hypothesis
परिचालन—circulation
परिच्छादक—bell jar
परिणामित्र—transformer
परितापन—stoving
परिनाशन—disinfectation
परिनिरीक्षा—scrutiny
परिपक्व—mature, ripe
परिपक्वन—maturing, ripening
परिपथ—circuit
परिपाचन—assimilation
परिभ्रामी—revolving
परिमल—perfume
परिमाण—size, dimension
परिरक्षण—preservation
परिरक्षी—preservative
परिरूप—finish
परिरूपण—finishing
परिवर्तक—converter
परिवर्ती—reversible, varying
परिवहन—transport
परिशुद्ध—accurate
परिष्करण—refining
परिष्करणी—refinery
परिसीमन—restriction
परिस्थिति—circumstance, condition
परीक्षण—examination, testing
पर्ण—foil
पर्पटी—crust
पर्यवेक्षण—supervision
पल्लवन—flapping
पशुखाद्य—feeding stuff
पशुप्राशन—stock-feeding
पाचन—digestion
पाचित्र—digestor
पाजन—size, sizing
पादप—plant
पानीघर—water-works
पायस—emulsion
पायसन—emulsification
पायसनकर्ता—emulsifying agent
पारगम्य—permeable
पारच्यवन—percolation
पारच्यावी छन्ना—percolating filter
पारद—mercury
पारदर्शक—transparent
पारभासक—transluscent
पाश—trap
पाशन—entrapping
पाषाणखनन—quarrying
पास्चरीकरण—pasteurization

पिंड—mass
पिंडक—ingot
पिटवा लोहा—wrought iron
पित्तलन—brazing
पिष्ट—dough
पिसाई—milling
पीठ—base
पीडित्र—press
पुंज—mass
पुनरावृत्ति—revision
पुनर्जनन—regeneration
पुनर्जनित्र—regenerator
पुनस्थापन—restoring
पुरुभाजन—polymerisation
पूतिगंधिता—rancidity
पूरक—filler
पूर्वगामी—precursor
पूर्वधारणा—prejudice
पूर्वविटामिन—provitamin
पूर्वाभास—anticipation
पूर्वविधान—precaution
पूर्वेक्षण—exploration
पूर्वोपाय—precaution
पृथक्करण—separation, insulation
पृथक्त्र—separator
पृथक्कारी—separater
पेटा—hull
पैंठिक—basic
पैंठिक रजक—basic dyes
पोत—caravel
पोषक—nutritive
पोषक पदार्थ—nutrient
पोषग्रन्थि—pituitary
पोषण—nutrition
पौधा—plant
प्रकंद—rhizome
प्रकार्य—function
प्रकाश—light, optic
प्रकाश उत्किरण—photogravure
प्रकीर्णन—scattering
प्रकृति—nature
प्रकेवल—absolute
प्रक्रम—stage; process
प्रक्रिया—action; process
प्रक्षेपण—projection
प्रक्षेपी—projectile
प्रचण्ड—intense
प्रजनन—reproduction
प्रजाति—genus
प्रजाल—lattice
प्रज्वलन—ignition
प्रणाली—system
प्रणोदी—propellent projectible
प्रतिआक्सीकारक—antioxidant
प्रतिकर्मक—reagent
प्रतिकारक—reactant
प्रतिक्रिया—reaction
प्रतिक्षेपी—reverberatory
प्रतिचार—response
प्रतिचित्र—negative (photography)
प्रतिदीप्त—fluorescent

प्रतिधारण—retention
प्रतिपूयन—antisepsis
प्रतिपूयिक—antiseptic
प्रतिबल—stress
प्रतिबिम्ब—image
प्रतिभूति—guarantee
प्रतिमान—scale
प्रतिरूपण—reproduction
प्रतिलिपिकरण—copying
प्रतिलिप्यधिकार—copyright, प्रकाशनाधिकार
प्रतिलोमानुपात—Inverse proportion
प्रतिवेदन—report
प्रति-सक्रामक—anti-infective
प्रति-सतुलन—counterbalancing
प्रतिस्थापक—substitute
प्रतिस्थापन—substitution
प्रतिहिम—antifreeze
प्रत्यावर्ती—alternating
प्रत्यास्कन्दन—resiliency
प्रत्यास्थता—elasticity
प्रथमक—primary, primer
प्रथा—practice
प्रद्रावण—smelting
प्रदीप्ति—fluorescence
प्रधार—jet
प्रनाड—main pipe
प्रबल—strong
प्रभरण—charging
प्रतिदीप्ति—fluorescence
प्रभव—origin, source
प्रभाग—fraction
प्रभाजन—fractionation
प्रभाजन यत्र—fractionating apparatus
प्रभार—*charge*
प्रमाणिकीकरण—standardization दे० मानकीकरण
प्रमीलक—narcotic
प्रमेय—theorem
प्रयोक्ता—user
प्रयोग—use; experiment, application
प्रयोगशाला—laboratory
प्ररचना—design
प्रलाक्ष—lacquer
प्रलेप—dope
प्रलेपन—doping
प्रवणता—gradient
प्रवर्तक—originater, propounder *promoter*
प्रविकिरण—irradiation
प्रविधि—technique
प्रशिक्षण—training
प्रशीतक—refrigerator
प्रशीतन—refrigeration
प्रशीताद—scurvy
प्रसरण—expansion, spreading
प्रसरण गुणाक—coefficient of expansion
प्रसाधक—dresser

प्रसाधन—dressing, toilet
प्रसारक—spreader
प्रसारण—expansion
प्रस्थापन—replace, replacement
प्रस्फुटन—efflorescence
प्रस्फोटन—detonation
प्राणी—organism (जीवाणु); animal
प्राप्ति—yield
प्रारूप—type
प्रारूपिक—typical
प्रावधान—provision
प्राविधिक—technical
प्रेमानुशीली—amateur
प्रेरक—induction
प्रेषण—transmission
प्रोटीनाशिक—*proteolytic*
प्रोथ—nozzle, तुंड
प्रोद्धावन—elution
प्रौद्योगिक—technological
प्रौद्योगिकी—technology
प्रौद्योगिकीविद—technologist
प्लवन—floating, floatation

फ

फफूंद—mould, fungus
फफूंदमार—fungicide
फलक—blade
फलिकन—splintering
फली—pod
फुंकाई—blowing
फेन—foam
फेनक—froth

ब

बधुता—affinity
बरूथिका—scutellum
बरूथी—mite, (गृहबरूथी) housemite
बल—force
बानगीकरण—sampling
बिम्ब—disc
बीजतः—algebraically
बुदबुद पेय—effervescent drink
बुझाया चूना—slaked lime
ब्रिटिश ऊष्मा मात्रक—British Thermal Unit (B. T. U.)

भ

भगुर—brittle
भंजक-आसवन—*destructive distillation*
भंजन—cracking
भट्ठी—furnace
भस्म—ash
भागशः—partially, by stages
भाप—steam
भाप-आसवन—steam distillation
भारमितिक—gravimetric
भिन्नक—differential
भूंजना—roasting
भूपर्पटी—earth-crust
भूभौतिकी—*geophysics*
भृग—beetle
भेषज—drug

भेषज क्रिया-ज्ञानी—pharmacologist
भेषजज्ञ—pharmacist
भैषजिक—pharmacist
भौतिक—physical
भौतिकी—physics
भौतिकीविद—physist
भौति-रसायन—physical chemistry
भौमिकी—geology

म

मथन—churning
मथानी—churn
मदिरा—wine
मलप्रणाल—sewerage
मलप्रवाह—sewerage
मलफेन—scum
मलाई—cream
मसलना—mashing
मातृफल—gall
मांसपेशी—muscle
माक्षिक—pyrites
मातृद्रव—mother liquor
मात्रा—quantity, content
मात्रात्मक—quantitative
माध्यम—medium vehicle
मान—value
मानक—standard
मानकीकरण—standardization
मारी—epidemic
मिठाई—sweets confectionery
मितव्ययिता—economy
मिश्रक—mixer
मिश्रण—mixture, blend, mixing, blending
मिश्रधातु—alloy
मिष्टोद—syrup
मुद्रण—printing
मुद्रलेखन—type-writing
मुर्दासंख—litharge
मूत्रवर्धक—diuretic
मूलक—radical
मूलरूप (आद्यरूप)—prototype
मूल्यांकन—evaluation
मूषा—crucible
मृदुकरण—softening, tempering
मृण्मय—argillaceous
मेल्य—miscible
मोम—wax

य

यंत्र—machine
यंत्रण—machining
यकृत—liver
यथार्थ—exact
यवासवक—brewer
यवासवन—brewing
यवासवनी—brewery
यव्य—malt, malted
यशद—zinc
यांत्रिक—mechanical
यांत्रिकी—mechanics
युग्म—couple
यौक्त्र—gear

योग—recipe, formula
योगदान—contribution
योगरचना—formulation
यौगिक—compound

र

रंगद्रव्य—pigment
रंगलेप—paint
रंजक—dye
रंजक पदार्थ—dye stuff
रंभाकार—cylindrical बेलनाकार
रक्तचाप—blood-pressure
रक्षक—protective
रक्षण—protection
रचना—structure, construction
रजत—silver
रन्ध्री—porous
रसचिकित्सा—chemotherapy
रसद्रव—chemical (substance)
रसायन—chemistry
रसायनज्ञ—chemist
राजलेख—charter
राजसाहाय्य—subsidy
राजस्व—revenue
रासायनिक—chemical (adj.)
रीति—method
रेचक—purgative, exhaust
रोगनिरोध—prophylaxis
रोगाणु—pathogenic organism
रोगाणुनाशक—disinfectant
रोगाणुनाशन—disinfection
रोगोत्पादक—pathogenic
रोटीघर—bakery
रोध—resistance
रोधी—resistant
रोपण—plantation, depositing, inoculation

ल

लक्षण—character, symptom
लघु—*small*, light, *minor*
लघुक—light
लवण—salt
लवणजल—brine
लवणन—salting
लवाई—harvesting
लाक्षक—lake
लुगदी—pulp
लेखन-सामग्री—stationery
लेखा—account
लेखापाल—accountant
लेपी—paste
लोक—people, public

व

वंग—tin
वंश विचालन—poling
वनस्पति—vegetable
वनोद्योग—forestry
वपोति—adipose
वमनकारी—nauseous
वरिमा—space, दिक्, आकाश
वर्ग—group
वर्णक्रम—spectrum
वर्णक्रमदर्शी—spectroscope

वर्णक्रमलेखी—spectrograph
वर्तनांक—refractive index
वर्तनाय—refracting
वर्धन—growth
वलय—ring
वल्कनीकरण—vulcanization
वसा—fat
वसीय—fatty
वस्तिकर्म—enema
वस्त्रोद्योग—textile industry
वाणिज्यिक—commercial
वातन—aeration
वाद—doctrine
वायवीय—*pneumatic*
वायुमण्डल—atmosphere
वायुमण्डलीय—atmospheric
वायुयान—airship
वाष्प—vapour
वाष्पन—evaporation
वाष्पशील—volatile
वाष्पित्र—boiler
विआक्सीकरण—deoxidation
विकरण—denaturation
विकाचरण—devitrification
विकास—development
विकासक—developer
विकिरक—radiater
विकिरण—radiation
विक्षेपण—dispersion
विगोपन—expose, exposure
विचालन—stirring
वितरण नाड—service pipe
वितान्यता—extensibility
विदरण—दे० भजन, cracking
विद्युत चुम्बक—electro-magnet
विद्युत स्थैतिक—electrostatic
विद्युदश्य—electorlyte
विद्युदग्र—electrode
विद्युदंशन—electrolysis
विधा—दे० प्रक्रिया, process
विधातु—gangue
विधायन—processing
विधेयक—bill (legislation)
विनिमय—exchange
विनिमायक—exchanger
विन्यास—arrangement
विपथन—aberration
विभव—potential
विमलन—scouring
विमान—aeroplane
विमुक्त—liberated
विमोचन—liberation
वियवन—dissociation
वियशदन—dezincing
वियोजक—disintegrator
वियोजन—disintegration
विरंजन—bleaching
विरंजक—
विरंजनकारक—bleacher
विरंजनकर्मी—
विरचना—preparing, making
विच्छेदन—decomposition

वैधानिक—legal
विरजनन—desilvering
विलयन—solution
विलयनीकरण—solubilization
विलायक—solvent
विलास-वस्तु—luxury
विलीन करना—dissolve
विलेय—soluble
विलेयता—solubility
विवर्तनी—trunion
विवातन—deairing
विशिष्टि—specification
विश्लेषक—analyst
विश्लेषण—analysis
विषाक्त—poisonous, toxic
विषायण—poisoning
विषाक्तता—toxicity
विसरण—diffusion
विसर्जन—discharge (elec)
विस्तारक—extender
विस्तारोद्वाष्पन—exaporation
विस्थापन—displacement
विस्फोट—explosion
विस्फोटक—explosive
विहित—prescribed
विह्रसन—deterioration
वृक्क ग्रन्थि—adrenal gland
वेदना-हर—analgesic
वेधशाला—observatory
वेश्म—chamber
वैज्ञानिकीकरण—rationalization
वैमानिकीय—aeronautical
व्यवकलन—subtraction
व्यवकाली—subtractive
व्यवसाय—profession, vocation
व्यापार-निषेध—embargo
व्यापन—impregnation
व्यापित, व्याप्त—impregnated
व्यावहारिक—practical, applied
व्यापश्लेषण—dialysis
व्युत्पत्ति—derivative
व्युत्पन्न—derived

श

शंकु—cone
शक्ति—power
शक्यशक्ति—potential power
शामक—sedative
शरावक—dish
शर्करा—sugar
शलभसह—mothproof
शालिका—shed
शल्क—scale
शल्कल—flake
शल्यक—surgeon
शल्यचिकित्सा—surgery
शस्त्रसंभार—armament
शिरोपण—tipping
शिलामुद्रण—lithography
शिल्प—craft
शिल्पकार—craftsman
शिल्पी—architect
शीकरक—sprayer

शीकरन—spraying
शीतन—cooling
शीत-सग्रहण—cold storage
शीलाचार—code of ethics
शुद्धता—purity
शुद्ध स्पिरिट—rectified spirit
शून्यक—vaccum, दे० निर्वात
शृंखला—chain
शैल—rock
शोधन—purification
शोभाचार—fashion
शोषक—drier
शोषण—drying
श्यान—viscous
श्यानता—viscosity
श्लिपीय—gelatinous
श्लेषिका—micelles
श्रीपत्र—papyrus
श्रेणी—grade, qualities, series

स

सकलन—addition
सकाच—screen
सकाचन—screening
सकाली—additive
सक्रमण (सक्रामण)—infection
सक्रामक—infecting
सक्षारण—corrosion
सक्षारक—corrosive
सगतता—compatibility
सग्रहण—storage, storing
सघटक—ingredient, constituent
सघनक—condenser
सघनन—condensation
सघर्षण—friction
सचायक—accumulator
सतत—continuous
सतन्तु—filament
सतृप्त—saturated
संधान—weld, welding
सधानक—welder
सधारण—clamping
सनाल—conduit
सपरीक्षा—experiment
सपीडन—compression
सपुजन—sintering
सबलन—reinforcing
समोहक—hypnotic
सयन्त्र—plant (machinery)
सयोजन—compounding, combination
सयोजकता—valency
सरक्षण—conservation
सरचना—constitution; composition
सरस—amalgam
सरसीकरण—amalgamation
सरूप—*configuration*
सलागी—coherent
सलेख—record
सलेखक—recorder
सलेखित्र—recording machine
सवातन—ventilation

संवादी—corresponding; sympathetic
सविरचना—fabrication
सवेप्टन—packaging
सशमन—alleviation
सशोधन—modification
सश्लिप्ट—synthetic
सश्लेषण—synthesis
ससाधन—resource
सस्करण—tempering
सस्थान—institution
सस्थापन—setting, installation
सस्पर्श—contact
सहरित—silage
सहरित-सग्रहण—ensiling
सहित—system
सक्रिय—active
सक्रियित—activated
सक्रियता—activity
सजातीय—homologous
सजातीय श्रेणी—homologous series
समाग—homogenous
समायोजन—adjustment
समारजन—distemper
समीकरण—equation
समुच्छिप्ट—tailings
समुद्र इजिनियरी—marine engineering
समुद्री तार—cable
समूह—group, agglomeration
सरेस—glue
सर्जन—maintenance
सर्पिल—spiral
सर्वेक्षण—survey
सविराम—intermittent
सहाय—auxiliary
साचा ढलाई—moulding
सान्द्र—solid
सान्द्रण—concentration
सान्द्र मुद्रण—stereo printing
सान्द्रित—concentrated, concentrate
साबुनीकरण—saponification
सामर्थ्य—strength
साम्यावस्था—equilibrium
सायाम—equi-axed
सारणी—table
सार्थक—significant
सिद्धान्त—theory, principle
सीमाकर—customs duty
सीमान्त—boundry
सीस—lead (Pb)
सुगध—flavour
सुग्राही—sensitive
सुग्राहीकृत—sensitized
सुग्राह्यता—sensitivity
सुघटक—plasticizer
सुघट्य—plastic
सुघट्यता—plasticity
सुघट्यन—plasticizing
सुतथ्य—precise
सुतथ्यता—precision

सुरभि—aroma
सुरभिक—aromatic
सुवास—flavour
सुवाह्य—portable
सूक्ष्म—fine
सूक्ष्मदर्शिकी—*microscopy*
सूक्ष्मदर्शी—microscope
सूचक—signal
सूत्र—formula
सेकाई—baking
स्कन्द—clot, coagulum
स्कन्दक—coagulant
स्कन्दन—clotting, coagulation
स्तर—layer, level
स्तरकाष्ठ—plywood
स्तार—sheet
स्थानान्तरण—transfer
स्थापक—mordant
स्थायित्व—stability
स्थायी—stable, permanent
स्थायीकरण—stabilization
स्थिरता—fastness, fixity
स्थिरीकरण—fixation
स्थूल—coarse
स्नायविक—nervous
स्नायु—nerve
स्नेहक तेल—lubricating oil
स्नेहन—lubrication, greasing
स्पन्दन—*pulsation*
स्फटिक—quartz
स्फीत—inflation
स्फुलिंग—spark
स्वच्छकर्ता—cleansing agent
स्वतः चालित—automatic
स्वाच्छिक—sanitary
स्वास्थ्याधिकारी—health officer

ह

हस्तवलक—handrale
हाइड्रोजनन—hydrogenation
हीनता, हीनाहार—deficiency
हिमांक—freezing point
हिमीकरण—freezing
हिमीकृत—frozen
हिमीभवन—freezing
हृदय-शुक्ति—cockle

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका